एमएईसी–108
(MAEC – 108)

कृषि अर्थशास्त्र
(Agricultural Economics)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
तीनपानी बाई पास रोड, ट्रान्सपोर्ट नगर के पास, हल्द्वानी – 263139
फोन नं. 05946 – 261122, 261123
टॉल फ्री नं. 18001804025
फैक्स नं. 05946–264232, ई–मेल info@uou.ac.in
http://uou.ac.in

पाठ्यक्रम समिति

प्रो0 गिरिजा प्रसाद पाण्डे,
निदेशक समाज विज्ञान विद्याशाखा,
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

प्रो0 एम0 के0 धडोलिया,
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
वर्धमान महावीर खुला विश्वविद्यालय,
कोटा, राजस्थान

प्रो0 एस0 पी0 तिवारी,
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
डॉ0 आर0 एम0 एल0 अवध विश्वविद्यालय,
फैजाबाद उ0 प्र0

प्रो0 मधुबाला,
आचार्य, अर्थशास्त्र विभाग,
इंदिरा गॉधी मुक्त विश्वविद्यालय,
नई दिल्ली

प्रो0 आर0 सी0 मिश्र
निदेशक वाणिज्य एवं प्रबन्ध विद्याशाखा,
विशेष आमंत्रित सदस्य
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

डॉ0 अमितेन्द्र सिंह
अर्थशास्त्र विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

पाठ्यक्रम संयोजन एवं संपादन

डॉ0 अमितेन्द्र सिंह
अर्थशास्त्र विभाग
उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल

इकाई लेखन

इकाई लेखक	इकाई संख्या
डॉ. विमलेश सिंह असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक म.प्र.	**1,2,3**
डॉ. अमितेन्द्र सिंह अर्थशास्त्र विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल	**4,8**
डॉ. ज्योति पन्त असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, वाई. डी..पी.जी. कालेज, लखीमपुर खीरी, उ.प्र.	**5,6,7**
डॉ. राजेश पाल असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी, उ.प्र.	**9,10,11,12**
डॉ. सुरजीत सिंह असिस्टेन्ट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, बी.एस.एम.पी.जी. कालेज रूड़की, उत्तराखण्ड	**13,14,15,16**
डॉ. प्रीति आत्रेय असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, महिला महाविद्यालय पी.जी. कॉलेज, सतीकुण्ड, कनखल, हरिद्वार, उत्तराखण्ड	**17,18,19,20,** **21,22,23,24,25**
डॉ. साहब सिंह असिस्टेंट प्रोफेसर, अर्थशास्त्र विभाग, पी.सी.बागला पी.जी. कालेज, हाथरस, उ.प्र.	**26,27,28,29**

संस्करणः 2017
आई.एस.बी.एन.: 978-93-84813-36-9

प्रतिलिप्याधिकार (कॉपीराइट): @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रकाशकः कुल सचिव, उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, नैनीताल – 263139
email: studies@uou.ac.in
मुद्रकः

इस सामग्री के किसी भी अंश को उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में अथवा मिमियोग्राफी चक्रमुद्रण द्वारा या अन्यत्र पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी

कृषि अर्थशास्त्र
(Agricultural Economics)

एमएईसी – 108
(MAEC – 108)

विषय–सूची

खण्ड– 1. परिचय (Introduction)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 1. कृषि अर्थशास्त्रः आशय, प्रकृति और क्षेत्र (Agricultural Economics: Meaning, Nature and Scope)	1–15
इकाई– 2. आर्थिक विकास में कृषि का महत्व और कृषि–उद्योग सम्बन्ध (Importance of Agriculture in Economic Development and Agriculture-Industry Relation)	16–29
इकाई– 3. कृषि क्षेत्र– आकार, वृद्धि एवं उत्पादकता की प्रवृत्तियाँ (Agricultural Sector- Size, Growth and Trends of Productivity)	30–43
इकाई– 4. भारत में भूमि सुधार (Land Reforms in India)	44–57

खण्ड– 2. सतत् कृषि एवं खाद्य सुरक्षा (Sustainable Agriculture and Food Security)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 5. हरित क्रान्ति और तकनीकी परिवर्तन (Green Revolution and Technical Change)	58–71
इकाई– 6. भारतीय कृषि और मशीनीकरण (Indian Agriculture and Mechanization)	72–83
इकाई– 7. बायो तकनीक एवं आर्गेनिक कृषि (Bio-Tech and Organic Farming)	84–96
इकाई– 8. खाद्य सुरक्षा (Food Security)	97–107

खण्ड– 3. उत्पादन फलन, सम्बन्ध एवं नियम (Production Function, Relationship and Rules)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 9. कृषि उत्पादन फलन और आगत–निर्गत सम्बन्ध (Agricultural Production Function and Input-Output Relationship)	108–122
इकाई– 10. साधन–साधन सम्बन्ध (Factor-Factor Relationship)	123–141
इकाई– 11. उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध (Production-Production Relationship)	142–162
इकाई– 12. कृषि उत्पादन नियमः परिवर्तनशील अनुपात नियम एवं पैमाने के प्रतिफल (Agricultural Production Rules: Law of Variation Proportions and Return of Scale)	163–186

खण्ड– 4. कृषि विकास प्रारूप (Agricultural Development Model)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 13. लेविस का कृषि विकास प्रारूप (Lewis's Agricultural Development Model)	187–199
इकाई– 14. फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप (Fei-Ranis Development Model)	200–211
इकाई– 15. मिलर का कृषि विकास प्रारूप (Miller's Agricultural Development Model)	212–220
इकाई– 16. शुट्ज और बोसरेज का कृषि विकास प्रारूप (Schultz and Boserup Model of Agricultural Development)	221–237

खण्ड– 5. कृषि मूल्य नीति और विपणन (Agricultural Price Policy and Marketing)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 17. कृषि मूल्य– लागत और मूल्य में सम्बन्ध (Agricultural Price- Cost and Price Relationship)	238–254
इकाई– 18. कृषि मूल्य नीति, मूल्य और लागत आयोग का स्वरूप एवं भूमिका (Agricultural Price Policy, Nature and Role of Commission for Agricultural Costs and Prices)	255–270
इकाई– 19. कृषि लाभ अधिकतमकरण और सार्वजनिक वितरण प्रणाली (Agricultural Profit Maximization and Public Distribution System)	271–287
इकाई– 20. कृषि अतिरेक एवं कृषि विपणन व्यवस्था (Agricultural Surplus and Agricultural Marketing System)	288–310

खण्ड– 6. कृषि वित्त एवं कृषि प्रबन्धन (Agricultural Finance and Agricultural Management)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 21. कृषि वित्त के प्रकार, चुनौतियाँ, सम्भावनाएं एवं रणनीतियाँ (Types, Challenges, Prospects and Strategies of Agricultural Finance)	311–324
इकाई– 22. सहकारी वित्त प्रणाली, नाबार्ड और वैद्यानाथ समिति (Co-operative Finance System, NABARD and Vaidyanath Committee)	325–340
इकाई– 23. वाणिज्यिक बैंकों की भूमिका, गैर कृषि ग्रामीण वित्त संस्थान (Role of Commercial Banks, Non-Agricultural Rural Finance Institute)	341–353
इकाई– 24. कृषि प्रबन्धन– अवधारणा, क्षेत्र और सिद्धान्त (Agricultural Management- Concepts, Areas and Theories)	354–372
इकाई– 25. कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियाँ एवं कृषि प्रबन्धन की समस्याएं (Current Trends and Problems of Agricultural Management)	373–389

खण्ड– 7. कृषि और बाह्य क्षेत्र (Agriculture and External Sector)	पृष्ठ संख्या
इकाई– 26. कृषि वस्तुओं का अंतर्राष्ट्रीय व्यापार (International Trade of Agricultural Commodities)	390–402
इकाई– 27. विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर प्रभाव (Impact of World Trade Organization on Indian Agriculture)	403–414
इकाई– 28. उदारीकरण का घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय कृषि व्यापार पर प्रभाव (Impact of Liberalization on Domestic and International Trade)	415–426
इकाई– 29. बहुराष्ट्रीय निगमों भूमिका (Role of Multinational Corporations)	427–438

इकाई–1 कृषि अर्थशास्त्र आशय, प्रकृति और क्षेत्र

इकाई संरचना

1.1 प्रस्तावना

1.2 उद्देश्य

1.3 कृषि अर्थशास्त्र का विकास

1.4 कृषि अर्थशास्त्र का आशय एवं परिभाषाएँ

1.5 कृषि अर्थशास्त्र की प्रकृति

1.6 कृषि अर्थशास्त्र का क्षेत्र

1.7 कृषि अर्थशास्त्र का अलग अध्ययन क्यों ?

1.8 कृषि अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

1.9 महत्व

1.10 सारांश

1.11 शब्दावली

1.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.12 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ

1.13 उपयोगी / सहायक ग्रन्थ

1.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1.1. प्रस्तावना

कृषि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित यह प्रथम इकाई कृषि अर्थशास्त्र आशय, प्रकृति और क्षेत्र है।जैसा कि आप जानते है कि अब कृषि अर्थशास्त्र का अलग से अध्ययन किया जाता है, क्योंकि कृषि क्षेत्र की समस्याएँ अन्य क्षेत्रों जैसे उद्योग, ब्यापार तथा व्यवसाय से अलग है । अर्थशास्त्र में हम अध्ययन करते है कि कैसे अपने सीमित साधनों से असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति करें जिससे कि हमे अधिकतम सन्तुष्टि प्राप्त हो । वर्तमान समय में कृषि न केवल फसल उगाने तक सीमित रही है, बल्कि वनिका तथा पशुपालन भी कृषि क्षेत्र में आते है । कृषि अर्थशास्त्र का प्रारम्भ खेत में होने वाले उत्पादन के अध्ययन के रूप में हुआ था किन्तु समय के साथ–साथ इसका क्षेत्र ब्यापक होता चला गया । कृषि शब्द का प्रयोग खाद्यान्न उत्पादन के लिए किया जाता है जिसे खेती बाड़ी भी कहते है। कृषि में सभी खाद्य उत्पादन क्रियाएँ, उनके उत्पादन, प्रसंस्करण, फसलों के लिए खेतों का वितरण , विपणन एवं कृषि साख का अध्ययन किया जाता है। सभी क्रियाए कृषि आगत की तरह है जैसे ,उर्वरक, साख, मशीनरी, परिवहन, प्रसंस्करण, संग्रहण, तथा सेवाए कृषि अर्थशास्त्र में अध्ययन का एक अंग है। कृषि अर्थशास्त्र में हम अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को कृषि की समस्याओं को हल करने के लिए प्रयोग करते है। हम अपने सीमित साधनों को अधिकतम कृषि उत्पादन के लिए प्रयोग करते है जिससे कि हम अधिकतम लाभ प्राप्त कर सके । हम अर्थशास्त्र की सहायता से विभिन्न उत्पादन साधनों का इस प्रकार से एकत्र करते है कि अधिकतम उत्पादन प्राप्त किया जा सके । जब हम कृषि से सम्बन्धित कोई निर्णय लेते है तो अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों से हमे सीख मिलती है कि इनका प्रयोग किस प्रकार करे जिससे कि हमे अधिकतम कृषि उत्पादन प्राप्त हो।

1.2 उदेद्श्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन बाद आप समझा सकेगे की –

1. कृषि अर्थशास्त्र का आशय एवं परिभाषाएं क्या है।
2. कृषि अर्थशास्त्र की प्रकृति क्या है।
3. कृषि अर्थशास्त्र का क्षेत्र क्या है।
4. कृषि अर्थशास्त्र का अलग से अध्ययन क्यों किया जाता है।
5. कृषि अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ क्या सम्बन्ध है।

1.3: कृषि अर्थशास्त्र का विकास :

प्रारम्भिक अर्थशास्त्रियों के विचारों में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। यूरोप में 19वी. शताब्दी के औद्योगीकरण से पूर्व कोई भी अर्थशास्त्री कृषि का उल्लेख किए बिना अपने विचार प्रकट नही कर सकता था ।

जैसा कि ब्लैक का कहना है कि कृषि अर्थशास्त्र विशेषीकरण के रूप में जितना अर्थशास्त्र से विकसित हुआ है उतना ही प्राकृतिक विज्ञानों एवं तकनीकी से भी, विद्वानों द्वारा वीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कृषि से सम्बन्धित प्रश्नों पर ध्यान जाने लगा था । 1890 की आर्थिक मन्दी ने कृषि को बुरी तरह से प्रभावित किया था । उस समय संगठित समूहों ने फार्म की समस्यों में पर्याप्त रूचि ली । जो प्रोफेसर पहले कृषि रसायन शास्त्र, एग्रानामी, हार्टीकल्चर एवं सामान्य अर्थशास्त्र जैसे प्रश्नों पर ही विचार करते थे, वे अब कृषि अर्थशास्त्र के अध्ययन की ओर अभिमुख हुए । फार्म प्रबन्ध का सर्वप्रथम प्रोफेसर एन्डूयूबाँस को नियुक्त किया गया । वे उस समय एग्रानामी के प्रोफेसर भी थे।

थामस एक.हन्ट (Thomas F. Hunt) को कृषि कालेज एवं कृषि प्रयोग सम्बन्धी कार्यो का सूत्रधार माना जाता है। मि. हन्ट एक ऐसे कृषि अर्थशास्त्री थे जिन्होंने खेती बाड़ी के भौतिक, जैविक एवं आर्थिक पहलुओं को पहचाना तथा अच्छे फार्म प्रबन्ध की व्यवस्था को प्रोत्साहित करने में इनकी आवश्यकता को स्वीकार किया ।

विलियम जे. स्पिलमैन (william I. Spillman) ने 1920 में संयुक्त राज्य अमेरिका के कृषि विभाग में फार्म प्रबन्ध का कार्य प्रारम्भ किया तथा एक फार्म पर खेती कितनी ब्यापक होनी चाहिए तथा फार्म कितना बड़ा होना चाहिए आदि बातों पर विचार किया ।

कृषि अर्थशास्त्र का अध्ययन सर्वप्रथम अमेरिका से ही प्रारम्भ होता है। थामस निक्सन कार्बर ने 1903 में एवं प्रोफेसर एच. सी. टेलर (Prof. H.C Taylor)ने कृषि अर्थशास्त्र तथा प्रो. जार्ज लामेन ने ग्रामीण अर्थव्यावस्था (Rural Economy) का पाठ्यक्रम प्रारम्भ किया टेलर ने अपनी पुस्तक Agricultural Economies 1905 में प्रकाशित की । प्रो. कार्बर की रचना Principals of Rural Eco nomics 1911 में प्रकाश में आयी । प्रथम विश्व युद्ध के बाद ब्यावसायिक खेती बाड़ी का प्रसार हुआ ।

कृषि अर्थशास्त्र के राष्ट्रीय ब्यूरो तथा कृषि कालेजों के स्टाफ ने सामान्य विक्री की समस्याओं, कीमतों, विदेशी प्रतियोगिता, यातायात, उत्पादन बाजार,

एवं सांख्यिकीय की समस्याओं का अध्ययन किया । 1920 से फार्म कीमत एवं आय नीति की समस्याओं ने कृषि अर्थशास्त्रियों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया ।

ब्यावसायिक कृषि अर्थशास्त्रियों को उत्पादन अर्थशास्त्र (Prduction Economics), फार्म प्रबन्ध (Earm management),कृषि विपणन ब्यवस्था (Agricaltural Marketing) तथा कृषि नीति (Agricaltural policy) में वर्गीकृत किया जा सकता है। इस प्रकार कृषि अर्थशास्त्र की विभिन्न समस्याओं ने अर्थशास्त्रियों को विचार के लिए प्रेरित किया है, साथ ही वर्तमान में देशो में तो कृषि पूर्णतः वैज्ञानिक हो गयी है।

1.4. कृषि अर्थशास्त्र का आशय एवं परिभाषाएँ

कृषि अर्थशास्त्र में कृषि तथा किसानों से सम्बन्धित आर्थिक समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। अनेक विद्वानों ने कृषि अर्थशास्त्र की परिभाषा अपने–अपने ढंग से दी है इनमें से प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित है।

प्रो. ग्रें के अनुसार ''कृषि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें सामान्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों एवं विधियों को कृषि ब्यवसाय की विशिष्ट परिस्थितियों में लागू किया जाता है।''

According to Prof. Gray, " It may defined the science in which the principles and methods of Economics are applied to the special conditions of agricultural industry ."

प्रो. जोजियर के अनुसार ''कृषि अर्थशास्त्र कृषि विज्ञान की वह शाखा है जो कृषि साधनों के नियमन से सम्बन्ध रखता हुआ यह बताता है कि किसान किस प्रकार अपने व्यवसाय से लाभ उठाकर अपने को सुखी बना सकते है।''

According to Jouzier," Agricultural Economics is that branch of agricultural science which treats of the manner of regulating the relations of the different elements comprising the resources of the farmer, it be their relation to each other or with other human beings in order to secure the great degree of prosperity of the enterprise."

प्रो. हिबार्ड के अनुसार– ''कृषि अर्थशास्त्र कृषि कार्य वाले मनुष्यों के धन कमाने और ब्यय करने की क्रियाओं से उत्पन्न पारस्परिक समस्याओं का अध्ययन करता है।''

According to Hibbard, "Agricultural economics is the study of relationship arising from the wealth getting and wealth spending activities of man in agriculture".

प्रो. हावार्ड के अनुसार ''कृषि अर्थशास्त्र सामान्य अर्थशास्त्र के नियमों को कृषि कला व व्यापार पर लागू करने वाला शास्त्र है।''

According to Prof. Howard, "Agriculture Economics may be defined as the application of general economics to the crafts and business of agriculture."

प्रो. टेलर के अनुसार, ''कृषि अर्थशास्त्र उन सिद्धान्तों का विवेचन करता है जो कृषक की इन समस्याओं क्या उत्पादन किया जाय और कैसे उत्पादन किया जाए, क्या बेचा जाए और कैसे बेचा जाए को शासित करते है जिससे सम्पूर्ण समाज के हित के साथ–साथ किसानों को भी अधिक से अधिक लाभ हो ।''

According to Taylor, "Agricultural Economics deals with the principles which underlie for farmers problems of what to produce, how to produce it, what to sell and how to sell it, in order to secure the largest net profit for himself consistent with the best of society as a whole. „

प्रो. एस. बी. के अनुसार, '' कृषि अर्थशास्त्र कृषि से संबंधित उन सिद्वान्तों एवं सूत्रों का अध्ययन है जिनकी सहायता से कम समयावधि में ही उन्नत खेती करके समृद्ध एवं सुखमय जीवन व्यतीत किया जा सकता है।''

According to A. W. Ashby, "Agricultural Economics is an applied science that is methodical pursuit off knowledge of results, for the purpose of stabilizing, adopting or modifying them, if and when necessary of changing their results."

स्नोड ग्रॉस एवं वालास के अनुसार, ''कृषि अर्थशास्त्र को सामाजिक विज्ञान का एक ब्यावहारिक पहलू माना जा सकता है जिसमें कृषि सम्बन्धित समस्याओं के समस्त पहलूओं की और ध्यान दिया जाता है।''

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि कृषि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग कृषि क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के लिए किया जाता है । कृषि अर्थशास्त्र मूल रूप से अर्थशास्त्र की ही एक शाखा है । कृषि अर्थशास्त्र में कृषि से मनुष्य को धन कमाने और उसे व्यय करने की समस्त क्रियाओं से उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन किया जाता है ।

कृषि क्या है ?

लम्बे समय तक कृषि फसलों के उत्पादन से सम्बन्धित था। जैसे–जैसे आर्थिक विकास की प्रक्रिया आगे वढ़ी अन्य बहुत से ब्यवसाय कृषि उत्पादन से जुड़े गये तथा ए कृषि के भाग बन गये । वर्तमान समय में कृषि में कृषि उत्पादन के अलावा फारेस्ट्री, वनीकरण तथा पशुपालन इत्यादि को शामिल किया जाता है। कृषि उत्पादों का विपणन, परिष्करण एवं वितरण अब कृषि ब्यवसाय के भाग

समझे जाने लगे है। कुछ अन्य कृषि क्रियाएँ जैसे कृषि आगतों की पूर्ति, बीज, उर्वरक, ऋण, बीमा, इत्यादि भी प्रस्तावना कृषि ब्यवसाय के भाग माने जाते है।

1.5 कृषि अर्थशास्त्र की प्रकृति

कृषि अर्थशास्त्र में सामान्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है। प्रथम प्रश्न जो संबंधित है वह कृषि अर्थशास्त्र के क्षेत्र से है। कृषि अर्थशास्त्र के अधिकतर सिद्धान्त सामान्य अर्थशास्त्र से लिए गये है, तथा कृषि अर्थशास्त्र की मुख्य साखाएं सामान्य अर्थशास्त्र के समान है, लेकिन तब यह प्रश्न उठता है कि यदि सामान्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्त कृषि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त से अलग नही है तो कृषि अर्थशास्त्र को अलग से अध्ययन की आवश्यकता क्यों है।

इसका कारण यह है कि कृषि अर्थशास्त्र में सामान्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग प्रत्यक्ष रूप से नही करते है, बल्कि सामान्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों में सुधार करके, कृषि क्षेत्र की विशेषताओं तथा स्थितियों के अनुसार इसका प्रयोग करते है।

1. क्या कृषि अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है

कृषि अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान के नाते वस्तु स्थिति हमारे सम्मुख रखता है । यह कारण तथा परिणाम के संबंध को बताता है । उत्पादन के क्षेत्र में यह हमें बताता है कि किसी भूमि के टुकड़े पर ज्यों–ज्यों श्रम तथा पूँजी की इकाइयां बढ़ाते है त्यों–त्यों प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन घटता जाता है । इस प्रवृत्ति को घटते प्रतिफल का नियम कहते है।

कुछ अर्थशास्त्री कृषि अर्थशास्त्री को व्यावहारिक विज्ञान कहते है। जैसा कि एस.बी. की परिभाषा से स्पष्ट है कि कृषि अर्थशास्त्र एक व्यावहारिक विज्ञान है तथा यह कृषि से संबंधित आर्थिक समस्याओं का पहचान करना, अध्ययन करना, समस्याओं का वर्गीकरण करना आदि समस्याओं के समाधान से संबंधित है।

ग्रे के अनुसार– कृषि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, जिसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों एवं उपायों को कृषि उद्योग की विशेष दशाओं में प्रयोग करते है ।

जबकि ब्लैक इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं है। जैसा कि हम जानते है कि विशुद्ध विज्ञान का प्रयोग विशेष स्थिति में होता है। उदाहरण के लिए इंजीनियरिग एक व्यावहारिक विज्ञान है, यह सुझाव देता है कि भौतिक विज्ञान तथा अन्य विज्ञानों का प्रयोग एक निश्चित स्थिति में किस प्रकार किया जाता है।

2 कृषि अर्थशास्त्र विज्ञान तथा कला दोनों है :

जैसा कि बताया जा चुका है कि कृषि अर्थशास्त्र को व्यावहारिक विज्ञान नही कहना चाहिए बल्कि यह विशुद्ध विज्ञान का एक विशेष रूप है। विज्ञान की तरह कृषि अर्थशास्त्र भी विभिन्न आर्थिक चरो के बींच कारण तथा परिणाम संबंध किस प्रकार का है। यदि यह संबंध पाया जाता है तो हम इसका प्रयोग हम विभिन्न आर्थिक समस्याओं के समाधान के लिए करते है। कृषि अर्थशास्त्र एक कला भी है। यह हमें उन उपायों तथा विधियों को बताता है जिन्हें अपनाकर कृषि उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है तथा राष्ट्रीय आय में वृद्धि की जा सकती है। दूसरे हमें यह बताता है कि किसान को, महाजन के चंगुल से छुड़ाने के लिए सहकारी समितियों का गठन करना चाहिए । तीसरें कृषि मजदूरों की मजदूरी बढ़ाने के लिए यह कृषि मजदूरों की संघ बनाने की सलाह देता है । चौथे किसान को उसकी उपज का उचित मूल्य दिलवाने के लिए यह कृषि विपणन समितियों का गठन करने को कहता है।

3 आदर्श विज्ञान (Normative Science) :

कृषि अर्थशास्त्र हमारे सामने आदर्श भी प्रस्तुत करता है अर्थात यह अच्छे/बुरे तथा उचित /अनुचित का भी विचार करता है। यह इस प्रश्न का भी उत्तर देता है कि क्या होना चाहिए । उदाहरण के लिए कृषि अर्थशास्त्र बताता है कि भारत में अन्य देशों की अपेक्षा प्रति हेक्टेअर उत्पादन बहुत कम है अतः उसे बढ़ाना चाहिए । दूसरे कृषि श्रमिकों की मजदूरी व कार्यक्षमता भी अन्य देशों की अपेक्षा बहुत कम है जिसे बढाना चाहिए । तीसरे भारत में कृषि मजदूरों के कार्य करने के घण्टे बहुत अधिक है जिन्हें सीमित करना चाहिए । चौथे महाजन किसान से ऊची ब्याज दर वसूल करते है जिसे कम करना चाहिए ।
इस प्रकार हम कह सकते है कि कृषि अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान और आदर्श विज्ञान के साथ–साथ कला भी है।

1.6 : कृषि अर्थशास्त्र का क्षेत्र

उपरोक्त परिभाषाएं कृषि अर्थशास्त्र के क्षेत्र को इंगित करती है। सामान्य अर्थशास्त्र के सिद्धान्त और कृषि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त में मूल रूप से कोई अन्तर नहीं है। सामान्य अर्थशास्त्र के लगभग सभी यन्त्रों का प्रयोग कृषि अर्थशास्त्र में होता है। उत्पादन उपभोग, वितरण, विपणन,वित्त, योजना एवं नीति निर्माण आदि कृषि अर्थशास्त्र की मुख्य शाखाएं है। कृषि क्षेत्र का

ब्यष्टिगत तथा समष्टिगत दृष्टि से भी वर्णन किया जाता है। कृषि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कृषि समस्याएं तथा उनके समाधान के उपायों का अध्ययन किया जाता है।

प्रो. केस के अनुसार, ''कृषि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कार्य प्रबन्ध, विपणन, सहकारिता, भू–धारण पद्धतियां, ग्रामीण कृषि साख, कृषि नीति, कृषि मूल्यों का विश्लेषण तथा इतिहास आदि को सम्मिलित किया जाता है। कृषि अर्थशास्त्र में हम न केवल आर्थिक तथ्यों का ही अध्ययन करते है, बल्कि कृषि समस्याओं के समाधान के लिए व्यावहारिक सुझाव भी प्रस्तुत करते है।

अन्य शब्दों में हम कह सकते है कि कृषि अर्थशास्त्र में किसान क्या पैदा करे, कितना पैदा करे, उसे कहां तथा किसके द्वारा बेचे, आय को बढ़ाने के लिए कौन सा सहायक धंधा अपनाएं, अपनी पैदावार में किसकों कितना तथा किस प्रकार हिस्सा दे तथा किन–किन वस्तुओं का उपयोग करें आदि सभी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है। आज कृषि अर्थशास्त्र की विषय सामग्री ब्यक्तिगत स्तर पर कार्य संगठन एवं प्रबन्ध तक ब्यापक हो गयी है। दूसरे कृषि अर्थशास्त्र का विकास होने के साथ–साथ कृषि उत्पादन में नई–नई संभावनाएं पैदा हो गयी है। कृषि अर्थशास्त्र किसानों के लिए इस नये ज्ञान को आसान बनाकर उनमें प्रेरणा का संचार करता है। तीसरे कृषि अर्थशास्त्र, कृषि अनुसंधान तथा तकनीकि विकास को प्रोत्साहन देता है। चौथे अन्तर्राष्ट्रीय ब्यापार में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान हो जाने के कारण कृषि उत्पादों का ब्यवस्थित ढंग से उत्पादन और वितरण करने के उद्देश्य से आजकल भिन्न राष्ट्रो के बीच सहयोग में वृद्धि हो रही है। अतः कृषि अर्थशास्त्र अन्तर्गर्राष्ट्रीय स्तर के समझौते करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

1.7 कृषि अर्थशास्त्र का अलग अध्ययन क्यों ?

यद्यपि कृषि तथा उद्योग की समस्याए मिलती जुलती है। अर्थशास्त्र के सिद्धान्त कृषि ब्यवसाय में लागू होते है। जैसे कृषि के उत्पादन, विनिमय, वितरण तथा उपभोग क्रियाओं में अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों किया जा सकता है। लेकिन कृषि अर्थशास्त्र का अलग से अध्ययन की आवश्यकता क्यों है, उसके निम्न कारण है–

1. जीवन पद्धति : बहुत सी स्थितियों में लोग कृषि को ब्यवसाय के रूप में नही लेते है, इसे जीविका के साधन के रूप में लेते है।

कुछ निश्चित रीति–रिवाज कृषि से जुडे हुए है। कुछ मेले तथा त्योहार फसलों की बुआई तथा कटाई के समय मनाये जाते है। इस प्रकार सामाजिक रीति –रिवाज कृषि उत्पादन को प्रभावित करते है, जबकि औद्योगिक क्षेत्र में इनका कोई प्रभाव नही पड़ता है।

2. आत्म निर्भरता :– बहुत सी परिस्थितियों में कृषक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए फसलों का उत्पादन करता है। बहुत सी स्थितियों में वह लाभ कमाने के लिए फसलों का उत्पादन करता है।
3. संयुक्त उत्पादः– कृषि में बहुत सी वस्तुएं संयुक्त उत्पाद का उत्पादन करती है । जैसे गेहूँ तथा भूँसा या मांस तथा ऊन इत्यादि।

   इस प्रकार की वस्तुओं के उत्पादन लागत की गणना करना कठिन हो जाता है, जबकि उद्योगों में उत्पादन लागत की गणना करना आसान होता है।
4. उत्पादन पर कम नियंत्रण :– कृषि क्षेत्र में कृषकों का उत्पादन को बढाने या घटाने पर बहुत ही सीमित नियन्त्रण होता, है, यह प्राकृतिक दशाओं द्वारा ज्यादा प्रभावित होता है, जो कि कोई ब्यक्ति नियन्त्रित नही कर सकता है।

   फसलों का विकास तथा अन्य कृषि क्रियाएँ मौसम तथा अन्य प्राकृतिक दशाओं से ज्यादा प्रभावित होती है।
5. श्रम का विभाजन :– कृषि में श्रम विभाजन की बहुत ही कम सम्भावना है। अधिकतर कृषि इकाइयाँ बहुत ही छोटी होती है तथा अधिकतर कृषि कार्य अकुशल होता है।
6. साधनों का एकत्रीकरण :– कृषि में उद्योगों की तुलना में उत्पादन के साधनों की एकत्रीकरण की बहुत कम सम्भावना होती है । जबकि उद्योगों साधनों के विभाजन की ज्यादा सम्भावना होती है। कृषि में जमीन उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन है तथा कृषि में आगतों की संख्या कम होती है।
7. जमीन का महत्व :– कृषि में जमीन उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन होता है। कृषि उत्पादन अधिकतर जमीन की स्थिति, आकार तथा गुण पर आधारित होता है।

1.8 कृषि अर्थशास्त्र का अन्य सामाजिक विज्ञानों के साथ सम्बन्ध

1. कृषि अर्थशास्त्र तथा इतिहास

कई ऐतिहासिक घटनाएं कृषि की दशा कों प्रभावित करती है। कृषि व्यवसाय की सफलता तथा कृषि व्यवसाय की असफलता भी कृषि को प्रभावित करती है। 1789 की फ्रांस क्रान्ति कृषि में लगे हुए गरीब जनता की खराब दशा का परिणाम था । उस समय कृषि एक मुख्य व्यवसाय था। ठीक इसी तरह बहुत से घटनाएं कृषि की अच्छी तथा बुरी दशा का परिणाम थी । आर्थिक इतिहास इतिहास की आर्थिक भाग का हिस्सा है। जैसा की हम इतिहास में राजनैतिक, भौगोलिक, अर्थशास्त्र इत्यदि घटनाओं के रिकार्ड का अध्ययन करते है। इसलिए अर्थशास्त्र तथा इतिहास का साथ–साथ अध्ययन करते है। इंग्लैण्ड में कृषि क्रान्ति ही औद्योगिक क्रान्ति का मुख्य कारण थी, इसलिए इतिहास तथा कृषि अर्थशास्त्र का बहुत निकट का सम्बन्ध है।

2. कृषि अर्थशास्त्र तथा भूगोल

कृषि अर्थशास्त्र में हम यह अध्ययन करते है कि सीमित साधनों से किस प्रकार अधिकतम उत्पादन प्राप्त करे। कृषि उत्पादन मुख्य रूप से भौगोलिक संसाधनों पर निर्भर करता है। उर्वरा भूमि, वेहतर जल संसाधन, जंगल, खनिज संसाधन इत्यादि अर्थव्यवस्था की उत्पादकता को प्रभावित करते है। यदि हमारे पास अच्छे संसाधन है तो हम अधिक उत्पादन प्राप्त कर सकते है। आस्ट्रेलिया में अच्छी भौगोलिक संसाधन उसकी अर्थव्यवस्था को अनुकूल रूप से प्रभावित करती है। जल संसाधनों का वेहतर प्रयोग अच्छी आर्थिक स्थिति पर निर्भर करती है तथा इनका साथ–साथ अध्ययन किया जाता है। आर्थिक भूगोल अर्थशास्त्र विषय का एक भाग है।

3. कृषि अर्थशास्त्र तथा सांख्यिकीय :

सांख्यिकीय कृषि अर्थशास्त्र के वेहतर अध्ययन में सहायता होता है। विभिन्न कृषि अर्थव्यवस्थाओं का सांख्यिकीय की सहायता से तुलना करना आसान होता है। कृषि उत्पादन, कार्यक्षमता, कीमत या आय को सांख्यिकीय की सहायता से गणना की जा सकती है। सांख्यिकीय आकड़े किसी क्षेत्र विशेष के पिछडापन को इंगित करते है तथा इन आकड़ो के आधार पर अर्थशास्त्री उस क्षेत्र विशेष की समस्याओं को दूर करने के लिए सुझाव दे सकते है। सांख्यिकीय आकड़े पहले से लागू की गयी योजनाओं का परिणाम जानने के लिए लाभदायक होती है। औसत, सह–सम्बन्ध, माध्य, माध्यिका, तथा अन्य सांख्यिकीय उपाय किसी अर्थव्यवस्था की आर्थिक दशा को अच्छे तरीके से समझने में सहायक होता है।

इसलिए कृषि अर्थशास्त्र तथा सांख्यिकीय का एक साथ अध्ययन आवश्यक होता है।

4. कृषि अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र

समाजशास्त्र एक समाज का अध्ययन है । समाज के विभिन्न आयाम जैसे आर्थिक, राजनैतिक , धार्मिक, कानूनी इत्यादि समाजशास्त्र में अध्ययन किये जाते है। अर्थशास्त्र समाजशास्त्र के अध्ययन का एक भाग है । सामाजिक तत्व आर्थिक दशा को प्रभावित करते है। संगठित परिवार तथा जाति पद्धति का टूटना समाजशास्त्र के अध्ययन का विषय है , लेकिन ये तत्व कृषि तथा औद्योगिक उत्पादन को प्रभावित करते है तथा ए श्रमिकों की कार्यक्षमता तथा गतिशीलता को भी प्रभावित करते है। दूसरी तरफ आर्थिक दशा भी समाज को बहुत अधिक प्रभावित करता है। देश की सम्पन्नता तथा वेहतर आर्थिक दशा कुछ सामाजिक बुराइयों जैसे चोरी, डकैती इत्यादि को दूर करने में सहायक होते है। काला बाजारी या स्मगलिंग इत्यादि को असामाजिक बुराईयां माना जाता है। धनी तथा गरीब समाज में सामाजिक पद्धति भिन्न–भिन्न हो सकती है। अतः इन दानों विषयों का साथ–साथ अध्ययन आवश्यक है।

5. कृषि अर्थशास्त्र तथा न्यायशास्त्र

   न्यायशास्त्र कानूनी प्रणाली का अध्ययन है। विभिन्न कानून तथा उनके प्रयोग का अध्ययन न्यायशास्त्र में किया जाता है। कृषि अर्थशास्त्र की सभी क्रियाओं को न्यायिक सीमा के अन्तर्गत कार्य करना आवश्यक होता है।

कानून के विरूद्ध कोई गतिविधि आर्थिक क्रिया नही हो सकती है। विभिन्न कानून अर्थव्यवस्था को अनुकूल रूप से प्रभावित किया है। खेतों की चकबन्दी भी जमीन के प्रयोग के प्रभावित करते है। इसी प्रकार जमीन अधिकार तथा कृषक कानून इत्यादि भी कृषि उत्पादन तथा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते है। किसी देश की बुरी अच्छी आर्थिक स्थिति भी उस देश न्यायिक पद्धति को प्रभावित करती है। किसी देश का कानून उस देश की सम्पन्नता तथा आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि इन दोनो विषयों का साथ–साथ अध्ययन किया जाय ।

1.9 महत्व

आज कृषि अर्थशास्त्र का विकास होने के साथ–साथ कृषि उत्पादन में नई–नई संभावनाएं पैदा हो गयी है। कृषि अर्थशास्त्र किसानों के लिए इस नये ज्ञान को आसान बनाकर उनमें प्रेरणा का संचार करता है। कृषि अर्थशास्त्र, कृषि

अनुसंधान तथा तकनीकि विकास को प्रोत्साहन देता है। अन्तर्राष्ट्रीय ब्यापार में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान हो जाने के कारण कृषि उत्पादों का ब्यवस्थित ढंग से उत्पादन और वितरण करने के उद्देश्य से आजकल भिन्न राष्ट्रो के बीच सहयोग में वृद्धि हो रही है। अतः कृषि अर्थशास्त्र अन्तर्गर्राष्ट्रीय स्तर के समझौते करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

1.10 सारांश

कृषि अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों का प्रयोग कृषि क्षेत्र की विभिन्न समस्याओं का समाधान करने के लिए किया जाता है ।

कृषि अर्थशास्त्र मूल रूप से अर्थशास्त्र की ही एक शाखा है । कृषि अर्थशास्त्र में मनुष्य धन कमाने और उसे व्यय करने की समस्त क्रियाओं से उत्पन्न समस्याओं का अध्ययन किया जाता है । कृषि अर्थशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान और आदर्श विज्ञान के साथ–साथ कला भी है। कृषि पूरी अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण क्षेत्र होता है। कृषि क्षेत्र का विकास दूसरे क्षेत्र के विकास के लिए आवश्यक है।

सामान्य अर्थशास्त्र के लगभग सभी यन्त्रों का प्रयोग कृषि अर्थशास्त्र में होता है। उत्पादन उपभोग, वितरण, विपणन,वित्त, योजना एवं नीति निर्माण आदि कृषि अर्थशास्त्र की मुख्य शाखाएं है। कृषि क्षेत्र का हम ब्यष्टिगत तथा समष्टिगत दृष्टि से भी वर्णन किया जाता है। कृषि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत कृषि समस्याएं तथा उनके समाधान के उपायों का अध्ययन किया जाता है। कृषि अर्थशास्त्र में किसान क्या पैदा करे, कितना पैदा करे, उसे कहां तथा किसके द्वारा बेचे, आय को बढ़ाने के लिए कौन सा सहायक धंधा अपनाएं अपनी पैदावार में किसकों कितना तथा किस प्रकार हिस्सा दे तथा किन–किन वस्तुओं का उपयोग करें आदि सभी समस्याओं का अध्ययन किया जाता है।

1.12: अभ्यास प्रश्नों के उत्तर (अ)

(1) कृषि अर्थशास्त्र में हम अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों को कृषि की समस्याओं को हल करने के लिए प्रयोग करते है। (सत्य/असत्य)

(2) कृषि अर्थशास्त्र मूल रूप से अर्थशास्त्र की ही एक शाखा है। (सत्य/असत्य)

(3) कृषि में बहुत सी वस्तुए संयुक्त उत्पाद का उत्पादन नही करती है। (सत्य/असत्य)

(4) कृषि उत्पादन अधिकतर जमीन की स्थिति, आकार तथा गुण पर आधारित नहीं होता है। (सत्य/असत्य)

(5) कृषि अर्थशास्त्र के अधिकतर सिद्धान्त सामान्य अर्थशास्त्र से लिए गये है, तथा कृषि अर्थशास्त्र की मुख्य साखाएं सामान्य अर्थशास्त्र के समान है। (सत्य/असत्य)

(6) कृषि अर्थशास्त्र ब्यावहारिक विज्ञान और आदर्श विज्ञान के साथ–साथ कला भी है । (सत्य/असत्य)

(7) कृषि अर्थशास्त्र का अध्ययन सर्वप्रथम अमेरिका से प्रारम्भ नही होता है। (सत्य/असत्य)

उत्तर– (1) सत्य (2) सत्य (3) असत्य (4) असत्य (5) सत्य (6) सत्य (7) असत्य

अभ्यास प्रश्नों के उत्तर : (ब)

(1) फसलो का विकास तथा अन्य क्रियाएं किस–किस दशाओं से ज्यादा प्रभावित होती है।

(2) कृषि में उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन क्या होता है।

(3) किसी भूमि के टूकड़े पर ज्यों–ज्यों श्रम तथा पूँजी की इकाइयाँ बढ़ाते है त्यों–त्यों प्रत्येक अगली इकाई का उत्पादन घटता जाता है। इस प्रवृत्ति को क्या कहते है।

(4) ग्रे के अनुसार– कृषि अर्थशास्त्र क्या है।

(5) कृषि से सम्बन्धित किन्हीं दो संयुक्त उत्पाद वस्तुओं का उदाहरण दीजिए ।

(6) कृषि अर्थशास्त्र एक विज्ञान है, जिसमें अर्थशास्त्र के सिद्धान्तों एवं उपायों को कृषि उद्योग की विशेष दशाओं में प्रयोग करते है, यह किसका कथन है।

(7) किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के लिए किस किस प्रकार की समिति का गठन करना चाहिए ।

(8) फार्म प्रवन्ध का सर्वप्रथम प्रोफेसर किसको नियुक्त किया गया ।

(9) टेलर ने अपनी पुस्तक Agicalture Economics कब प्रकाशिकत की ।

उत्तर : (1) मौसम तथा अन्य प्राकृतिक दशाओं से (2) जमीन (3) घटते प्रतिफल का नियम

(4) विज्ञान (5) गेंहूँ, भूसा तथा मांस, ऊन (6) ग्रे के अनुसार (7) कृषि विपणन समिति का (8)एन्डूयूवॉस (9) 1905 में

3.13 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ :

1. R.K Lekhi and Joginder Singh, "Technological Possibilities of Agricaltural Development in India"

2. S.S. china "Agricultural Economics and India Agriculture"
3. गौरव दत्त एवं के.पी. एम. सुन्दरम 66 ''भारतीय अर्थब्यवस्था''
4. एस. के. मिश्र एवं वी.के. पुरी ''भारतीय अर्थब्यवस्था ''
5. C.P. Dutt and B.M. Pugh, "Principles and Practices of Crop Production"
6. Naidu and Narsinham, "Economics of Indian Agriculture" Vol. 1
7. R.D. Tiwari, "Indian Agriculture"
8. J.P. Bhattacharjee, "Studies in Indian Agricultural Economics"
9. Ramesh chand, S.S Raju and L.M. Pandey "Growth crisis in Agriculture" EPW, June 30, 2007

1.14 उपयोगी / सहायक ग्रन्थ :

1. Robbins L. (1946), "An essay on the Nature and significance of Economic Review" Ed. Londan, Macmillan company
2. Taylor, H.C. (1949), "Outlines of Agricultural Economics" Newyark, Mac Millan
3. Black, J.D. (1951), "Introduction to Economices for Agriculture", New yark, Macmillan Company
4. Goodwin, H.G. (1977), "Economics of Agriculture",Reston, Reston publishing Co.
5. Cohen, R. L. (1948), "Economics of Agriculture", Londan, Nisbet
6. Hibbard, B.H. (1948), " Agriculture, Economics", Newyark , McGrawHill.
7. Gray, L.C. (1922), "Introduction to Agriculture, Economics" New York MacMillan
8. Forster, G.W. and Leoger, M.C. (1959) "Elements of Agriculture Economics" Prentice Hall.
9. Halcrow, H.G. (1981), "Economics of Agriculture" Mcgraw Hill Book Agencly,
10. Bachman, K.L. and Chritensen, R.P. "The Economics of Form size"
11. Johnston, B.F. and H.M South worth (1974) "Agriculture, Develoment and Economic Growth", London, Cornell, University, Press.
12. Roegen N.G. (1960), **"The** Economics theory and Agricultural Economics" oxford Economics papers, Feb. 1960.
13. Caqpstic . M (1970) , "The Economics of Agricultural, " London George Allen and Unwin Ltd.
14. Metcoff, D, "Economics of Agricultural" Harmondsworth Penguin Books, 1969.

15. Ross, Robert c. " An Introduction to Agricultural Economics " Me Geoue Hill inc. Book co. 195 .

1.15: निबन्धात्मक प्रश्न :

1. कृषि अर्थशास्त्र की धारणा को परिभाषित कीजिए तथा इसकी प्रकृति और क्षेत्र को स्पष्ट कीजिए ।
2. कृषि अर्थशास्त्र के क्षेत्र की ब्याख्या कीजिए ।
3. कृषि अर्थशास्त्र के अलग अध्ययन के महत्व को बताइए ।
4. कृषि अर्थशास्त्र क्या है ? कृषि अर्थशास्त्र का अलग से अध्ययन क्यों किया जाता है।
5. कृषि अर्थशास्त्र को परिभाषित कीजिए । कृषि अर्थशास्त्र सामान्य अर्थशास्त्र से किस प्रकार अलग है।
6. कृषि अर्थशास्त्र को परिभाषित कीजिए । अन्य सामाजिक विज्ञान के साथ इसका किस प्रकार का सम्बन्ध है।
7. कृषि अर्थशास्त्र की विषय सामग्री तथ्य इसकी प्रकृति का वर्णन कीजिए
8. कृषि अर्थशास्त्र का विभिन्न सामाजिक विज्ञानों के साथ क्या सम्बन्ध है, इसकी विस्तृत ब्याख्या कीजिए ।

इकाई संरचना

2.1 प्रस्तावना

2.2 उद्देश्य

2.3 आर्थिक विकास में कृषि किस प्रकार सहायक होता है

2.4 भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व

2.5 कृषि तथा उद्योग में अन्तर

2.6 कृषि तथा उद्योग के बीच अर्न्तसंबंध

2.7 औद्योगिक क्षेत्र का कृषि क्षेत्र को अंशदान

2.8 कृषि क्षेत्र का औद्योगिक क्षेत्र को अंशदान

2.9 सारांश

2.10 शब्दावली

2.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.12 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ

2.13 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

आप पिछले अध्याय में कृषि अर्थशास्त्र आशय, प्रकृति और क्षेत्र के बारे में अध्ययन कर चुके है। इस अध्याय में आप *''आर्थिक विकास में कृषि का महत्व और कृषि उद्योग सम्बन्ध''* के बारे में अध्ययन करेगें।

जैसा कि आप जानते है किसी देश के आर्थिक विकास में कृषि क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। भारत आज के विकसित देशों से भी पुराना देश है, इसकी कृषि बहुत पहले ही परिपक्वता की स्थिति में पहुॅच चुकी थी और उस समय देश में कृषि तथा उद्योग में सन्तुलन था, जिससे किसानों की दशा उतनी खराब नहीं थी जितनी की आज है। अंग्रेजों के आने के बाद कृषि की स्थिति बहुत ही खराब हो गयी तथा कृषि तथा उद्योग में जो सहयोग था वह भी समाप्त हो गया। लेकिन स्वतंत्रता के बाद स्थिति में कुछ परिवर्तन आया है और कुछ किसानों ने इसे व्यावसायिक आधार पर अपनाया।

अगर हम विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के इतिहास को देखे तो यह पता चलता है कि विकसित देशों के आर्थिक समृद्धि में कृषि क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका रही है तथा विकासशील देशों के लिए इसकी भूमिका और अधिक बढ़ जाती है क्योंकि विकासशील देशों में जनसंख्या बहुत अधिक तथा प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बहुत ही कम होती है। इंग्लैण्ड का इतिहास स्पष्ट प्रमाण है कि कृषि क्रांति से ही यहा औद्योगिक क्रांति हुई। इसी प्रकार अमेरिका तथा जापान में भी कृषि क्षेत्र औद्योगिकरण के लिए बहुत ही सहायक हुई। उद्योग और कृषि क्षेत्र एक दूसरे के वैकल्पिक नहीं है बल्कि एक दूसरे के पूरक है और यह परस्पर आगत एवं निर्गत के रूप में एक दूसरे के सहायक है।

किसी भी अर्थव्यवस्था को मुख्यतः तीन क्षेत्रों में बाटा जा सकता है – (1) प्राथमिक क्षेत्र (2) द्वितीयक क्षेत्र (3) तृतीयक क्षेत्र

कृषि अर्थव्यवस्था का प्राथमिक क्षेत्र है। प्राथमिक क्षेत्र में मुख्यतः कृषि (वानिकी एवं पशुपालन), खनन तथा मछली शामिल किए जाते है। यह अन्य आर्थिक क्षेत्रों का आधार है। विभिन्न क्षेत्रों के विकास तथा अर्थव्यवस्था को सामान्य रूप से आगे बढ़ते रहने के लिए कृषि प्राथमिक दशा है।

द्वितीयक क्षेत्र में सभी प्रकार के उद्योग आते है तथा तृतीयक क्षेत्र में सेवाएं जैसे बैकिंग, परिवहन, व्यापार आदि शामिल है।

2.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप समझा सकेंगे कि

- आर्थिक विकास में कृषि का क्या महत्व है।
- भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का क्या महत्व है।
- कृषि तथा उद्योग के अन्तर क्या है।
- कृषि क्षेत्र का औद्योगिक क्षेत्र को तथा औद्योगिक क्षेत्र का कृषि क्षेत्र को क्या अंशदान है।

2.3 आर्थिक विकास में कृषि किस प्रकार सहायक होता है

किसी भी अर्थव्यवस्था के विकास में कृषि का बहुत महत्वपूर्ण स्थान होता है। कृषि अर्थव्यवस्था की रीढ़ होती है। कृषि से केवल कच्चे माल की प्राप्ति नहीं होती, बल्कि जनसंख्या के एक बड़े भाग को रोजगार भी उपलब्ध भी कराता है। निम्न तथ्यों को पढ़ने के बाद आप समझ जायेगे कि आर्थिक विकास में कृषि का क्या महत्व है या आर्थिक विकास में कृषि किस प्रकार सहायक होता है।

1. **भोजन आवश्यकता की पूर्ति** :– सभी देश अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने को पहली प्राथमिकता देते है। कोई भी देश अपनी सभी खाद्य आवश्यकताओं को दूसरे देश से आयात करके पूरा नहीं कर सकता है। अगर कोई देश अपनी खाद्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आयात पर निर्भर है तो उसे बहुत अधिक मात्रा में आय को खर्च करना पड़ेगा और खाद्य वस्तुओं पर ज्यादा ब्यय से सभी योजनाएँ बिगड़ सकती है। इसलिए सरकार को खाद्य आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के प्रयास करने चाहिए।
2. **कच्चे माल की उपलब्धता** :– आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कृषि से सम्बन्धित उद्योगों का विकास होता है। जैसे चीनी, सूती वस्त्र, जूट उद्योग इत्यादि केवल तभी सफल हो सकते है जब उन्हें कच्चे माल की पर्याप्त उपलब्धता हो। अतः इन उद्योगों के तीव्र विकास के लिए पर्याप्त मात्रा में कच्चे माल की उपलब्धता होनी चाहिए।
3. **क्रय शक्ति** :– यदि किसी देश की कृषि की स्थिति ठीक नही है तो कृषकों की आय भी कम होगी। कृषकों की आय कम होने से औद्योगिक वस्तुओं को नहीं खरीद पायेगें तथा औद्योगिक विकास रूक जायेगा। कृषि क्षेत्र की सम्पन्नता से ही औद्योगिक विकास होता है। किसी उद्योग का प्रमुख उद्देश्य अधिक से अधिक वस्तुओं का विक्रय करना होता है और यह तभी सम्भव है जब कृषि क्षेत्र विकसित हो।
4. **बचत तथा पूंजी निर्माण** :– कृषि क्षेत्र के समृद्ध होने से कृषकों की आय में वृद्धि होती है। आय में वृद्धि होने से कृषकों की बचत में वृद्धि होती है और बचत कृषकों द्वारा बैकों व अन्य बचत संस्थाओं में जमा होता है। इन बचतों का प्रयोग पूँजी निर्माण के लिए किया जाता है, जिससे आर्थिक विकास होता है। अगर कृषकों की आय कम होगी तो बचत भी कम होगी तथा पूंजी निर्माण भी कम होगा। आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था मे जनसंख्या का अधिकत्तर भाग कृषि में कार्यरत होता है, अतः औद्योगिक क्षेत्र के तीव्र विकास के लिए कृषि क्षेत्र की सम्पन्नता ज्यादा जरूरी है।
5. **श्रम–शक्ति की पूर्ति** :– कृषि क्षेत्र में जनसंख्या का दबाव बहुत अधिक है। कृषि पर जनसंख्या का दबाव अधिक होने से कृषि उत्पादन भी विपरीत रूप से प्रभावित होता है। इसलिए जनसंख्या के कुछ हिस्से को हटाकर औद्योगिक क्षेत्र में लगाया जा सकता है, इससे औद्योगिक क्षेत्र का भी तेजी से विकास होगा। अधिक विकसित कृषि में श्रम की आवश्यकता कम होती है।

6. **विदेशी मुद्रा की प्राप्ति :–** कृषि प्रधान देशों मे औद्योगिक वस्तुएँ अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगिता नहीं कर पाती है, क्योंकि औद्योगिक वस्तुएँ घटिया किस्म की होती है। अतः कृषि वस्तुएँ ही ऐसी है जो कि अर्न्तराष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगिता का सामना कर सकती है तथा विदेशी मुद्रा प्राप्त कर सकती है।

2.4 भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्व

पिछले कई दशकों से भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान बना हुआ है।

1. **राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा :–** भारत की राष्ट्रीय आय में कृषि का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। 1950–51 में सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि का हिस्सा 56.5 प्रतिशत था। जैसे–जैसे विकास की प्रक्रिया तेज हुई, द्वितीयक तथा तृतीयक क्षेत्रों के विकास के कारण कृषि का हिस्सा लगातार कम होता गया और यह 2011–12 में 13.3 प्रतिशत निम्न स्तर पर पहुँच गया। अगर हम विकसित देशों को देखे तो राष्ट्रीय आय में हिस्सा बहुत ही कम है। जैसे अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा केवल 2 प्रतिशत है। फ्रांस में यह अनुपात 7 प्रतिशत तथा आस्ट्रेलिया में 6 प्रतिशत है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जैसे – जैसे कोई देश विकास करता है, राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा कम होता जाता है।

तालिका – 1साधन पर सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि क्षेत्र का भाग

वर्ष (1999–2000 की कीमतों पर)	सकल घरेलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि क्षेत्र का भाग
1950–51	56.5%
1970–71	45.9%
1990–91	34.0%
1999–2000	25.0%
(2004–05 की कीमतों पर)	
2008–09	15.7%
2009–10	14.7%
2010–11	14.5%
2011–12	13.9%
2012–13	13.8

2. **रोजगार की दृष्टि से कृषि का महत्व :–** अल्प विकसित या विकासशील देशों में कृषि की इतनी अधिक प्रधानता होती है कि कार्यकारी जनसंख्या का बहुत अधिक भाग रोजगार के लिए इस पर आश्रित होता है। उदाहरणार्थ यह मिश्र में 42 प्रतिशत, बांग्लादेश में 50 प्रतिशत, इण्डोनेशिया में 52 प्रतिशत व चीन में 68 प्रतिशत है।

1951 में कार्यकारी जनसंख्या का लगभग 70 प्रतिशत कृषि एवं सम्बद्ध क्रियाओं में कार्यरत था, वही 2001 में यह हिस्सा गिरकर 59 प्रतिशत हो गया। अर्थात् 2001 में कृषि में 23.5 करोड़ व्यक्तियों को रोजगार प्राप्त है। 2005–06 में कृषि में श्रमशक्ति का 57 प्रतिशत रोजगार प्राप्त करता है तथा सकल घरेलू उत्पाद में कृषि क्षेत्र का हिस्सा 2005–06 में 21. 7 प्रतिशत थी। इसका अर्थ हुआ कि कृषि का प्रति व्यक्ति सकल घेरलू उत्पाद गैर कृषि व्यवसाय में काम करने वाले श्रमिकों की तुलना में केवल पांचवा भाग है और इसमें लगातार गिरावट होती जा रही है। कृषि तथा गैर कृषि व्यवसाय में काम करने वाले श्रमिकों की औसत आय में अन्तर बढ़ता चला जा रहा है।

तालिका – 2 कृषि में मुख्य श्रमिकों को रोजगार (करोड़ में)

जनसंख्या	1951	2001
कुल जनसंख्या	36.1	102.7
ग्राम जनसंख्या	29.9 (83)	74.2 (72)
कृषक	7.0 (50)	12.8 (32)
कृषि श्रमिक	2.7 (20)	10.7 (27)
अन्य श्रमिक	4.3 (30)	16.7 (41)
कुल कार्यकारी जनसंख्या	14.1 (100)	40.2 (100)

3.बढ़ती जनसंख्या के लिए खाद्यान्नों की पूर्ति :– भारत जैसे विकासशील देशों में जनसंख्या का दबाव बहुत अधिक है। जनसंख्या में तेज वृद्धि के साथ–साथ खाद्यान्नों की मॉग में भी वृद्धि होती है। इसलिए यह जरूरी हो जाता है कि जनसंख्या में वृद्धि के साथ–साथ खाद्यान्नों की उत्पादन तथा उत्पादकता भी बढ़ती रहें।

भारत में खाद्यान्नों की मॉग 2004–05 में 207 मिलियन टन तथा ग्यारहवीं योजना के अंतिम वर्ष 2011–12 में 235.4 मिलियन टन से बढ़कर 2020–21 में 280.6 मिलियन टन हो जाने की सम्भावना है। इस मॉग को पूरा करने के लिए खाद्यान्नों के उत्पादन को 2 प्रतिशत वृद्धि होना आवश्यक है। भारत के सामने चुनौती का अन्दाज इस बात से लगा सकते है कि हाल के दस वर्षो में (1997–98–2006–07 के बीच) खाद्यान्नों के उत्पादन में मात्र 0.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई है।

4.औद्योगिक विकास के लिए कृषि का महत्व :– भारत में औद्योगिक विकास के लिए कृषि का बहुत अधिक महत्व है, क्योंकि हमारे कुछ उद्योगों को कच्चा माल कृषि से ही प्राप्त होता है। इन उद्योगों में सूती वस्त्र, चीनी, वनस्पति तथा बागान उद्योग तथा जूट उद्योग प्रमुख है। औद्योगिक क्षेत्र में लगें हुए लोगों को खाद्यान्न भी कृषि क्षेत्र से ही प्राप्त होता है। ग्रामीण क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र द्वारा निर्मित वस्तुओं का बाजार होता है। अतः कृषि क्षेत्र का विकास होने पर औद्योगिक क्षेत्र का भी विकास होता है। लेकिन कुछ वर्षो से उद्योगों के लिए कृषि के महत्व में कमी आयी है, क्योंकि अनेक ऐसे उद्योग विकसित हो गये है जो कृषि पर निर्भर नही है जैसे इस्पात उद्योग, लौह उद्योग, रसायन उद्योग, मशीनी औजार तथा अन्य इन्जीनियरिंग उद्योग, विभाग निर्माण, सूचना तकनालाजी इत्यादि। इसके बावजूद

कृषि द्वारा चीनी, चाय, सूती वस्त्र और पटसन वनस्पति तेल, खाद्य पदार्थो, साबुन तथा अन्य कृषि पर आधारित उद्योगों के लिए कच्चा माल उपलब्ध कराया जाता है।

5. अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में कृषि का महत्व :– अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भी कृषि का बहुत अधिक महत्व है। बहुत अधिक समय तक तीन कृषि वस्तुओं (चाय, पटसन तथा सूती वस्त्र) का निर्यात आय में हिस्सा 50 प्रतिशत से अधिक रहा। यदि हम अन्य कृषि वस्तुओं जैसे काफी, तम्बाकू, काजू, वनस्पति तेल, चीनी इत्यादि को भी शामिल कर लिया जाय तो यह 70 से 75 प्रतिशत तक पहुँच जाता है। कृषि पर इतनी अधिक निर्भरता भारत के अल्पविकास को दर्शाती है।

पिछले दो दशकों के दौरान निर्यात के विविधीकरण के कारण कुल निर्यात में कृषि का हिस्सा कम हुआ है और यह 2010–11 में कम होकर 9.9 प्रतिशत हो गया है। 1991 में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण के पश्चात् कृषि आयात में वृद्धि हुई है और इसमें खाद्य तेलों का विशेष योगदान है।

6.पूंजी निर्माण में सहयोग :– जैसा कि आप जानते है कि आर्थिक विकास के लिए पूंजी निर्माण बहुत अधिक आवश्यक है। भारत में कृषि क्षेत्र अर्थव्यवस्था का एक बड़ा क्षेत्र है। अतः पूंजी निर्माण में इसका सहयोग आवश्यक है। यदि यह क्षेत्र ऐसा कर पाने में असफल होगा तो इससे आर्थिक विकास की प्रक्रिया अवरूद्ध होगी।

7. गरीबी निवारण में भूमिका :– भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का हिस्सा अब सकल घरेलू उत्पाद का 15 प्रतिशत से भी कम है। तथा अभी भी आधे से अधिक श्रमशक्ति कृषि क्षेत्र में कार्यरत है। इसके अलावा एक आम आदमी अपनी आय का एक बड़ा भाग भोजन पर खर्च करता है। क्योंकि कृषि कम आय वाले व निर्धन व्यक्तियों का जीवन आधार है तथा खाद्य सुरक्षा का मुख्य अस्त्र है, इसलिए गरीबी निवारण में इसकी भूमिका स्वतः सिद्ध है।

2.5 कृषि तथा उद्योग में अन्तर

किसी भी व्यवसाय की सफलता सुनिश्चित बनाई गयी योजना के कार्यान्वयन पर निर्भर करती है। योजना ऊपर से तो अच्छी दिखाई देती है परन्तु कई बार व्यवसाय की विशेषताएँ योजना को लागू करने से पहले जी परिस्थितिओं को बदल देती है। कृषि क्षेत्र में निर्णय लेने वाले आधार भूत तत्व उद्योगों से भिन्न होते है जिनका वर्णन आगे किया गया है।

1. **मॉग पक्षः**– मॉग पक्ष को देखे तो कृषि वस्तुओं की मॉग कम लोचदार होती है। यदि खाद्य वस्तुओं की कीमतों में कमी होती है तो लोग उसकी ज्यादा मॉग नहीं करते है। खाद्य वस्तुओं की मॉग जीवन के लिए आवश्यक है लेकिन उनकी कीमतों के कम या ज्यादा होने पर उनकी मॉग पर ज्यादा प्रभाव नहीं पड़ता है। लेकिन दूसरी तरफ औद्योगिक वस्तुओं की मॉग ज्यादा लोचदार होती है। औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों के कम होने पर लोग ज्यादा से ज्यादा खरीदना चाहते है।
2. **पूर्ति पक्षः**– कृषि वस्तुओं की पूर्ति भी कम लोचदार होती है, तथा यह प्राकृतिक दशा पर निर्भर करती है। कृषि उत्पादन को ज्यादा आगतों का प्रयोग करके या ऋतुओं के

विपरीत स्थिति में ज्यादा बढ़ाया नहीं जा सकता है। दूसरी तरफ औद्योगिक वस्तुओं की पूर्ति अधिक लोचदार होती है। औद्योगिक वस्तुओं को अधिक फैक्टरी लगाकर या अधिक घण्टे काम करके बढ़ाया जा सकता है। यदि औद्योगिक वस्तुओं की कीमतों में वृद्धि होती है तो इसकी पूर्ति को भी बढ़ाया जा सकता है।

3. **उत्पादन के साधनः**– कृषि क्षेत्र में जमीन उत्पादन का महत्वपूर्ण साधन होता है। कृषि उत्पादन अधिकतम् कृषि क्षेत्र के आकार तथा स्थिति पर निर्भर करता है। लेकिन उद्योगों में जमीन का उत्पादन के साधन के रूप में ज्यादा महत्व नहीं है। मशीन तथा पूंजी ज्यादा महत्वपूर्ण है। मशीनों को एक बिल्डिंग के विभिन्न तलों पर स्थापित किया जा सकता है।
4. **उत्पादन की जीव विद्या संबंधी प्रकृतिः**– कृषि का संबंध जीव पदार्थो जैसे पशुओं और पौधों से होता है। इस प्रकार यह जीव पदार्थ कई प्रकार की बीमारियों जैसे प्रतिकूल वातावरण तथा छूत के शिकार हो सकते हैं। परन्तु औद्योगिक क्षेत्र में ऐसा नहीं होता है।
5. **जलवायु पर निर्भरताः**– कृषि में उत्पादन मुख्यतः जलवायु की देन है। जिस वर्ष जलवायु अनुकूल रहता उस वर्ष कृषि उत्पादन में वृद्धि होती है जबकि विपरीत होने पर कृषि उत्पादन कम होता है। इस प्रकार कृषि उत्पादन पर जलवायु जैसे तापमान, वर्षा, तुफान, धूप, नमी अथवा बाढ़ इत्यादि तत्वों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। उद्योगों को इस प्रकार के तत्वों से बचाया जा सकता है।
6. **उत्पादन इकाई का छोटा आकारः**– कृषि में उत्पादन की इकाई का आकार बड़ा तथा उससे प्राप्त होने वाला प्रतिफल उद्योगों की अपेक्षा बहुत कम होता हैं। कृषि में भूमि की मॉग बहुत अधिक होती है जबकि पूर्ति वेलोचदार होती है। जनसंख्या के बढ़ने के साथ उत्पादन इकाई का आकार निरन्तर कम होता जा रहा है।
7. **वित्त की समस्याः**– कृषि में जोखिम तथा अनिश्चितता अधिक होती है। उत्पादकता एवं कीमतों में बहुत अधिक अनिश्चितता तथा कम प्रतिफल के कारण इस क्षेत्र में हमेशा वित्त की समस्या रहती है।
8. **कीमतों में उतार–चढ़ावः**– कृषि उत्पादन मौसमी, नाशवान तथा कृषि पदार्थो की निरन्तर मॉग के फलस्वरूप कृषि पदार्थो की कीमतों में उतार–चढाव आता रहता है। कृषि में मॉग एवं पूर्ति में समायोजन करना कठिन होता है। क्योंकि कृषि उत्पादन में समय का अन्तराल होता है।
9. **स्थापना का सीमित चयनः**– कृषि में भूमि उत्पादन का एक आधार भूत साधन होता है। किसान के पास भूमि की स्थापना तथा आकार का चयन सीमित होता है। इसके विपरीत उद्योगों को सुरू करने से पहले स्थापना तथा आकार का चयन करना पड़ता है, जो कि एक महंगा व्यवसाय है।
10. **घटते प्रतिफल का नियमः**– कृषि में उद्योगों की अपेक्षा जल्दी ही घटते प्रतिफल का नियम आरंभ होता है। एक अवस्था के बाद जब उत्पादन को बढ़ाने की दृष्टि से श्रम

तथा पूंजी की अतिरिक्त इकाई लगायी जाती है तो उत्पादन कम अनुपात की दर से बढ़ता है जिसके कारण उत्पादन की लागत बढ़ जाती है।

11. **नाशवान उत्पादः**– अधिकतर कृषि पदार्थ नाशवान प्रकृति के होते है। इन पदार्थो को अधिक देर तक संग्रह करके नहीं रखा जा सकता तथा इनके संग्रह करने की लागत भी बहुत ऊची होती है। इन पदार्थो का तुरंत उपयोग करना पड़ता है।
12. **संयुक्त उत्पादः**– बहुत से कृषि पदार्थ संयुक्त उत्पाद होते है जैसे गेहूँ तथा भूँसा, रूई तथा खिनौले, ऊन तथा मांस आदि। यह एक ही पौधे के भाग होते है और आसानी से उसी क्षेत्र पर कम लागत पर पैदा किए जा सकते है। उद्योगों में भी बहुत से उत्पाद एक साथ पैदा किए जाते है। परन्तु उनकी लागत को अलग नहीं किया जा सकता है।

2.6 कृषि तथा उद्योग के बीच अर्न्तसंबंध

औद्योगिक एवं विकसित देशों की तुलना में सभी अल्पविकसित एवं विकासशील देशों में कृषि उत्पादकता बहुत कम है। भारत एक कृषि प्रधान देश है, लेकिन इसकी प्रति एकड़ उत्पादन जर्मनी, इग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस, आस्ट्रेलिया तथा जापान आदि देशों की तुलना में बहुत ही कम है।

सभी विकसित देशों में देश की 80 प्रतिशत जनसंख्या उद्योगों में कार्यरत है तथा 8 प्रतिशत से भी कम जनसंख्या कृषि क्षेत्र में लगी हुई है, लेकिन उनका कृषि क्षेत्र बहुत ही विकसित है। विकसित देशों में ज्यादा से ज्यादा मशीनों, उर्वरकों, कीटनाशकों तथा अन्य आगतों का प्रयोग किया जाता है। यदि हम विभिन्न देशों के आर्थिक विकास के इतिहास का अध्ययन करे तो यह स्पष्ट हो जाता है कि कृषि ने औद्योगिक विकास में सहायता की है तथा औद्योगिक विकास ने कृषि उत्पादकता बढ़ाने में सहायता की है।

इस प्रकार कृषि तथा उद्योग अर्थव्यवस्था के दो पहिए है। एक क्षेत्र का विकास दूसरे क्षेत्र के विकास पर निर्भर करता है। जब कृषि उत्पादन बढ़ता है तो इससे कृषकों का जीवन स्तर भी बढ़ता है। इससे कृषकों की क्रय शक्ति, कृषि सम्बन्धी उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति, उद्योगों के लिए श्रमिकों की प्राप्ति, विदेशी मुद्रा की प्राप्ति इत्यादि में वृद्धि होती है। इस तरह से कृषि उत्पादन में वृद्धि उद्योगों के विकास में सहायक होती है। दूसरी तरफ उद्योगों का विकास भी कृषि उत्पादन के वृद्धि एवं विकास में सहायक होता है। कृषि में मशीनों, उर्वरकों एवं अन्य आगतों की उपलब्धता भी उद्योगों के विकास पर ही निर्भर करता है। बिना औद्योगिक विकास के अधिक से अधिक आगतों की पूर्ति सम्भव नहीं है। औद्योगिक क्षेत्र बहुत से कृषि श्रमिकों को रोजगार प्रदान करता है, इससे कृषि पर जनसंख्या के दबाव में कमी आती है। उद्योग क्षेत्र कृषि क्षेत्र को बहुत सी उपभोग वस्तुएं उपलब्ध कराता है। इस प्रकार कृषि तथा उद्योग में बहुत ही निकट का सम्बन्ध है। यह बात स्पष्ट हो गयी है कि कृषि तथा उद्योग एक दूसरे के पूरक है, प्रतियोगी नहीं। अतः कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र का साथ–साथ विकास होना चाहिए।

2.7 औद्योगिक क्षेत्र का कृषि क्षेत्र को अंशदान

कुछ समय पश्चात् कृषि क्षेत्र की औद्योगिक क्षेत्र पर निर्भरता बढ़ जाती है। आर्थिक विकास की प्रक्रिया में औद्योगिक क्षेत्र, कृषि क्षेत्र की निम्न प्रकार से सहायता करता है।

1. **कृषि क्षेत्र के उत्पाद को बाजार प्रदान करनाः**– निःसंदेह विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कृषि क्षेत्र का औद्योगिक क्षेत्र को अधिक सहयोग होता है। परन्तु विकास पाश्चात्य अवस्था में औद्योगिक क्षेत्र का कृषि क्षेत्र को सहयोग बढ़ता जाता है। जब उद्योग परिपक्व हो जाते है और खनिजों को कच्चे माल के रूप में प्रयोग किया जाता है तो इसकी पूंजी, श्रम और कच्चे माल पर निर्भरता कम हो जाती है।
2. **कृषि आगतों को प्रदान करनाः**– औद्योगिक क्षेत्र कृषि क्षेत्र को नयी तकनीक प्रदान करता है, विकसित देश में कृषि भी पूंजी प्रधान व्यवसाय है जिसके उच्च श्रेणी के मशीनों, भारी मात्रा में रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयां और उच्च कोटि के बीजों का प्रयोग किया जाता है। ये सब प्रकार की आगतें औद्योगिक क्षेत्र से ही प्राप्त होती है।
3. **उपभोग वस्तुओं की पूर्तिः**– औद्योगिक क्षेत्र कृषि क्षेत्र को केवल आगतों की पूर्ति नहीं करता है, बल्कि कई प्रकार के उपभोग वस्तुओं की पूर्ति करता है। कृषक भी कुछ आरामदायक एवं ऐश्वर्य वाली वस्तुओं का उपभोग करने लगते है जिससे उसका जीवन स्तर भी ऊॅचा और अधिक काम करने की प्रेरणा देता है।
4. **भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करनाः**– भारत जैसे विकासशील देशों में कृषि पर जनसंख्या का दबाव बहुत अधिक होता है। जैसे–जैसे औद्योगिक क्षेत्र का विकास होता है कृषि क्षेत्र से श्रमिकों का प्रवाह औद्योगिक क्षेत्र की ओर होता है, जिससे भूमि पर जनसंख्या का दबाव कम हो जाता है। अधिक जनसंख्या के कारण ही कृषि क्षेत्र में उत्पादकता कम रही है तथा जोतों के उपविभाजन और विखण्डन की समस्या पैदा हुई है। औद्योगिकरण के कारण ही कुछ विकसित देशों जैसे अमेरिका और इंग्लैण्ड में जोतों का आकार बड़ा हुआ है तथा कृषि की उत्पादकता में भी वृद्धि हुई है।
5. **बुद्धिमत्ता वाला वातावरणः**– जब कृषि क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र के सम्पर्क में आता है तो परम्परागत वातावरण नये वातावरण में परिवर्तित हो जाता है। यह नया वातावरण, नया कौशल, पूंजी निर्माण, जन्म दर में कमी तकनीकी आविश्कार और इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उद्यम वर्ग को पैदा करने में सक्षम होता है जिसमें कृषि क्षेत्र का और अधिक विकास होता है।
6. **कृषि विकास के लिए अधोसंरचनाः**– कृषि का विकास आधुनिक कृषि आगतों पर निर्भर करता है। परन्तु इनके उपयोग के लिए कई प्रकार की सहायक क्रियाओं की आवश्यकता होती है। जैसे यातायात के साधन, ऊर्जा कृषि अनुसंधान प्रयोगशालाएं आदि औद्योगिक क्षेत्र की ही देन है।

2.8 कृषि क्षेत्र का औद्योगिक क्षेत्र को अंशदान

कृषि क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र को निम्न प्रकार से सहायता करता है।

1. **उद्योगों को कच्चे माल की आपूर्ति**:– उद्योगों में प्रयोग होने वाला कच्चा माल कृषि क्षेत्र से ही प्राप्त होता है। जब कृषि क्षेत्र का विकास होता है तो औद्योगिक क्षेत्र का भी विकास होता है क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र को कच्चे माल की आपूर्ति अधिक होती है।
2. **खाद्यान्नों की आपूर्ति**:– जब खाद्यान्न बाजार में पहुँचता है तो गैर कृषि क्षेत्र को प्राप्त है।
3. **कृषि तथा विदेशी व्यापार**:– यद्यपि स्वतंत्रता के बाद भारत अनाज का आयात करता था, फिर भी यहाँ से कृषि आधारित उद्योगों को कृषि उत्पादों का निर्यात भी करता रहा है। इस प्रकार देश को अनिवार्य विदेशी विनिमय भी प्रदान करता रहा है जिसकी वजह से पूंजीगत वस्तुओं का आयात किया जाता है।
4. **औद्योगिक क्षेत्र के बाजार का विस्तार**:– कृषि का विकास होने पर कृषकों की आय में वृद्धि होती है जिसकी वजह से इन कृषकों की औद्योगिक वस्तुओं की मांग में विस्तार होता है।
5. **गैर कृषि क्षेत्र को श्रम तथा पूंजी की आपूर्ति**:– विकास की प्रारम्भिक अवस्था में कृषि क्षेत्र ही श्रम तथा पूंजी का एक मात्र श्रोत होता है इसलिए इसे औद्योगिक क्षेत्र का संरक्षक भी कहा जाता है। इग्लैण्ड तथा जापान में बहुत से उद्योग किसानों द्वारा सुरू किए गये थे। भारत में भी सूती वस्त्र उद्योग अधिकतर किसानों द्वारा सुरू किए गये थे।

इस प्रकार उपरोक्त कथन से यह निष्कर्ष निकला जा सकता है कि कृषि क्षेत्र का विकास होने से औद्योगिक क्षेत्र का विकास होता है और औद्योगिक क्षेत्र का विकास होने से कृषि क्षेत्र का विकास होता है। इस प्रकार दोनों क्षेत्रों का विकास होना चाहिए। एक क्षेत्र की गतिहीनता दूसरे क्षेत्र को भी गतिहीन बना देती है। परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था का विकास रूक जाता है।

अभ्यास प्रश्न

अ. सत्य/असत्य

1. विकासशील देशों में जनसंख्या बहुत अधिक होती है। (सत्य/असत्य)
2. विकासशील देशों में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय बहुत ही कम होती है। (सत्य/असत्य)
3. कृषि तथा उद्योग एक दूसरे के पूरक नहीं है। (सत्य/असत्य)
4. आर्थिक विकास की प्रारम्भिक अवस्था में जनसंख्या का अधिकतर भाग कृषि में कार्यरत होता है। (सत्य/असत्य)
5. जैसे–जैसे विकास की प्रक्रिया तेज होती है वैसे–वैसे देश की राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा बढ़ता जाता है। (सत्य/असत्य)
6. विकसित देशों की राष्ट्रीय आय में कृषि का हिस्सा अधिक होता है। (सत्य/असत्य)
7. भारत में खाद्यान्नों की मॉग वर्ष 2011–12 में 235.4 मिलियन टन थी। (सत्य/असत्य)

8. कृषि वस्तुओं की मॉग कम लोचदार होती है। (सत्य/असत्य)
9. औद्योगिक वस्तुओं की मॉग ज्यादा लोचदार होती है। (सत्य/असत्य)
10. जिस वर्ष जलवायु अनुकूल रहता है, उस वर्ष कृषि उत्पादन कम होता है। (सत्य/असत्य)
11. कृषि क्षेत्र का विकास होने पर कृषकों की आय में वृद्धि होती है। (सत्य/असत्य)
12. कृषि वस्तुओं की पूर्ति कम लोचदार होती है। (सत्य/असत्य)
13. औद्योगिक वस्तुओं की पूर्ति अधिक लोचदार होती है। (सत्य/असत्य)

ब. एक शब्द में उत्तर दीजिए

1. किसी भी अर्थव्यवस्था को मुख्यतः कितने क्षेत्रों में बाटा जा सकता है।
2. प्राथमिक क्षेत्र में किनकों शामिल किया जाता है।
3. द्वितीयक क्षेत्र में किनकों शामिल किया जाता है।
4. तृतीयक क्षेत्र में किनकों शामिल किया जाता है।
5. भारत के सकल घेरलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि का हिस्सा 1950–51 कितना था।
6. भारत के सकल घेरलू उत्पाद (जी.डी.पी.) में कृषि का हिस्सा 2011–12 में कितना था।
7. विकासशील देशों में कार्यकारी जनसंख्या का बहुत अधिक भाग किस पर निर्भर होता है।
8. 2001 में भारत की कार्यकारी जनसंख्या का कितना प्रतिशत कृषि एवं सम्बद्ध क्रियाओं में कार्यरत था।
9. भारत की कूल निर्यात में कृषि का हिस्सा 2010–11 में कितना था।

2.9 सारांश

उपरोक्त इकाई के अध्ययन के बाद यह बात स्पष्ट है कि किसी भी देश के आर्थिक विकास में कृषि का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान होता है। कृषि अर्थव्यवस्था की रीढ़ होती है। कृषि से केवल भोजन तथा कच्चे माल की प्राप्ति नहीं होती है, बल्कि जनसंख्या के एक बड़े भाग को रोजगार की उपलब्ध कराता है। कृषि तथा उद्योग परस्पर एक दूसरे पर निर्भर करते है। एक क्षेत्र का विकास होने पर दूसरे क्षेत्र का भी विकास होता है। एक क्षेत्र का उत्पादन दूसरे क्षेत्र के लिए आगत बन जाता है। एक क्षेत्र के विकास होने का अर्थ है दूसरे क्षेत्र को अधिक आगतों का प्रवाह। ''***दूसरे की सहायता करो यदि आप अपनी सहायता चाहते है।***'' यही दोनों क्षेत्रों की निर्भरता का सारांश है। जैसे–जैसे किसी देश का आर्थिक विकास होता है, वैसे–वैसे कृषि की भूमिका में भी परिवर्तन आ जाता है। जब द्वितीयक एवं तृतीयक क्षेत्रों का विकास होता है तो कृषि की महत्ता कम हो जाती है। कुछ समय पश्चात् कृषि क्षेत्र का राष्ट्रीय आय में हिस्सा भी कम हो जाता है, परन्तु कृषि क्षेत्र का अन्य क्षेत्रों पर निर्भरता बढ़ जाती है।

कृषि तथा उद्योग दोनों एक दूसरे के पूरक है, प्रतियोगी नहीं। बिना कृषि के आधुनीकरण के औद्योगिक विकास सम्भव नहीं है क्योंकि यदि कृषि विकास नहीं होगा तो अधिकतर

जनसंख्या के पास क्रयशक्ति नहीं होगी तथा बाजार का विस्तार भी नहीं होता। अतः यह बात भी सत्य है कि बिना औद्योगिकरण के कृषि विकास भी सम्भव नहीं है। अतः कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र का साथ–साथ विकास होना चाहिए।

2.10 शब्दावली

आर्थिक विकास : आर्थिक विकास की धारणा, आर्थिक संवृद्धि की धारणा से अधिक ब्यापक है। आर्थिक संवृद्धि उत्पादन की वृद्धि से सम्बन्धित है जबकि आर्थिक विकास सामाजिक, आर्थिक, गुणात्मक एवं परिमाणात्मक सभी परिवर्तनों से सम्बन्धित है। जहां आर्थिक संवृद्धि परिमाणात्मक परिवर्तनों से सम्बन्धित है तथा आर्थिक विकास परिमाणात्मक एवं गुणात्मक दोनों प्रकार के परिवर्तनों से सम्बन्धित है अर्थात राष्ट्रीय उत्पाद तथा साथ ही जीवन की गुणवत्ता में सुधार ।

आर्थिक संवृद्धि : आर्थिक संवृद्धि से अभिप्राय किसी समयावधि में किसी अर्थव्यवस्था में होने वाली वास्तविक आय की वृद्धि से है । सामान्यतया यदि सकल राष्ट्रीय उत्पाद, सकल घरेलू उत्पाद तथा प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हो रही है तो हम कहते है कि आर्थिक संवृद्धि हो रही है।

आगत : आगत किसी भी उत्पादन प्रक्रिया में उत्पादन के साधन होते है जैसे जमीन, श्रम, पूँजी तथा उद्यम।

निर्गत : निर्गत उत्पादन प्रक्रिया में सभी उत्पादन के साधनों का प्रयोग करने के बाद उत्पादित अन्तिम वस्तुएँ तथा सेवाये है।

प्राथमिक क्षेत्र : प्राथमिक क्षेत्र में मुख्यतः कृषि (वानिकी एवं पशुपालन), खनन तथा मछली व्यवसाय को शामिल किया जाता है।

द्वितीयक क्षेत्र : द्वितीयक क्षेत्र में सभी प्रकार के उद्योग आते है।

तृतीयक क्षेत्र : तृतीयक क्षेत्र में सेवाएं जैसे बैंकिग, परिवाहन, व्यापार इत्यादि को शामिल किया जाता है।

पूँजी निर्माण : व्यक्तियों एवं घरेलू क्षेत्र की बचतों को व्यवसायिक क्षेत्र में निवेश किया जाता है।

सकल घरेलू उत्पाद (जी. डी.पी.) : किसी देश की घरेलू सीमा के भीतर स्थित निवासी उत्पादक तथा गैर निवासी उत्पादक इकाइयों द्वारा उत्पादित अन्तिम वस्तुओं तथा सेवाओं के कुल मूल्य का योग होता है।

उत्पादन : उत्पादन का सम्बन्ध किसी क्षेत्र में उत्पादन की कुल मात्रा से है ।

उत्पादकता : उत्पादकता का सम्बन्ध प्रति इकाई भूमि में कुल उत्पादन से है।

कम लोचदार माँग : जब एक वस्तु की माँग में आनुपातिक परिवर्तन कीमत में आनुपातिक परिवर्तन की अपेक्षा कम होता है तो इसे कम लोचदार माँग कहते है।

कम लोचदार माँग : जब एक वस्तु की माँग में आनुपातिक परिवर्तन कीमत में आनुपातिक परिवर्तन की अपेक्षा कम होती है, तो इसे कम लोचदार माँग कहते है।

अधिक लोचदार माँग : जब एक वस्तु की माँग में आनुपातिक परिवर्तन कीमत में आनुपातिक परिवर्तन की अपेक्षा ज्यादा होता है तो इसे अधिक लोचदार माँग कहते है।

अधोसंरचना : एक देश की आन्तरिक सुविधा जो कि व्यवसायिक क्रियाओं को सम्भव बनाती है जैसे कि दूरसंचार, परिवहन, वित्तीय संस्थाए, उर्जा पूर्ति इत्यादि सेवाएं ।

घटते प्रतिफल का नियम : यदि साधनों को जिस अनुपात में बढाया जाता है, उत्पादन उससे कम अनुपात में बढ़ता है तो इसे घटते प्रतिफल का नियम कहते है। जैसे यदि सभी साधनों को 10% बढ़ाया जाता है, लेकिन उत्पादन 8% बढ़ता है तो इसे घटते प्रतिफल का नियम कहते है।

संयुक्त उत्पाद : संयुक्त उत्पाद दो या दो से अधिक वें उत्पाद है जो एक ही उत्पादन प्रक्रिया से एक साथ उत्पादिक किए जाते है जैसे दूध से दही, घी इत्यादि ।

नाशवान उत्पाद : ऐसी वस्तुएं या उत्पाद जो बहुत ही कम समय में नष्ट हो जाते है।

2.11. (अ) अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अ. सत्य/असत्य

(1) सत्य (2) सत्य (3) असत्य (4) सत्य (5) असत्य (6) असत्य (7) सत्य (8) सत्य (9) सत्य (10) सत्य (11) सत्य (12) सत्य (13) सत्य

ब. एक शब्द में उत्तर दीजिए

(1) तीन (2) प्राथमिक क्षेत्र में मुख्यतः कृषि, खनन तथा मछली व्यवसाय को शामिल किया जाता है। (3) द्वितीयक क्षेत्र में सभी प्रकार के उद्योग शामिल किये जाते है। (4) तृतीयक क्षेत्र में सेवाये जैसे बैंकिग, परिवहन, ब्यापार आदि को शामिल किया जाता है। (5) 56.5 प्रतिशत (6) 13.9 प्रतिशत (7) कृषि पर (8) 40.2 प्रतिशत (9) 9.9 प्रतिशत

2.12 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ

1. R.K. Lekhi and Joginder Singh "Technological Possibilities of Agricultural Development in India"
2. S.S Chinna "Agricultural Economics and Indian Agriculture
3. गौरव दत्त एवं के. पी. एम. सुन्दरम, " भारतीय अर्थब्यवस्था "
4. एस. के. मिश्र एवं बी. के. पुरी " भारतीय अर्थब्यवस्था "
5. Ramesh Chand. S.S. Raju and L.M. Pandey "Growth Crisis in Agriculture"EPW. June 30,2007.
6. डॉ. पी. गुप्ता ''कृषि अर्थशास्त्र''
7. डॉ. के. एन. जोशी एवं मंजुला मिश्रा '' कृषि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त एवं भारत में कृषि विकास''

2.13 उपयोगी /सहायक ग्रन्थ

1. **W.Burns " Technological Passibilities of Agricultural Development in India"**
2. **T. Eallance "Agricultural Economics and growth"**
3. **Harold G. Haldrow "Contemporary Readings in Agricultural Economics"**

4. **Carl Eicher and Lawrence with (Ed.) "Agriculture in Economic Development"**
5. **R. cohen "The Economics of Agriculture"**
6. **A.P. Thiralwal "Growth and Development"**
7. **John W. Mellor "The Economics of Agricultural Development"**

2.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि के महत्व का उल्लेख कीजिए।
2. कृषि तथा उद्योग की पूरकता का उल्लेख कीजिए।
3. एक विकासोन्मुख देश में आर्थिक विकास की दर तीव्र करने में कृषि जो भूमिका निभाती है उसकी विवेचना कीजिए।
4. कृषि आर्थिक विकास का इंजन है। इस कथन की समीक्षा कीजिए।
5. एक अर्थव्यवस्था के विकास में कृषि के महत्व का उल्लेख कीजिए।
6. कृषि तथा उद्योगों में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
7. कृषि तथा उद्योग के बीच अर्न्तसंबंध की ब्याख्या कीजिए।
8. कृषि क्षेत्र का औद्योगिक क्षेत्र को तथा औद्योगिक क्षेत्र का कृषि क्षेत्र को अंशदान का वर्णन कीजिए।

इकाई – 3 कृषि क्षेत्र का आकार, वृद्धि एवं उत्पादकता की प्रवृत्तियां

इकाई संरचना

3.1 प्रस्तावना

3.2 उद्देश्य

3.3 कृषि क्षेत्र के आकार में वृद्धि की प्रवृत्ति

3.4 कृषि उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति

3.5 कृषि उत्पादकता में वृद्धि की प्रवृत्ति

3.6 वे साधन जिन पर उत्पादकता निर्भर करती है।

3.7 कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता के कम होने के कारण

3.8 कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के उपाय

3.9 महत्व

3.10 सारांश

3.11 शब्दावली

3.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

3.13 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ

3.14 उपयोगी / सहायक ग्रन्थ

3.15 निबन्धात्मक प्रश्न

3.1. प्रस्तावना

कृषि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित यह तृतीय इकाई है इसके पहले की द्वितीय इकाई में आप आर्थिक विकास में कृषि का महत्व और कृषि उद्योग सम्बन्ध की सामान्य जानकारी प्राप्त कर चुके है।

भारत जैसे विकासशील देश में कृषि ही जीविका का मुख्य साधन है। भारत की 65% जनता कृषि पर निर्भर है। लेकिन भारत में खेतो में फसलों की पैदावार मानसून पर निर्भर है। कृषि का लगभग 60% क्षेत्र वर्षा पर निर्भर है इसलिए भारतीय कृषि को 'मानसून का जुआ' कहा जाता है।

स्वतंत्रता से पूर्व कृषि की स्थिति ठीक नही थी। ब्रिटिश शासको की औपनिवेशिक नीति के फलस्वरुप इस देश में कृषि का कोई विकास नहीं हुआ । उत्पादन एवं उत्पादकता का स्तर बहुत ही कम था । लेकिन स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात विशेषकर हरित क्रान्ति के बाद की अवधि से कृषि में नयी तकनीकी के प्रयोग से कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में काफी वृद्धि हुई है। 1965–66 तथा 1966–67 में देश में भयंकर सूखा पड़ा और भूखमरी से बचने के लिए 1 करोड़ 90 लाख टन खाद्यान्नों का आयत करना पड़ा । इस प्रकार परिस्थितियों के कारण कृषि विकास युक्ति पर पुर्नविचार करने की जरूरत महसूस की गयी तथा कृषि उत्पादन व उत्पादकता को बढाने के महत्व को स्वीकार किया जाने लगा। इस प्रकार कृषि नीति दिशा संस्थागत सुधारों से हटकर प्रौद्योगिकी व तकनीकों की तरफ हो गया । भारतीय कृषि में कृषिगत क्षेत्र को बढ़ाने की बहुत ही कम संभवना है। केवल गहन खेती (श्रम गहन एवं पूंजी गहन दोनों) द्वारा ही कृषि उत्पादन को बढ़ाने की ज्यादा सम्भावना है। प्रत्येक कृषक अपने खेत की उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने का प्रयास करता है। उत्पादन एवं उत्पादकता में थोड़ा अन्तर होता है। उत्पादन का सम्बन्ध कूल मात्रा से है, जबकि उत्पादकता प्रति इकाई भूमि में कूल उत्पादन है। भूमि उत्पादन का मुख्य साधन है। कुछ छोटे किसान बड़े किसानों की अपेक्षा ज्यादा उत्पादन करते है, और यह सम्भव इसलिए हो पाता है क्योंकि छोटे खेत की उत्पादकता ज्यादा है।

3.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप समझा सकेगें कि

1. कृषि क्षेत्र के आकार में वृद्धि की क्या प्रवृत्ति है।
2. कृषि उत्पादन में वृद्धि की क्या प्रवृत्ति है।
3. कृषि उत्पादकता में वृद्धि प्रवृत्ति क्या है।
4. वे कौन से साधन है जिन पर कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता निर्भर करती है।
5. कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता के कम होने के कारण तथा इनको बढ़ाने के उपाय ।

3.3. कृषि क्षेत्र के आकार में वृद्धि की प्रवृत्ति

स्वतन्त्रता के पश्चात तथा आर्थिक आयोजन आरम्भ होने के पश्चात और कृषि विकास पर बल देने के कारण कृषि क्षेत्र के आकार में लगातार वृद्धि हुई है। श्रमिकों की संख्या,

मशीनरी इत्यादि कृषि क्षेत्र के आकार पर ही निर्भर करता है। सामान्यतया यदि कृषि क्षेत्र का आकार बड़ा है तो हम इसे बड़े पैमाने की खेती कहते है, यदि आकार छोटा है तो हम इसे छोटे पैमाने की खेती कहेगें।

तालिका-01 स्वतन्त्रता के बाद मुख्य फसलों के क्षेंत्रफल में वृद्धि (लाख हेक्टेअर)

	1945–50	1964–65	2008–09
(1) सभी खाद्यान्न जिसमे	990	1180	1238
चावल	300	360	456
गेहूं	100	130	277
मोटे अनाज	390	400	283
दाले	200	240	230
(2) सभी अखाद्यान्न जिसमे	230	330	433
तिलहन	50	115	277
गन्ना	16	26	44
रुई	30	84	45
आलू	2	4	16
सभी फसलें	1220	1510	1671

स्रोत : भारत सरकार आर्थिक समीक्षा विभिन्न अंक

स्वतन्त्रता के बाद कृषि क्षेत्र के आकर में वृद्धि के साथ–साथ प्रति हेक्टेअर उत्पादन में वृद्धि के परिणाम स्वरुप लगभग सभी फसलों के कूल उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी गयी है स्वतन्त्रता के पश्चात मुख्य फसलों के क्षेत्रफल में वृद्धि को नीचे तालिका में दिखाया गया है।

अगर हम स्वतन्त्रता के बाद के आकड़ो को देखे तो सभी फसलों के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है स्वतन्त्रता के बाद की अवधि में अतिरिक्त भूमि पर भी खेती की जाने लगी और सिचाई सुविधाओं के विस्तार के परिणाम स्वरुप बंजर भूमि पर भी खेती की जाने लगी । कुछ परिस्थितियों में इसे ब्यर्थ भूमियों और वन अधीन भूमियों में भी बढ़ाया गया ।

अगर हम तालिका-01 देखे तो आलू की खेती के अधीन क्षेत्रफल में सबसे अधिक वृद्धि हुई है। अर्थात यह 1949–50 में यह 2 लाख हेक्टेअर से बढ़कर 2008–09 में 16 लाख हेक्टेअर हो गया अर्थात 8 गुने की वृद्धि हुई है।

दूसरा स्थान तिलहन का है जो इस अवधि में बढ़कर 50 हेक्टेअर से 277 लाख हेक्टेअर हो गया अर्थात इसमें 5 गुने से अधिक की वृद्धि हई है।

खाद्यान्नों में सबसे अधिक गेहूँ के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। अर्थात यह 100 लाख हेक्टअर से बढ़कर 277 लाख हेक्टअर हो गया । इसके बाद चावल के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है जो कि 300 लाख हेक्टेअर से बढ़कर 456 लाख हेक्टेअर हो गया । गेहू के

अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि का मुख्य कारण नयी तकनीक, उर्वरक इत्यादि का प्रयोग था, परन्तु गेहू के अधीन क्षेत्रफल में यह वृद्धि मोटे अनाजों एवं दालों की कीमत पर था।
अगर उपरोक्त तालिका को हम देखे तो यह स्पष्ट होता है कि हरित क्रान्ति के बाद की अवधि में कृषि क्षेत्र के आकार में वृद्धि बहुत ही कम रही है।

3.4 कृषि उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति

कृषि उत्पादन को मुख्य रुप से दो भागों में बाँटा जाता है– (1) खाद्यान्न (2) अखाद्यान्न
कूल उत्पादन में खाद्यान्नों का हिस्सा दो तिहाई से थोड़ा कम है। खाद्यान्नों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान चावल तथा गेहूँ का है, जबकि अखाद्यान्नों में खाद्य तेलों का महत्वपूर्ण स्थान है। कुल खाद्यान्नों का उत्पादन 1950–51 में 508 लाख टन था जो कि 2011–12 बढ़कर 2526 लाख टन हो गया अर्थात 62 वर्ष में खाद्यान्नों में वृद्धि लगभग 5 गुने के बराबर हुई है अगर हम 1950–51 से लेकर 2011–12 तक की अवधि को दो हिस्से में बाट ले तो विश्लेषण करने में आसानी होगी । यह दो हिस्से है हरित क्रान्ति के पहले की अवधि तथा हरित क्रान्ति के बाद की अवधि । तीसरी योजना के बाद की अवधि को हरित क्रान्ति का काल कहा जाता है।
अगर हम हरित क्रान्ति के बाद की अवधि में देखे तो खाद्यान्नों के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई है। खाद्यान्नों में गेहूँ के उत्पादन में तेज वृद्धि हुई है। 1950–51 गेहूँ का उत्पादन 64 लाख टन था, जो तीसरी योजना में औसत 111 लाख टन तथा 2011–12 में 902 लाख टन हो गया । अर्थात स्वतन्त्रता के बाद गेहूँ के उत्पादन में 14 गुने से भी ज्यादा वृद्धि हुई है।
चावल के उत्पादन में वृद्धि कुछ समय पश्चात हुआ और यह अधिक उपजाऊ किस्म के बीजों के प्रयोग के फलस्वरुप हुआ 1980–81 के पश्चात चावल के उत्पादन में तेजी से वृद्धि हुई है। चावल का उत्पादन 1950–51 में 206 लाख टन था जो तीसरी योजना में औसतन 351 लाख टन तथा 2011–12 में बढ़कर 1034 लाख टन हो गया अर्थात तीसरी योजना के बाद की अवधि में चावल का उत्पादन तेजी से बढा है। ज्वार का उत्पादन विभिन्न योजनाओं में लगभग स्थिर रहा है जबकि बाँजरे के उत्पादन में वृद्धि पायी गयी है। मक्के के उत्पादन में तेजी से वृद्धि पायी गयी है, क्योंकि हाल के वर्षो नये संकर बीजों के प्रयोग से यह संभव हो सका है। जहाँ तक दालों का सम्बन्ध है, इनका उत्पादन (कुछेक वर्षो को छोड़कर) माँग की तुलना में हमेशा कम रही है, जिसके कारण देश को बड़ी मात्रा में दालों का आयात करना पड़ा है। दालों का उत्पादन 1950–51 में 84 लाख टन था जो तीसरी योजना में औसत 111 लाख टन तथा 2011–12 में यह बढ़कर 170 लाख टन हो गया ।
जहाँ तक आखाद्यान्नों में तिलहनों का सम्बन्ध है, कुछ वर्षो को छोड़कर इसमें लगातार वृद्धि हुई है। तिलहन का उत्पादन 1950–51 में 62 लाख टन का उत्पादन हुआ जो कि 2011–12 में 301 लाख टन हो गया । इसके बावजूद तिलहन की आपूर्ति, माँग की अपेक्षा बहुत कम है जिसके कारण देश को बड़ी यात्रा से खाद्य तेलो का आयात करना पड़ा है।

कपास का उत्पादन विभिन्न योजनाओं में लगातार बढ़ा है जैसे 1950–51 में 30 लाख टन था जो कि तीसरी योजना में औसतन 54 लाख टन तथा 2011–12 में 352 लाख टन हो गया । जहाँ तक गन्ने के उत्पादन का सम्बन्ध है इसमें विभिन्न योजनाओं में सतत रुप से वृद्धि हुई है। गन्ने का उत्पादन 1950–51 में 571 लाख टन था जो कि बढ़कर तीसरी योजना में औसतन 1092 लाख टन हो गया तथा 2011–12 में बढ़कर 3512 लाख टन हो गया ।

तालिका–02

कृषि उत्पादन में वृद्धि की प्रवृत्ति (लाख टन में)

फसल	1950–51	तीसरी योजना (1961–66) औसत	2011–12*
गेहूँ	64	111	902
चावल	206	351	1034
ज्वार	55	88	60
बाँजरा	26	39	102
मक्का	17	46	213
दालें	84	11	170
सभी खाद्यान्न	508	810	2526
तिलहन	62	73	301
कपास	30	54	352
गन्ना	571	1092	3512

* भारत सरकार के कृषि मन्त्रालय द्वारा जारी अग्रिम अनुमान

स्रोत : भारत सरकार आर्थिक समीक्षा, विभिन्न अंक

3.5 कृषि उत्पादकता में वृद्धि की प्रवृत्ति

कृषि की उत्पादकता के मुख्य रुप से दो पहलू होते हैः–

(1) भूमि की उत्पादकता (2) कृषि में लगे हुए श्रमिकों की उत्पादकता

स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात भूमि की उत्पादकता लगभग सभी फसलो के सम्बन्ध में धीरे–धीरे बढ़ी है, लेकिन उत्पादकता में यह वृद्धि हरित क्रान्ति के बाद अधिक दिखाई पड़ती है।

जहाँ तक श्रमिको की उत्पादकता का सम्बन्ध है, यह लगभग स्थिर रही है। कृषि की उत्पादकता (विशेषरुप से भूमि की) अनेक कारकों पर निर्भर करती है, परन्तु यह मुख्य रुप से कृषि में प्रयुक्त आगतों जैसे खेत का आकार, बीज, उर्वरक, सिचाई, बिजली, वित्त, प्राद्योगिकी इत्यादि की मात्रा, गुणवत्ता, उपलब्धता तथा पर्याप्तता पर निर्भर करती है।

कृषि ढॉचा भी कृषि उत्पादकता को बहुत अधिक प्रभावित करता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व कृषि की दशा बहुत ही खराब थी, कृषि की उत्पादकता भी बहुत कम थी, लेकिन 1950–51 के बाद विशेषरुप से हरित क्रान्ति के बाद सिचाई के विस्तार, उच्च उत्पादकता वाले बीजों के प्रयोग, नयी तकनीक वाले यन्त्रों के प्रयोग इत्यादि द्वारा सभी फसलों के प्रति हेक्टेअर उत्पादकता में लगातार वृद्धि प्राप्त की गयी । कुछ खाद्यान्नों में तेजी से वृद्धि प्राप्त की गयी है। ए खाद्यान्न है गेहूँ, चावल तथा मक्का ।

नीचे तालिका में मुख्य फसलों की प्रति हेक्टेअर उत्पादकता दी गयी हैः

तालिका–03स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात मुख्य फसलों की प्रति हेक्टेअर उत्पादकता

(किलोग्राम प्रति हेक्टेअर)

फसल	1950–51	1970–71	2000–01	2010–11
सभी खाद्यान्न	552	872	1626	1921
चावल	668	1023	1901	2240
गेहूँ	655	1307	2708	2938
ज्वार	353	466	764	956
बाजरा	288	622	688	1069
मक्का	547	1279	1822	2507
छालें	441	524	544	689
सभी अखाद्यान्न				
तिलहन	481	579	810	1159
कपास	88	106	190	510
पटसन	1043	1186	2026	2344

स्रोत : भारत सरकार आर्थिक समीक्षा, विभिन्न अंक

अगर हम उपरोक्त तालिका का अध्ययन करे तो स्वतंत्रता के बाद अर्थात 1950–51 से लेकर 2010–11 की अवधि में सभी खाद्यान्नों की प्रति हेक्टअर उत्पादकता में तीन गुने से ज्यादा की वृद्धि हुई है (1950–51 में 552 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर से बढ़कर 2010–11 में 1921 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर हो गयी) ।

- अगर हम 1950–51 के बाद की अवधि को देखे तो सबसे अधिक वृद्धि गेहूँ की उत्पादकता में दिखाई देती है। गेहूँ की उत्पादकता 1950–51 में 655 किलोग्राम प्रति हेक्टअर थी जो 2010–11में बढ़कर 2938 किलोग्राम प्रति हेक्टअर हो गयी।
- चावल की उत्पादकता में भी काफी वृद्धि हुई है, यह 1950–51 में 668 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर से बढ़कर 2010–11 में 2240 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर हो गया ।
- ज्वार तथा बाँजरे की उत्पादकता में वृद्वि बहुत ही कम हुई है, जबकि गन्ने की उत्पादकता में तेजी वृद्धि हुई है। यह 1950–51 में 547 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर से बढ़कर 2010–11 में 2507 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर हो गया ।

- दालों की उत्पादकता में बहुत ही कम वृद्धि हुई है।दालों की उत्पादकता 1950–51 में 441 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर थी जो कि 2010–11 में 689 किलोग्राम प्रति हेक्टअर हो गयी।
- दालों का उत्पादकता घरेलू उपयोग की अपेक्षा काफी कम है, इसलिए देश को बड़े पैमाने पर दालों का आयात करना पड़ता है। तिलहनों की उत्पादकता 1950–51 में 481 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर थी जो कि 2010–11 में बढ़कर 1159 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर हो गयी।
- कपास की उत्पादकता में 2001 के बाद तेजी से वृद्धि हुई है। यह 1950–51 में 88 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर था, जो कि 2000–01 में 190 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर तथा 2010 –11 में 510 किलोग्राम प्रति हेक्टेअर हो गया ।

यदि हम भारत की प्रत्येक फसल की औसत उत्पादकता की तुलना विश्व के अधिकतम उत्पादकता वाले देशों के साथ करें तो यह ज्ञात होता है कि हमारे देश के फसलों की प्रति हेक्टेअर उत्पादकता बहुत ही कम है। अधिकतर कृषि फसलों के उत्पादन में भारत विश्व के सबसे बड़े उत्पादक देशों में से एक है। लेकिन अगर उत्पादकता की बात करे तो भारत का स्थान बहुत ही नीचे है।

नीचे दी गयी तालिका द्वारा यह बात स्पष्ट हो जाती है।

तालिका-04 कुछ देशों में प्रति हेक्टेअर उत्पादकता (2009) (किलोग्राम/हेक्टेअर)

चावल		गेहूँ		मक्का	
देश	उत्पादकता	देश	उत्पादकता	देश	उत्पादकता
मिश्र	10000	इंग्लैण्ड	7927	अमेरिका	10339
अमेरिका	7941	फ्रांस	7447	फ्रांस	9101
चीन	6582	मिश्र	6448	अर्जेन्टाइना	5614
जापान	6522	चैन	4739	चीन	5256
भारत	3195	भारत	2907	भारत	2002
विश्व	**4329**	**विश्व**	**3039**	**विश्व**	**5162**

गन्ना		मूंगफली	
देश	उत्पादकता	देश	उत्पादकता
मिश्र	121429	अमेरिका	3824
अर्जेन्टीना	84366	चीन	3357
ब्राजील	79854	ब्राजील	2638
चीन	68079	पाकिस्तान	2579
भारत	64486	भारत	1007
विश्व	69866	विश्व	1522

Source: Government of India, Agricultural Statistics at a Glance, 2011 (Delhi)

उपरोक्त तालिका में भारत की चावल में उत्पादकता मिश्र की तुलना में एक तिहाई से भी कम है, जबकि चीन तथा जापान की तुलना में लगभग आधी है। इसी प्रकार गेहूँ, मक्का, गन्ना तथा मूँगफली की उत्पादकता भी भारत में बहुत ही कम है।

3.6 वे साधन जिन पर उत्पादकता निर्भर करती है

कृषि की उत्पादकता जिन महत्वपूर्ण साधनों पर निर्भर करती है वें निम्न है–

(1) **जमीन की उर्वरता** :– जमीन के कुछ टुकड़ों की उर्वरता दूसरे की तुलना में ज्यादा होती है, अतः ज्यादा उर्वरा जमीन में ज्यादा उत्पादन करना आसान होता है।

(2) खेती करने की विधि :– कृषि की उत्पादकता खेती करने की विधि पर भी निर्भर करती है। खेती की पुरानी विधि तथा पुरानी तकनीकी ज्यादा उत्पादन प्राप्त करने के रास्ते में बाँधा है। जबकि खेती की नयी विधि और तकनीकी ज्यादा उत्पादन तथा उत्पादकता प्राप्त करने में सहायक होती है।

(3) **फसलों की प्रकृति** :– कुछ फसल किसी क्षेत्र के लिए उपयुक्त होती है तो कुछ फसल अन्य क्षेत्र के लिए। यदि फसलों को क्षेत्र की उपयुक्तकता के आधार पर बोया जाय तो इससे उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है।

(4) **आगतों की उपलब्धता** :– अगर सभी उत्पादन के आगत पर्याप्त मात्रा में तथा उचित मूल्य पर उपलब्ध है तो इससे इनका उचित प्रयोग करके उत्पादन तथा उत्पादकता की बढाया जा सकता है।

(5) **साख सुविधा** :– अगर आसानी से उचित ब्याज दर पर साख की उपलब्धता है तो इससे उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि साख का प्रयोग कृषक विभिन्न आगतों को खरीदने में करता है। इन आगतों का प्रयोग करके कृषक उत्पादन तथा उत्पादकता को बढ़ा सकता है।

(6) **खेत का आकार** :– इसमें बहुत विवाद है, कुछ अर्थशास्त्री कहते है कि खेत के आकार एवं उत्पादकता में विपरीत सम्बन्ध है, तथा कुछ अर्थशास्त्री कहते है इसमें धनात्मक सम्बन्ध है। लेकिन हम खेत के आकार एवं उत्पादकता के बारे में कोई निष्कर्ष नहीं निकाल सकते है। अतः खेत की उत्पादन तथा उत्पादकता आगतों के प्रयोग व प्रवन्धन पर निर्भर करता है।

3.7 कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता के कम होने के कारण

इसमें कोई सन्देह नही है कि स्वतन्त्रता के बाद विशेषकर हरित क्रान्ति के बाद की अवधि में कृषि उत्पादकता में काफी वृद्धि हुई है, लेकिन जब हम अन्तर्राष्ट्रीय मानक से तुलना करते है तो हम पाते है कि यह बहुत ही कम है। फसलों का कम उत्पादन तथा उत्पादकता ही ग्रामीण गरीबी का मुख्य कारण है।

कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता के कम होने के कई कारण है, जिनको निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है।

(A) सामान्य कारण (B) संस्थागत कारण (C) तकनीकि कारण

(A) सामान्य कारण :

(1) **उत्पादक निवेश में कमी** : कुषि क्षेत्र में लोग कम निवेश करते है, क्योंकि कृषि क्षेत्र में प्रतिफल की दर अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा बहुत कम होती है। अतः निवेश को बढ़ाकर ही उत्पादन को बढ़ाया जा सकता है।

(2) **प्राकृतिक आपदा** : प्रत्येक वर्ष करोड़ों रूपये कि फसलें बाढ़, सूखा एवं अन्य प्राकृतिक आपदा के कारण नष्ट हो जाती है। भूमि का अधःपतन भी कृषि उत्पादकता को कम करता है।

(3) **भूमि पर जनसंख्या का दबाव** : भूमि पर जनसंख्या का दबाव बहुत अधिक है। भारत में ग्रामीण जनसंख्या का लगभग तीन चौथाई जनसंख्या कृषि क्षेत्र में लगे है। गैर कृषि क्षेत्र में रोजगार के पर्याप्त अवसर न बढ़ने के कारण भूमि पर जनसंख्या का दबाव लगातार बढ़ता जा रहा है। कृषि के अनुभवों से पता लगता है कि एक सीमा से अधिक लोगों के कृषि में लगे होने से कृषि की उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। भूमि पर बढ़ता हुआ दबाव जोतों के उपविभाजन एवं अपखंडन के लिए जिम्मेदार है।

(4) **सामाजिक कारण** :– हमारे देश का सामाजिक वातावरण भी कृषि विकास में बाधक समझा जाता है। निरक्षरता, अज्ञानता, अन्धविश्वास तथा रूढ़िवादी सोच कृषि में नई तकनीक अपनाने में बड़ी बाधा समझा जाता है।

(B) संस्थागत कारण

(1) <u>वित्त की कमी</u> :– वित्त की उपलब्धता ही किसी उद्योग के विकास का आधार होती है। भारतीय सन्दर्भ में कृषि विकास के लिए पर्याप्त वित्त की कमी है। कृषि में सुधार के लिए अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन दोनों तरह के ऋण की आवश्यकता है।

(2) <u>विपणन सुविधाओं का अभाव</u> :– दोषपूर्ण विपणन ब्यवस्था कृषिको की कठिनाइयों को बढ़ाता है। विपणन की खराब ब्यवस्था के कारण कृषकों को अपनी उपज का उचित मूल्य नही मिल पाता है। अगर कृषकों को कृषि उपज का उचित मूल्य मिले तो वे और अधिक उत्पादन के लिए प्रेरित होगें ।

(3) <u>जोतों का छोटा आकार :–</u> जोतों का बहुत छोटा आकार होने के कारण भारतीय कृषि की उत्पादकता बहुत कम है। खेतों का आकार छोटा होने के कारण हम केवल श्रम प्रधान तकनीकी से ही खेती कर सकते है, इससे उत्पादकता का स्तर कम रहता है। इसके अलावा खेतों का विभाजन एवं विखण्ड़न भी कम उत्पादकता का कारण है।

(4) <u>भू–स्वामित्व प्रणाली :–</u> भारतीय कृषि में कम उत्पादन एवं उत्पादकता का एक प्रमुख कारण जमीदारी प्रथा रही है। स्वतन्त्रता के बाद मध्यस्थों को समाप्त करना, पट्टेदारी एवं लगान निर्धारण सम्बन्धी ब्यवस्थाओं में कुछ सुधार किया गया, लेकिन अभी भूस्वामित्व प्रणाली में ज्यादा सुधार नही हुआ हैं । पट्टेदारी एवं लगान निर्धारण सम्बन्धी व्यवस्थाओं के अन्तर्गत काश्तकारों को सुरक्षा नहीं मिली है। आज भी अधिकांश काश्तकारों की पट्टेदारी सुरक्षित नहीं है और उन्हे अनुचित रूप से अधिक लगान देना पड़ता है । केवल तकनीकी सुधारों द्वारा उत्पादकता को बढाना संभव नही है। बल्कि भूमि सुधार की भी

पहल होनी चाहिए । यदि कृषि निवेश की मात्रा बढनी है तो आर्थिक आधिक्य को हड़पने वाले सूदखोंर, महाजन वर्ग लगानखोर जमींदार वर्ग का अस्तित्व ही समाप्त करना हो।

(C) तकनीकी की कारण

(1) पुरानी कृषि तकनीकी :– भारतीय कृषक अभी भी कृषि के पुरानी तकनीकी का प्रयोग करते है। उर्वरकों अधिक उपज देने वाले बीजों का प्रयोग बहुत ही सीमित है, इसलिए उत्पादकता का स्तर बहुत कम है।

(2) सिंचाई की अपर्याप्त ब्यवस्था :– भारतीय कृषि का बहुत अधिक भाग अभी भी मानसून पर निर्भर हैं। भारत में कुल कृषि क्षेत्र का केवल 45.3% पर सिंचाई की ब्यवस्था है, शेष भाग वर्षा पर निर्भर हैं। इस कारण से कृषि की उत्पादकता का स्तर बहुत ही कम है। भारत में वर्षा अनिश्चित रहता है, क्योंकि यह मानसूनी हवाओं पर निर्भर है । जिन क्षेत्रों में सिचाई की सुविधाएँ नही है वहा उत्पादकता का स्तर बहुत नीचा है । भारत में सिंचाई की ब्यवस्था दोषपूर्ण है । इसके अलावा सिंचाई की लागत में लगातार वृद्धि होने के कारण छोटे किसान सिंचाई की ब्यवस्था का लाभ उठाने में असमर्थ है ।

3.8 कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता को बढ़ाने के उपाय

कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता के कम होने के कारणों को पढ़ने के बाद हम यह बता सकते है कि उत्पादकता को कैसे बढाया जा सकता है। कृषि उत्पादकता को निम्न तरीके से बढ़ाया जा सकता है।

1. **सिचाई सुविधाए** :– कृषि की उत्पादकता केवल आगतों की गुणवत्ता पर निर्भर नही करती, बल्कि सिचाई सुविधाओं पर भी निर्भर करती है। विभिन्न राज्यों में सिचाई के अधीन क्षेत्र में काफी अन्तर है । कुछ राज्यो जैसे पंजाब, हरियाणा तथा राजस्थान में बहुत अच्छी सिचाई की सुविधाएँ है, वही अन्य राज्यों में कुल सिचाई संभाव्य तथा सिचाई के विद्यमान स्तर में व्यापक अन्तर है। इसलिए सिचाई के लिए नलकूप, नहर, कूआ तथा तालाबों के स्थापना होनी चाहिए।
2. **साख एवं विपणन व्यवस्था का विकास** :– उन्नत किस्म के बीजों, उर्वरकों, कीटनाशक दवाओं, कृषि मशीनरी तथा सिचाई सुविधाओं के प्रयोग के लिए काफी वित्तीय साधनों की आवश्यकता होती है और ए साधन अक्सर छोटे व सीमांत किसानों के पास नही होते है।

   इसलिए यह आवश्यक है की सहकारी ऋण संस्थाओं, वाणिज्यिक बैंको एवं क्षेत्री ग्रामीण बैंको को इस प्रकार के निर्देश देने की जरूरत है कि वें छोटे व सीमांत किसानों को उचित ब्याज दर पर ऋण उपलब्ध कराये जिससे साहूकारों एवं महाजनों की कपटपूर्ण नीतियों से किसानों को बचाया जा सकें ।

   सहकारी विपणन संस्थाओं को भी बेहतर करने की आवश्यकता है जिससे कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य मिल सके । जब कृषकों को उचित मूल्य प्राप्त होगा तो वें और अधिक उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित होगे।

3. **भूमि सुधारों का कार्यान्वयन** :– स्वतंत्रता के बाद मध्यस्थों के उन्मूलन के लिए, काश्तकारों की दशाओं में सुधार के लिए, भूमि पर अधिकतम सीमा निर्धारित करने के लिए तथा कृषि के पुनर्गठन के लिए कदम उठायें गये लेकिन सफलता बहुत ही कम मिल पायी है।

   भूमि सुधार कानूनों के कारगर कार्यान्वयन के लिए सरकार को प्रभावी कदम उठाने चाहिए ताकि भूमि उस काश्तकार को मिल सके जो उस पर वास्तव में खेती करता है। जब तक ऐसा नही होगा तब तक भूमि में निवेश करने की प्रेरणा नही होगी और उत्पादकता कम रहेगी।

4. **भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करना** :–भूमि पर जनसंख्या के दबाव को कम करने की आवश्यकता है। अन्य क्षेत्रों में रोजगार बढाने की आवश्यकता है और कृषि क्षेत्र से अतिरेक श्रम को उन क्षेत्रों में लगाकर भूमि पर से जनसंख्या के दबाव को कम किया जा सकता है।

5. **उन्नत बीजों एवं उर्वरकों का प्रयोग** :–उन्नत किस्म के बीजों का प्रयोग उत्पादकता बढ़ाने में सहायक होता है। तथा उन्नत बीजों के लिए उर्वरकों की काफी बड़ी बड़ी मात्रा में आवश्यकता पड़ती है। कई देशों के अनुभवों से तथा हमारें देश में कुछ राज्यों जैसे पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश के अनुभव से यह बात सिद्ध होती है। इस लिए ज्यादा से ज्यादा क्षेत्रों में कृषको को उन्नत किस्म के बीजों को प्रयोग करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए । मिट्टी, जलवायु तथा सिचाई सुविधाओं की उपलब्धि के आधार पर किसानों को सुझाव देने की आवश्यकता है कि कौन से बीज उनकी भूमि के लिए उपयुक्त रहेगें । कृषको को खेती करने के तरीके के बारे में शिक्षित करने की जरूरत है।

6. **बेहतर प्रौद्योगिकी उपलब्ध कराना** :–कृषको को वेहतर प्रौद्योगिकी के प्रयोग पर जोर देने की आवश्यकता है क्योंकि बहेतर प्रौद्योगिकी के प्रयोग से उत्पादन के स्तर को बढ़ाया जा सकता है। उपलब्ध जानकारी के आधार पर यह बात स्पष्ट होता है कि वेहतर प्रौद्योगिकी के प्रयोग से उत्पादकता का जो स्तर प्राप्त किया जा सकता है तथा उत्पादकता का जो स्तर प्राप्त किया जा रहा है उसमें काफी अन्तर है। इसलिए यह आवश्यक है कि किसानों को वेहतर प्रौद्योगिकी उपलब्ध कराया जाय ।

7. **बेहतर प्रबंधन** :–जिस प्रकार से उद्योगों में उत्पादकता बढाने के लिए वेहतर प्रबंधन की आवश्यकता होती है उसी प्रकार कृषि में भी उत्पादकता बढाने के लिए बेहतर प्रबंधन की आवश्यकता होती है।

8. **कृषि अनुसंधान** :–भारत में अनुसंधान का कार्य इंडियन कौंसिल ऑफ एग्रीकल्चर रिसर्च विभिन्न कृषि विश्वविद्यालयों तथा अन्य विशिष्ट संस्थाओं द्वारा किया जा रहा है। लेकिन ए अनुसंधान कुछ फसलों में सफलता दिला पाये है। अन्य फसलों के लिए अभी बहुत अनुसंधान करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही विभिन्न क्षेत्रीय प्रयोगशालाओं में भूमि की किस्म को जानने के लिए, भूमि संरक्षण के लिए तथा कृषि मशीनरी को बेहतर बनाने इत्यादि के लिए अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

3.9 महत्व

भारतीय अर्थब्यवस्था में कृषि का बहुत ही महत्वपूर्ण स्थान है। कृषि क्षेत्र में उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ने के निम्न महत्व है।

(1) कृषि क्षेत्र के उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि से आर्थिक आधिक्य उत्पन्न होता है, जो कि आगें पूँजी निर्माण, औद्योगिक विकास तथा बढ़ती हुई जनसंख्या की उपभोग आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक होती है।

(2) कृषि की उत्पादन एवं उत्पादकता बढ़ने से कृषकों की आय में वृद्धि होती है, इससे अन्य क्षेत्रों का भी विकास होता है, तथा कृषि पर जनसंख्या के दबाव में कमी आती है।

3.10 सारांश

भारत जैसे विकासशील देशों में कृषि जीविका का मुख्य साधन है। स्वतन्त्रता के पूर्व कृषि की स्थिति ठीक नही थी। उत्पादन तथा उत्पादकता का स्तर बहुत ही कम था। स्वतन्त्रता के बाद विशेषकर हरित क्रान्ति की प्रक्रिया सुरु होने के बाद उत्पादन तथा उत्पादकता में काफी वृद्धि दर्ज की गयी है।

आर्थिक योजनाओं के लागू होने तथा कृषि विकास पर विशेष ध्यान देने के कारण कृषि क्षेत्र में निम्न प्रवृत्तियां दिखाई देती है।

(1) सभी फसलों के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। जहाँ हरित–क्रान्ति से पूर्व के काल के दौरान क्षेत्र विस्तार के कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई वही 1965 के बाद की अवधि में कृषि उत्पादकता में वृद्धि कृषि उत्पादन में वृद्धि का प्रमुख कारण था ।

(2) क्षेत्रफल में वृद्धि के साथ –साथ कृषि उत्पादकता में वृद्धि के कारण सभी फसलों के कूल उत्पान में वृद्धि की प्रवृत्ति पायी गयी है। हरित क्रान्ति के बाद की अवधि में कुछ खाद्यान्नों की उत्पादकता में काफी तेजी से वृद्धि हुई है, ए खाद्यान्न गेहूँ, चावल तथा मक्का है। लेकिन जब हम भारतीय कृषि उत्पादकता की तुलना अन्तर्राष्ट्रीय मानक के अनुसार करते है तो यह बहुत ही कम है।

(3) गेंहूँ को छोड़, आधुनिक कृषि तकनीकि अपनाने के बावजूद उत्पादन की वृद्धि दर कायम न रखी जा सकी ।

(4) चावल में उत्पादकता की वृद्धि दर कुछ समय पश्चात बढ़ी, किन्तु अधिक उपजाऊ किस्म के बींजों के अधीन क्षेत्रफल में विस्तार फलस्वरूप 1980–81 के पश्चात चावल के उत्पादन मे वृद्धि हुई ।

(5) आधुनिक तकनीकि को विश्वस्त वर्षा वाले क्षेत्रों में लागू करने के परिणामस्वरूप तिलहनों, मोटे अनाजों और दालों का उत्पादन घटियाँ भूमियों की ओर धकेल दिया गया । अतः इन फसलों में उत्पादकता या कुल उत्पादन में अधिक वृद्धि प्राप्त न की जा सकी ।

3.11 शब्दावली

उत्पादन : उत्पादन का सम्बन्ध किसी क्षेत्र में उत्पादन की कूल मात्रा से है।

उत्पादकता : उत्पादकता का सम्बन्ध प्रति इकाई भूमि में कूल उत्पादन से है ।

आर्थिक आधिक्य : कूल उत्पादन तथा उपभोग का अन्तर ।

आगत : उत्पादन क्रिया में जो साधन प्रयोग होते है।

बड़े पैमाने की खेती : जब खेत के बड़े आकार पर खेती की जाती है, तो इसे बड़े पैमाने की खेती कहते है।

छोटे पैमाने की खेती : जब खेत के छोटे आकार पर खेती की जाती है तो इसे छोटे पैमाने की खेती कहते है।

संस्थागत ऋण : जब कोई ऋण संस्थागत स्रोतो से प्राप्त प्राप्त किया जाता है तो इसे संस्थागत ऋण कहते है, जैसे बैंक इत्यादि से प्राप्त ऋण ।

श्रम गहन खेती : जब कृषि उत्पादन क्रिया में श्रम का ज्यादा प्रयोग करते है तो इसे श्रम गहन खेती कहाँ है।

पूँजी गहन खेती : जब कृषि उत्पादन क्रिया में पूँजी का ज्यादा प्रयोग करते है, तो इसे पूँजी गहन खेती कहते है।

3.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(A)

(1) भारत में कूल जनसंख्या का कितना हिस्सा कृषि पर निर्भर है।

(2) भारत में कृषि का लगभग कितना प्रतिशत हिस्सा वर्षा पर निर्भर है।

(3) स्वतन्त्रता के बाद कृषि अधीन क्षेत्रफल में किस प्रकार परिवर्तन हुआ ।

(4) स्वतन्त्रता के बाद किस फसल के अधीन क्षेत्रफल में सबसें अधिक वृद्धि हुई है।

(5) कुल उत्पादन में खाद्यान्नों का हिस्सा कितना है ।

(6) हरित क्रान्ति के बाद की अवधि में किस खाद्यान्न के उत्पादकता में सबसे अधिक वृद्धि हुई है।

(7) खाद्यान्नों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान किसका है।

(8) हरित क्रान्ति की प्रक्रिया कब सुरु हुई ।

(9) अखाद्यान्नों में सबसे महत्वपूर्ण स्थान किसका है।

(10) हरित क्रान्ति के बाद की अवधि में खाद्यान्नों में परिवर्तन बनी क्या प्रवृत्ति रही है।

(11) स्वतंत्रता के बाद कुल खाद्यान्नों के उत्पादन में लगभग कितने गुना वृद्धि हुई है।

(12) किस योजना के बाद की अवधि को हरित क्रान्ति का काल कहा जाता है।

उत्तर :– (1) 65 प्रतिशत (2) 60 प्रतिशत (3) वृद्धि हुई है। (4) आलू में (5) दो तिहाई से थोड़ा कम (6) गेहूँ में (7) चावल तथा गेहूँ का (8) 1965–66 में (9) खाद्य तेलों का (10) वृद्धि हुई है। (11) 5 गुना (12) तीसरी योजना

(B)

(1) भारत जैसे विकासशील देशों में कृषि ही जीविका का मुख्य साधन है। (सत्य /असत्य)

(2) हरित क्रान्ति के बाद की अवधि में कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि हुई है। (सत्य /असत्य)

(3) उत्पादकता का अर्थ प्रति इकाई भूमि में कुल उत्पादन से है। (सत्य /असत्य)

(4) स्वतंत्रता के पश्चात कृषि क्षेत्र के आकार में निरंतर गिरावट आयी है। (सत्य /असत्य)

(5) आलू की खेती के अधीन क्षेत्रफल में 1949–50 में दो लाख हेक्टेयर से बढ़कर 2008–9 में 16 लाख हेक्टेयर हो गया ।(सत्य /असत्य)
(6) खाद्यान्नों में सबसे अधिक चावल के अधीन क्षेत्रफल में वृद्धि हुई है। (सत्य /असत्य)
(7) दालों का उत्पादन हमेशा माँग की तुलना में कम रही है। (सत्य /असत्य)
(8) गन्ने का उत्पादन विभिन्न योजनाओं में सत्त रूप से बढ़ा है। (सत्य /असत्य)
उत्तर– (1) सत्य (2) सत्य (3) सत्य (4) असत्य (5) सत्य (6) असत्य (7) सत्य (8) सत्य

3.13 सन्दर्भ सहित ग्रन्थ

1. R.K Lekhi and Joginder Singh "Technological Possibilities of Agricaltural Development in India"
2. S.S. china "Agricultural Economics and India Agriculture "
3. गौरव दत्त एवं के.पी. एम. सुन्दरम 66 ''भारतीय अर्थब्यवस्था''
4. एस. के. मिश्र एवं वी.के. पुरी ''भारतीय अर्थब्यवस्था ''
5. Ramesh chand, S.S Raju and L.M. Pandey "Growth crisis in Agriculture" EPW, june 30, 2007

3.14 उपयोगी / सहायक ग्रन्थ

1. W. Burns "Technological possibilities of Agricultural Development in India"
2. डॉ. के. एन. जोशी एवं ST. मंजुला मिश्र ''कृषि अर्थशास्त्र के सिद्धान्त एवं भारत में कृषि विकास ''
3. डॉ. पी. गुप्ता ''कृषि अर्थशास्त्र''
4. C.P. Dutt and B.M. Pugh, "Principles and Practices of Crop Production"
5. Naidu and Narsinham, "Economics of Indian Agriculture" Vol. 1
6. R.D. Tiwari, "Indian Agriculture"
7. J.P. Bhattacharjee, "Studies in Indian Agricultural Economics"

3.15 निबन्धात्मक प्रश्न

(1) कृषि क्षेत्र में वृद्धि की प्रवृत्तियों को बताइए ।
(2) कृषि उत्पादन एवं उत्पादकता में वृद्धि की प्रवृत्तियों का विस्तृत वर्णन कीजिए ।
(3) कृषि उत्पादकता के कम होने के क्या कारण है तथा वे कौन से उपाय है, जिनसे कृषि उत्पादकता को बढ़ाया जा सकता है।
(4) वे कौन से कारक है, जिन पर कृषि की उत्पादकता निर्भर करती है।

इकाई 4- भारत में भूमि सुधार

इकाई संरचना

4.1 प्रस्तावना

4.2 उद्देश्य

4.3 भूमि व्यवस्था

4.4 भूमि सुधार का आशय

4.4.1. भूमि सुधार के उद्देश्य

4.4.2. भूमि सुधार की आवश्यकता

4.5 भूमि सुधारों का स्वरूप

4.5.1 जंमीदारी तथा मध्यस्थों का उन्मूलन

4.5.2 जोतो की उच्चतम सीमा का निर्धारण

4.5.2.1. उच्चतम जोत सीमा निर्धारण के लाभ

4.5.3.2. उच्चतम जोत सीमा निर्धारण से हानि

4.5.3. काश्तकारी व्यवस्था में सुधार

4.5.3.1. लगान का नियमन

4.5.3.2. भू धारण की सुरक्षा-

4.5.3.3 काश्तकारों का पुनर्ग्रहण

4.5.3.4 भूमिहीन कामगारो को भूमि प्रदान करना

4.5.4. कृषि का पुर्नगठन

4.5.4.1. चकबन्दी

4.5.4.2 भूमि के प्रंबधन में सुधार

4.5.4.2 सहकारी कृषि

4.6 भूमि सुधार कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

4.6.1 भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रभाव

4.6.2 भूमि सुधार कार्यक्रमों की कमियाँ

4.6.3 भूमि सुधार कार्यक्रमों की सफलता के लिए सुझाव

4.7 सांराश

4.8 शब्दावली

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

4.11 सहायकउपयोगी पाठ्य सामग्री/

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में कृषि क्षेत्र आकार, वृद्धि एवं उत्पादकता की प्रवृत्तियाँ का विस्तार से अध्ययन किया। इस इकाई में हम भारत में भूमि सुधार का अध्ययन करेंगे।

इस इकाई में आप प्राचीन काल में कैसी भूमि व्यवस्था थी से जानकारी प्राप्त करते हुए स्वतन्त्रता–प्राप्ति के समय भारत में भूमि व्यवस्था की जानकारी प्राप्त करेगें। भूमि सुधारों का स्वरूप के अन्तर्गत जंमीदारी तथा मध्यस्थों का उन्मूलन ,जोतो की उच्चतम सीमा का निर्धारण और काश्तकारी व्यवस्था में सुधार प्रक्रिया का अध्ययन करेगें।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप भूमि व्यवस्था के प्रमुख प्रकार , भूमि सुधार से क्या आशय एवं इसके अर्न्तगत क्या – क्या कदम उठायें गये और भूमि सुधारों का स्वरूप की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेगें।

4.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल होंगे कि–

- भूमि व्यवस्था के प्रमुख प्रकार को जान पायेगें।
- भूमि सुधार से क्या आशय एवं इसके अर्न्तगत क्या क्या – क्या कदम उठायें गये इसको जान सकेगें।
- भूमि सुधार प्रक्रिया अपनाने के उद्देश्य से अवगत हो सकेगें।
- भूमि सुधारों का स्वरूप की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर सकेगें।
- काश्तकारी व्यवस्था क्या क्या– क्या सुधार किए गयें ।
- कृषि का पुर्नगठन से अवगत हो पायेगें।

4.3 भूमि व्यवस्था

प्राचीन भारत में गाँव ही देश की आर्थिक एवं सामाजिक गुठली था और इस गाँव की वास्तविक व्यवस्था ग्राम समुदाय द्वारा की जाती थी जो पंचायतो के द्वारा किसानों के अधिकारों को प्रशासित करता था और घास के मैदानों, चरागाहों, तालाबों तथा सिंचाई साधनों पर अपना अप्रत्यक्ष स्वामित्व बनाये रखता था। इन सामूहिक अधिकारों का किसी द्वारा लेश–मात्र अतिक्रमण भी ग्राम सभा द्वारा बुरा माना जाता था और उसे दंडित किया जाता था। इस काल में भूमि पर अधिकार ग्राम समुदाय का था न कि राजा का और ग्राम समुदाय ही भू–राजस्व का निर्धारण तथा संकलन करता था।

मनु के अनुसार हिन्दू काल में भू–राजस्व में राजा का परम्परा अथवा रूढ़ियों द्वारा निर्धारित अंश साधारण समय में भूमि की उपज का 1/6 और आपातकाल में 1/4 होता था। मुसलमानी शासनकाल में देश की तत्कालीन भूमि व्यवस्था और कर–प्रणाली को कतिपय संशोधनों के साथ बनाये रखा गया। भू–राजस्व में सरकार के अशं को बढ़ाकर उपज का 1/2 कर दिया गया। अकबर के शासन काल में राजा टोडरमल ने भूमि की क्रमबद्ध विस्तृत पैमाइश की और उसकी बन्दोबस्ती हुई। समस्त भूमि को उर्वरता के आधार पर चार भागों में रखा गया और उपज 1/3 भाग को राजस्व के रूप नगद लिया जाना निर्धारित

किया गया। यह व्यवस्था सन् 1765 तक, जब शाह आलम ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को दीवानी प्रदान नहीं कर दी प्रचलित थी।

ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भूमि–राजस्व प्रणाली को दृढ़ आधार पर रखने के लिए सन् 1793में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल और बिहार के लिए स्थायी बन्दोबस्ती की व्यवस्था की, जिसे बाद में यू0पी0के बनारस पमंडल के साथ भी लागू किया गया। अवध में छोटे जागीर दारों, राजस्व कृषकों आदि को सन 1857 के पश्चात भू–स्वामियों में बदल कर विशेष अधिकार दिए गए। मद्रास और बम्बई में रैयतवाडी प्रथा और शेष यू0पी0में महालवाडी व्यवस्था लागू की गई। इस प्रकार ब्रिटिश शासन काल में भू–व्यवस्था की पूर्ण रूपान्तरण हो गया। सरकार सर्वोच्च भू–स्वामिनी बन गई और कृषक कास्तकार। इस व्यवस्था में भारत में वैयक्तिक आधार को मजबूत कर सामूहिक आधार का विनाश हुआ जिस कारण कृषक तथा ग्राम समुदाय दानों का विनाश हुआ। जिस कारण कृषक एवं शिल्पियों के आपसी सम्बन्ध टूट गये।

जबकि देश में वस्तु विनिमय प्रणाली के स्थान पर मौद्रिक प्रणाली का विकास हो रहा था। इस तरह स्वतन्त्रता–प्राप्ति के समय भारत में तीन प्रकार की प्रमुख भूमि व्यवस्थाएँ थी–(1) रैयतवाडी, (2) महालवारी और (3) जमींदारी। कुल कृषि क्षेत्र के 52 प्रतिशत भाग पर रैयतवाडी, 40 प्रतिशत भाग पर जमींदारी और शेष पर महालवारी और अन्य व्यवस्थाएँ–जागीरदारी, विश्वेदारी आदि प्रचलित थी।

4.4 भूमि सुधार का आशय

भूमि सुधार एक विस्तृत धारणा है जिसमें सामाजिक न्याय की दृष्टि से जोतों के स्वामित्व का पुनर्वितरण तथा भूमि के इष्टतम प्रयोग की दृष्टि से खेती किए जाने वाले जोतों का पुनगर्ठन सम्मिलित है। नोबल पुरस्कार प्राप्त महान अर्थशास्त्री प्रो0 गुन्नार मिर्डल के अनुसार–''भूमि सुधार व्यक्ति और भूमि के सम्बन्धों में नियोजन तथा संस्थागत पुनर्गठन है।''

स्वतंत्रता–प्राप्ति के समय देश के अधिकांश कृषि क्षेत्र में वास्तविक काश्तकार तथा भूमि के स्वामी के बीच मध्यस्थों की एक बड़ी सेना विद्यमान थी। इनके कारण जहाँ एक ओर काश्तकार को भूमि की उपज का बड़ा भाग मध्यस्थों को देना पड़ता था, वही दूसरी ओर वह इन पर पूरी तरह आश्रित था। भू–धारण की उसे कोई गारंटी नही दी जाती थी और लगान की दरों में भी निश्चितता नहीं थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ''जोतने वाले को भूमि'' के नारे को वास्तविकता में बदलने के लिए भूमि–सुधार किए गयें। सबसे पहले उत्तर प्रदेश लिए कानून बनाया गया।

4.4.1. भूमि सुधार के उद्देश्य– भूमि व्यवस्था सम्बन्धी सुधार हेतु स्वतंत्रता–प्राप्ति के बाद सरकार द्वारा निर्णय लिया गया जिससे मूलतः निम्न उद्देश्यों की पूर्ति की आशा थी।

(1) कृषि क्षेत्र में विद्यमान संस्थागत विसंगतियों को दूर करना तथा इसे तर्क संगत और आधुनिक बनाना। जैसे– जोत का आकार, भूमि स्वामित्व, भूमि उत्तराधिकार ,काश्तकार की सुरक्षा, आधुनिक संस्थागत सहायता और आधुनिकीकरण आदि पर ध्यान दिया जाना था।

(2) आर्थिक असमानता को समाप्त करना था, जिससे सामाजिक समानता को प्राप्त कर लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सके।

(3) कृषि उत्पादन में वृद्धि कर आत्म निर्भरता प्राप्त करना।

(4) गरीबी उन्मूलन एंव लोगो में सामान्य मान्यताएँ प्रदान करना।

4.4.2. भूमि सुधार की आवश्यकता

भारत में भूमि सुधारों की आवश्यकता निम्न कारणों से महसूस की गई थी।

(1) स्वतंत्रता के समय देश में कृषि पदार्थो की भारी कमी थी। अतः कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रम आवश्यक है।

(2) सामाजिक न्याय और समानता के विकास हेतु सुधार कार्यक्रम द्वारा एकत्रित भूमि को भूमिहीनों में वितरित करना।

(3) औद्योगिक क्षेत्र में अनेक उद्योग के लिए कच्चा माल भूमि से ही प्राप्त होता है।

भूमि सुधारों की आवश्यकता पर बल देते हुए डॉ0 राधाकमल मुखर्जी ने अपनी पुस्तक **इकनॉमिक प्रॉबलम्स ऑफ इड़िया** में लिखा था कि ''वैज्ञानिक कृषि अथवा सहकारिता को हम कितना ही अपना ले, पूर्ण सफलता हमें तब तक नहीं मिलेगी जब तक कि हम भूमि व्यवस्था में वांछित सुधार नहीं कर देते।''

प्रो0 सैग्युलसन के अनुसार– ''सफल भूमि सुधार के कार्यक्रमों ने अनेक देशों में मिट्टी को सोने में बदल दिया है।''

अभ्यास प्रश्न– 1

संक्षिप्त शब्दो में उत्तर बताइए

1. स्वतंत्रता पूर्व भारत में भूमि व्यवस्था कितने प्रकार की थी।
2. प्राचीन भारत में भूमि पर अधिकार किसका था।
3. किस मुस्लिम शासक ने भूमि की क्रमबद्व विस्तृत पैमाइश कराई थी।
4. शाह आलम ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को दिवानी कब प्रदान की।
5. रैयतवाडी भूमि व्यवस्था में कृषि क्षेत्र का कितने प्रतिशत भाग था।
6. भूमि सुधार सबंधित कानून देश में किस प्रदेश ने सर्वप्रथम लागू किया।
7. भूमि सुधार क्यों आवश्यक थे।
8. भूमि सुधारों के प्रमुख उद्धेश्य लिखिए।

4.5 भूमि सुधारों का स्वरूप

हम सुविधा के अनुसार भूमि सुधारों को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत समीक्षा कर सकते है–

(1) मध्यस्थों वर्गों का उन्मूलन(2) जोतो की उच्चतम सीमा का निर्धारण

(3) काश्तकारी सुधार

I. लगान का नियमन

II. भू–धारण की सुरक्षा

III. काश्तकारों का पुनर्ग्रहण

IV. भूमिहीन कामकारों को भूमि प्रदान करना

(4) कृषि का पुनर्गठन

I. चकबंदी

II. भूमि के प्रबंधन में सुधार

III. सहकारी कृषि

4.5.1 जंमीदारी तथा मध्यस्थों का उन्मूलन

भूमि सुधार व्यवस्था का सर्वप्रमुख कार्य जंमीदारी या मध्यस्थों का उन्मूलन था। उत्तर प्रदेश जंमीदारी उन्मूलन कानून का पालन करने में अग्रणी राज्य था जहाँ एक विधेयक 7 जूलाई 1949को प्रस्तुत किया गया जो 16 जनवरी 1951 को पास हो गया। क्रमश बम्बई व हैदराबाद में 1949–50, म0प्र0 व असम में 1951,पंजाब, राजस्थान व उडीसा में 1952 तथा हिमाचल कर्नाटक व पश्चिमी बंगाल में 1954–55 में अधिनियम पारित किए गए। देश के लगभग सभी राज्यों में जंमीदार ,जागीरदार एँव नामणदार जैसे मध्यस्थों के भूमि अधिकारों को समाप्त किया गया। इन मध्यस्थों के पास देश की लगभग 40 प्रतिशत से अधिक कृषि भूमि पर अधिकार था। इनकी समाप्ति से देश के लगभग दो करोड़ से अधिक किसानों को लाभ पहुँचा है और उन्हें भूमि में स्थाई तथा पैतृक अधिकार प्रदान किया गया।

4.5.2 जोतो की उच्चतम सीमा का निर्धारण

भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रमुख ध्येय में जोतो की उच्चतम सीमा का निर्धारण था। इस कार्य को करने की आवश्यक का कारण प्रथम रूप में भविष्य में जोतों के आकार में वृद्धि को रोकना था एंव दूसरा बड़ी जोतों के अतिरिक्त भू–भाग को लेकर उनको भूमिहीनों में वितरित कर समाजिक न्याय करना था।

तालिका 4.1 अधिकतम जोत का आकार हेक्टेयर में

राज्य	द्धफसली सिंचित भूमि	एक फसली सिंचित भूमि	शुष्क भूमि क्षेत्र
आन्ध्र प्रदेश	4.05 से 7.28	6.07 से 10.93	14.16 से 21.85
आसाम	6.74	6.74	6.74
बिहार	6.07 से 7.28	10.12	12.14 से 18.21
गुजरात	4.05 से 7.29	10.12	8.09 से 21.85
हरियाणा	7.25	10.90	21.80
हिमाचल प्रदेश	4.05	6.07	12.14 से 28.33
जम्मू–कश्मीर	3.60 से 5.06	–	5.95 से 9.20
कर्नाटक	4.05 से 8.10	10.12 से 12.14	21.85
केरल	4.86 से 6.07	4.86 से 6.07	4.86 से 6.07

म0प्र0	7.28	10.93	21.85
महाराष्ट्र	7.28	10.93	21.85
मणिपुर	5.00	5.00	6.00
उडीसा	4.05	6.07	12.14 से 18.21
पंजाब	7.00	11.00	20.50
राजस्थान	7.28	10.93	21.85 से 70.82
तमिलनाडु	4.86	12.14	24.28
सिक्किम	5.06	—	20.23
त्रिपुरा	4.00	4.00	12.00
उ0प्र0	7.30	10.95	18.25
पं0बंगाल	5.00	5.00	7.00
केन्द्र के निर्देशानुसार(1972में)	4.05 से 7.28	10.93	21.85

स्रोत :–Agricultural Statistics at a Glance , 2001,Directorate of Economics & Statistics Dept. of Agril Cooperation Page 230

उच्चतम जोत सीमा का निर्धारण का आधार भिन्न–भिन्न राज्यों में अलग–अलग माना गया। उच्चतम जोतो की कृषि भूमि को सिंचित व असिंचित में बाँटा, पुन सिंचित क्षेत्र में एक फसली एवं द्विफसली में बाँटकर विभिन्न राज्यों में जोतो की अलग–अलग उच्चतम सीमाएँ निशचित की गई जैसा तालिका 4.1 में दिया गया है। नागालैण्ड़, मेद्यालय, मिजोरम और अरूणाचल प्रदेश में भूमि के सामुदायिक स्वामित्व के कारण जोतो की सीमा निर्धारित नहीं की गई

4.5.2.1. उच्चतम जोत सीमा निर्धारण के लाभ

उच्चतम जोत सीमा निर्धारण के निम्नवत लाभ इंगित है–

1. उच्चतम जोत की सीमा निर्धारण से भूमि के असमान वितरण को एकत्रित कर वंचित लोगों में बांटा गया।
2. भूमि अधिकार की प्राप्ति से राजनीतिक जागृति एवं समाजवादी अर्थव्यवस्था के निर्माण में सबलता प्राप्त हुई।
3. मध्य एवं छोटी जोतो की स्थापना से लोगों में समानता का वातावरण बनता है जो सहकारी कृषि का आधार बनता है।
4. मध्य एवं छोटे जोते श्रम प्रधान होते है जो मशीनीकरण पर अंकुश लगाकर रोजगार में वृद्वि की द्योतक है।
5. उच्चतम जोत की सीमा व्यक्ति के पास भूमि की उपलब्धता को कम करता है। जिस कारण गहन कृषि को प्रोत्साहन मिलता है।
6. उच्चतम जोत की सीमा केन्द्रीयकरण की प्रवृति को हतोत्साहित करती है।

7. उच्चतम जोत सीमा का सबसे बड़ा लाभ कृषि भूमि के अपव्यय को रोकना है बड़ी जोत में कुछ न कुछ भूमि कृषि कार्य से विरत रह जाती है, जबकि छोटी जोत की सम्पूर्ण भूमि का उपयोग हो जाता है।

4.5.2.2 उच्चतम जोत सीमा निर्धारण से हानि

उच्चतम जोत सीमा निर्धारण के विपक्ष में जो तर्क दिए जाते है, वे ही इसके अवगुण या हानि है, जो निम्नवत हैः–

1. कृषि का वृहद रूप में उपयोग न हो पाना, जिस कारण मशीनीकरण और उच्च तकनीकी ज्ञान का लाभ नहीं मिल पाता है।
2. शहरी क्षेत्र में भूमि की उच्चतम सीमा नहीं होना और कृषि में भूमि की उच्चतम सीमा विषमता को पैदा करता है।
3. भूमि की उर्वरता एवं सिंचाई की भिन्नता के साथ उसकी कोटि भी कई प्रकार की है, इस कारण सभी क्षेत्रों में कृषि भूमि की एक सी उच्चतम सीमा निर्धारण व्यावहरिक रूप में सही नहीं है।
4. ऐसी आशा थी कि भूमिहीन लोगो के एकत्रित भूमि का वितरण कर सामाजिक न्याय की स्थापना की जाएगी, जबकि एकत्रित भूमि की मात्र कम एवं अपेक्षित लोगो की अधिक संख्या के कारण उनकी समस्या का उचित समाधान नहीं किया जा सका है। जैसा तलिका 4.2 में दिया है।
5. कृषि के आधुनिकीकरण छोटी जोत में नहीं किया जा सकता है।

तलिका 4.2

राज्य	वर्तमान तथा भावी जोत की सीमायें (एकड)	सीमा मे अधिक भुमि जिस पर सरकार द्वारा नियंत्रण किया गया (हजार हेक्टेयर)	वितरित की गई भूमि (हजार हेक्टेयर)
आसाम	24	27	0.4
बिहार	20 से 60	–	–
गुजरात	19 से 132	20	10
हरियाणा	27 से 100	73	22
जम्मू–कश्मीर	22.75	180	180
केरल	12 से 15	2	2
म0प्र0	25 से 75	34	7
तमिलनाडु	12 से 60	11	9
महाराष्ट्र	18 से 126	152	47
उडीसा	20 से 80	–	–
पंजाब	27 से 100	71	25
राजस्थान	27 से 336	24	5
पं0बंगाल	12.4 से 17.3	354	140

4.5.3 काश्तकारी व्यवस्था में सुधार :– काश्तकारी व्यवस्था में भूमि का स्वामी स्वंय कृषि न कर अन्य किसानों को पट्टे पर देता था। प्रतिफल में किराया या लगान लेता था। पट्टेदार किसान भी कहीं–कहीं आगे इसे अन्य किसानों को पट्टे पर दे देते थे। काश्तकारो का निम्न स्वरूप उस समय में दिखाई पड़ता था।

स्थायी काश्तकार– स्थायी काश्तकार वह थे जिन्हें भूमि से बेदखल नहीं किया जा सकता था। परन्तु जंमीदार लागन में वृद्वि कर सकता था।

ऐच्छिक काश्तकार– ये काश्तकार थे जिन्हें जंमीदार कभी भी भूमि से बेदखल कर सकता था।

उपकाश्तकार– काश्तकार किसान जिन किसानों को पट्टे पर भूमि देते थे उन्हे उपकाश्तकार कहते थे। इनकी स्थित अत्यन्त दयनीय थी इन्हे तो कभी–कभी लगान उपज का दो तिहाई तक देना होता था।

काश्तकारी व्यवस्था में सुधार का मुख्य उद्देश्यों काश्तकारों को भूमि पर कानूनी रूप में स्थायी अधिकार प्रदान करना था, साथ ही बीमार, अपंग, विधवा असर्मथ और सैनिक आदि जो स्वंय खेती नहीं कर सकते है पट्टे पर प्रदान करने की छूट देना था। शोषणात्मक कार्यो पर रोक हेतु जंमीदारी अधिनियम में काश्तकारी व्यवस्था में निम्न सुधार किए गए–

4.5.3.1. लगान का नियमन– लगान नियमन कानून लागू होने से पूर्व पट्टेदार कुल उपज का आधे से अधिक भाग भूमि स्वामी को लगान के रूप में देते थे। प्रथम योजना में ही इस सन्दर्भ में नियमन बनाया गया जो सामान्य तथा 20 से 25 प्रतिशत से अधिक न हो जैसाकि तलिका में विभिन्न राज्यों के सन्दर्भ में सिंचित और असिंचित एवं शुष्क भूमि के लिया इंगित है।

4.5.3.2. भू–धारण की सुरक्षा– काश्तकारी व्यवस्था में महत्वपूर्ण कार्य पट्टेदारों को पट्टे की सुरक्षा प्रदान करने के सन्दर्भ में उठाया गया। बड़े पैमाने पर पट्टेदारों की बेदखली पर रोक लगाई गयी। भूमि की एक न्यूनतम सीमा पट्टेदारों के पास अवश्य रहने दी गई। कुछ राज्यों में पट्टेदारों को अन्यत्र भूमि दिलाने का उत्तरदायित्व दिया गया।

4.5.3.3 काश्तकारों को भूमि का स्वामित्व तीन प्रकार से दिया गया

1. जो काश्तकार दूसरों की भूमि जोत रहे थे वे स्वंय को भूमि का स्वामी घोषित कर दिए गए। इनमें जमीन के मालिक को मुआवने देने को कहा गया। न देने पर सरकार ने वसूली का दायित्व लिया। यह व्यवस्था– गुजरात, महाराष्ट्र, मध्य प्रदेश और राजस्थान में की गई।
2. सरकार ने स्वंय भूमि का मुआवजा मालिकों को प्रदान किया तथा काश्तकारों से बाद में किस्तों में लिया गया। यह व्यवस्था दिल्ली में की गई।
3. सरकार ने काश्तकारों से सीधा सम्पर्क बनाया गया और उन्हें दो विकल्प दिए गये प्रथम वह भूमि का पूरा मूल्य देकर स्वामित्व के अधिकार को प्राप्त करे द्वितीय सरकार को लगान देते रहें। इस प्रकार की व्यवस्था केरल एवं उ0प्र0 में की गई।

4.5.3.4 काश्तकारों का पुनर्ग्रहण– सभी राज्यों में काश्तकारों को भू–धारण अधिकार प्रदान करने के लिए कानून बनाए गए। इसके अन्तर्गत जो काश्तकार 8–से 10 वर्ष से खेती कर रहे थे उन्हें जमीन पर स्वामित्व का अधिकार दिया गया। लगभग 1करोड़ 14 लाख काश्तकारों को 1.5 करोड़ एकड़ भूमि पर स्वामित्व प्रदान किया गया।

4.5.3.5 भूमिहीन कामगारो को भूमि प्रदान करना– उच्चतम सीमा के कारण प्राप्त भूमि एवं ग्राम–दान आंदोलन के द्वारा बड़े भू–स्वामियों से प्राप्त भूमि को भूमिहीन श्रमिकों में वितरित किया गया ताकि भूमि संबन्धी असमानता को दूर किया जा सके।

4.5.4. कृषि का पुर्नगठन

भूमि सुधार कार्यक्रमों के अर्न्तगत कृषि का पुर्नगठन किया गया, इसके लिए निम्नलिखित उपाय किए गये।

4.5.4.1 चकबन्दी– चकबन्दी वह प्रक्रिया है जिसमें किसान के इधर–उधर बिखरे हुए छोटी भूमि के बदले उसी किस्म भूमि के लिए एक स्थान पर प्रदान कर जारी करना है। चकबन्दी दो प्रकार की है–

(1) ऐच्छिक चकबन्दी– यह लोगो की इच्छा पर है, बड़ौदा रियासत द्वारा 1921में आरम्भ की गई।

(2) अनिवार्य चकबन्दी– यह चकबन्दी कानूनी रूप में अनिवार्य रूप से लागू की जाती है, इसकी शुरूआत 1928 में आंशिक चकबन्दी के रूप में म0 प्र0 में हुई थी। नौ राज्य आन्ध्र प्रदेश, अरूणाचल, मिजोरम, मणिपुर, मेद्यालय, त्रिपुरा, नागालैण्ड़, तमिलनाडु, व केरल में चकबन्दी कानून नही है, बाकि सभी राज्यों में चकबन्दी कानूनों के अर्न्तगत चकबन्दी की जा रही है। पंजाब व हरियाणा में चकबन्दी कार्य पूर्ण है, उ0 प्र0 में भी 90 प्रतिशत कार्य पूरा किया जा चुका है।

4.5.4.2 भूमि के प्रंबधन में सुधार– भूमि सुधार कार्यक्रम की सफलता भूमि रिकार्ड व दस्तावेजों के अद्यतन बनाने से ही है। इस सन्दर्भ में व्यवस्था हो रही है। समस्त भूमि सुधार कानूनों को नौंवी अनुसूची में शामिल किया जा चुका है। केन्द्रीय आयोजना के अर्न्तगत भूमि रिकार्डो का 12 वीं योजना के अन्त तक सभी जिलों में पूर्णतया कम्प्यूटरीकरण के लिए कार्य किया जा रहा है। बंजर भूमि का उपयोग, उन्नत पैदावार वाले बीजों का प्रयोग, कीटनाशक दवाइयों का प्रयोग आदि के द्वारा भूमि का कुशल प्रबन्ध किया जा रहा है।

4.5.4.3 सहकारी कृषि– सहकारी कृषि का आशय किसानों के द्वारा सहकारिता के सिद्धान्तों के आधार पर संयुक्त रूप से कृषि करना, जो हमारे ग्राम स्वराज्य का अवलम्बन था। देश में भूमि सुधारों का अन्तिम लक्ष्य सहकारी ग्रामीण अर्थव्यवस्था की स्थापना करना है। इसमें छोटे–छोटे किसान आपस में मिलकर बड़ी जोत के सभी लाभों को प्राप्त करते हुए नवीन तकनीकी ज्ञान के आधार पर गहन कृषि करते है। लाभ का वितरण भूमि की हिस्सेदारी एवं परिश्रम को मिलाकर किया जाता है। पंचवर्षीय योजना में भूमि के छोटे–छोटे टुकडो को देखते हुए सहकारी खेती पर काफी जोर दिया जा रहा है। सहकारी खेती के चार रूप हो सकते है–

(क) काश्तकार सहकारी खेती
(ख) सामूहिक सहकारी खेती
(ग) उन्नत सहकारी खेती
(घ) संयुक्त सहकारी खेती

4.6 भूमि सुधार कार्यक्रमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन

आजादी मिलने के बाद से भूमि सुधार कार्यक्रम जिनके अर्न्तगत जंमीदारी उन्मूलन, जोतों की उच्चतम सीमा का निर्धारण, काश्तकारी उन्मूलन, लगान का नियमन, सहकारी कृषि, चकबन्दी एंव पट्टे की सुरक्षा जैसे कार्य किए गये, जिनके आधार पर भूमि सुधार कार्यक्रमों की प्रशंसा भी की जाती है। जैसाकि संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमि सम्बन्धी रिपोर्ट में उल्लेख है कि,'' भारत में भूमि सुधार के हाल के अधिनियम संख्यात्मक दृष्टि से सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इतने अधिनियम कहीं भी नहीं बनाए गए हैं। अधिनियम लाखों, करोड़ों कृषको पर प्रभाव डालते हैं और भूमि के विशाल क्षेत्रों को अपने दायरे में सम्मिलित करते हैं। लेकिन ऐसा होने पर भी भूमि सुधार कार्यक्रमों की प्रगति धीमी रही है।''प्रो0 दान्तवाला का मत है कि,'' अब तक भारत में जो भूमि सुधार हुए है या निकट भविष्य में होने वाले हैं वे सभी सही दिशा में है, लेकिन क्रियान्वयन के अभाव में इसके परिणाम सन्तोषजनक नहीं रहे हैं। ''भूमि सुधार कार्यक्रमों की कुछ सफलता रही तो इसी धीमी गति के रूप में कुछ कमियां भी इंगिंत होती है।

4.6.1 भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रभाव– भूमि सुधार कार्यक्रमों का सकारात्मक पक्ष जिसे हम इन कार्यक्रमों का प्रभाव भी कह सकते है निम्नवत रहे। अब खेती करने वाले किसान और सरकार में सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। भूमि की मालगुजारी सीधे सरकार के पास जमा करता है। किसानों को भूमि पर स्थाई अधिकार प्राप्त हो गये परिणाम यह हुआ कि उपज वृद्विहेतु किसानों द्वारा भूमि पर स्थायी सुधार कार्यक्रम भी शुरू किए जाने लगे। जंमीदारी प्रथा के अन्त होने से बेगारा व नौकरी जैसी शोषण गतिविधियों से किसानों को मुक्ति मिल गई। किसानों को भूमि का स्वामित्व मिला जिस कारण वह उसमें स्थाई सुधार लागू कर अधिक परिश्रम करने लगें फलस्वरूप कृषि उपज में वृद्वि हुई। काश्तकार एवं जंमीदार एक ही स्तर पर आ गये इसे समाज में समता की भावना का विकास हुआ। लोग आपस में मिलकर सहकारिता के सिद्धान्तों के अनुरूपसहकारी कृषि को बढावा मिला। चकबन्दी के परिणाम स्वरूप बिखरे खेतों को एकत्रित किया गया जहां वह कृषि कार्यो हेतु एक साथ नवीन तकनीक से गहन कृषि कर सकते है। जोतो की उच्चतम सीमा निर्धारण के कारण भूमि का उचित एवं न्यायपूर्ण वितरण हो सका। ग्रामीण व्यवस्था में एक नवीन परिवर्तन आया समाज के उस वर्ग को भी जमीन उपलब्ध हुई जिसके पास केवल मजदूरी का ही कार्य था। लोगों को आवास हेतु जमीन प्रदान की गई। लगान के रूप में सरकारी राजस्व में भी वृद्धि हुई। बेकार पड़ी हुई भूमि का समाज के वंचित वर्ग में वितरण हुआ। समान्तवादी व्यवस्था का अन्त हुआ। किसानों के सामाजिक एवं आर्थिक स्तर में नूतम परिवर्तन आया।

4.6.2 भूमि सुधार कार्यक्रमों की कमियाँ– भूमि सुधार कार्यक्रम बड़ी ही तत्परता से लागू हुए परन्तु अवलोककन करने पर इनमें निम्नं कमियाँ इंगित होती है– भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रभावी क्रियान्वयन नहीं हो सका। प्रो0 गुन्नार मिर्डल ने अपनी पुस्तक एशियन ड्रामॉ में लिखा है कि ''भूमि सुधार कानून जिस ढंग से क्रियान्वित किए गए है उनसे सामान्यत उन कानूनों की भावनाओं और अभिप्राय को हताश होना पड़ा है।''लोगो (जमीदारों) द्वारा काश्तकारों को बेदखल कर खुदकाश्त के लिए भूमि का पुर्नग्रहण किया गया। उच्चतम जोत की सीमा से बचाव हेतु जोतो का अनियमित एवं अवैधानिक हस्तान्तरण हुआ जंमीदार, राजनेता एवं प्रशासनिक अधिकारी का गठजोड़ बना जो पूर्व में ही तथाकधित रूप में एक ही थे, इन्होनें कानून की अवहेलना के साथ ही साथ भूमि सम्बन्धी रिकार्डो में भी परिवर्तन किया। भूमि सम्बन्धी प्रलेख अपूर्ण थे जिससे स्वामित्व निर्धारण करने में कठिनाई आई। भूमि सुधार सम्बन्धी कानून का जंमीदारों द्वारा कानून की खामियों का लाभ उठाया गया। भूमि सुधार कार्यक्रमों में एकरूपता का अभाव था। कई कार्यक्रम जैसे चंकबन्दी, उच्चतम जोत सीमा कानून, सहकारी कृषि आदि को एक साथ लागू नहीं किया गया। भूमिहीन किसानों या छोटे काश्ताकारों को भूमि के स्वामित्व प्रदान करने के साथ ही साख या वित्त की उपलब्धता नहीं उपलब्ध कराई गई।

4.6.3 भूमि सुधार कार्यक्रमों की सफलता के लिए सुझाव– भूमि सुधार कार्यक्रमों के प्रभावी सफलता हेतु निम्न कार्य आवश्यक है– भूमि सम्बन्धी रिकार्डो का पूर्णतया नवीन करण किया जायें साथ ही सरल सुलभता हेतु पूर्णतया कम्प्यूटीकरण किया जाए। एक अच्छी प्रशासनिक तत्रं का निर्माण किया जाए। भूमि सुधार कार्यक्रमों से सन्द्रर्भित स्पेशल अदालत स्थापित की जाए जहॉ गरीबी लोगों को निःशुल्क न्याय प्रदान किया जाए साथ ही वह त्वरित निर्णय लिए जाए। किसानों को भूमि में स्थाई विकास हेतु साख एवं वित्त की सरलता से उपलब्धता सुनिश्चित किया जाना चाहिए। खेतिहर मजदूर व बटाई वालों की भी भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में शामिल किया जाना चाहिए। भूमि सुधार कार्यक्रमों का समयाबद्ध रूप में क्रियान्वयन किया जाना चाहिए। भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रचार–प्रसार के साथ इसकी प्रक्रिया को भी सरल बनाया जाना चाहिए।

अभ्यास प्रश्न– 2

रिक्त स्थानों की पूर्ति

1. भूमि सुधार का उद्धेश्य वास्तविक ,,,,,,,,,,, को सुरक्षा प्रदान करना है
2. मध्यस्थों की समाप्ति से कृषि उपज में .....,,,,,,,,,,हुई।
3. जोतो की सीमा निर्धारण से भूमि के ,,,,,,,,,,,,,,,वितरण में कमी हुई है।
4. भूमि का स्वेच्छा से दान करना .....कहलाता है।

बहुविकल्पी प्रश्न

1. भूमि सुधार का मतलब है–

(अ) भूमि का परीक्षण करना **(ब)** भूमि में खाद, सिंचाई, बीज आदि की व्यवस्था करना।
(स) भूमि की बिक्री करना **(द)** भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी कानूनों में सुधार करना।

2. भूमि सुधार कानूनों को संविधान की किस अनुसूची में शामिल किया गया।

(अ) पहली (ब) पाँचवी (स) नौंवी (द) दंसवी

3. किस कार्य को भूमि सुधार में गिना जायेगा–

(अ) उर्वरकों का प्रयोग (ब) संकर बीजों का प्रयोग (स) चकबन्दी (द) सिंचाई में वृद्धि

4. भूमि सुधार कार्यक्रमों में निम्न में क्या शामिल है–

(अ) लगान का नियमन (ब) काश्त की सुरक्षा प्रदान करना (स) दोनों (द) दोनो नहीं

5. चकबन्दी कार्य से क्या आशय है ?

(अ) भूमि सुधार (ब) सामाजिक सुधार (स) ग्राम सुधार (द) नगर सुधार।

4.7 सांराश

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ गये होंगे कि प्राचीन काल में भूमि पर अधिकार ग्राम समुदाय का था। वह परिवर्तित होता रहा और ईस्ट इंडिया कम्पनी ने भूमि–राजस्व प्रणाली को दृढ़ आधार पर रखने के लिए सन् 1793में लार्ड कार्नवालिस के समय में–(1) रैयतवाडी, (2) महालवारी और (3) जमींदारी के रुप में तीन वर्गों में विभक्त किया जो व्यवस्था स्वतन्त्रता–प्राप्ति के समय तक लागू रही। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ''जोतने वाले को भूमि'' के नारे को वास्तविकता में बदलने के लिए भूमि–सुधार किए गयें। सबसे पहले उत्तर प्रदेश लिए कानून बनाया गया। भारत में भूमि सुधारों की आवश्यकता निम्न कारणों से महसूस की गई थी–स्वतंत्रता के समय देश में कृषि पदार्थो की भारी कमी थी। अतः कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रम आवश्यक है।,सामाजिक न्याय और समानता के विकास हेतु सुधार कार्यक्रम द्वारा एकत्रित भूमि को भूमिहीनों में वितरित करना। , औद्योगिक क्षेत्र में अनेक उद्योग के लिए कच्चा माल भूमि से ही प्राप्त होता है।

भूमि सुधारों के अंतर्गत निम्नलिखित कार्यक्रमों को लागू किया गया–मध्यस्थों वर्गों का उन्मूलन ,जोतो की उच्चतम सीमा का निर्धारण ,काश्तकारी सुधार –लगान का नियमन ,भू–धारण की सुरक्षा ,काश्तकारों का पुनर्ग्रहण , भूमिहीन कामकारों को भूमि प्रदान करना और कृषि का पुनर्गठन – चकबंदी ,भूमि के प्रबंधन में सुधार , सहकारी कृषि।

भूमि सुधार कार्यक्रमों का सकारात्मक पक्ष जिसे हम इन कार्यक्रमों का प्रभाव भी कह सकते है वे है कि अब खेती करने वाले किसान और सरकार में सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। भूमि की मालगुजारी सीधे सरकार के पास जमा होने लगी , किसानों को भूमि पर स्थाई अधिकार प्राप्त हो गये।परन्तु साथ भूमि सुधार कानून जिस ढंग से क्रियान्वित किए गए है उनसे सामान्यत उन कानूनों की भावनाओं और अभिप्राय को हताश होना पड़ा है। जमीदारों द्वारा काश्तकारों को बेदखल कर खुदकाश्त के लिए भूमि का पुर्नग्रहण किया गया। उच्चतम जोत की सीमा से बचाव हेतु जोतो का अनियमित एवं अवैधानिक हस्तान्तरण हुआ जंमीदार, राजनेता एवं प्रशासनिक अधिकारी का गठजोड़ बना जो पूर्व में ही तथाकधित रूप में एक ही थे, इन्होनें कानून की अवहेलना के साथ ही साथ भूमि सम्बन्धी रिकार्डो में भी परिवर्तन किया। भूमि सुधार कार्यक्रमों की प्रभावी सफलता के लिए किसानों को भूमि में स्थाई विकास हेतु साख एवं वित्त की सरलता से उपलब्धता सुनिश्चित किया जाना चाहिए। खेतिहर मजदूर व बटाई वालों की भी भूमि सुधार कार्यक्रमों के क्रियान्वयन में शामिल किया जाना चाहिए। भूमि सुधार कार्यक्रमों का समयाबद्ध रूप में क्रियान्वयन किया

जाना चाहिए। भूमि सुधार कार्यक्रमों का प्रचार–प्रसार के साथ इसकी प्रक्रिया को भी सरल बनाया जाना चाहिए।

4.8 शब्दावली

काश्तकार – जो लोग किसी दूसरे की भूमि पर ठेके पर कृषि करता है।
पारम्परिक खेती –पुरानी विधियों पर आधारित कृषि करता है।
कृषि का व्यवसायिकरण – लाभ प्राप्ती के उद्देश्यों से कृषि करना।

4.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न – 1

1. स्वतन्त्रता–प्राप्ति के समय भारत में तीन प्रकार की प्रमुख भूमि व्यवस्थाएँ थी–(1) रैयतवाडी, (2) महालवारी और (3) जमींदारी।
2. प्राचीन भारत में भूमि पर अधिकार ग्राम समुदाय का था।
3. अकबर के शासन काल में राजा टोडरमल ने भूमि की क्रमबद्ध विस्तृत पैमाइश की थी।
4. सन् 1765 में शाह आलम ने ईस्ट इंडिया कम्पनी को दिवानी प्रदान की थी।
5. रैयतवाडी भूमि व्यवस्था में कृषि क्षेत्र का 40 प्रतिशत प्रतिशत भाग था।
6. सबसे पहले उत्तर प्रदेश लिए कानून बनाया गया।
7. भारत में भूमि सुधारों की आवश्यकता निम्न कारणों से महसूस की गई – कृषि उत्पादन बढ़ाने ,सामाजिक न्याय और समानता के विकास हेतु और भूमिहीनों में भूमि वितरित करना।
8. कृषि क्षेत्र में विद्यमान संस्थागत विसंगतियों को दूर करना, आर्थिक असमानता को समाप्त करना एवं कृषि उत्पादन में वृद्धि कर आत्म निर्भरता प्राप्त करना और गरीबी उन्मूलन एंव लोगो में सामान्य मान्यताएँ प्रदान करना।

अभ्यास प्रश्न – 2

रिक्त स्थानों की पूर्ति

1. काश्तकार 2. वृद्धि 3. असमान 4. भूदान

बहुविकल्पी प्रश्न

1. (द) भूमि के स्वामित्व सम्बन्धी कानूनों में सुधार करना।
2. (स) नौंवी 3.(स) चकबन्दी
4. (स) दोनों 5.(अ) भूमि सुधार

4.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मुजम्मिल , प्रो0 मोहम्मद, कृषि अर्थशास्त्र (2001) उ0 प्र0 हिन्दी संस्थान, लखनऊ उ0 प्र0।
2. गुप्ता पी0के0, कृषि अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
3. सिंह, डॉ0 राजपाल, कृषि अर्थशास्त्र(2004) वी0 के प्रकाशन, बडौत, बागपत।

4. पाण्डे, प्रो0 श्रीधर, आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास,मोतीलाल बनारसीदास,दिल्ली ।
5. सोनी आर0 एन0; *''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय ''* ; 2007; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।
6. माथुर बी0 एल0; (2011) *''कृषि अर्थशास्त्र'';* अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
7. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) *'' कृषि अर्थशास्त्र ''*; साहित्य भवन आगरा।

4.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. राधा कमल मुखर्जीः इकानॉमिक प्रॉबलम्स आफ इड़िया।
2. Taylor, H.C., (1949),'*Outlines of Agricultural Economic's*, MacMillan, New Delhi.
3. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Developmen*t'; Select books,New Delhi.
4. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh(2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House, New Delhi.
5. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.
6. Dantawala, M.L. et al. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford& IBH, New Delhi.
7. Various Five Year Plan in Planning Commission of India.

4.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. भूमि सुधार का क्या आशय है ? अब तक भूमि सुधार कार्यक्रमों को कहाँ तक सफलता मिली।

2. भूमि सुधार कार्यक्रमों की उपलब्धियों एवं उनके ग्रामीण निर्धनों पर पड़ने वाले प्रभावों का विवरण दीजिए।

3. भूमि सुधार कार्यक्रमों का आलोनात्मक वर्णन कीजिए।

4. भारत वर्ष में भूमि सुधार के प्रमुख उद्धेश्यों का वर्णन कीजिए। अब तक विभिन्न भूमि सुधारों से कहाँ तक इन उद्धेश्यों की पूर्ति हुई है ?

5. भूमि सुधार का देश के आर्थिक विकास से क्या सम्बन्ध है। भूमि सुधार कार्यक्रमों की आवश्यकता एवं महत्व की विवेचना कीजिए।

6. भूमि सुधार कार्यक्रमों की प्रभावी विवेचना कीजिए। इनकी सफलता के लिए उपाय सुझाइए।

इकाई 5 – हरित क्रान्ति और तकनीकी परिवर्तन

इकाई संरचना

5.1 प्रस्तावना
5.2 उद्देश्य
5.3 हरित क्रान्ति का अर्थ
5.4 हरित क्रान्ति की उपलब्धियॉ
5.5 हरित क्रान्ति के लाभ
5.6 हरित क्रान्ति की कमियॉ अथवा समस्यायें
5.7 हरित क्रान्ति की सफलता के लिए सुझाव
5.8 कृषि में तकनीकि परिवर्तन का अर्थ
5.8 .1 कृषि तकनीकि के प्रकार
5.9 सारांश
5.10 शब्दावली
5.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.12 संदर्भ ग्रंथ सूची
5.13 उपयोगी/सहायक ग्रंथ
5.14 निबन्धात्मक प्रश्न

5.1 प्रस्तावना

हम जानते हैं कि किसी अर्थव्यवस्था के विकास के लिए सबसे पहले इसकी कृषि का विकास आवश्यक है। एक प्रगतिशील कृषि ही एक देश को आर्थिक विकास के पथ पर चला सकती है। भारत में कृषि क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने के लिए पहला कार्यक्रम (Intensive Agriculture District Programme) सात जिलों के लिए पायलट परियोजना के रुप में आरम्भ किया गया था। इस प्रयोग में मिली सफलता से उत्साहित होकर सरकार ने अक्टूबर 1965 में इस नीति को गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (Intensive Agriculture Area Programme) के अन्तर्गत चुने गए 117 जिलों में लागू किया। इन कार्यक्रमों के फलस्वरुप भारत में हरित क्रान्ति की नींव रखी जा सकी।

1960 के दशक में भारत में कृषि उत्पादन में, एक आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। यह वृद्धि मुख्य रुप से इन फसलों की प्रति हेक्टेयर उत्पादकता की वृद्धि के कारण हुई थी। उत्पादकता में यह वृद्धि इतनी अधिक थी कि कई अर्थशास्त्रियों ने इसे हरित क्रान्ति का नाम दे दिया। 1965 में मैक्सिको में गेहूँ की प्रति हेक्टेयर पैदावार 5 से 6 हजार किलो ग्राम हो गयी थी, इस प्रकार ताईवान में प्रति हेक्टेयर उपज 5000 किलोग्राम तक पहुँच गई थी। यह उन देशों में कृषि में नई तकनीकी के प्रयोग के कारण हुआ था।

इस इकाई के अध्ययन से हरित क्रान्ति का अर्थ अथवा भारतीय कृषि में नवीन रणनीति को समझने मे ंसहायता मिलेगी हम इस विषय से अवगत हों सकेंगे कि भारतीय कृषि में होने वाली हरित क्रान्ति का मुख्य कारण कृषि तकनीकी में परिवर्तन है। हरित क्रान्ति की उपलब्धियॉ, कमियॉ अथवा समस्याएं व इसकी सफलता के लिए सुझाव इसकी भी विस्तार से व्याख्या की गई है।

5.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. यह जान सकेंगे कि हरित क्रान्ति का क्या अर्थ है।
2. यह समझ सकेंगें कि हरित क्रान्ति की मुख्य उपलब्धियॉ क्या है।
3. यह भी ज्ञात हो सकेगा कि हरित क्रान्ति के लाभ व कमियां अथवा समस्यायें क्या हैं।
4. हरित क्रान्ति की सफलता के लिए सुझाव देने में सक्षम हो पायेंगे।
5. यह समझ सकेंगें कि हरित क्रान्ति को बढ़ावा देने में तकनीकी परिवर्तन किस प्रकार महत्वपूर्ण है।

5.3 हरित क्रान्ति का अर्थ

हरित क्रान्ति, हरित एवं क्रान्ति शब्द के मिलने से बना है। क्रान्ति से तात्पर्य किसी घटना में तेजी से परिवर्तन होने तथा उन परिवर्तनों का प्रभाव आने वाले लम्बे समय तक रहने से है। हरित शब्द कृषि फसलों का सूचक है। अतः हरित क्रान्ति से तात्पर्य कृषि उत्पादन में अल्पकाल में विशेष गति से वृद्धि का होना तथा उत्पादन की वह वृद्धि दर आने वाले समय तक बनाये रखने से है।

भारतीय कृषि के संदर्भ में हरित क्रान्ति से आशय छठे दशक के मध्य कृषि उत्पादन में हुई उस भारी वृद्धि से है जो थोड़े से समय में उन्नतशील बीजो, रसायनिक खादों एवं नवीन तकनीकों के फलस्वरुप हुई। अन्य शब्दों में, हरित क्रान्ति भारतीय कृषि में लागू की गई उस विकास विधि का परिणाम है जो 1960 के दशक में पारम्परिक कृषि को आधुनिक तकनीकी द्वारा प्रतिस्थापित किये जाने के रुप में सामने आई। कृषि में तकनीकी ज्ञान का आविष्कार, उन्नत किस्म के बीजों का प्रयोग, सिंचाई सुविधाओं का विकास, कृषि क्षेत्र में उन्नत औजारों एवं मशीनों का अधिकाधिक उपयोग, कृषि में विद्युतीकरण, कृषि क्षेत्र में ऋण का विस्तार, कृषि शिक्षा में विस्तार कार्यक्रमों के सम्मिलित प्रयासों के फलस्रुपय वर्ष 1966–67 के उपरान्त कृषि उत्पादन में तीव्र गति से वृद्धि हुई। उत्पादन वृद्धि की इस असाधरण गति दर को कृषि वैज्ञानिकों, ने हरित क्रान्ति का नाम दे दिया। हरित क्रान्ति का जन्मदाता नोबेल पुरस्कार विजेता प्रो0 नोरमन बॉरलोग है। भारत में हरित क्रान्ति को बढ़ावा देने का श्रेय मुख्यतः एस. स्वामीनायन को दिया जाता है। हरित क्रान्ति की संबा इसलिए भी दी गई कि क्योंकि इसके फलस्वरुप भारतीय कृषि निर्वाह स्तर से ऊपर उठकर आधिक्य स्तर पर आ चुकी है।

इस प्रकार हरित क्रान्ति में मुख्य रुप से दो बाते आती हैंः–

1. एक तो उत्पादन तकनीकि में सुधार
2. दूसरे कृषि उत्पादन में वृद्धि

हरित क्रान्ति को नवीन कृषि रणनीति के नाम से भी जाना जाता है। नई कृषि युक्ति (New Agricultural Strategy) को 1966 ई0 में एक पैकेज के रुप में शुरु किया गया और इसे अधिक उपज देने वाले किस्मों का कार्यक्रम (High Yielding Variety Programme) की संबा दी गई।

5.4 हरित क्रान्ति की उपलब्धियॉ

तृतीय योजना के प्रारम्भ से लेकर अब तक के वर्ष भारतीय कृषि के इतिहास में बहुत ही महत्वपूर्ण माने जाते हैं। हरित क्रान्ति सरकार द्वारा अपनाए गए कई उपयों का परिणाम थी। विभिन्न उपायों को सम्मिलित या पैकेज के रुप में अपनाने से ही कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि हुई। हरित क्रान्ति की उपलब्धियों को कृषि में तकनीकी परिवर्तन से संस्थागत एवं उत्पादन में हुए सुधार के रुप में देखा जा सकता है।

1. **उन्नत किस्म के बीजों के प्रयोग में वृद्धि** – सबसे पहली किस्म 'नोरिन 10' थी जिसे डा0 एस0सी0 सैलमन 1948 में जापान से अमरीका लाए। नार्मन ई. बार लॉग, डा0 एम0 एस0 स्वामी नरथन और श्री सी0 सुब्रमण्यम (तत्कालीन कृषि मंत्री भारत सरकार) के प्रयासों के फलस्वरुप गेहूँ की लर्मारोंही (लर्मारोजों), सोनरा 63 व सोनरा 64 जैसी मैक्सीकन प्रजातियॉ शुरु में भारत में सीधे प्रयोग में लाई गईं। बाद में मैक्सिको की प्रजातियों को भारतीय किस्मों के साथ मिलकर संकलन पर पर्याप्त ध्यान दिया गया। मैक्सिन प्रजातियसों में कुछ खास तरह की कमियॉ थीं जिनमें गेहूँ के दानों का रंग लाल होना प्रमुख थी। इन कमियों को दूर करने के लिए 'शरबती

सोनोराः, 'पूसा लमीः, कल्याज सोना' और 'सोनालिका' जैसी नई किस्में विकसित की गईं। लेकिन जिन गेहूँ की किस्मों ने हरित क्रान्ति में योगदान दिया वे हैं– संगम (CPAN 3004) मोती (HD 1949), जनक (HD 1982), अर्जुन (HD 2009), कल्यान सोना, सोनालिका एवं HD 2329। अधिक उपज देने वाली किस्मों के बीजों का उपयोग बढ़ा है और नई नई किस्मों की खोज की गई है। चावल में छोटा बासमती, नयी जय, दमा, रत्ना आदि का प्रयाग किया गया। अभी तक अधिक उपज देने वाला कार्यक्रम धान बाजरा, मक्का व ज्वार में ही लागू किया गया है। लेकिन गेहूँ में सबसे अधिक सफलता मिली है। 1966–67 वर्ष में 19 लाख हेक्टेयर भूमि में उन्नत किस्म के बीजों का प्रयोग किया गया था। नई विकास विधि के अन्तर्गत वर्ष 2009–2010 में 257 लाख कुन्तल प्रमाणित बीज वितरित किये गए। भारत में 88 प्रतिशत गेहूँ की फसल में उन्नत बीजो (HYV Seeds) का प्रयोग किया जाता है।

2. **रासायनिक उर्वरकों के उपयोग में तेजी से वृद्धि** – भारत में हरित क्रान्ति के परिणामस्वरुप रासायनिक उर्वरकों के उपभोग की मात्रा में तेजी से वृद्धि हुई है। 1960–61 में रासायनिक खाद का उपभोग केवल 39 हजार टन था। वह 2009–10 मे बढ़ कर 264.86 लाख टन हो गया। रासायनिक खादों का उपभोग बढ़ाने के लिए सरकार ने कई उपय किए हैं, जैसे छोटे व सीमान्त किसानों को रासायनिक खाद खरीदने के लिए साख उपलब्ध कराना, किसानों को इसके उचित उपयोगो के सम्बन्ध में मुफ्त सलाह व प्रशिक्षण दिया जाता है। सरकार ने 2009–2010 में रासायनिक खाद पर 57,056 करोड़ रुपयों की आर्थिक सहायता दी है।

3. **सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि** – हरित क्रान्ति को सुदृढ़ बानो में सिंचाई की सुविधाओं का योगदान भी कुछ कम नहीं है। ऊँची उत्पादक्ता वाले बीजों को रासायनिक खादों की आवश्यक्ता तो होती है, परन्तु इसके साथ ही रासायनिक खादों के प्रयोग में पानी की आवश्यक्ता भी बढ़ जाती है और सिंचाई मानसून की अनिश्चितताओं से बचाकर खाद्य सुरक्षा उपलब्ध कराती है। भारत में सिंचाई की सुविधाओं में वृद्धि निरन्तर होती गई है। भारत में 1965–1'966 के पश्चात सिंचाई की लघु परियोजनाओं (Minor Irrigation Projects) ने हरित क्रान्ति को लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कूपों तथा नलकूपों द्वारा उपलब्ध करवाई गई सिंचाई सुविधाओं में वृद्धि इतनी अधिक थी कि अर्थशास्त्रियों ने हरित क्रान्ति को Child of the pump set technology का नाम दे दिया। मार्च 2010 तक भारत की सिंचाई क्षमता 1082 लाख हेक्टेयर हो गई जो कि 1951 में 223 लाख हेक्टेयर थी।

4. **पौध संरक्षण** – भारत में लगभग 10 प्रतिशत फसल कीटाणुओं और रोगों द्वारा नष्ट हो जाती है। इनसे फसलों के बचाव करने की क्रिया को पौध संरक्षण कहते हैं। इसके अन्तर्गत खरपतवार एवं कीटों को नाश करने के लिए दवा छिड़कने का कार्य किया जाता है। वर्तमान में एकीकृत कीटनाशक नियंत्रण रणनीति को अपनाया गया है।

5. **बहुफसली कार्यक्रम** – बहुफसली कार्यक्रम का उद्देश्य एक ही भूमि पर वर्ष में एक से अधिक फसल उगाकर उत्पादन बढ़ाना है। यह कार्यक्रम 1967–68 में लागू किया गया है। इस कार्यक्रम से भूमिका अनुकूलतम प्रयोग हो सकता है। वर्तमान में भारत में यह कार्यक्रम कुल सिंचित भूमि के 65% भाग पर लागू है।
6. **आधुनिक कृषि उपकरणों का उपयोग** – वर्तमान कृषि में हरित क्रान्ति में आधुनिक कृषि उपकरणों जैसे ट्रैक्टर, थ्रेशर, हारवेस्टर, डीजल व बिजली के पम्पसेटों आदि ने काफी योगदान दिया है। 1966 में भारत में 21 हजार ट्रैक्टर थे लेकिन आज इनकी संख्या 6 लाख से अधिक है।
7. **कृषि सेवा केन्द्रों की स्थापना** – कृषकों में व्यवसायिक साहस की क्षमता को विकसित करने के उद्देश्य से देश में कृषि सेवा केन्द्र स्थापित करने की योजना लागू की गई है। अब तक देश में कुल 146 कृषि सेवा केन्द्र स्थापित किए जा चुके हैं।
8. **कृषि उद्योग निगम** – सरकारी नीति के अन्तर्गत 17 राज्यों में कृषि उद्योग निगमों की स्थापना की गई है। इन निगमों का कार्य कृषि उपकरण व मशीनरी की पूर्ति तथा उपज के प्रसंस्करण एवं भण्डारण को प्रोत्साहन देना है।
9. **मृदा परीक्षण** – मृदा परीक्षण कार्यक्रम के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों की मिट्टी का परीक्षण प्रयोगशालाओं में किया जाता है। इसका उद्देश्य भूमि की उर्वराशक्ति का पता लगाकर कृषकों को उसी अनुसार रासायनिक खादों व उत्तम बीजों के प्रयोग की सलाह किसानों को दी जा सके। वर्तमान समय में 7 लाख नमूनों का परीक्षण इन सरकारी प्रयोगशालाओं में किया जाता है। चलती फिरती प्रयोगाशलाएं भी स्थापित की गई हैं, जो गांव – गांव जाकर मौके पर मिट्टी का परीक्षण कर किसानों को सलाह देती हैं।
10. **कृषि विकास के लिए विभिन्न निगमों की स्थापना** – हरित क्रान्ति की प्रगति मुख्यताः अधिक उपज देने वाली किस्मों व उत्तम सुधरे हुए बीजों पर निर्भर करती है। इसके लिए देश में 400 कृषि फार्म स्थापित किये गए हें। 1963 में राष्ट्रीय बीज निगम की स्थापना की गई थी। 1963 में ही राष्ट्रीय सहकारिता विपणन संघ (नेफेड) बनाया गया जो प्रबन्ध, वितरण एवं कृषि से सम्बन्धित चुनिंदा वस्तुओं के आयात निर्यात का कार्य करता है। कृषि के लिए ही खाद्य निगम, उवर्रक साख गारण्टी निगम, ग्रामीण विद्युतीकरण निगम आदि भी स्थापित किये गए हैं।

11. **कृषकों को उचित मूल्य की गारण्टी** – कृषि विकास नीति के अन्तर्गत सरकार द्वारा कृषकों को उनकी फसल का उचित मूल्य देने की गारण्टी दी जाती है। इस कार्य के लिए कृषि लागत एवं मूल्य आयोग हैं जिसका कार्य फसल की बुवाई के समय उन मूल्यों को सिफारिश करना है जिस पर फसल के आने पर सरकार क्रय करने लिए वचनबद्ध है। 1965 में कृषि मूल्य आयोग की स्थापना कर दी।

12. **कमजोर किसान के लिए विशिष्ट कार्यक्रम** – कमजोर, छोटे व सीमान्त कृषकों एवं खेतिहर कृषकों की सहायता के लिए तीन योजनाएं लागू कीः–

(क) लघु कृषि विकास एजेन्सी

(ख) सीमान्त कृषक एवं कृषि श्रमिक विकास एजेन्सी

(ग) एकीकृत शुष्क भूमि कृषि विकास और अब समन्वित ग्राम विकास कार्यक्रम लागू किया है।

5.5 हरित क्रान्ति के लाभ

हरित क्रान्ति के मुख्य लाभ निम्न प्रकार हैं'–

1. **खाद्यान्न उत्पादन में वृद्धि** – हरित क्रान्ति या नई कृषि राजनीति का पहला लाभ हुआ है कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई है, विशेष रुप से गेहूँ, बाजरा, चावल, मक्का, व ज्वार दालों के उत्पादन में आशतीत वृद्धि हुई। इसके परिणामस्वरुप भारत खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर सा हो गया है। प्रति हेक्टेयर उत्पादन में आशतीत वृद्धि हुई है। देश में सभी खाद्यान्नों का प्रति हेक्टेयर उत्पादन 1950–51 में 522 कि0ग्राम प्रति हेक्टेयर था जो बढ़कर 2011–2012 में 1996 किग्रा प्रति हेक्टेयर हो गया।
2. **परम्परागत स्वरुप में परिवर्तन** – हरित क्रान्ति द्वारा किसानों को परम्परागत खेती की सीमाएँ पता चल गई हैं। आज किसान आधुनिक तकनीकों को अपनाने के लिए तैयार है। आज खेती का व्यवसायिकरण हो चुका है। लैजिस्की के अनुसार, *''जहॉ कहीं भी नई तकनीकें उपलब्ध हैं कोई किसान उनके महत्व को अस्वीकार नहीं करता। बेहतर कृषि विधियों तथा बेहतर जीवन स्तर की इच्छा न केवल नई उत्पादन तकनीकों का प्रयोग करने वाले एक छोटे से धनी वर्ग तक सीमित है बल्कि उन लाखों किसानों में भी फैल गई जिन्होंनें अभी तक इन्हें अपनाया है और जिनके लिए बेहतर जीवन स्तर अभी तक सपना है।''* किसानों के दृष्टिकोण में परिवर्तन आया है। उत्पादकता में बढ़ोत्तरी से कृषि के स्तर में बदलाव आया और अब वह जीवकोपार्जन करने के निम्न स्तर से ऊपर उठकर आय बढ़ाने का साधन बन गई।
3. **कृषि बचतों में वृद्धि** – खाद्यान्न में उत्पादन में वृद्धि का एक परिणाम यह हुआ कि मण्डी में बिकने वाले खाद्यान्न की मात्रा में वृद्धि हा`गइ। जिससे कृषक के पास बचतों की मात्रा में उल्लेखनीय प्रगति हुई है जिसको देश के विकास के लिए काम में लाया जा रहा है। यह वृद्धि, विशेषकर औद्योगिक क्षेत्र के विकास के लिए लाभकारी रही।
4. **विश्वास** – हरित क्रान्ति का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि कृषक, सरकार व जनता सभी में यह विश्वास जाग्रत हो गया है कि भारत में कृषि पदार्थों के क्षेत्र में केवल आत्मनिर्भर ही नहीं हो सकता है बल्कि आवश्यक्ता पड़ने पर निर्यात भी कर सकता है।
5. **खाद्यानों के आयात में कमी** – प्रो0 एस0 एल0 दान्तवाला के मत में 'हरित क्रान्ति ने सॉस लेने योग्य राहत का समय दिया है। इसके खाद्यान्नों की कमी की चिन्ता से छुटकारा मिलेगा और अर्थशास्त्रियों व नियोजकों का ध्यान पुनः भारतीय योजनाओं

की ओर लगेगा। वास्तव में हरित क्रान्ति होने से खाद्यानों का आयात 1978 से 1980 तक पूर्णतः बन्द कर दिया गया था। 2009–10 में 85, 211 करोड़ रुपयो का कृषि पदार्थों का निर्यात किया गया। कृषि पदार्थों का निर्यात कुल निर्यात का 9.9 प्रतिशत था। इस प्रकार विदेशी मुद्रा के खर्च में बहुत बचत हो गई है।

6. **कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र के सम्बन्धों में मजबूती** – नवीन कृषि तकनीकी तथा कृषि के आधुनिकीकरण ने कृषि तथा उद्योग के परस्पर सम्बन्ध का और भी अधिक सुदृढ़ बना दिया है। पारम्परिक रुप में यद्यपि कृषि और उद्योग का अग्रगामी सम्बन्ध (forward lunkage) पहले से ही मजबूत था क्योंकि कृषि क्षेत्र द्वारा उद्योगों के लिए आयात उपलब्ध कराये जाते हैं। जैसे चीनी मिल के लिए गन्ना, कपड़ा मिल के लिए कपास। कृषि के आधुनिकीकरण के फलस्वरुप अब कृषि में उद्योग निर्मित आयातों जैसे कृषि यंत्र व रासायनिक उवर्रक की मांग में भारी वृद्धि हुई है।

7. **कृषि एवं गैर कृषि क्षेत्रों में रोजगार के नये अवसर** – कृषि की नई तकनीकि अथवा हरित क्रान्ति के कारण कृषि उत्पादन में वृद्धि हुई जिसके परिणामस्वरुप फसलों की कटाई के लिए श्रम की मांग बढ़ गई। एक वर्ष में, एक की बजाए दो फसलों के उगाने के कारण भी श्रम की मांग में काफी वृद्धि हुई है। उदाहरणतया, पंजाब व हरियाणा में अक्टूबर तथा नवम्बर धान को काटने तथा इसके पश्चात् गेहूँ के बोने के कारण श्रम की मांग बढ़ गई है। कृषि में उत्पादन में वृद्धि के कारण, कृषि पर आधारित उद्योग का विकास हुआ है। इन उद्योगों में भी श्रम का प्रयोग बढ़ गया है। सेवा क्षेत्र में भी हरित क्रान्ति के कारण रोजगार बढ़ा है। अधिक उत्पादों तथा अधिक कृषि साधनों के परिवहन तथा मण्डी सम्बन्धी सेवाओं के परिवाहन तथा मण्डी सम्बन्धी सेवाओं की आवश्यक्ता नें भी रोजगार में वृद्धि की है।

8. **ग्रामीण विकास** – हरित क्रान्ति के फलस्वरुप सार्वजनिक एवं निजी निर्माण कार्यों को प्रोत्साहन मिला है। ग्रामीण क्षेत्र में बैंकों की गतिविधियॅा बढ़ गई हैं।

5.6 हरित क्रान्ति की कमियॅा अथवा समस्यायें

हमें ज्ञात हो चुका है कि हरित क्रान्ति के परिणामस्वरुप कुछ फसलों के उत्पादन में पर्याप्त वृद्धि हुई है। देश को आर्थिक, सामाजिक व राजनीतिक दृष्टि से लाभ हुआ है। नीचे हम इनमें से कुछ समस्याओं का वर्णन कर रहे हैं:–

1. **कृषि विकास में असन्तुलन** – हरित क्रान्ति का क्षेत्र कुछ ही राज्यों तक सीमित है। विशेष रुप से उत्तर प्रदेश के कुछ क्षेत्रों में पंजाब, हरियाणा, महाराष्ट्र व तमिलनाडु में कृषि के विकास में एक आश्चर्यजनक वृद्धि हुई। दूसरी ओर राजस्थान, हिमांचल प्रदेश, बिहार तथा असम जैसे राज्य कृषि में कोई विशेष प्रगति न ला सके।

   यहॅा हम यह भी बताना चाहते हैं कि हरित क्रान्ति ने न केवल देश के भिन्न–भिन्न भागों में, कृषि के विकास की दर में असमानता पैदा की, अपितु देश के एक ही क्षेत्र में कृषि के विकास में असामनता पैदा कर दी। जेसे कि पंजाब के रुपनगर तथा होशियारपुर के जिलों में, या हरियाणा के नारनौल जिले में, सिंचाई की पर्याप्त

सुविधाओं के उपलब्ध न होने के कारण, कृषि में प्रगति न हुई जबकि इन राज्यों के बाकी हिस्सों में कृषि के विकास की गति बहुत बढ़ गई।

2. **कुछ ही फसलों तक सीमित** – अनाज के सम्बन्ध में हरित क्रान्ति गेहूँ की फसल के साथ ही प्रमुख रुप से जुड़ी रही है। नए बीज सफल नहीं हुए। यह मानना पड़ेगा कि दालों, व्यापारिक फसलों जैसे कपास, तिलहन, पटसन आदि के सम्बन्ध में अधिक उपज वाले बीज तैयार करने के प्रयास बहुत सफल नही हो सके हैं। हम यह कहना चाहेंगे कि भारत में वे उपखण्ड जहॉ सिंचाई की सुविधाएं पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थीं, उन क्षेत्रों के हरित क्रान्ति गेहूँ और चावल का उत्पादन बढ़ाने में सहायक हुईं।

3. **आय के वितरण में भारी असामनता** – हरित क्रान्ति के परिणामस्वरुप धनी कृषक वर्ग पहले की अपेक्षा अधिक अमीर हो गए और गरीब किसानों की आय के स्तर में विशेष वृद्धि नहीं हो पाई और दूसरे किसानों की तुलना में गरीब होते गए। डा0 वी0 के0 आर0 वी0 राव के अनुसार, *''यह बात सर्वविदित है कि तथा कथित हरित क्रान्ति जिसने देश में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने में सहायता दी है, के साथ ग्रामीण आय में असमानता बढ़ी है, बहुत से छोटे किसानों को अपनी काश्तकारी अधिकार छोड़ने पड़े हैं और ग्रामीण क्षेंत्रों में सामाजिक और आर्थिक तनाव बढ़े हैं।''* कृषि की नई टैक्नोलोजी के अपनाए जाने के कारण, ग्रामीण समाज दो भागों में बंट गया। प्रत्येक गांव में, इन दोनों वर्गों की आर्थिक स्थिति में अन्तर स्पष्ट दिखाई देता है।

4. **पूंजीवादी खेती को प्रोत्साहन** – हरित क्रान्ति, बड़ी मशीनों, उर्वरक तथा सिंचाई सुविधाओं में एक भारी निवेश पर आधारित है। बड़े किसानों ने ही कृषि की नई तकनीकी का लाभ उठाया। इन सुविधाओं का लाभ छोटे किसानों कम पूंजी होने के कारण नहीं उठा पाये। All India Rural Credit Review Committee (1969) के अनुसार, 705 एकड़ तथा इससे अधिक भूमि वाले किसानों की संख्या कुल किसानों की संख्या की 38 प्रतिशत थी, जबकि इसके पास खेती अधीन भूमि का 70 प्रतिशत भाग था, इन्हीं किसानों ने बड़ी मशीनों के प्रयोग, कुछ श्रमिकों को काम से निकाल दिया तथा बचे हुए श्रमिकों को उचित वेतन न दिये।

5 **बड़े खेतों पर रोजगार के अवसरों में कमी** – जैसा हम जानते हैं कि कृषि की नई तकनीकि का प्रयोग करने के कारण मशीनों का अधिक प्रयोग पड़ा, जिससे कृषि उत्पादकता तो बढ़ी। हरित क्रान्ति में कृषि मशीनों के प्रयोग को बढ़ावा दिय जैसे फसलों को बोने तथा कटाई के लिए ट्रैक्टर तथा थ्रेशर का प्रयोग बढ़ा, जिससे खेतों पर काम कर रहे श्रमिक बेरोजगार हो गये।

6. **भूमि व मानव स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव** – यह हम जानते हैं कि हरित क्रान्ति के कारण रसायनिक उवर्रकों तथा फसलों को कीट पतंगों से बचाने के लिए कीटनाशक दवाईयों का प्रयोग अधिक बढ़ गया था। रासायनिक उवर्रकों के अधिक प्रयोग के कारण, भूमि की उपजाऊ शक्ति कम होती जा रही है, कीटनाशक दवाई का लोगों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। गेहूँ और चावल की खेती के लिए भूमिगत

जल, का प्रयोग (ट्यूबवैल द्वारा) अत्याधिक बढ़ गया है, जिसके कारण जलस्तर घट गया है और पर्यावरण को क्षति पहुॅचने लगी है।

6. **हरित क्रान्ति ने भूमि सुधार कार्यक्रमों की आवश्क्ता की अवहेलना की** – देश में भूमि सुधार कार्यक्रम सफल नहीं रहे हैं और लाखों कृषकों को आज भी भू–धारण की निश्चितता नहीं प्रदान की जा सकती है। संयुक्त राष्ट्र के महासचिव U. Thant ने कहा था कि हरित क्रान्ति एका औषधि कोष होने के बजाय बीमारियों का एक स्त्रोत बन सकती है। उन्होनें यह भी कहा था कि यदि विकासशील देश शीघ्र ही भूमि सुधारों को लागू नहीं करते तो हरित क्रान्ति के लाभ, मुख्य रुप से उन किसानों को होंगे जो कि वाणिज्यक स्तर पर खेती करते हैं, न कि छोटे किसानों को और वाणिज्यक स्तर पर खेती करने वाले किसानों में, बड़े किसान, दूसरों की तुलना में अधिक लाभ उठायेंगें।

7. **हरित क्रान्ति के लिए आवश्यक सुविधाओं की कमी** – सिंचाई के साधन, कृषि साख, आर्थिक जोत तथा सस्ते कृषि आगतों का अभी भी देश में अभाव है। छोटे किसान इन सभी साधनों के अभाव में हरित क्रान्ति के लाभों से वंचित रह गये हैं। जिससे कृषि विकास में वांछित सफलता नहीं प्राप्त हो पा रही है।

8. **उत्पादन लागत में वृद्धि** – नया तकनीकि ज्ञान अर्थात् उन्नत बीज, उवर्रक, कीटनाशक दवाईयों, सिंचाई के लिए विद्युत, डीजल, तेल का उपयोग, उन्नत कृषि यंत्रों के क्रय करने आदि के अपनाने में फसलों की खेती करने पर प्रति हेक्टेयर लागत अधिक आती है। इसके लिए किसानों को पहले की अपेक्षा अधिक पूंजी की आवश्यक्ता होती है।

5.7 हरित क्रान्ति की सफलता के लिए सुझाव

हरित क्रान्ति की सफलता के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जाते हैंः–

1. **भूमि सुधार कार्यक्रमों को प्रोत्साहन** – हरित क्रान्ति को सफल व व्यापक बनाने के लिए भूमि सुधार कार्यक्रमों को प्रभावी और विस्तृत रुप से लागू किया जाना चाहिए। सीमा निर्धारण से प्राप्त अतिरिक्त भूमि को भूमिहीन किसानों को वितरित किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त चकबन्दी को प्रभावी बनाकर जोतों के विभाजन पर रोक लगाए जाने की आवश्यक्ता है। जिससे कृषि की नई तकनीकी प्रभावी रुप से लागू हो पाए।

2. **कृषि वित्त की सुविधाओं का विस्तार** – हरित क्रान्ति का लाभ छोटे किसान भी उठा पाएं इसके लिए आवश्यक्ता है कि वित्तीय संस्थाएं प्रशासनिक व अन्य तरीकों से इन किसानों को ऋण आसान किश्तों में उपलब्ध करायें। कृषि की नई तकनीकी को अपनाने के लिए वित्तीय संस्थाओं को किसानों को प्रोत्साहन देना होगा।

3. **सिंचाई सुविधाओं का विस्तार** – कृषि के विकास के लिए विशेष तौर पर शुष्क व उपशुष्क उपखण्डों में कृषि की नई तकनीकी का लाभ उठाने के लिए सिंचाई सुविधाओं का विस्तार किया जाना आवश्यक है। इसके लिए

लधु सिंचाई परियोजनाओं के विस्तार वर्षा के जल को इकट्ठा करके (Rain Water harvesting) खेतों की सिंचाई छिड़काव प्रणाली, (Sprinter System) द्वारा की जाए, तो इससे पानी, बिजली, श्रम सब में बचत होगी।

4. **हरित क्रान्ति का अन्य फसलों पर फैलाव** – हरित क्रान्ति के प्रभाव क्षेत्र में गेहूँ और चावल के अतिरिक्त दालों, कपास, पटसन, तिलहन, गन्ना आदि के नए बीजों का विकास करने की आवश्यकता है। यदि इन फसलों के लिए ऊँची उत्पादकता वाले बीजों का विकास किया जाए तो कृषि क्षेत्र में सम्पूर्ण क्रान्ति आ जाएगी और कृषि में असन्तुलन भी कम हो जाएगा।

5. **सीमान्त व छोटे खेतों व छोटे किसानों को लाभ पहुँचाना** – जैसा कि हम जानते हैं कि हरित क्रान्ति क अधिकतम लाभ बड़े किसान ही उठा पाये हैं इसलिए यह आवश्यक है किः–

(क) छोटे–छोटे किसानों को सहकारी खेती को अपनाने के लिए प्रेरित किया जाए।

(ख) भूमि सुधार कार्यक्रमों को जल्दी व प्रभावी ढंग से लागू किया जाए।

(ग) छोटे किसानों को उन्नतबीज, उर्वरक खरीदने व सिंचाई सुविधाओं के लिए सरलता से साख सुविधाएँ बैंकों द्वारा उपलब्ध करायी जाएं।

6. **मूल्य नीति को प्रोत्साहनदायक बनाना** – हमें ज्ञात है कि सरकार की कृषि मूल्य नीति कुछ ही फसलों तक सीमित रही है इसलिए अन्य फसलों के उत्पादन में असन्तुलन देखने को मिलता है। सरकार की मूल्य नीति इस प्रकार की होनी चाहिए कि सभी फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन मिल पाए।

7. **अन्य फसलों के लिए भी उन्नत किस्म के बीजों का विकास** – हम एक बात बताना चाहेंगे कि हरति क्रान्ति के बाद मुख्यतः चावल और गेहूँ की उत्पादक्ता में बहुत वृद्धि हुई। परन्तु अन्य फसलों जैसे दाल, तिजहन, कपास और पटसन की उत्पादकता में वृद्धि नहीं हो पाई। इसका कारण यह है कि इनके लिए उन्नत किस्म के बीजों का विकास न हो पाना तथा इनकी उपज को बढ़ाने के लिए अन्य उपाय करना इसलिए आवश्यक्ता इस बात की हे कि विशेष तौर पर छोटे व सीमान्त किसानों को ऐसे बीज उपलब्ध कराये जाएं। इससे न केवल किसान अपनी भूमि पर कुछ ही फसलें (गेहूँ व चावल) उत्पादित करेंगे वरन् फसलों में भी विविधता को प्रोत्साहन मिलेगा।

8. **शुष्क खेती को प्रोत्साहन की आवश्यक्ता** – हमने पहले यह बताया है कि हरित क्रान्ति का लाभ मुख्यतः सिंचाई की सुविधा से युक्त भूमि को ही मिला है। परन्तु भारत के शुष्क उपखण्डों में फसलों की प्रति एकड़ उत्पादकता न केवल कम हैं बल्कि उसमें उतार – चढ़ाव भी है। ऐसे उपखण्डों में ऐसी फसलों को उगाए जाने की आवश्यकता है जो न केवल कम समय में तैयार हो जाए बल्कि सूखे से भी प्रभावित न हो।

9. **फसलों की बीमा योजना** – फसल बीमा योजना का लाभ लघु एवं सीमान्त कृषकों तक पहुँचाने के लिए केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा प्रयास किये जाने चाहिए। सरकार द्वारा व्यापक–फसल बीमा योजना अप्रैल 1985 में कृषकों को उनकी फसलों के सूखा,

अति वृष्टि आदि कारणों से नष्ट होने की स्थिति में वित्तीय सहायता प्रदान करने हेतु प्रारम्भ की गई है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य किसानों को अनिश्चितता के समय विश्वास दिलाना है।

5.8 कृषि में तकनीकि परिवर्तन का अर्थ

उत्पादन में विभिन्न साधन जिस प्रक्रिया द्वारा आपस में मिलकर उत्पादन करते हैं उसे उत्पादन की तकनीकि कहते हैं। कृषि में आगतों (Inputs) की आवश्यक्ता होती है। उदाहरण के लिए हमें गेहूँ का उत्पादन करना है तो उसके लिए हमें भूमि (Land), बीज (Seeds), खाद (Manure), जल (Water), यंत्रो (Implement), शक्ति (Energy) की आवश्यक्ता होती है।

अन्य शब्दों में

$$Pw = f(L, S, M, W, I, E)$$

इस प्रकार हम कह सकते हें कि यहाँ Pw (गेहूँ का उत्पादन), L भूमि, S बीज, M खाद, W(जल), E शक्ति का फलन है।

5.8.1 कृषि तकनीकि के प्रकार कृषि तकनीकि दो प्रकार की हो सकती हैः–

1. **देशी तकनीकी (Indigenous technique)** – इसे हम परम्परावादी या श्रम प्रधान तकनीकि भी कह सकते हैं भारत में सीमान्त व छोटे किसानों के द्वारा अभी भी इस तकनीकि का प्रयोग किया जाता है। इसकी मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैः–

1. फसल उत्पादन करने के लिए पिछली फसल के उत्पादन में से बीजों का प्रयोग किया जता है।
2. सिंचाई मानसून पर निर्भर करती है।
3. शक्ति के मुख्य साधन पशु थे।
4. यंत्रो के रुप में हल, बैल, छोटे हाथों से प्रयोग किये जाने वाले औजारों का प्रयोग होता है।

2. **आधुनिक तकनीकी (Modern technique)** – इस तकनीकि को पूंजी प्रधान तकनीकि भी कहा जाता है। इस तकनीकि की मुख्य विशेषताएं इस प्रकार हैंः–

1. उन्नत किस्मों के बीजों जो कृषि वैज्ञानिक विधि द्वारा तैयार किये जाते हैं।
2. रासायनिक खादों का बहुत अधिक मात्रा में प्रयोग किया जाता है।
3. रासायनिक खाद के प्रयोग के कारण पानी की आवश्यक्ता अधिक पड़ती है।
4. सिंचाई के लिए पानी नहरों या ट्यूबवैल से प्राप्त किया जाता है।
5. कृषि यंत्रों में आधुनिक किस्म के ट्रैक्टर, फसल काटने की मशीन (Harvestor) का प्रयोग किया जाता है।
6. प्रति हेक्टेयर उत्पादन अधिक होता है।
7. भारत में तीसरी पंचवर्षीय योजना के बाद से इस नई तकनीकि को अपनाया जा रहा है।

आधुनिक कृषि तकनीकि के अनेक साधन हैं जिनमें से प्रमुख हैं

1. सिंचाई, 2. उन्नत किस्म के बीज (High Yielding variety seeds) 3. उर्वरक (Fertiusers) 4. पौध संरक्षण 5. कृषि यंत्र एवं उपकरण

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कृषि में तकनीकि परिवर्तन से आशय है उक्त आगतों में परिवर्तन एवं सुधार भारत में कृषि तकनीकि में निम्नलिखित परिवर्तन हुए हैं।

1. **सिंचाई** – भारतीय कृषि मानसून पर निर्भर करती है लेकिन पिछले 60 वर्षों में यह निर्भरता कम हुई है। 1950–51 में कुल सिंचित क्षेत्र 2.26 करोड़ हेक्टेयर था, लेकिन आज यह 2010–11 में 108.2 मिलियन हेक्टेयर हो गया है। यह कुल सिंचित क्षेत्रफल का 60.9 प्रतिशत है। कुँओं, ट्यूबवेल व लघु सिंचाई परियोजनाओं की इसमें मुख्य भूमिका है।
2. **उर्वरक** – कृषि में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन उर्वरक हैं। पहले भारतीय कृषक गोबर की खाद का ही अधिक प्रयोग करते थे लेकिन अब रासायनिक खादों की खपत जो 1952–53 में 0.5 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर थी अब बढ़कर 144.14 किग्रा प्रति हेक्टेयर हो गई। इस प्रकार देश में रासायनिक खादों की खपत जो 1960–61 में 2.92 लाख टन थी, वह 20.10.11 में बढ़कर 281.22 लाख टन हो गई है।
3. **पौध संरक्षण** – कृषि आदानों में पौध संरक्षण – कृषि आदानों में पौध संरक्षण भी महत्वपूर्ण है क्योंकि फसलों का कीटाणुओं व रोगों से बचाव अतना ही आवश्यक हैं जितना कि उनकों उगाना। एक अनुमान के अनुसार भारत में कीडों–मकोड़ों व चूहों द्वारा फसल को 2000 करोड़ रुपये से लेकर 5,000 करोड़ रुपये तक की हानि होती है।

   अतः पौध संरक्षण के लिए कीटनाशक दवाओं को काम में लाया जाता है।
4. **उन्नतशील बीज** – उन्नतशील बीजों का प्रयोग करके कृषि उत्पादन को 10 से 20 प्रतिशत तक बढ़ाया जा सकता है। अतः अच्छी गुणवत्ता वाले बीजों के उत्पादन में वृद्धि, वितरण और उपलब्धता त्वरित फसल उत्पादन के लिए आवश्यक हैं। 1964–65 के बाद के भारतीय कृषि में अधिक उपज देने वाले बीज तैयार किये जा रहे हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् (ICAR) तथा विभिन्न कृषि विश्वविद्यालयों ने बीजों की उत्तम श्रेणियों के विकास पर काफी अनुसंधान किया है। बीज प्रमाण का कार्य मुख्य रुप में राष्ट्रीय बीज निगम (National Seeds Corporations) तथा भारतीय राज्य फार्म निगम द्वारा किया जाता है। भारत में 2009–10 में लगभग 257 लाख क्विंटल प्रमाणित बीजों का वितरण किया गया। भारत में 88 प्रतिशत गेहूँ की फसल में उन्नत किस्म के बीजों का प्रयोग होता है।
5. **कृषि यंत्र** – कृषि यंत्रीकरण से अभिप्राय यह है कि कृषि की अधिकतर क्रियायें मनुष्य या पशुओं के स्थान पर यंत्रों जैसे ट्रैक्टर, हार्वेस्टर, थ्रेशर आदि के द्वारा दी जाए। कृषि यंत्र समय व श्रम दोनों की बचत करते हैं। सम्पन्न किसान आधुनिक यंत्रों से खेती करते हैं और निर्धन किसान खेती के परम्परावादी तरीके अपनाते हैं।

अभ्यास प्रश्न

1. गहन कृषि जिला कार्यक्रम कब प्रारम्भ हुआ?

अ) 1960–61 ब) 1965'66 स) 1970–71 द) 1975–76

2. हरित क्रान्ति का जन्मदाता किसे माना जाता है?

अ) प्रो0 अमर्त्य सेन ब) प्रो0 नोरमेन बॉरलोग

स) डा0 मनमोहन सिंह द) डा0 एस0 स्वामीनाथन

3. हरित क्रान्ति के कोई दो लाभ बताइये।

4. सोनारा 63 व सोनारा 64 की किस्में .....हैं।

5. सिंचाई की लघु परियोजनाओं ने हरित क्रान्ति को लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इसलिए अर्थशास्त्रियों ने इसे ..... का नाम दे दिया।

5.9 सारांश

इस इकाई की पढ़ने को बाद आप जान चुके हैं कि भारत में कृषि विकास के इतिहास में सबसे महत्वपूर्ण कदम हरित क्रान्ति के रुप में उठाया गया था जिसके फलस्वरुप खाद्यान्न उत्पादन आश्चर्यजनक गति से बढ़ा और कृषि क्षेत्र में फैली खाद्यान्न की कमी की निराशा का अन्त हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हरित क्रान्ति से तात्पर्य कृषि उत्पादन में अल्पकाल में विशेष गति से वृद्धि का होना तथा उत्पादन की वह वृद्धि दर आने वाले लम्बे समय तक बनाये रखने से है। हरित क्रान्ति की सफलता का श्रेय उन्नत किस्म के बीजों के प्रयोग, सिंचाई के साधनों का विस्तार, रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन तथा उसका संतुलित मात्रा में प्रयोग, कीटनाशक दवाओं का प्रयोग व आधुनिक कृषि यन्त्रों के प्रयोग को जाता है। हरित क्रान्ति के कारण देश के सभी जोत एवं क्षेत्र के कृषकों को लाभ प्राप्त हुआ है। हरित क्रान्ति के आर्थिक, सामाजिक, संस्थागत प्रभाव पड़े हैं। हरित क्रान्ति के कारण केवल दो फसलों, अर्थात, चावल और गेहूँ की उत्पादकता बढ़ी थी। हरित क्रान्ति ने एक ओर प्रति हेक्टेयर उत्पादकता को बढाया वहीं किसानों की आय में भी वृद्धि हुई है। वहीं दूसरी ओर अमीर किसानों व कुछ राज्यों को ही हरित क्रान्ति का लाभ प्राप्त हुआ। अत्याधिक रासायनिक खादों व भूजल दोहन से पर्यावरण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। परन्तु हरित क्रान्ति की सफलता के लिए अनेक कदम उठाये गये हैं। जिसमें भूमि सुधार कार्यक्रम, सिंचाई सुविधाओं का विस्तार, शुष्क खेती को प्रोत्साहन आदि सम्मिलित हैं। देश को दूसरी हरित क्रान्ति की आवश्यकता है। कृषि में तकनीकी परिवर्तनों के परिणामस्वरुप भारतीय कृषि की उत्पादकता में पंचवर्षीय योजनाओं की अवधि में काफी विकास हुआ है। तकनीकि परिवर्तनों के फलस्वरुप ही हरित क्रान्ति सम्भव हो सकी है।

5.10 शब्दावली

1. **उन्नत किस्म के बीच (High Yielding Variety Seeds)** – वैज्ञानिक तरीके से तेयार बीज जो उन्नत किस्म के हों व फसलों के उत्पादन, वृद्धि में सहायक हैं।
2. **पूंजीवादी खेती** – वह खेती जो कृषि आगतों पर अधिक पूंजी लगाकर अमीर किसानों द्वारा की जाती है।

3. **Rain Water Harvesting** – वर्षा के जल को इकट्ठा करके कृषि सिंचाई के लिए प्रयोग में लाना।

5.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1960–61 2. प्रो0नोरमेन बॉलोग
3. अ) फसलों के उत्पादन में वृद्धि ब) पौध संरक्षण
4. गेहूँ 5. Child of pump set technology

5.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. पन्त, जे0सीए मिश्रा, जे0पी0 (2012), भारतीय आर्थिक समस्याएँ *साहित्य भवन पब्लिकेशन्स*, आगरा
2. मिश्रा, जे0पी0 (2011), कृषि अर्थशास्त्र, *साहित्य भवन पब्लिकेशन्स*, आगरा
3. जैन, टी0 आरए त्रेहन, मुकेश त्रेहन, रंजू (2011), भारतीय आर्थिक समस्याएँ, *ग्लोबल पब्लिकेशन्स, प्राईवेट लिमिटेड*, नई दिल्ली।
4. सोनी, आर0 एन0 (2010), कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय, *विशाल पब्लिशिंग कम्पनी* जालन्धर।
5. अग्रवाल एन0एल (2000), भारतीय कृषि का अर्थतन्त्र, *राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी*, जयपुर।
6. मिश्र, एस के0 पुरी, वी0के0 (2007), भारतीय अर्थव्यवस्था, *हिमालया पब्लिकेशिंग हाउस* , नई दिल्ली।

5.13 उपयोगी/सहायक ग्रन्थ

1. Ehosh, M (1988), "Technological change and Employment Generation in Rice Based Agriculture, "*Agricultural Situation in India* Jan. 1988.
2. Bergmann, T.(1978) Mechanisation of Indian Farming, Bombay, *Popular Parkashan*.
3. Eicher, K and witt. L (ed.) (1964) Agriculture in Economic Development, Bombay, *vora and Company (Pvt.) Ltd*.
4. Wolf Ladejinsky, (1973) How Green is India's Green Revolution? "*Economic and Political weekly, December 29, 1973*.
5. Desai R.G. (2009), Agricultural Economic *Himalaya Publishing House*.
6. Dantawala, M.L. et al. (1991); Indian Agricultural Development Since Independence *Oxford & 1BH*, New Delhi.

5.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि में हरित क्रान्ति से आप क्या समझते हैं? भारत के सन्दर्भ में इसके लाभ एवं हानियों की विवेचना कीजिए।

इकाई 6 – भारतीय कृषि और मशीनीकरण

इकाई संरचना

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 कृषि यंत्रीकरण का अर्थ
6.3.1 भारत में कृषि यंत्रीकरण से लाभ
6.3.2 भारत में कृषि यंत्रीकरण के दोष
6.4 भारत में कृषि यंत्रीकरण की प्रगति
6.5 भारत में कृषि यंत्रीकरण की प्रासंगिकता
6.6 भारत में कृषि यन्त्रीकरण के प्रोत्साहन के लिए सरकारी उपाय
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.10 संदर्भ ग्रंथ सूची
6.11 उपयोगी/सहायक ग्रंथ
6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय से कृषि में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। पहले भारतीय कृषि मानसून पर अधिक निर्भर थी। भारतीय किसानों द्वारा प्रयोग किये जाने वाले कृषि औजार व उपकरण प्राचीन तथा आदिकालीन थे। वहीं पश्चिमी देशों में किसान उन्नत एवं आधुनिक फार्म मशीनरी का प्रयोग करते हैं। कृषि के यंत्रीकरण के फलस्वरुप इन देशों में कृषि क्रान्ति हुई है। पहले लकड़ी के हल व बैल से खेती होती थी, लेकिन आज कृषक ट्रैक्टरों का प्रयोग कर रहे हैं। पहले गेहूँ या धान की बालों से गेहूँ या चावल बैलों के पॉव या मनुष्य के द्वारा निकाला जाता था, लेकिन आज यह कार्य थ्रेसर द्वारा किया जाता है। यह सब कृषि में परिवर्तन ही है।

भारत में भी कृषि में नई तकनीकों के परिणाम स्वरुप हरित क्रान्ति सम्भव हो पाई है तथा भारतीय कृषि की उत्पादकता में कई गुणा वृद्धि हुई है। कृषि उत्पादकता में वृद्धि के लिए चार तत्व अति महत्वपूर्ण हैं – उन्नत किस्म के बीज, सिंचाई, उर्वरक, कृषि यंत्रीकरण। कृषि यंत्रीकरण का प्रयोग आधुनिक कृषि व उत्पादकता बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ है।
पश्चिमी देशों, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका और भूतपूर्व सोवियत संघ में कृषि यंत्रीकरण का बहुत विस्तार किया और परिणामस्वरुप कृषि उत्पादन कई गुना बढ़ गया। उदाहरणार्थ, अमेरिका में 12 प्रतिशत जनसंख्या कृषि पर निर्भर है परन्तु कृषि उत्पादन इतना अधिक बढ़ चुका है कि यह देश अन्य देशों की कृषि वस्तुओं का निर्यात करता है।
इस इकाई के अध्ययन से कृषि यंत्रीकरण (मशीनीकरण) के अर्थ को समझने में सहायता मिलेगी तथा यह भी जान पायेंगे कि भारतीय कृषि में कृषि यंत्रीकरण का प्रयोग कितना उचित व कितना अनुचित है।

6.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. यह जान सकेंगे कि कृषि यंत्रीकरण का अर्थ क्या है।
2. यह कि समझ सकेंगें कि कृषि यंत्रीकरण (मशीनीकरण) की आवश्यक्ता क्यों है।
3. यह समझ पायेंगे कि कृषि यंत्रीकरण से क्या लाभ व हानियॉ हुई हैं।
5. यह भी जान सकेंगे कि भारत में कृषि के मशीनीकरण की प्रगति किस प्रकार हुई।

6.3 कृषि यंत्रीकरण (मशीनीकरण) का अर्थ

साधारण अर्थों में कृषि के मशीनीकरण या यन्त्रीकरण का अर्थ कृषि की परम्परागत तकनीकों के स्थान पर यन्त्रों एवं कृषि उपकरणों का प्रयोग है। कृषि यन्त्र व उपकरणों से अर्थ उन यंत्रों से है जो कृषि में काम आते हैं। कृषि के यन्त्रीकरण (मशीनीकरण) से अर्थ भूमि पर जहॉ भी सम्भव हो सके यान्त्रिक शक्ति द्वारा उन क्रियाओं के सम्पन्न करने से है जो सामान्यतया बैलों, घोड़ों एवं पशुओं या मानवीय श्रम द्वारा सम्पन्न की जाती है। जैसे खेत में हल चलाने का कार्य ट्रैक्टरों द्वारा होना, बुवाई व उवरर्क डालने का काम ड्रिल

(Drill) मशीन द्वारा किया जाना। इसी प्रकार फसल काटने का कार्य हार्वेस्टर व थ्रेसर से करना, सिंचाई कुँओं एवं बैलों से न करके पम्प सेटों से करना आदि ही कृषि का मशीनीकरण है। दूसरे शब्दों में इसी पुराने ढंग से कृषि औजारों जैसे हलों, दरान्ती, खुरपी, फावड़ा आदि के स्थान पर आधुनिक मशीनों व उपकरणों का उपयोग करना ही कृषि यन्त्रीकरण है।

अतः कृषि यन्त्रीकरण के अन्तर्गत खेती की सभी क्रियाओं में हल चलाने से लेकर फसल काटने तथा बेचने तक का कार्य मशीनों द्वारा होता है।

कृषि कार्यों में प्रायोगिक यांत्रिक शक्ति के आधार पर यंत्रीकरण दो प्रकार का होता है–

1 **गतिशील यन्त्रीकरण** (**Mobile mechanisation**) – गतिशील यन्त्रीकरण से तात्पर्य उस यंत्रीकरण से है जिसमें फार्म पर कृषि कार्य को करने में गतिशील यन्त्रों का उपयोग किया जाता है। जैसे– ट्रैक्टर एवं उसके साथ के यन्त्र हैरो, कल्टीवेटर, बीज बोने की मशीन, कटाई की मशीन आदि।

2 **स्थायी यन्त्रीकरण (Stationary mechanization)** – स्थायी यन्त्रीकरण से तात्पर्य उस यन्त्रीकरण से है जिसमें फार्म पर कृषि कार्यों को करने में ऐसे यंत्रों का उपयोग किया जाता है जो एक स्थान पर स्थिर रहते हुए शक्ति सम्पन्न करते हैं और उस शक्ति से विभिन्न कृषि कार्य सम्पन्न किये जाते हैं, जैसे – कुँओं से पानी निकालने के लिए मोटर एवं पम्प, कुट्टी काटने की मशीन, गन्ने पेरने का कोल्हू आदि यंत्रों का उपयोग।

6.3.1 भारत में कृषि यन्त्रीकरण से लाभ अथवा पक्ष में तर्क

कृषि यन्त्रीकरण (मशीनीकरण) कृषि तकनीक में परिवर्तन की आधारशिला है। भारत में कृषि यंत्रीकरण के पक्ष में मुख्यतः निम्न तर्क दिये जाते हैं।

1 **कृषि श्रम की कुशलता में वृद्धि** – फार्म पर यांत्रिक साधनों से कृषि करने पर श्रमिकों की कार्य कुशलता एवं क्षमता में वृद्धि होती है, जिससे प्रति श्रमिक उत्पादन में मात्रा में वृद्धि होती है।

2 **उत्पादन में वृद्धि** – जैसा कि आप जानते हैं कि कृषि में मशीनों के प्रयोग करने से कृषि कार्यों की गति बढ़ जाती है, मानवीय शक्ति का प्रयोग कम हो जाता है और खेतों का आकार बड़ा रखा जाने लगता है। मशीनीकरण के फलस्वरुप गहन व सधन जुलाई करना सम्भव हो पाता है। इसके कारण प्रति हेक्टेयर उत्पादन में वृद्धि हो जाती है।

3 **उत्पादन लागत में कमी** – राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के नमूना सर्वेक्षण के अनुसार ट्रैक्टर से खेती करने की प्रति एकड़ लागत 100 रुपये आती है जबकि वही कार्य यदि बैलों की सहायता से किया जाता है तो लागत 160 रुपये आती है। इस प्रकार यान्त्रिक कृषि उत्पादन लागत कम करने में सहायक है।

4 **समय की बचत** – कृषि यंत्रों का प्रयोग करने से किसान अपना कार्य शीघ्रता से कर लेते हैं और समय भी बच जाता है। जो कार्य एक जोड़ी हल व बैल से पूरे दिन भर

किया जाता है उसे एक ट्रैक्टर द्वारा एक घण्टे से भी कम समय में कर लिया जाता है।

5 **व्यापारिक कृषि को प्रोत्साहन** – कृषि यन्त्रों के प्रयोग से व्यापारिक कृषि को प्रोत्साहन मिलता है। उद्योगों को कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में कृषि क्षेत्र द्वारा उपलब्ध कराया जा सकता है। भूमि के बहुत बड़े–बड़े खेत कम समय व कम लागत में जोते जा सकते हैं, जिसके फलस्वरुप बड़ी मात्रा में उत्पादन मण्डी तक पहुँचाया जा सकता है। खाद्यान्न फसलों, के साथ–साथ व्यापारिक फसलों को भी प्रोत्साहन मिलता है। कृषि उपज की बिक्री न केवल अपने देश के बाजारों में बल्कि विदेशी बाजारों तक भी होती है।

6 **भारी कार्यों को सुगम बनाना** – कृषि यंत्रों की सहायता से भारी कार्य जैसे ऊँची नीची व पथरीली भूमि, बंजर भूमि तथा टीलों को आसानी से साफ व समतल कर कृषि योग्य बनाया जा सकता है। इस तरह कृषि योग्य भूमि में वृद्धि कर कृषि उत्पादन कृषि में यंत्रों का प्रयोग कर किया जाता है।

7 **रोजगार के अवसरों में वृद्धि** – कृषि यंत्रीकरण के परिणामस्वरुप दीर्घकालीन रोजगार के अवसरों में वृद्धि होती है। यंत्रीकरण के कारण कृषि यंत्रो से सम्बन्धित उद्योग धन्धों व सहायक यन्त्रों का विस्तार होने लगता है। कृषि यंत्रीकरण से उद्योग एवं परिवाहन में रोजगार के अवसर उत्पन्न होते हैं, जैसे ट्रैक्टर।

8. **किसानों की आय में वृद्धि** – जैसा कि आप जानते हैं कि कृषि यंत्रो की सहायता से किसान कम समय व कम लागत में अधिक कृषि उत्पादन प्राप्त कर सकते हैं, इसके फलस्वरुप किसानों की आय में वृद्धि होती हैं।

9 **उपभोक्ताओं को लाभ** – कृषि में यन्त्रीकरण से उत्पादन लागत कम आती है जिसके परिणामस्वरुप उपभोक्ताओं को कृषि उपजों का मूल्य कम देना पड़ता है।

10 **परती भूमि का उपयोग** – गहरी जुताई करने, भू–संरक्षण, भूमि सुधार, गहरे पानी वाले क्षेत्रों से पानी उठाने के कार्य यंत्रों की सहायता से सरलतापूर्वक किये जा सकते है।

11 **बहु फसली खेती को प्रोत्साहन** – कृषि यन्त्रीकरण से बहुफसली खेती को प्रोत्साहन मिलता है और फसल चक्र में वांछित परिवर्तन करना सम्भव होता है। कृषक वर्ष में दो–तीन विभिन्न प्रकार की फसलें उत्पादित कर पाते हैं।

12 **ऊर्जा, बीज व उर्वरक की बचत** – तकनीकि विकास महानिदेशालय द्वारा गठित, तकनीकि विकास सलाहकार समूह ने यह अनुभव किया कि बीज सहित उर्वरक ड्रिल (Seed-Cum fertiliser drill) न केवल ऊर्जा की बचत रहती है बल्कि 20 प्रतिशत बीज को भी बचत करती है और 15 प्रतिशत तक उत्पादन बढ़ाने में सहायक होती है। इससे उर्वरक व बीज का प्रयोग अधिक प्रभावशाली ढंग से हो पाता है।

6.3.2 कृषि यन्त्रीकरण के दोष

कृषि यन्त्रीकरण के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं:–

1. **बेरोजगारी में वृद्धि** – जैसा कि आप को ज्ञात हे कि भारत की जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा है और प्रतिवर्ष इसमें वृद्धि होती जा रही है। इसीलिए यन्त्रीकरण के विरोध में तर्क देने वालों का मत है कि भारत में वैसे ही बेरोजगारी की समस्या विद्यमान है, कृषि में आधुनिक कृषि यंत्रों का प्रयोग करने से कृषि श्रमिकों की मांग घट जाएगी क्योंकि यंत्रो की सहायता से कम समय अधिक काम हो सकता है। इससे कृषि श्रमिकों और अधिक संख्या में काम नहीं मिल पाएगा। चूंकि देश में अभी भी 60 प्रतिशत जनसंख्या रोजगार के लिए प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रुप से कृषि पर ही निर्भर करती है। अतः यदि कृषि में बड़े पैमाने पर यन्त्रीकरण करने से बेरोजगारी को बढ़ावा ही मिलेगा। भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए कृषि यन्त्रीकरण बहुत अधिक उपयुक्त नहीं है। इसका सीमित मात्रा में ही प्रयोग होना चाहिए।
2. **कृषि जोतों का छोटा आकार** – हमें ज्ञात है कि भारत में लघु व सीमान्त जोतों का आकार बहुत ही छोटा है। यहॉ लगभग 61.58 प्रतिशत जोंतें हैं एक हेक्टेयर से कम तथा 80.31 प्रतिशत जोते दो हेक्टेयर से कम है। भारत में जोत का औसत आकार 1.41 हेक्टेयर है जबकि अमेरिका में 60 हेक्टेयर और कनाडा में 188 हेक्टेयर है। इसके अतिरिक्त यहॉ पर भूमि उपविभाजन के कारण जोते बिखरी हुई हैं। छोटी व बिखरी जोतों पर ट्रैक्टर का प्रयोग कृषकों के लिए लाभकारी नहीं हो सकता। भारत में अनार्थिक जोतों यंत्रीकरण के मार्ग में एक बड़ी बाधा है।
3. **पूंजी की कमी** – यांत्रिक साधनों को जुटाने के लिए कृषकों को अधिक पूंजी की आवश्यक्ता होती है। जिसे जुटा पाना अधिकांश कृषकों के लिए सम्भव नहीं है क्योंकि भारत में सामान्य कृषक निर्धन हैं। भारत में सम्पन्न किसान ही यंत्रीकरण का लाभ उठा सकते हैं।
4. **तकनीकी ज्ञान का अभाव** – यान्त्रिक साधनों के उपयोग के लिए आवश्यक तकनीकों ज्ञान का कृषकों में अभाव होने के कारण, उन्हें छोटी–छोटी कमियों को दूर कराने के लिए मिस्त्रियों पर निर्भर रहना पड़ता है, जिससे दूसरों पर निर्भरता बढ़ती है और कार्य समय पर पूरा नहीं हो पाता है। कृषि यंत्रों की कार्य प्रणाली अनपढ़ कृषकों को समझाना भी कठिन होता है।
5. **भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में वृद्धि** – यान्त्रिक कृषि अपनाने से बड़े किसान, लघु कृषकों की भूमि क्रय कर लेते हैं जिससे इससे बड़े किसानों की जोतों का आकार बड़ा हो जाता है इसलिए भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में निरन्तर वृद्धि हो रही हैं।
6. **ईंधन की समस्या** – कृषि यंत्रों जैसे ट्रैक्टर, ट्यूबवेल, थ्रेशर आदि चलाने के लिए पैट्रोल, डीजल व बिजली की आवश्यक्ता होती है। इसकी आपूर्ति कम होने तथा कीमतें अधिक होने से सामान्य कृषक की क्रय शक्ति के बाहर हो जाती है। इसके अतिरिक्त अधिकांश राज्यों में बिजली की आपूर्ति 24 घण्टे नहीं है, किसानों को कृषि यंत्रों के प्रयोग में बाधा आने लगती है और मशीनें बेकार पड़ी रहती है।

7 गॉवों में वर्कशॉप का अभाव – ग्रामीण क्षेत्रों में यन्त्रों एवं उपकरणों की मरम्मत की सुविधा तथा स्पेयर पार्टस की उपलब्धता का अभाव पाया जाता है, ऐसी स्थिति में कृषि यंत्रो का प्रयोग करने में बाधा आने लगती है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण देश में यान्त्रिक कृषि के विकास की गति बहुत धीमी रही है।

अभ्यास प्रश्न 1

बहुविकल्पीय प्रश्न

1.कृषि यंत्रीकरण का अर्थ है

क. श्रमिकों द्वारा खेती करना

ख. कृषि की परम्परागत तकनीकों के स्थान पर कृषि यंत्रों का प्रयोग

ग. पशुओं द्वारा कृषि कार्य करवाया जाना घ. इनमें से कोई नहीं।

2.कृषि यंत्रीकरण के निम्नलिखित लाभ हैं।

क. कृषि श्रम की कुशलता में कमी ख. उत्पादन में कमी

ग. उत्पादन लागत में वृद्धि घ. व्यापारिक कृषि को प्रोत्साहन

सत्य असत्य बताईये

1. गतिशील यंत्रीकरण से तात्पर्य उस यंत्रीकरण से है जिसमें फार्म पर कृषि कार्य को करने में स्थिर यंत्रों का उपयोग किया जाता है। (सत्य/असत्य)
2. कृषि यंत्रीकरण बहु फसली खेती को बढ़ावा देने में सहायक है (सत्य/असत्य)

रिक्त स्थान की पूति कीजिए –

भारत में औसत जोत का आकार .....हेक्टेयर से अधिक है।

एक शब्द में उत्तर दीजिए –

अमेरिका में जोत का औसत आकार कितना है।

6.4 भारत में कृषि यंत्रीकरण (मशीनीकरण) की प्रगति

भारतीय कृषि में मंशीनीकरण का आरम्भ केन्द्रीय ट्रैक्टर संगठन (Central Tractor Organisation - C.T.O.) की स्थापना के बाद हुआ। सिंचाई पम्पों व डीजल इंजन का उत्पादन 1930 में आरम्भ हो गया था। ट्रैक्टर व पावर टिलर का उत्पादन 1960 में आरम्भ हुआ। आयशर ट्रैक्टर पहली ट्रैक्टर कम्पनी थी, जिसने फरीदाबाद में पहली उत्पादन इकाई खोली। कृषि यन्त्रीकरण के क्षेत्र में हुई प्रगति का मूल्यांकन देश में ट्रैक्टर, विद्युत चालित कृषि उपकरणों, पावर टिलर, थ्रेशर व सिंचाई के लिए पम्पिंग सेटों के उपयोग, हार्वेस्टिंग और थ्रेशिंग उपकरणों आदि के ऑकड़ों के आधार पर किया जा सकता है। देश में आधुनिक यंत्रों की मांग बढ़ती जा रही है। कृषि के नये संयत्रों की मेलों तथा प्रदर्शनियों में किसानों को दिखाया जाता है। कृषि यंत्रीकरण की बढ़ती हुई आवश्यक्ता को देखते हुए देश में ट्रैक्टरों की उपलब्धता का स्तर बहुत कम है। भारत विभिन्न राज्यों में ट्रैक्टर उपलब्धि में बहुत विभिन्नता है। सर्वाधिक ट्रैक्टर पंजाब व हरियाणा राज्य में उपलब्ध है। पंजाब, हरियाणा, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में हरित क्रान्ति का विस्तार होने के कारण,

मशीनीकरण को बहुत प्रोत्साहन मिला, इन राज्यों में अमीर किसानों ने बड़े पैमाने पर कृषि उपकरणों का प्रयोग आरम्भ किया।

तालिका : 1 भारतीय कृषि में विभिन्न कृषि उपकरणों का हिस्सा (प्रतिशत)

Year	Agricultural workers	Draught animals	Tractors	Power tillers	Diesel engines	Electric motors	Power, kW/ha
1971-72	10.64	52.86	8.45	0.11	17.16	10.79	0.424
1981-82	9.20	33.55	18.46	0.11	22.85	15.82	0.592
1991-92	7.22	20.50	26.14	0.16	21.14	24.84	0.907
2001-02	5.70	11.76	36.77	0.36	19.10	26.31	1.352
2005-06	5.39	9.97	38.45	0.44	20.09	25.66	1.498
2009-10	5.12	8.55	41.67	0.52	19.01	25.13	1.658

Source : Singh et.al

विभिन्न कृषि कार्यों के संचालत हेतु विद्युत की उपलब्धता में निरन्तर वृद्धि हुई है। वर्ष 1971–72 में 0.295 किलोवाट प्रति हेक्टेयर से बढ़कर वर्तमान में 1.502 किलोवाट प्रति हेक्टेयर हो गई है। यह वृद्धि ट्रैक्टर, पॉवर टिलर्स, हारवेस्टरों, सिंचाई पम्पों और अन्य विद्युत चालित मशीनों के बढ़ते उपयोग के कारण हुई हैं। कृषि क्षेत्र में प्रचालन की लागत को कम करने और उत्पादकता तथा सिंचाई की क्षमता को बढ़ाने के लिए नए उपकरणों जैसे जीरों टिलर बीज सह उर्वरक ड्रिल, रोटावेटर, रीपर, पोटेटो प्लांटर, लैजर, लैण्ड लेवलर, न्यूमैटिक प्लांटर और ड्रिप सिंचाई उपकरणों की कृषकों को उपलब्ध कराये जा रहे हैं। सरकार और निजी क्षेत्र द्वारा किये गए संयुक्त प्रयासों के फलस्वरुप कृषि यन्त्रीकरण का स्तर निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यह तथ्य तालिका 1 व तालिका 2 से स्पष्ट हो जाता है।

तालिका 1 से स्पष्ट है कि जहॉ 1971–72 में 10.64 कृषि श्रमिक, पशुधन 52.86 प्रतिशत, ट्रैक्टर 8.45 प्रतिशत, पावर टिलर 0.11 प्रतिशत, डीजल इंजन 17.16 प्रतिशत, बिजली से चलने वाली 10.79 प्रतिशत मोटर व उर्जा की खपत 0.424 प्रतिशत थी, वहीं 2009–10 के आंकड़ें बताते हैं कि कृषि श्रमिकों का प्रतिशत घटकर 5.12 प्रतिशत रह गया, पशुधन का प्रयोग घटकर 8.55 प्रतिशत रह गया, ट्रैक्टर हिस्सेदारी बढ़कर 41.67 प्रतिशत ही गई, पॉवर टिलर का प्रतिशत हो गई, पॉवर टिलर का प्रतिशत बढ़कर 0.52 हो गया, डीजन इंजन का हिस्सा भी 19.01 प्रतिशत बढ़ गया, विद्युत चालित मोटर का प्रतिशत बढ़कर 25. 13 हो गया तथा कृषि क्षेत्र में उर्जा की खपत बढ़कर 1.658 प्रतिशत हो गई। इससे स्पष्ट है कि हरित क्रान्ति के पश्चात् भारतीय कृषि में मशीनीकरण की रफ्तार तीव्र गति से बढ़ी है और कृषि श्रमिकों की भागीदारी कम हुई है।

तालिका 2 भारत में विभिन्न वर्षों में ट्रैक्टर व पावर टिलर की बिक्री

तालिका 2 से स्पष्ट है कि 2004–05 में ट्रैक्टर की बिक्री 2,47,531 व पॉवर टिलर की

Year	Tractors Sales (Nos.)	Power Tillers Sales (Nos.)
2004-05	2,47,531	17,481
2005-06	2,96,080	22,303
2006-07	3,52,835	24,791
2007-08	3,46,501	26,135
2008-09	3,42,836	35,294
2009-10	3,93,836	38,794
2010-11	5,45,109	55,000
2011-12 (Upto December 2011)	4,19,270	39,900

Source: Department of Agriculture and Cooperation

बिक्री 17,481 थी। यह बढ़कर 2011–12 में क्रमशः 4,19, 270 व 39,900 हो गई।

फार्म ऊर्जा (Farm Power) कृषि में एक अति आवश्यक आदान है जो फार्म में प्रयुक्त होने वाली मशीनों व सिंचाई उपकरणों, थ्रेशर, हार्वेस्टर आदि के संचालन में सहायक है। यद्यपि पिछले 50 वर्षों में भारत में फार्म ऊर्जा उपलब्धता (Farm Power Availability) में 1951 से 0.25 किलोवाट प्रतिहेक्टेयर से 2009–10 में बढ़कर 1.68 किलोवाट प्रतिहेक्टेयर हो गयी है। पंजाब में 2001 में फार्म ऊर्जा उपलब्धता 3.5 किलोवाट प्रतिहेक्टेयर थी, जबकि अन्य राज्यों में जैसे उड़ीसा, राजस्थान, हिमांचल प्रदेश, जम्मू कश्मीर, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, गुजरात, आसाम, मध्यप्रदेश और महाराष्ट्र में यह 0.9 किलोवाट प्रतिहेक्टेयर से भी कम थी। पंजाब में खाद्य उत्पादन 4032 किलोग्राम प्रति हेक्टेयर था, हरियाणा में फार्म ऊर्जा उपलब्धता 2.25 किलोवाट प्रति हेक्टेयर थी और खाद्य उत्पादन 3088 किलोग्राम प्रतिहेक्टेयर था जिन राज्यों में फार्म ऊर्जा उपलब्धता अधिक होगी वहॉ कृषि उत्पादक्ता में भी वृद्धि हुई है। पंजाब में कृषि यन्त्रीकरण अधिक है और यह राज्य 30 प्रतिशत बिजली ऊर्जा का व 48 प्रतिशत डीजल इंजन पावर का प्रयोग करता है। यद्यपि देश में प्रति हजार हेक्टेयर के दृष्टिकोण से ट्रक्टरों की संख्या अभी भी कम है। भारत न केवल विकसित देशों बल्कि कुछ विकासशील देशों से भी कृषि यन्त्रीकरण के मामले में पीछे है।

6.5 भारत में कृषि यंत्रीकरण की प्रासंगिकता

कृषि क्षेत्र में यंत्रीकरण देश की जनसंख्या के आकार व कृषि जोतों के आकार पर निर्भर करता है। यदि हम विकसित देशों की बात करते हैं तो वहॉ जोतों का आकार बड़ा है जैसे कनाडा में जोत का औसत आकार 188 हेक्टेयर है। वहीं भारत में 61.58 प्रतिशत जोतों का औसत आकार 1 हेक्टेयर से भी कम है। भारत में वर्तमान में कृषि कार्य में लगी जनसंख्या का आकार बहुत बड़ा है इस दृष्टि से कृषि में अन्धाधुन्ध यंत्रीकरण की नीति अपनाना उचित नहीं होगा।

भारत में जनसंख्या की तुलना में कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल बहुत कम है। दूसरे शब्दों में कृषि श्रमिकों की प्रचुरता है। अतः भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में जनशक्ति का भरपूर प्रयोग करना होगा। जिससे श्रम विस्थापन प्रभाव (labour displacement effect) को कम किया जा सके।

एक अध्ययन की रिपोर्ट के अनुसार एक रोचक तथ्य सामने आया कि हरित क्रान्ति वाले क्षेत्रों में छोटे किसानों ने भी बड़ी मशीनों का प्रयोग करना आरम्भ कर दिया है। दूसरी ओर हम यह भी कह सकते हैं कि मशीनीकरण के प्रयोग से कृषि संयत्र बनाने वाले कारखानों में मरम्मत करने के लिए मिस्त्रियों के लिए रोजगार के नए अवसर सृजित हुए हैं। लेकिन कृषि श्रमिकों को रोजगार देने में कृषि यन्त्रीकरण बहुत सहायक नहीं है। यन्त्रीकरण की वृद्धि देश में कृषि क्षेत्र में व्याप्त प्रच्छन्न बेरोजगारी को कम करने के बजाय बढाने में सहायक होगा।

अतः भारत जैसे देश में चयनात्मक यंत्रीकरण योजना को अपनाना उचित होगा। इसी कारण पॉचवीं योजना के प्रारुप में उल्लेख किया गया है कि *''पॉचवी योजना में चयनात्मक यन्त्रीकरण की नीति अपनाई जाएगी। इसका उद्देश्य होगा फसल गहनता और फसल उत्पादकता को बढ़ाना। वर्तमान समय में देश में प्रति हेक्टेयर 0.4 हार्स पावर शक्ति उपलब्ध है जो बहुत कम है अतः इसे बढ़ाना होगा। हमें इस बात पर ध्यान देना होगा कि कृषि की नवीन तकनीकि में कृषि के काम तेजी से उचित ढंग और समय पर करने होने हैं। इसके अतिरिक्त बैल खरीदने और इन्हें रखने का खर्चा भी बढ़ता जा रहा है। इन सबको देखते हुए कृषि का यन्त्रीकरण आवश्यक प्रतीत होता है परन्तु यन्त्रीकरण किस दर से और किस रुप में हो, यह बात जोतों के आकार और श्रमिकों के रोजगार पर यन्त्रीकरण के प्रभाव आदि बातों को ध्यान में रखकर निश्चित करनी होगी। अन्तिम बात खासतौर पर फसल की कटाई एवं सफाई की मशीन का प्रयोग करने के बारे में आवश्यक सोचना होगा। मशीनों का प्रयोग उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रखना होगा जहॉ फसल की कटाई के दौरान श्रमिकों की कमी रहती है।''* इसी सम्बन्ध में छठी योजना में इस तरह उल्लेख किया गया है– *''फिर भी कृषि कार्यों का अनियन्त्रित यन्त्रीकरण हमारे देश के हित में नहीं होगा, इससे ग्रामीण क्षेत्रों में बेरोजगारी की समस्या विकट हो जाएगी। अतः देश में चयनात्मक यन्त्रीकरण की नीति को अपनाया जाए।''*

अभ्यास प्रश्न 2

1.सत्य/असत्य

वर्तमान समय में देश में बिजली से चलने वाले पम्पसेटों की संख्या 1 करोड़ दस लाख से अधिक है (सत्य/असत्य)

2 रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए

कृषि कार्यों के लिए विद्युत उपलब्धता 1970–72 में 0.295 किलोवाट/हेक्टेयर से बढ़कर वर्तमान में ..... किलोवाट/हेक्टेयर हो गई है।

6.6 कृषि यंत्रीकरण को प्रोत्साहन हेतु सरकारी उपाय

भारत में कृषि यंत्रीकरण (मशीनीकरण) के प्रोत्साहन के लिए सरकार ने निम्न कदम उठाएं हैं:–

1. कृषि में वृहत् प्रबन्धक कार्य योजनाओं के माध्यम से राज्यों के प्रयासों से 'सम्पूरण/अनुपूरणः नामक केन्द्रीय प्रयोजित योजना के अन्तर्गत विभिन्न कृषि उपकरणों की खरीद के लिए किसानों को राज्य सहायता उपलब्ध कराई जाती है। इसके अन्तर्गत हाथ के औजार, उर्जा चालित उपकरण, स्प्रिकेलर और ड्रिप सिंचाई उपस्कर रोपज और थ्रेसिंग उपकरण, पावर टिलर, और अन्य विशेष कृषि मशीनें सम्मिलित हैं।
2. सरकार ने देश के विभिन्न राज्यों में ट्रैक्टर प्रशिक्षण केन्द्र खोले हैं। इन केन्द्रों पर 500 कृषकों को प्रतिवर्ष प्रशिक्षण देने की सुविधा उपलब्ध है। अब तक 80 हजार लोगों को फार्म मशीनी प्रबन्धन में प्रशिक्षण दिया जा चुका है।
3. गॉव के कारीगरों को यन्त्रों के सुधार की प्रशिक्षण सुविधा प्रदान के लिए सरकार ने ग्राम सेवक प्रशिक्षण केन्द्रों के साथ–साथ वर्कशॉप भी खोले हैं जहॉ पर कारीगरों को प्रशिक्षण सुविधा उपलब्ध है।
4. सरकार ने विभिन्न राज्यों में कृषि औद्योगिक निगमों (State Agro Industries Corporations - S.A.I.C.) की स्थापना की है। ये निगम आयात किए हुए ट्रैक्टर, पावर टिलर, पम्पसेट और अन्य कृषि यन्त्रों को नकद मूल्यों या किश्तों पर कृषकों को उपलब्ध कराने की व्यवस्था करते हैं।
5. कृषि यंत्रीकरण में मानव संसाधन के विकास को दृष्टिगत रखते हुए एवं फार्म मशीनों की गुणवत्ता को बनाए रखने के लिए भारत सरकार ने चार फार्म मशीन प्रशिक्षण व परीक्षण संस्थान (Farm Machinery Training and Testing Institutes - F.M.T.T.Is) स्थापित किये हैं। यह मध्य प्रदेश के बुदनी शहर (F.M.T.T.I), हरियाणी के हिसार (NRFMTTI), आन्ध्र प्रदेश (SRFMTTI) के अनन्तपुर में तथा आसाम के विश्वनाथ चौराली (NERFMTTI) शहर में स्थित है। यह मानव संसाधन विकास के साथ–साथ कृषि उपकरणों जैसे ट्रैक्टर, पावर टिलर, हार्वेस्टर आदि में गुणवत्ता व विशेषता बनाये रखने व उसमें सुधार करने के लिए परीक्षण भी करते हैं।

6.7 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप जान चुके होंगे कि कृषि यंत्रीकरण कृषि की परम्परागत तकनीकों के स्थान पर यन्त्रों एवं कृषि उपकरणों के प्रयोग से है। विकसित देशों की तुलना में भारत में कृषि यन्त्रीकरण अब भी बहुत कम है। भारत जैसे देश में जहॉ कृषि क्षेत्रफल कम है और जनसंख्या का आधिक्य है । भारत में कृषि क्षेत्र में मशीननों द्वारा खेती करने के पक्ष व विपक्ष में तर्क दिये जाते हैं। एक और कृषि यंत्रीकरण से कृषि श्रम की कुशलता में वृद्धि होती है, कृषि उत्पादन बढ़ता है, उत्पादन लागत में कमी होती है, किसानों की आय में वृद्धि होती है व व्यापारिक कृषि को बढ़ावा मिलता है। लेकिन दूसरी

ओर भारत में कृषि यंत्रीकरण के विपक्ष में दिया जाता है, कि भारत में जातों का आकार न केवल छोटी बल्कि विखण्डित भी हैं तो ऐसे में कृषि यन्त्रीकरण सम्भव नहीं है। कृषि श्रमिकों की बेरोजगारी की समस्या उत्पन्न हो जाती हे। भारत में कृषि में यंत्रीकरण (मशीनों) के प्रयोग के सम्बन्ध में मध्य का रास्ता अपनाना होगा जिसमें आवश्यक्ता है चयनात्मक कृषि यंत्रीकरण की। जिन स्थानों में श्रमिक अधिक हैं वहॉ कम कृषि यंत्रों का प्रयोग किया जाए जिन कृषि कार्यों में यंत्रों का प्रयोग किया जाना आवश्यक हो वहीं पर किया जाए। परन्तु भारतीय कृषि में हम यन्त्रीकरण के लाभ को नकार नहीं सकते हैं क्योंकि हरित क्रान्ति को प्रोत्साहन देने में कृषि यन्त्रीकरण की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है।

6.8 शब्दावली

कृषि यन्त्रीकरण – कृषि परम्परागत तकनीकों के स्थान पर आधुनिक यन्त्रों व उपकरणों की सहायता से किया जाना ही कृषि यंत्रीकरण है।

चयनात्मक यन्त्रीकरण – श्रम आपूर्ति व खेतों के आकार के अनुसार कृषि क्षेत्र में यंत्रों का सोच समझकर प्रयोग करना इस बात का चयन करना कि खेती श्रमिकों से कराई जाए अथवा मशीनों से।

व्यापारिक कृषि – जब कृषि उत्पादन जीवन निर्वाह के लिए ही नही बल्कि लाभ के उद्देश्य से बाजार में विक्रय हेतु किया जाता है।

कृषि जोतों का विखण्डन – उपविभाजन के कारण किसानों की जोतों का विभिन्न स्थानों में बिखरा हुआ होना। इससे कृषि उत्पादकता में कमी आती है और किसान सही तरीके से कृषि यन्त्रों का प्रयोग नहीं कर पाता है।

6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

बहुविकल्पीय प्रश्न :–(1) ख , (2) घ, **सत्य असत्य बताईये** (1) असत्य (2) सत्य

रिक्त स्थान की पूति कीजिए :– 1.41 हेक्टेयर **एक शब्द में उत्तर दीजिए** :– 60 हेक्टेयर

अभ्यास प्रश्न 2 (1) सत्य (2) 1.502 किलोवाट/हेक्टेयर

6.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची व ई–लिंक्स

1. मिश्र, एस0पी0 (2012), कृषि अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, पब्लिकेशन्स, आगरा।
2. अग्रवाल, एन0 एल (2000), भारतीय कृषि का अर्थतन्त्र, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर।
3. मिश्रा, एस0के0, पुरी वी0के0 (2007), भारतीय अर्थव्यवस्था, खेती में मशीनीकरण, हिमालय पब्लिशिंग हाउस, बम्बई।
4. सोनी, आर0एन (2010), भारतीय कृषि का मशीनीकरण, विशाल पब्लिशिंग कं0 जालंधर।
5. आर्थिक सर्वेक्षण 2010–11
6. agri.crop.nic.in

7. योजना आयोग, पंचम पंचवर्षीय योजना का प्रारुप (1974–79)
8. Singh, S.P., R.S. Singh and S. Singh (2011). Sale Trend of Tractors & Farm Power Availability in India, Agricultural Engineering Today, 35(2), April-June, 31-44.

6.11 उपयोगी सहायक ग्रंथ

1. Bergmann] T. (1978) Mechanisation of Indian Farming, Popular Prakashan, Bombay.
2. Misawa T (1974), "Agricultural Developement and Employment Expansion A case study of Japan Nurul Islam, Agricultural Policy in Developing Countries London. Mac- Millan Press Ltd.
3. Rath, R.K. Dagil V.L. (1968), "Scope for Mechanisation in Indian Agriculture Foundation of Indian Agriculture, Bombay Vora & Co.
4. Ghosh, M. (1988), "Technological Change and Employment Generation in Rice Based Agriculture", Agricultural Situation in India, Jan 1988

6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1 भारत में कृषि के यन्त्रीकरण के लाभ व हानियों की विवेचना कीजिए।
2 भारत में कृषि यन्त्रीकरण की प्रगति पर प्रकाश डालिए।

इकाई 7 – बायो तकनीक एवं आर्गेनिक कृषि

इकाई संरचना

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 बायो तकनीक का अर्थ
7.3.1 जैविक खेती/ऑर्गेनिक कृषि के लक्ष्य
7.3.2 जैविक खेती/ऑर्गेनिक कृषि के सिद्धान्त
7.4 विभिन्न जैविक तकनीकें
7.4.1 जैविक/आर्गेनिक खादों का प्रयोग
7.4.2 जैविक/आर्गेनिक कीटनाशकों का प्रयोग और जैव रोग नियंत्रक
7.5 जैविक/आर्गेनिक कृषि की आवश्यक्ता
7.6 जैविक/आर्गेनिक कृषि के प्रभाव
7.7 जैविक खेती की समस्याएं/बाधाएं
7.8 भारत में जैविक उत्पादो/कृषि की सम्भावनाएं
7.9 सारांश
7.10 शब्दावली
7.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
7.13 उपयोगी/सहायक ग्रंथ
7.14 निबन्धात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

सम्पूर्ण विश्व में बढ़ती हुई जनसंख्या एक महत्वपूर्ण तथा शोचनीय समस्या बन गई है। बढ़ती हुई जनसंख्या के साथ भोजन की आपूर्ति करना तथा खाद्य पदार्थों के उत्पादन को तेजी से बढ़ाने के लिए विभिन्न प्रकार के रासायनिक खादों, जहरीले कीटनाशकों आदि का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। जहरीले कीटनाशकों व रासायनिक खादों का प्रयोग प्रकृति के पारिस्थिकी तन्त्र (Ecological System) को प्रभावित करता है। जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति का क्षय होने लगता है। यहीं नहीं इससे वातावरण प्रदूषित होता है। इसके फलस्वरुप मनुष्य के स्वास्थ्य पर भी बुरा प्रभाव पड़ता है और इसका प्रभाव समस्त जैवमण्डल पर पड़ता है। प्राचीन काल में मानव स्वास्थ के अनुकूल तथा प्राकृतिक वातावरण के अनुरुप खेती की जाती थी। जिसमें जैविक व अजैविक (Organic and Inorganic)पदार्थों के बीच विनिमय आसानी से होता रहता था। जिसके परिणामस्वरुप जल, भूमि, वायु तथा वातावरण प्रदूषित नहीं होते थे।

भारतीय कृषि में जैविक खाद का प्रयोग वैदिक युग से होता आ रहा है। सर अल्बर्ट हावर्ड ब्रिटिश कृषि विशेषज्ञ ने जैविक कृषि की शुरुवात 1900 ई0 में की थी। हरित क्रान्ति के बाद से ही भारत में प्राचीन काल से चली आ रही जैविक कृषि की परम्परा में बाधा डाली। रासायनिक कृषि से हमारे संसाधनों की गुणवत्ता में कमी आई है। जैविक कृषि से हमारे संसाधनों का संरक्षण होता है।

कृषि में बायोतकनीकी व जैविक खेती का प्रयोग एक क्रान्तिकारी कदम है। भारत के मध्य प्रदेश में सर्वप्रथम 2001–02 में जैविक खेती का आन्दोलन चलाकर प्रत्येक जिले के प्रत्येक विकास खण्ड के एक गॉव में जैविक खेती (Organic Farming) की शुरुआत की गई। इसी आधार पर उस गॉव का नाम ''जैविक गॉव (Organic Village) रखा गया। इस प्रकार भारत में प्रथम वर्ष में कुल 313 ग्रामों में जैविक खेती का आरम्भ हुआ।

इस इकाई से अध्ययन से जैव प्रौद्योगिकी (Bio technique) व जैविक खेती (Organic Agriculture) को समझने में सहायता मिलेगी तथा यह भी जान पायेंगे कि भारत के कृषि क्षेत्र में जैव प्रौद्योगिकी व जैविक पदार्थों के प्रयोग का क्या महत्व है, इसकी विस्तार से व्याख्या की गई है।

7.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

1. यह जान सकेंगे कि कृषि में बायोतकनीकी व जैविक खेती का क्या अर्थ है।
2. यह कि समझ सकेंगें कि बायो तकनीकि व जैविक खेती का कृषि क्षेत्र में क्या महत्व है।
3. यह अवलोकन कर सकेंगे कि जैविक खेती के लिए कौन–कौन सी विधियों का प्रयोग किया जाता है।
4. यह भी जानने का प्रयास करेंगे कि किसी प्रकार जैविक कृषि पर्यावरण के प्रति संवेदनशील हो।

7.3 जैव तकनीकि (Biotechnology) का अर्थ

जीवाणुओं, छोटे जन्तुओं तथा पादपों की सहायता से वस्तुओं के उत्पादन की प्रक्रियसा जैव तकनीकि अथवा जैव प्रौद्योगिकी कहलाती है। इसके अन्तर्गत मुख्य रुप से डी एन ए तकनीक, कोशिका एवं ऊतक तंत्र, रोग प्रतिक्षण टीका उत्पादन, जैव उर्वरक, जैविक गैस व कुछ अन्य क्षेत्र व विधाएं सम्मिलित हैं। कृषि सम्बन्धी तीन महत्वपूर्ण क्षेत्रों में जैव प्रौद्योगिकी के समुचित उपयोग हेतु मिशन मोड कार्यक्रम चलाये गए हैं। मिशन मोड कार्यक्रम के अन्तर्गत संस्थाओं और एजेंसियों के बीच बेहतर समन्वय स्थापित किया जाता है तथा समयबद्ध आधार पर बड़े पैमाने पर विज्ञान एवं तकनीकि के उपयोग का प्रयास किया जाता है। कुछ महत्वपूर्ण क्षेत्र जिनके विकास पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किये गए और उपलब्धियॉ अर्जित की गईं। जैव प्रौद्योगिकी पौध उत्पादों के लिए एक अस्त्र का काम करती हैं जिसमें एक ही जीन (gene) का चुनाव करके इच्छित गुणों को प्राप्त कर एक पौधे से दूसरें पौधे में स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

7.31 जैविक खेती के लक्ष्य

जैविक खेती के दो लक्ष्य हैं।

1. प्रणाली को टिकाऊ बनाना
2. जैविक खेती को पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बनाना

इन दोनों लक्ष्यों तक पहुॅचने के लिए ऐसे मानक तैयार करने की जरुरत है जिनका अनुसरण हो। जैसे कि आप जानते हैं कि भारतीय कृषि में शुद्ध जैविक खेती को अपनाकर रासायनिक उवर्रकों के प्रयोग की सम्भावना विद्यमान है। जैविक खेती को अपनाने के लिए समन्वित (Integrated Nutient Management) पोषण प्रबन्धन और जैविक नियंत्रण विधियों को सशक्त करने की आवश्यक्ता है ताकि रसायनों की जरुरतों में कमी हो सके।

7.3.2 जैविक खेती के सिद्धान्त

जैविक खेती की सफलता तीन आधार भूत सिद्धान्तों पर आधारित हैः–

1. **अन्तनिर्भरता (Interdependency)** – इनमें से सबसे महत्वपूर्ण है अन्तनिर्भरता, जैविक (ऑर्गेनिक) खेती में एक खेत को पारिस्थिकीयतंत्र (Ecosystem) के रुप में देखा जाता है और यह माना जाता है कि एक खेत पर किया गया परिवर्तन दूसरे खेत में प्रभाव अवश्य डालेगा। उदाहरण के लिए मृदा में अधिक नाइट्रोजन के होने से खरपतवार (Weeds) की वृद्धि तेजी से होगी। इस समस्या को दूर करने के लिए किसान ऐसी फसल को उगाने का प्रयास करेगा जो मृदा से नाइट्रोजन की अधिक मात्रा को अवशोषित कर लेगा और इस प्रकार मृदा में पोषक तत्वों के बीच सन्तुलन बना लेगा।
2. **विविधता (Divorsity)** – ऑर्गेनिक खेती का दूसरा सिद्धान्त विविधता का है। जैविक खेती मृदा में पोषक तत्वों में सन्तुलन बनाये रखने के लिए किया जाता है। किसानों का फसलों व पशुधन के मध्य सन्तुलन बनाये रखने के लिए किसानों को

खेतों के साथ–साथ पशुधन भी पालने चाहिए। फसलों व पशुधन में विविधता किसानों की आय में भी विविधता व लचीलापन लाती है। दूसरी ओर पारिस्थितिकी तन्त्र में किसी कीट या खरपतवार या बीमारी को समस्या बनने से रोकता है।

3 **पुनः चक्र (Recycling)** – जैविक खेती का तीसरा सिद्धान्त पुनः चक्र (Recycling) है, अर्थात् दोबारा से प्रयोग करना। इसमें पौधों व पशुओं के अवशेष पुनः प्रयोग में आ जाने के कारण खेतों के पोषक तत्वों को बनाये रखने में सहायक होते हैं।

7.4 विभिन्न जैविक तकनीकें

7.4.1 जैविक खादों का प्रयोग

जैव उर्वरक से तात्पर्य ऐसे सूक्ष्म सजीव जीव व जीवाणु से है जो पौधों के उपयोग के लिए पोषक तत्व उपलब्ध कराते हैं। आर्गेनिक खेती के अन्तर्गत आर्गेनिक खादों का प्रयोग किया जाता। ये खादें पौधों के लिए पोषक तत्वों का स्त्रोत हैं। मृदा के भौतिक एवं रासायनिक गुणों पर भी इनका प्रभाव पड़ता है। राइजोबियम और नील हरित शैवाल, इसके अतिरिक्त नाडेम खाद, बायोगैस स्लरी (Slurry), वर्मी कम्पोस्ट, पिट कम्पोस्ट, मुर्गी की खाद। आर्गेनिक खादों में मुख्य रुप से प्रक्षेत्र खाद (गोबर की खाद), कम्पोस्ट, शहरी, कम्पोस्ट, अवमल (स्लज), हरी खाद, खादों की खलियां, मछली की खाद, रुधिर चूर्ण सींग व खुरों का चूर्ण, भूसा या लकड़ी का बुरादा, शीरा आदि सम्मिलित हैं। जैब उर्वरक सूक्ष्म जीवाणुओं युक्त टीका है जिसके उपयोग से फसल उत्पादन में वृद्धि होती है। जैविक खेती में मुख्य जैविक खादे हैं –

1 **राइजोवियम** – इसका प्रयोग मुख्य रुप से अरहर, मूंग/उड़द, लोबिया मसूर, मटर, मूंगफली, सोयाबीन, बरसीम में होता है। जैव उर्वरकों में राईजोबियम नाइट्रोजन यौगिकीकरण (Nitrogen Fixation) करने वाला एक महत्वपूर्ण जीव है। यह दलहनी पौधों की जड़ ग्रन्थियों में रहकर सहजीवी जीवन यापन करता है और पौधों को नाइट्रोजन प्रदान करता है। राइजोबियम की अनेक प्रभावकारी और उन्नतशील जातियॉ विकसित की गयी हैं। राइजोबियम जीवाणु खाद से भूमि के भौतिक और रासायनिक गुणों में सुधार होता है जिससे मृदा उर्वरता बढ़ती है और आगामी फसल की पैदावार भी अच्छी होती है।

2 **नील हरित काई (Blue Green Algae)** – इसका प्रयोग मुख्य रुप से धान की फसल में होता है। इनकी वृद्धि धान के खेत में जहॉ पानी भरा रहता है, अच्छी प्रकार होती है। परीक्षणों से पता चला है कि धान में नीलहरित शैवाल का टीका लगाने (Inoculation) से धान की विभिन्न जातियों की उपज में वृद्धि होती है। नाइट्रोजन यौगिकीकरण के अतिरिक्त यह विटामिन वृद्धि को प्रोत्साहित करने वाले पदार्थों का स्त्राव करते हैं जो धान के पौधों की अच्छी वृद्धि के लिए लाभप्रद हैं। ये मुख्यतः उन क्षेत्रों में अधिक संख्या में पाए जाते है जहॉ पानी का जमाव अधिक

होता है। नील हरित शैवाल के प्रयोग से धान की पैदावार में 450 किलोग्राम प्रति हैक्टेयर वृद्धि होती है। यह वृद्धि 14 प्रतिशत के बराबर है।

3 **एजैटोबैक्टर** – इसका प्रयोग मुख्य रुप से गेहूं, सरसों, कपास, तरकारियों उगाने में किया जाता है। यह कृषि में अपने योगदान के लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण और सर्वाधिक उपयोगी जीवाणु है। यह स्वतन्त्र रुप से जीवन यापन करते हुए वायुमण्डलीय नाईट्रोजन का यौगीकरण करता है। इसके प्रयोग से मृदा के भौतिक गुणों में सुधार होता है। ये जीवाणु भूमि और जड़ की सलह पर स्वतन्त्र रुप से रहकर आक्सीजन की उपस्थिति में वायुमण्डल नाइट्रोजन को स्थिरीकरण करते हैं। ये जीवाणु पौधों की जड़ों के द्वारा निकाले गए पदार्थों (शर्करा, अमीनों अम्ल, कार्बनिक अम्ल और विटामिन) को ऊर्जा के स्त्रोत के रुप में उपयोग करते हैं। एजोटोबैक्टर जीवाणु किसी भी गैर दलहनी फसलों में उपयोग किया जा सकता है। एजेटोबैक्टर के सक्रिय जीवाणु कल्चर के उपयोग से शाक–भाजी वाली फसलों में 15–20 प्रतिशत और धान्य फसलों जैसे गेहूँ, बाजरा इत्यादि में 10–15 प्रतिशत तक वृद्धि पायी जाती है। इसके प्रयोग से फसलों में अंकुरण अधिक होता है जैसे कपास में 35–50 प्रतिशत धान में 72–82 प्रतिशत व गेहूँ में 50 प्रतिशत अधिक होता है। इसके प्रयोग से आलू में स्टार्च की मात्रा 7–8 प्रतिशत, चुकन्दर में शर्करा, सूरजमुखी में तेल और मक्का में प्रोटीन की मात्रा बढ़ती है।

4 **एजोस्पिरिलम** – इसका प्रयोग बाजरा, ज्वार, धान में किया जाता है। फसलों में इस जीवाणु का उपयोग अभी हाल में ही प्रारम्भ हुआ है। इसका प्रयोग जौ, जई, ज्वार, मोटे अनाज वाली फसलों में नाइट्रोजन उर्वरक का प्रयोग कम मात्रा में होने पर इस जीवाणु का विशेष महत्व है।

5 **ऐसीटोबैक्टर** –एसीटोबैक्टर नामक सूक्ष्म जीवाणु की खोज तथा अनुभव ब्राजील तथा क्यूबा के गन्ने के क्षेत्र से प्राप्त हुए हैं। यह जीवाणु सिरके में भी देखे जा सकते हैं। इनकी मौजूदगी एक विशेष गंध से अनुभव की जा सकती है। गन्ने की फसल में इसके प्रयोग से 20 प्रतिशत अधिक उत्पादन मिलता है। इसके प्रयोग से 1–2 प्रतिशत शर्करा भी अधिक हो जाती है।

इसके अतिरिक्त जैव उर्वरक के अन्तर्गत मुख्य तीन प्रकार की खादों का उल्लेख विस्तार से किया जा रहा है। यह हैं – गोबर की खाद, कम्पोस्ट और हरी खादें :–

1 **गोबर की खाद –** गोबर की खाद फार्म पशुओं, गाय, घोड़ा कभी–कभी सुअरों के ठोस एवं द्रव मल–मूत्र का एक सड़ा हुआ मिश्रण है। जिसमें साधारणतया भूसा, बुरादा, छीलन अथवा अन्य कोई शोषक पदार्थ जो पशुओं के बॉधने के स्थान पर प्रयोग किया गया हो, आते हैं। गोबर की खाद पोषक तत्वों को पौधों के लिए धीरे–धीरे प्रदान करता है और इस खाद का प्रभाव कई वर्षों तक बना रहता है। गोबर की खाद में नाईट्रोजन, पोटाश व फॉस्फोरस के साथ–साथ अन्य आवश्यक

तत्व भी पाए जाते हैं। यह खाद मृदा में कैल्शियम की मात्रा बढ़ाती है और इस प्रकार भौतिक गुणों को सुधारने में सहायक होती है।

2. **कम्पोस्ट** – पौधों के अवशेष पदार्थों, पशुओं का बचा हुआ चारा, कूड़ा करकट आदि पदार्थों के बैक्टीरिया तथा फफूंद (Fungi) द्वारा विशेष विच्छेदन से बना हुआ पदार्थ कम्पोस्ट कहलाता है। सड़ी हुई यह खाद प्रायः गहरे भूरे रंग की होती है कम्पोस्ट को प्रयोग करने से भूमि की भौतिक, रासायनिक और जैविक गुणों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है। मृदा संरचना सुधरती है, मृदा की जल धारण क्षमता बढ़ती है यह मृदा की ऊष्मा शोषण क्षमता भी बढ़ाती है। पौधों के पोषक तत्वों की पूर्ति करती है। कम्पोस्ट में असंख्य फंजाई तथा बैक्टिरिया होते हैं, अतः खेतों में इसके प्रयोग से इनकी संख्या बढ़ जाती है। सूक्ष्म जीवों (Micro Organism) की सक्रियता में वृद्धि होती है, फलतः नाइट्रीकरण, अमोनीकरण तथा नाइट्रोजन स्थरीकरण में वृद्धि होती है। कम्पोस्ट में मुख्य रुप से वर्मीकम्पोस्ट प्रमुख हैं।

वर्गीकम्पोस्ट (Vermi Compost) को वर्मीकल्चर (Vermi Culture) भी कहा जाता है। यह मुख्यतः केचुओं द्वारा तैयार होती है। केचुए कार्बनिक निरर्थक पदार्थ को अपने शरीर के भार के दो से पॉच गुना तक ग्रहण करते हैं तथा उसमें से केवल 5–10 प्रतिशत अपनी शरीर की आवश्यक्ता के लिए प्रयोग करके शेष पदार्थ को अपचाहित पदार्थ के रुप में बाहर (Excrete) कर देते हैं जिसे वर्म कास्ट कहते हैं। अतः गोबर, सूखे हरे पत्ते, घास–फूस, धान का पुआल, डेयरी पदार्थ, कुक्कुट निरर्थक पदार्थ खाकर केचुओं द्वारा प्राप्त मल से तैयार खाद ही वर्मीकम्पोस्ट कहलाती है यह भूमि की उर्वरता, भौतिक दशा जैविक पदार्थों, लाभदायक जीवाणुओं में वृद्धि एवं सुधार करती है। भूमि की जल सोखने की क्षमता में वृद्धि करता है तथा मृदा संरचना में सुधार करता है। इससे खरपतवार की कमी होती है। जहॉ केंचुएं पाले जाते हैं वहॉ मटर व जई में 70 प्रतिशत, घासों में 28–112 प्रतिशत, सेब में 25 प्रतिशत, बीन्स में 291 प्रतिशत गेहूँ में 300 प्रतिशत की उत्पादन वृद्धि मिली केंचुओं के कारण वातावरण स्वस्थ रहता है और खेती लाभकारी बनी रहती है।

3 **हरी खाद (Green Manusing)** – मृदा उर्वरता को बढ़ाने के लिए समुचित हरे पौधों को उसी खेत में उगाकर या कहीं से लाकर खेत में मिला देने की प्रक्रिया को हरी खाद कहते हैं। हरी खाद के प्रयोग से मृदा में कार्बनिक पदार्थ तथा नाइट्रोजन की मात्रा में वृद्धि होती है। यह मृदा जल के वाष्पीकरण को रोकती है। इसके प्रयोग से पौधों में वायु का आवागमन अच्छा होने लगता है। हरी खाद रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग से उत्पन्न दोष कम कर देती है। हरी खाद के लिए प्रयोग होने वाली मुख्य फसलें हैं उर्द, मूंग, ग्वार, लोबिया, नील और रबी फसलें, बरसीम, मसूर, मटर आदि हैं।

7.4.2 जैव कीटनाशक और जैव रोग नियंत्रकों का प्रयोग

भारत की भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु के कारण यहॉ फसल कीटों तथा बीमारियों का खतरा हमेशा बना रहता है। जैव कीटनाशकों तथा जैव रोग नियंत्रकों में प्राकृतिक कीटों तथा जैव प्रौद्योगिकी में विकसित सूक्ष्म जीवों का उपयोग करते हैं जो कीटों को नष्ट कर सकते हैं। जैव कीटनाशकों से पर्यावरण को भी कोई हानि नहीं होती है, क्योंकि इनके अवशेष बायोडिग्रेडेबल होते हैं। जैविक रोग नियंत्रण का उपयोग मुख्यतः कपास, तिलहन, गन्ना, दलहन तथा फलों एवं सब्जियों के पौधों में होने वाले रोगों एवं उन पर कीटों के आक्रमण से बचाव के लिए किया जा रहा है जिसके पास कीटों या रोगों से लड़ने की पूर्ण प्राकृतिक क्षमता हो आर्थिक रुप से महत्वपूर्ण फसलों के लिए जैव नियंत्रकों – बैक्यूलोवाइरस, पैरासाइट, प्रीडेटर्स, एंटागोनिस्टिकस, फफूंदी तथा बैक्टिरिया के बड़े स्तर पर उत्पादन के लिए प्रौद्योगिकी को उद्योगों को स्थानांतरित किया गया है। जैविक पद्धति में गौमूत्र, नीम पत्ती का घोल, निबोरी व खली का प्रयोग किया जाता है।

7.5 जैविक खेती की आवश्यकता

भारत में कृषि उत्पादन, विशेषकर खाद्य पदार्थों का उत्पादन पिछले कई दशकों में तेजी से बढ़ा है। यह उपलब्धि खेतों में उन्नत किस्म के बीज, रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग व कृषि में मशीनीकरण के प्रयोग से हुई है। एक लम्बे समय तक रासायनिक खादों के प्रयोग से मृदा की उत्पादकता कम हो जाती है और दूसरी ओर पर्यावरण प्रदूषण में वृद्धि होती है। इन समस्याओं ने खेती में वैकल्पिक तरीकों को तलाशने का प्रयास किया है। इस दिशा में आजकल आधुनिक खेती से जैविक खेती पर ध्यान केन्द्रित किया जा रहा है। जैविक खेती मृदा, खनिज, जल, पौधों, कीटों, पशुओं व मानव जाति के समन्वित संबंधों पर आधारित है। यह मृदा को संरक्षण प्रदान करता है वहीं पर्यावरण को भी सरंक्षण प्रदान करता है। जैविक प्रबन्धन आसपास पाये जाने वाले मानव संसाधन, ज्ञान व प्राकृतिक संसाधनों के प्रयोग पर बल देता है। जैविक कृषि खाद्य सुरक्षा में वृद्धि करने व अतिरिक्त आय सृजित करने में भी सहायक है। जैविक खेती सतत कृषि विकास व ग्रामीण विकास के उद्देश्य को पूरा करने में धनात्मक भूमिका निभाता है तथा मृदा की उर्वरता को बढ़ाने के साथ–साथ किसानों की सामाजिक आर्थिक स्थितियों में भी बदलाव लाता है। जैविक खाद्य पदार्थों की 20–25 प्रतिशत दर से मांग विकसित व विकासशील देशों में लगातार बढ़ती जा रही है। सम्पूर्ण विश्व में 130 देश प्रमाणित जैविक पदार्थों का उत्पादन व्यापारिक स्तर पर करते हैं। केवल परम्परागत फसलों को उगाकर ही किसान समृद्ध नहीं हो सकते, बदलती मांग व कीमतों के अनुरुप फसल प्रतिरुप में परिवर्तन भी आवश्यक है। प्राकृतिक विधि व जैविक खाद के उपयोग से उगाए गए खाद्य पदार्थों की मांग यूरोप, अमेरिका, जापान में तेजी से बढ़ रही है। इस बढ़ती मांग के अनुरुप उत्पादन करके किसानों को लाभ उठाने के लिए प्रेरित किया जाना आवश्यक है।

7.6 आर्गेनिक खेती के प्रभाव

1. कृषक के दृष्टिकोण से

क मृदा की उर्वरा शक्ति बढ़ जाती है। फसलों की उत्पादकता बढ़ जाती है और कृषक अधिक आय अर्जित हो पाती है।

ख रासायनिक उर्वरक में निर्भरता कम होने से लागत कम हो जाती है।

ग यह कृषकों के खेती करने के पुरातन व देशी ज्ञान को संरक्षित रखता है।

घ अन्तराष्ट्रीय बाजार में आर्गेनिक पदार्थों की मांग बढ़ने से किसानों की आय में वृद्धि होती है।

2. मृदा के दृष्टिकोण से

क यह मृदा में पोषक तत्वों को पौधों के लिए धीरे–धीरे प्रदान करता है और इस प्रकार इस खाद का प्रभाव कई साल तक बना रहता है।

ख यह मृदा में नाइट्रोजन, पोटाश फॉसफोरस व कैल्शियम जैसे आवश्यक तत्व बढ़ाता है और इस प्रकार भौतिक गुणों को सुधारने में सहायक होता है।

ग जैविक खाद के प्रयोग से काफी समय तक मृदा में नमी बनी रहती है।

घ आर्गेनिक खादों में कुछ नाइट्रोजनयुक्त लाभप्रद पदार्थ पाये जाते हैं जो कि पौधों की वृद्धि शीघ्र करने में सहायक होता है।

ड. यह मृदा संरक्षण व जल संरक्षण में सहायक है।

3 पर्यावरण के दृष्टिकोण से

क कचरे का प्रयोग खाद बनाने में किया जाता है जिससे वातावरण स्वच्छ रहता है और बीमारियॉ कम करने में सहायता मिलती है।

ख यह स्वास्थ्यवर्धक, पौष्टिक व गुणवत्ता खाद्य पदार्थों के उत्पादन में सहायक है। यह पर्यावरण मित्र होते हैं।

ग यह जैविक चक्र को प्रोत्साहित करता है जिसमें सूक्ष्म कीटाणुओं, मृदा पौधों व पशुओं व मानव के बीच अन्तनिर्भरता को बढ़ाता है व पारिस्थिकी तंत्र में सन्तुलन बनाये रखता है।

घ रासायनिक कृषि से जहॉ हमारे संसाधनों की गुणवत्ता घटती है, वही जैविक कृषि से हमारे संसाधनों का संरक्षण होता है।

ड. कृषि जैव विविधता का सरंक्षण होता है।

7.7 आर्गेनिक (जैविक) खेती समस्यायें/बाधायें

भारत में कम्पोस्ट की कमीं, जैविक सामग्री में पोषक तत्वों का अंतर, कचरे से संग्रह करने और प्रसंस्करण करने में जटिलता, विभिन्न फसलों के लागत लाभ अनुपात के साथ जैविक कृषि के व्यवहारों को शामिल करने में पैकेज का अभाव और वित्तीय सहायता के बिना किसानों द्वारा इसे अपनाने में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त जैविक खेती की प्रगति में कई बाधाएं हैं :–

1. **जागरुकता की कमी** – किसानों के पास कम्पोस्ट तैयार करने के लिए आधुनिक तकनीकों के प्रयोग की जानकारी का भी अभाव है। किसान अधिकांशतः यह करते है कि गड्ढा खोदकर उसे कचरे को कम मात्रा में भर देते हैं। अक्सर गड्ढा वर्षा के जल से भर जाता है और इसका परिणाम यह होता है कि कचरे का ऊपरी हिस्सा पूरी तरह कम्पोस्ट नही बन पाता ओश्र नीचे का हिस्सा कड़ी खली की तरह बन जाता है। जैविक कम्पोस्ट तैयार करने के बारे में किसानों को समुचित प्रशिक्षण देने की जरुरत है।
2. **विपणन की समस्या** – ऐसा पाया जाता है कि जैविक फसलों की खेती शुरु करने के पहले उनका विपणन योग्य होना और पारंपरिक उत्पादों की तुलना में लाभ सुनिश्चित करना। ऐसा प्रमाण मिला है कि राजस्थान में जैविक गेहूँ के किसानों को गेहूँ के पारम्परिक किसानों की तुलना में कम कीमतें मिली। दोनों प्रकार के उत्पादों के विपणन की लागत भी सामान थी और गेहूँ के खरीददार जैविक किस्म के लिए अधिक कीमत देने को तैयार नहीं थे।

3 **अधिक लागत होना** – भारत के छोटे और सीमान्त किसान पारम्परिक कृषि प्रणाली के रुप में एक प्रकार की जैविक खेती करते रहे हैं। वे खेतों को पुनर्जीवित करने के लिए स्थानीय अथवा अपने संसाधनों को इस प्रकार प्रयोग करते हैं कि परिस्थितिकी के अनुकूल वातावरण कायम रहे। जैविक खादों की लागत रासायनिक उर्वरकों से अधिक है। मूंगफली की खली, नीम के बीज और उसकी खली जैविक कम्पोस्ट, खाद, गोबर और अन्य खादों का प्रयोग जैविक खादों के रुप में होता रहा है। इनकी कीमतों में वृद्धि होने से ये छोटे किसानों की पहुँच से बाहर होते जा रहे हैं।

4 **वित्तीय सहायता का अभाव** – जैविक उत्पादों के विपणन के लिए केन्द्र व राज्य सरकारों की ओर से किसी प्रकार की सहायता नहीं दी जाती। यहां तक कि जैविक खेती को बढ़ावा देने के उद्देश्य से वित्तीय प्रक्रिया का भी सर्वथा अभाव है।

5 **निर्यात की मांग पूरा करने में अक्षमता** – अमेरिका, यूरोपीय संघ और जापान जैसे उन्नतशील देशों में जैविक उत्पादों की बहुत मांग है। अमरीकी उपभोक्ता जैविक उत्पादों के लिए 60 से 100 प्रतिशत का लाभकारी मूल्य के भुगतान के लिए तैयार है। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार केन्द्र (आई. टी. सी.) द्वारा वर्ष 2000 में कराए बए बाजार सर्वेक्षण से यह संकेत मिला है कि विश्व बाजारों के कई हिस्सों में जैविक उत्पादों की मांग बढ़ी है, जबकि उसकी आपूर्ति नही की जा सकती। भारत में जैविक पदार्थों के निर्यात को प्रोत्साहन का अभाव पाया जाता है।

7.8 भारत में जैविक उत्पादों की सम्भावनाएं

भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या के लिए खाद्यान्न उत्पादन को कायम रखने व उसे बढ़ाने के प्रयास करने होंगे। जैविक खेती को बढ़ावा देने के लिए भारत में सामाजिक–सांस्कृतिक पर्यावरण अनुकूल हैं। भारतीय किसान हरित क्रान्ति के प्रारम्भ से पहले परम्परागत तरीकों से ही खेती करता था जो पर्यावरण के अनुकूल थे। अभी भी हमारे देश के छोटे व सीमान्त, किसान पर्यावरण हितैषी पारम्परिक प्रणाली का अनुसरण कर रहे हैं। वे स्थानीय अथवा अपने खेतों से प्राप्त पुनर्जीवन संसाधनों का इस्तेमाल करते हैं और स्वनिर्मित

परिस्थितिकीय और जैविकीय प्रक्रियाओं का प्रबन्धन करते हैं। भारत जैसा देश आर्गेनिक खेती को अपनाकर कई प्रकार से लाभान्वित हो सकता है। इसके माध्यम से ग्रामीण रोजगार के सृजन, प्रवास में कमी, स्थानीय खाद्य सुरक्षा तथा बाहरी चीजों पर निर्भरता में कमी जैसे आर्थिक तथा सामाजिक लाभ भी प्राप्त होंगें। घरेलू बाजारों में जैविक उत्पादों की अच्छी मांग हैं परन्तु उतनी मात्रा में आपूर्ति नहीं हो पाती है। जैविक उत्पादों के लिए महानगर प्रमुख घरेलू बाजार है। भारत के वर्णों पर आधारित क्षेत्रों, जनजातीय क्षेत्रों, पूर्वोत्तर ओर पहाड़ी क्षेत्रों के बारे में विचार किया जा सकता है जहॉ आर्गेनिक खेती की सम्भावनाएं तलाशी जा सकती है। भारत में ऑर्गेनिक खेती उद्योग का अनुमान लगभग 20 मिलियन डॉलर है। भारत में जैविक खादों की सम्भावनाओं को निम्न तालिका से समझा जा सकता है।

तालिका 1जैविक खादों की वार्षिक सम्भावित मांग (टन में)

जैविक खाद	सम्भावित मांग (टन में)
रायज़ोबियम (Rhizobium)	125.9 हजार टन
एजेटोबैक्टर (Azotobactor)	22.2 हजार टन
एज़जोस्प्रिलियम (Azospirilluim)	21.9 हजार टन
पी. घुलनशील सूक्ष्म जीवाणु	65.4 हजार टन
नीली हरी काई (Blue Green Algae)	112.4 हजार टन
कुल	**347.8 हजार टन**

Source: Arora et.al (2007)

चूंकि आर्गेनिक खादों का प्रयोग सभी फसलों में सफलतापूर्वक किया जा सकता है। इन खादों की मांग उत्पादन की तुलना में बहुत अधिक है। तालिका से स्पष्ट है। कि इनकी सम्भावित मांग 348 हजार टन है जिसमें यह माना गया हैं कि जैविक खाद के प्रयोग 50 प्रतिशत कृषि योग्य भूमि में हो रहा है।

भारत में लगभग 45 जैविक खाद उत्पादन इकाईयां हैं। इनमें से प्रमुख हैं, किसान एग्रो कैम नदान (Nadad) महाराष्ट्र, मौली बायोटेक, पुने महाराष्ट्र, बायो एग्रो फर्टीलाइजर पुणे महाराष्ट्र, गुजरात स्टेट फर्टीलाइजर्स एण्ड कैमिकल लि0 वडोदरा, गुजरात, सेन्ट्रल लैबोरेट्री शिमला, कर्नाटक कम्पोस्ड डेवलेप्मेन्ट कार्पोरेशन लिमिटेड, बैंगलूर, नेशनल बायो फर्टीलाईजर्स डेवलेपमेन्ट फर्टीलाइजर्स, गाजियाबाद।

तालिका 2

राष्ट्रीय व क्षेत्रीय जैविक खाद उत्पादन एवं विकास केन्द्र

(NBDC/RBDC)

1.	National Biofertilizer Development Centre, Gaziabad, U.P.,
2.	Regional Biofertilizer Development Centre (North), Hisar, Harayana.
3.	Regional Biofertilizer Development Centre (Central),

	JNKVV, Jabalpur, M.P.
4.	Regional Biofertilizer Development Centre (West), MPKV, Pune, Maharashtra.
5.	Regional Biofertilizer Development Centre (South), UAS, Banglore, Karnataka.
6.	Regional Biofertilizer Development Centre (East), OUAT, Bhubaneshwar, Orissa.
7.	Regional Biofertilizer Development Centre (North-East), ICAR Research Complex for North Eastern Hill Region, Shillong, Meghalaya.

Source: Arora et.al (2007)

भारत में जैविक खाद का व्यापारिक उत्पादन 1956 में भारतीय कृषि अनुसंधान संस्थान (Indian Agriculture Research Institute) नई दिल्ली तथा एग्रीकल्चर कालेज (जो अब तमिल नाडू कृषि विश्वविद्यालय), कोयमबटूर ने जैविक खादों का आरम्भ किया। जैविक खादों की महत्ता को रासायनिक खादों से अधिक समझने के बाद भारत सरकार में 1983 में एक राष्ट्रीय कार्यक्रम की शुरुआत की जिसे नेशनल प्रोजेक्ट आन डेवलेपमेन्ट एण्ड यूज़ आफ फर्टीलाईजर कहा गया। इस कार्यक्रम के अधीन भारत में विभिन्न स्थानों पर एक राष्ट्रीय व छः क्षेत्रीय स्तर पर जैविक खाद उत्पादन व विकास केन्द्र स्थापित किये गये, जिन्हें तालिका 2 में दिखाया गया है।

अभ्यास प्रश्न

1 कृषि क्षेत्र में मुख्यतः जैविक खेती के लिए कौनसी तकनीक अपनाई जाती है।

2. सत्य/असत्य बताईये
गोबर की खाद रासायनिक खाद है।
(सत्य/असत्य)

3. रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिए

(क) गोबर की खाद में नाइट्रोजन, ... व ..... पोषक पाएं जाते है जो मृदा उर्वरता के लिए आवश्यक हैं।

(ख) वर्मीकम्पोस्ट बनाने में मुख्यतः ..... प्रयोग होता है।

(ग) .....का प्रयोग मुख्य रुप से धान की फसल में होता है।

4. एक शब्द में उत्तर दीजिए
किसी एक अच्छा जैविक कीटनाशक का नाम बताईये।

5. जैविक खेती के प्रमुख सिद्धान्त क्या हैं। ?

7.9 सारांश

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप यह जान चुके होंगे कि जैविक व आर्गेनिक खेती में कृषि तंत्र के उन सभी अव्ययों को सम्मिलित किया जाता है जो पर्यावरणीय सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से खाद्यान उत्पादन में सहायक है। जैविक खेती करने का वह एकीकृत तरीका है जिसमें पारिस्थितीतंत्र में सन्तुलन बनाए रखने के साथ–साथ सतत कृषि उत्पादकता को बिना रासायनिक उर्वरकों व कीटनाशकों के प्रयोग द्वारा किया जाता है। जैविक खेती भारत में वैदिक युग से चली आ रही है। परन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या की खाद्यान्न मांग को पूरा करने के लिए हरित क्रान्ति को अपनाया गया। जिससे पर्यावरण व मृदा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। यद्यपि हमारे देश में अभी भी जैविक खेती को पूरी तरीके से प्रयोग में लाना एक समस्या है, क्योंकि कृषक गरीब और अनपढ़ है और किसानों को कई बाधाओं का सामना करना पड़ता है। जैविक कृषि से न केवल किसानों को बल्कि मृदा उर्वरता को संरक्षित रखने में व पर्यावरण को सुरक्षित रखने व सतत विकास में सहायता मिलती है। भारत में जैविक खेती की अपार सम्भावनाएं हैं। बायोतकनीकि या आर्गेनिक खेती को बढ़ावा देने के लिए सरकार के द्वारा विभिन्न अनुसंधान केन्द्रों की स्थापना की गई है। बायोतकनीक एक शक्तिशाली शस्त्र के रुप में खेती के उत्पादन को बढ़ाने में प्रयोग की जा रही है। बायोतकनीकि एक शक्तिशाली शस्त्र के रुप में प्रयोग किया जाता है।

7.10 शब्दावली

1. **जीन (Gene)** – किसी भी जीव में अनुवांशिक गुणों के वाहक कुछ खास पदार्थ होतें हैं जिन्हें जीन कहा जाता है। ये जीन गुणसूत्रों (क्रोमोसोम) पर स्थित होते हैं और गुणसूत्र प्रत्येक कोशिका के केन्द्र में पाये जाते हैं। गुणसूत्रों के माध्यम से जीवों के गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में स्थानान्तरित होते हैं।
2. **बैक्टीरिया तथा फफूंद (Bacteria and Fungi)** – यह वह अतिसूक्ष्म जीवाणु होते हैं जो ऑखों से नहीं दिखाई देते हैं केवल सूक्ष्मदर्शी यंत्र (Micro Scope) से दिखते हैं। कुछ मानव जाति व पौधों के लिए लाभ दायक व हानिकारक दोनों हो सकते हैं। यह ऑर्गेनिक खेती में सहायक होते हैं।
3. **वर्मी कम्पोस्ट (Vermi Compost)** – वर्मी कम्पोस्ट केंचुओं द्वारा उत्पादित कार्बनिक खाद है। यह केंचुओं के मल, कार्बनिक पदार्थ (हयूमस), केचुंओं के कोकोन्स का एक मिश्रण है। यह मृदा को पोषण प्रदान करते हैं।

7.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. क जैव उर्वरकों का प्रयोग

   ख जैव कीटनाशक और जैव रोग नियंत्रण की विधियों को प्रयोग में लाना।

2. असत्य 3. क.पोटाश, फॉस्फोरस , ख. केंचुए ,ग.नीली हरी काई(Blue Green Algae)

4. नीम पत्ती का घोल 5. क.अन्तनिर्भरता , ख. विविधता, ग.पुनः चक्र (Recycling)

7.12 संदर्भ ग्रंथ सूची / ई–लिंक्स

1. Murugan C.S., Anubumani, V. (2007), "Organic Farming : Its Relevance to the Indian context " *Kurukshetra, Publishing Division, Ministry of Information and Broadcasting, GOI,* New Delhi.
2. Arora, Naveen Kumar et.al (2007), Biofertilizer Technology for Economical and Environmentally viable Agricultural Production; *Kurukshetra, Publishing Division, Ministry of Information and Broadcasting, GOI,* New Delhi.
3. सिंह डी0पी0 (1996), ''एजेटोबेक्टर – खेती हेतु एक उपयोगी जैविक खाद'', *प्रतियोगिता दर्पण, उपकार प्रकाशन,* आगरा
4. सिंह, विनय, (2006), ''मृदा उर्वरता, उर्वरक एवं पोषक प्रबन्ध'', *वी0के0 प्रकाशन,* बड़ौत
5. शर्मा कुलदीप, प्रधान सुधीर (2011), ''जैविक खेतीः समस्याएं और संभावनाएं'', *योजना, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार,* नई दिल्ली।
6. http://hi.wikipedia.org
7. www.argitech.tnau.ac.in

7.13 उपयोगी / सहायक ग्रंथ

1. मिश्र, आर0सी0, कुमार एस0 (2005), ''हैण्डबुक ऑफ एग्रीकल्चर'', *कान्ती प्रकाशन,* इटावा (उ0प्र0)
2. Wable K.J. et.al (Sept. 2006), "Plant Bioteachnolgy", *Yojna, Publication Division, Ministry of Information and Broadcasting, Govt. of India*, New Delhi.
3. Dubey, R.C. (2007), "Biotechnology Scope and Importance", *S. Chand and Company Ltd.* New Delhi.
4. Soule, Judith D. and Piper, Jon K., (1992) "Farming in Nature's Image: An Ecological Approach to Agriculture", *Island Press,* Washington, D.C..
5. Ed. Janet Wallace, (2001) "Organic Field Crop Handbook", *Canadian Organic Growers*, Ottawa.

7.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. बायोतकनीकि व ऑर्गेनिक खेती के लाभों पर प्रकाश डालिए।
2. कृषि में विभिन्न जैविक तकनीकों की विवेचना कीजिए।

इकाई 8 खाद्य सुरक्षा

इकाई की संरचना

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 खाद्य सुरक्षा का आशय
8.4 खाद्य समस्या का स्वरूप
8.5 खाद्य समस्या के कारण
8.6 सरकार की खाद्य नीति
8.7 खाद्य सुरक्षा के उपाय
8.8 सांराश
8.9 शब्दावली
8.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.12 सहायक/उपयोग पाठ्य सामग्री
8.13 निबन्धात्मकप्रश्न

8.1 प्रस्तावना

भारतीय अर्थव्यवस्था की संरचना से सम्बन्धित यह आठवीं इकाई है । इससे पहले की इकाइयों में आप अर्थव्यवस्था की सामान्य विशेषताओं की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं ।

भारतीय अर्थव्यवस्था से सम्बन्धित आर्थिक समस्याओं की चर्चा चलती है और कुछ समस्याओं को अंगुली पर गिना जाता है तो उनमें सबसे प्रमुख समस्या जो सभी सामान्य व्यक्ति को छू जाती है, वह समस्या मुद्रा स्फीति एवं खाद्य सुरक्षा है, मूल्य स्तर में वृद्धि या स्फीति की वृद्धि दर क्या है और इसे हम कैसे नापते है, क्या कारण जिनके कारण स्फीति होती है और स्फीति का क्या प्रभाव अर्थव्यवस्था पर पड़ता है, इससे सबसे अधिक प्रभावित 'कौन होता है'और क्यों आदि। खाद्य सुरक्षा का आशय, स्वरूप एवं सरकार की खाद्य नीति और खाद्य सुरक्षा के उपाय के सम्बन्ध में कुछ धारणात्मक तथा महत्वपूर्ण तथ्यों से हम आपको इस इकाई में परिचित करा रहे हैं ।

8.2 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप-

- खाद्य सुरक्षा का आशय, स्वरूप एवं कारणों को जान सकेंगें ।
- सरकार की खाद्य नीति का वर्णन कर सकेंगें ।
- खाद्य सुरक्षा के उपाय बता सकेंगें ।

8.8 खाद्य सुरक्षा का आशय

कृषि क्षेत्र से जुड़ा एक महत्वपूर्ण मुद्दा है खाद्य सुरक्षा जिसे खाद्य एवं कृषि संस्था) थ्रावृ (ने परिभाषित किया कि ''सभी व्यक्तियों को सभी समय पर उनके लिए आवश्यक बुनियादी भोजन के लिए भौतिक एवं आर्थिक दोनों रूप में उपलब्धि के आश्वासन के रूप में की है ।'' इस परिभाषा से कुछ बातें उभर कर आती हैं, किसी देश की समग्र जनसंख्या को खाद्य की भौतिक उपलब्धि आवश्यक है । पर्याप्त खाद्य उपलब्धता के लिए पर्याप्त क्रय शक्ति होना चाहिए जिससे खाद्य पदार्थ हासिल कर सकें। स्वस्थ जीवन के लिए उपलब्ध खाद्य, गुणवत्ता और मात्रा दोनों दृष्टिकोण से पोषण सम्बन्धी आवश्यकता को पूरा करने में सक्षम होना चाहिए। खाद्य सुरक्षा के लक्ष्य को मजबूत करने के लिए खाद्य उत्पादन में स्वावलम्बिता दीर्घकालीन होनी चाहिए। किसी भी राष्ट्र को खाद्य संभरण की इतनी वृद्धि दर आश्वस्त करनी होगी जिससे न केवल जनसंख्या की वृद्धि का ध्यान रखा जा सके अपितु साथ-साथ लोगों की आय में वृद्धि के परिणामस्वरूप खाद्य की मांग में वृद्धि की भी पूर्ति की जा सके।

विश्व विकास रिपोर्ट 1986 में खाद्य सुरक्षा की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त कि, ''सभी व्यक्तियों के लिए सभी समय पर एक सक्रिय, स्वस्थ जीवन के लिए पर्याप्त भोजन की उपलब्धि के रूप में है'' किन्तु खाद्य एवं कृषि संस्था ने 1983 में खाद्य सुरक्षा की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त कि ''सभी व्यक्तियों को सभी समय पर उनके लिए आवश्यक बुनियादी भोजन के लिए भौतिक एवं दोनों रूप में उपलब्धि के आश्वासन के रूप में की है''।

8.9 खाद्य समस्या का स्वरूप

अध्ययन की सुविधा के लिए खाद्य समस्या के तीन पक्ष माने जाते है -परिमाणात्मक, प्रशासनिक और आर्थिक। इन्हें निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है ।

परिणात्मक पक्ष -इसका सम्बन्ध खाद्यान्नों की मांग व पूर्ति से होता है सामान्यतः खाद्य सामाग्री का उपलब्ध परिमाण प्रायः मांग से कम रहा है, अतः खाद्या समस्या एक अल्पकालीन संकट नहीं अपितु दीर्घकालीन समस्या मानी जाती है। मात्रात्मक पहलू की दृष्टि से पहले की तुलना में स्थिति बेहतर अवश्य हुई है। दीर्घकाल तक आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए इनका उत्पादन बढ़ाने के साथ जनसंख्या वृद्धि पर प्रभावपूर्ण नियंत्रण करना होगा।

प्रशासनिक पक्ष -इसका सम्बन्ध वितरण पक्ष से हाता है न कि उत्पादन पक्ष से। सामान्यतः यह संभव है कि खाद्यान्नों का उत्पादन तो बढ़ जाये लेकिन वितरण व्यवस्था के दोषपूर्ण होने से खाद्य समस्या निरन्तर बनी रहती है।

आर्थिक पक्ष-भारत में कई बार यह देखा जाता है कि महंगे अनाज को क्रय करेन के लिए लोगों के पास आवश्यक क्रय शक्ति का अभाव रहता है अर्थात इस पहलू का सम्बन्ध जनता की गरीबी तथा खाद्यान्नों कें ऊँचे भावों से होता है।

8.10 खाद्य समस्या के कारण

दीर्घकालीन दृष्टि से, इस समस्या के निम्न कारण उत्तरदायी माने जा सकते है।

भारत में वस्तुओं की मांग-सामान्यतः वस्तुओं की माँग बड़े पैमाने पर बढ़ती रही है। मांग में यह वृद्धि मुख्यतः निम्न कारणों से हुई है-:

(1) जनसंख्या में तीव्र वृद्धि - भारत में जनसंख्या 1951 से 2011 के बीच 36 करोड़ से बढ़कर लगभग 121 करोड़ हो गई तथा इस अवधि के दौरान खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़कर 5 करोड़ टन से लगभग 24 करोड़ टन पहुँच गया लेकिन जनसंख्या वृद्धि व आय से खाद्यान्नों की मांग बड़ रही है। अकाल व सुखे के दौरान देश में खाद्यान्नों की कमी महसूस की जाती है अतः स्पष्ट है कि जनसंख्या की अत्यधिक वृद्धि खाद्य समस्या का प्रमुख कारण मानी जा सकती है।

(2) मांग की ऊँची आय लोच- आमतौर पर कम आय वाले लोगों की आय का अधिकांश भाग आवश्यक वस्तुओं पर खर्च होता है परिणामस्वरूप आय में वृद्धि होने पर अनाज की मांग तेजी से बढ़ती है अतः कम आय वर्ग अनाज के लिए मांग की आय बहुत अधिक रहती है।

आपूर्ति विषयक कारक

सामान्यतः अनाज व खाद्य पदार्थो की आपूर्ति की तुलना से मार्ग तेजी से बढ़ती है। अल्पकालीन हल आयात के द्वारा समय समय पर किये जाते है। लेकिन दीर्घकालीन दृष्टि से आपूर्ति सदैव कम ही रही है। इसके मुख्य कारण निम्न प्रकार से है-:

(1) उत्पादन में धीमी और अनिश्चित वृद्धि- भारत में भोजन का महत्वपूर्ण अश अनाज है -लेकिन उपज की वृद्धि धीमी होने के कारण आपूर्ति सदैव कम बनी रहती है। इस दिशा में हरित क्रांन्ति एक कदम था लेकिन उसका लाभ केवल कुछ क्षेत्रों तक तथा कुछ फसलों तक सीमित हो गया। परिणामस्वरूप के पाँच राज्य अतिरेक उत्पादन कर रहे है, सुखा व बाढ़ आदि ने भी अनाज की कमी को बढ़ाया है। अनाज की आपूर्ति कम व अनिश्चित बनी रहती है। जिसमें खाद्य समस्या और अधिक उलझ जाती है।

(2) कम और घटती बढ़ती आपूर्ति- भंडारण व विपणन की अपर्याप्त सुविधा के कारण खेतिहर अपनी उपज को कीट पतंगों व चूहों आदि से नही बचा पाते है इससे फसल का एक तिहाई भाग नष्ट हो जाता है और शहरी आबादी

के संदर्भ में समस्या गम्भीर रूप धारण कर लेती है। कभी कभी लाभ कमाने की चेष्टा से किसान भंडारण कर बाजार में आपूर्ति कर देते है। जिससे खाद्य समस्या उत्पन्न हो जाती है।

भारत में गरीबी एक अभिशाप है खाद्य समस्या गरीबों के संन्दर्भ में और बुरी होती है इसके निम्न कारण है)-1) अपर्याप्त क्रयशक्ति

सामान्यत: गरीबों के पास पर्याप्त क्रय शक्ति नहीं होने के कारण वे अपेक्षित मात्रा में वस्तुएँ खरीदनें में असमर्थ रहते है और जब फसल की स्थिति खराब होती है तो यह स्थिति और अधिक दयनीय हो जाती है।

(3) काम काज का अभाव व बड़े परिवार :- हमारे समाज का एक वर्ग ऐसा है जिसके पास कोई परिसम्पत्ति नहीं है। परिवार में सदस्यों की अधिक है और एसे काम भी नहीं मिलता है तो समस्या और कठिन हो जाती है। अन्य खाद्यान्नों की बढ़ती जमाखोरी, भ्रष्टप्रशासनिक व्यवस्था दीर्घकालीन नीति का अभाव आदि।

8.11 भारत सरकार की खाद्य नीति

आयोजनकाल में खाद्य समस्या के समाधान के लिए सराकार ने चार प्रकार से उपाय किए है।

क.खाद्यान्नों के उत्पादन में वृद्धि की दिशा में प्रयास-खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से सरकार ने तीन प्रकार के उपाय किए है।

1.तकनीकी उपाय - आयोजकाल में खाद्यान्नों का उत्पादन बढ़ाने के लिए यद्यपि तकनीकी उपायों के महत्व को प्रारम्भ से ही स्वीकार किया गया है लेकिन 1966 के बाद से कृषि विकास की नई युक्ति नीति के अन्तर्गत सिचाई की सुविधाओं के विस्तार पर अधिक बल दिया गया था, लेकिन उसके बाद उन्नत किस्म के बीजों, उर्वरकों, कीटनाशक दवाओं, आधुनिक कृषि मशीनरी इत्यादि के उपयोग को बढ़ानें की ओर ध्यान दिया गया है। खेती में मशीनीकरण भी तेज गति से हो रहा है। टैक्टरों, हार्वेस्टर मशरनों, पम्पसेटों, नलकूपों आदि का प्रयोग बढ़ रहा है। इन तकनीकी उपायों से खाद्यान्नों के उत्पादन और उत्पादकता को बढ़ाने में काफी सहायता मिली है।

2.भूमि सुधार - भारत में कृषि विकास के लिए भूमि सुधारों की आवश्यकता को सैद्धान्तिक रूप से सरकार ने बहुत पहले स्वीकार कर लिया था। परन्तु ये भूमि सुधार दोषपूर्ण थे और इन्हें लागू करने में भी शिथिलता दिखाई गई। अतः उत्पादन पर इनका विशेष अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

3.प्रेरक मूल्य नीति - किसानों को उनकी फसलों का अच्छा मूल्य देने से खाद्यान्न उत्पादन को बढ़ाने की प्रेरणा मिलेगी अर्थात् प्रेरक मूल्य नीति का अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। इसलिए सरकार ने 1965 में कृषि कीमत आयोग गठित किया कृषि लागत व कीमत आयोग यह आयोग विभिन्न कृषि फसलों के लिए वसूली कीमतों व न्यूनतम समर्थन कीमतों की घोषणा करता है।

भारत में खाद्य समस्या के समाधान के अन्तर्गत सरकार ने अथक प्रयास किये है, लेकिन वे कहां तक सफल रहें हैं इस सम्बन्ध में निष्कर्ष उन्हीं तीन बातों के आधार पर निकाले जा सकते है जो कि खाद्य समस्या के स्वरूप के अर्न्तगत स्पष्ट की गयी है। ये है, उपलब्ध अनाज की मात्रा, लोगों के आहार की कोटि और गरीबों को अनाज की प्राप्यता। इन कसौटियों पर नीति की परख की जाकर कोई उचित व संतुलित निष्कर्ष निकाला जा सकता है।

ख.खाद्यान्नों के वितरण व्यवस्था के सुधार- पिछले वर्षो में सरकार ने खाद्यान्नों के वसूली मूल्य निर्धारित किये है और निर्धारित कीमतों पर क्रय कर सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से आम जन को अनाज के

उचित वितरण का प्रयास किया ऐसा करने का प्रमुख उद्देश्य यह था कि सभी लोगों के बीच विशेषतः समाज के पिछड़े व कमजोर वर्गो के अनाज का उचित वितरण हो सके।

ऐसे समय जब देश में खाद्य स्थिति उच्छी नही थी देश ऐसे क्षेत्रों में विभक्त किया गया जो यथा सम्भव आत्म निर्भर रखे जा सकें अर्थात इसके लिए प्रत्येक क्षेत्र में अधिक व कम उपज वाले क्षेत्रों को शामिल किया गया, तथा यह नियंत्रण किया गया कि अनाज का व्यापार क्षेत्र विषेष के भीतर ही किया जा सकता था। साथ ही गेहूँ तथा चावल के व्यापार का सरकारीकरण एवं थोक व्यापार का राष्ट्रीयकरण समाप्त कर दिया गया।

ग.माँग एवं कीमत में नियत्रण- इस हेतु सरकार ने तीन तरह के उपाय किये है ये है राशन व्यवस्था,थोक एवं खुदरा व्यापारियों और उपभोक्ता के स्टाकों से सम्बन्धित मागों को न्यूनतम स्तर पर बनाए रखा जाए, जनसंख्या वृद्धि पर नियंत्रण हेतु परिवार कल्याण कार्यक्रम का प्रचार आदि। ये सभी उपाय खाद्य पदार्थो की कीमत एवं मांग में नियत्रण रखेंगें।

घ.गरीबी को कम करने की कोशिश- विभिन्न माध्यमों से इस समस्या का समाधान परोक्ष रूप से खाद्य समस्या के निवारण में सहायता करता है इनमें प्रमुख रूप से श्रम प्रधान तकनीक का उपयोग अधिक किया जाए। जिससे रोजगार अधिक मिल सके, भूमि की सीमा बन्दी नीति से प्राप्त अतिरिक्त भूमि का वितरण, उत्पादक कार्यो के लिए रियायती दरों पर ऋण की व्यवस्था आदि एवं इसके अतिरिक्त अनेक गरीबी उन्मूलन व रोजगार योजना, अन्त्योदय योजना प्रमुख रही है। परिणाम स्वरूप अनेक निर्धन परिवारों को अपेक्षाकृत मात्रा में नीची कीमत पर अनाज प्राप्त कराया जाता रहा है।

इस सन्दर्भ में कुछ अन्य उपलब्धियों का भी उल्लेख किया जा सकता है। उदाहरण के लिए घरेलू उत्पादन और आयात के सहारे अनाज की कुल आपूर्ति जो देश में उपलब्ध होती है। विभिन्न प्रदेशों और वर्गो के बीच उसके समुचित वितरण के सिलसिले में आवश्यक कदम उठाए गए है। इसी प्रकार कीमत नीति द्वारा निम्न वर्ग को सस्ते दाम पर अनाज सुलभ हो और उत्पादकों को अपने माल की उचित कीमत मिले इसका निदान करने की कोशिश की गयी है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह नजर आता है कि सरकारी नीति के खाद्य आपूर्ति पर अनुकूल प्रभाव पड़े है किन्तु यह परिमाणात्मक कमियों से मुक्त नहीं है। अतः विफलताओं पर भी नजर डालना आवश्यक है।

सरकार को खाद्यान्नों की खरीद संग्रह व वितरण की एक ऐसी व्यवस्था अपनानी चाहिए जो अभाव व आधिक्य दोनों प्रकार के वर्षो की कठिनाइयों को दूर करके उत्पादकों व उपभोक्ताओं के हितों की भली भॉति रक्षा कर सके। इसके लिए प्रों मिन्हास दारा बतलाई गई कमी को दूर करके एक सुदृढ़ व दीर्घकालीन खाद्य नीति तैयार की जानी चाहिए।

खाद्य समस्या के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी भी अर्थव्यवस्था के खाद्य सुरक्षा प्रणाली के निम्नलिखित अंगो का उचित समाधान किया जाए तो खाद्य समस्या से छुटकारा पाया जा सकता है। ये प्रमुख अंग है देशीय उत्पादन को बढ़ावा देना ताकि बढ़ती हुई जनसंख्या की मांग पूरी की जा सके। और इसके साथ-साथ जनसंख्या के काफी बड़े भाग में अल्प पोषण कम किया जा सके। खाद्य पदार्थो की वसूली और संग्रहण के लिए न्यूनतम आलम्बन कीमतें (Minimum Suppoty Price) उपलब्ध कराना। सार्वजनिक वितरण की प्रणाली को चलाना और बफर स्टॉक कम करना ताकि प्राकृतिक विपत्तियों के परिणामस्वरूप उत्पन्न हाने वाली अस्थायी

दुर्लभता का मुकाबला किया जा सके। और खाद्य कीमतों के ऊपर धकेलने का प्रयास करने की समस्या प्रतिशक्ति का कार्य कर सके।

पहली योजना में कृषि को प्राथमिकता क्रम में पहला स्थान दिया गया। इस योजना के आखिरी वर्ष में खाद्यान्नों का उत्पादन योजना में निर्धारित लक्ष्य से ऊचां था। अतः खाद्यान्नों की घरेलू पूर्ति में सुधार होने से आयातों में भारी कमी हुई। इनका प्रभाव खाद्यानों की कीमतों पर पड़ा और उनमें भारी कमी हुई। इस अनुकूल स्थिति से संतुष्ट होकर सरकार और योजना आयोग को विश्वास से चला था कि देश को खाद्य संकट से मुक्ति मिल गई। परन्तु यह विश्वास आकरण था क्योंकि खाद्य स्थिति में सुधार अनुकूल मौसम के कारण था, जो अस्थाई था दूसरी योजना की अवधि में, विशेष रूप से 1959 और 1960 में, खद्यान्नों के भारी अभाव की स्थिति थी। अतः इन वर्षो में खाद्यान्नों का काफी आयात किया गया। 1963-64 के वर्ष को छोड़कर तीसरी योजना के अन्य सभी वर्षो में खाद्यान्नों का उत्पादन 1960-61 के स्तर पर अथवा उससे नीचा था। योजना की अवधि में खाद्य संकट के कारण जिस बड़े पैमाने पर खाद्यान्नों का आयात किया गया, उससे भुगतान शेष की स्थिति काफी बिगड़ गई।

तीसरी योजना के बाद) विशेषतया हरित क्रांन्ति के काल में (खाद्यान्नों के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई है। सरकार ने भारतीय खाद्य निगम के माध्यम में खाद्यान्नों की काफी वसूली की है और बफर भंडारों का निर्माण किया है।

परिमाणात्मक स्तर पर खाद्य समस्या का निदान हो चुका है तथापि गुणात्मक स्तर पर अभी बहुत कुछ करना बाकी है। अभी भी करोड़ो लोग भुखमरी और कुपोषण का शिकार है, इस संदर्भ में निम्नलिखित तथ्यों की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है, (1) जनसंख्या का एक बहुत बड़ा वर्ग गरीबी रेखा से नीचे रहने को मजबूर है।) 2) प्रति व्यक्ति अनाज का उपभोग न केवल कम है बल्कि उसमें समय के साथ गिरावट आई है।) 3) ग्रामीण क्षेत्रों में 2400 कैलोरी प्रति व्यक्ति प्रति दिन और शहरी क्षेत्रों में 2100 कैलोरी प्रति व्यक्ति प्रति दिन को न्यूनतम आवश्यकता के रूप में स्वीकार किया है। देश के 70-80 परिवार न्यूनतम कैलोरी आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में असमर्थ थें) 4) बहुत से लोग सूक्ष्म पोषण तत्वों जैसे विटामीन।, विटामीन ब्, आयरन, नियासिन, रिबोफ्लेबिन, थियामिन इत्यादि की कमी से पीड़ित है; तथा) 5) मानवमितीय मापदंडों के आधार पर, पोषाहार अवस्था अनुसार, देश के 50 प्रतिशत व्यस्क और 55 प्रतिशत बच्चे कुपोषण का शिकार है। वस्तुतः भुखमरी और कुपोषण का व्यापक स्तर पर होना ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली को बनाए रखने का औचित्य सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

खाद्य पदार्थो की ऊंची कीमतें-भारत में खाद्यान्नों की निरन्तर बढ़ती कीमतों ने खाद्य संकट को बहुत अधिक गम्भीर बना दिया है। इस देश में श्रमजीवी वर्ग जीवन निर्वाह के लिए केवल खाद्यान्नों पर निर्भर है। इस वर्ग के लोगों की खाद्यान्नों की मांग बेलोच है। अतः व्यापारी और बड़े किसान अभाव की स्थिति में अपने मुनाफे बढानें के उद्देश्य से खाद्यान्नों की बड़े पैमानें पर जमाखोरी करते है।

खाद्य नीति की विफलताएँ-सरकार की खाद्य नीति की विफलता का सम्बन्ध अकुशल प्रबंधन से जुड़ा हुआ है क्योंकि देश में अनाज के सम्बन्ध में भारी क्षेत्रीय असमानताएं विद्यमान है जो कि गंभीर समस्या है। अनाज का उत्पादन बढ़ा तो है लेकिन संतोषजनक नहीं है। इस सन्दर्भ में एक बात का स्पष्ट किया जाना आवश्यक है कि हमारी खेती अभी भी मौसम की दासता से मुक्त नहीं है तथा दालों की उपज में वृद्धि की दर बहुत कम है।

अनाज वसूली की नीति का विफलता और सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए अनाज सुलभ कराने के लिए आयात पर निर्भरता के परिणामस्वरूप अनाज की उपज बढ़ाने के प्रयत्नों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है जिससे कीमतों में वृद्धि हुई है।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अनाज की कीमतें तेजी से बढ़ा दे इस वस्तु स्थिति में मजदूरी बढ़ाकर और गरीब वर्ग के जीवन निर्वाह व्यय में वृद्धि करके मुद्रास्फीति रूपी आग को भड़काया हैं। दूसरी और दालों की मूल्य वृद्धि का गरीब पर प्रतिकुल प्रभाव पड़ा है क्योंकि दाले ही प्रोटीन का प्रमुख स्रोत को पूरा करना भले ही मुश्किल न हो।

8.12 खाद्य सुरक्षा के उपाय

खाद्य सुरक्षा का आधारभूत अर्थ होता है लोगों को आर्थिक और भौतिक रूप से खाद्यान्न सुलभ होना। जहाँ तक भौतिक सुलभता का प्रश्न है, वह उत्पादन में बढ़ोतरी करके प्राप्त की जा सकती है, या खाद्यान्नों के आयात के द्वारा भी। किन्तु यह पर्याप्त नहीं है। खाद्य सुरक्षा के लिए आवश्यक है कि लोग खाद्य क्रय के लिए आर्थिक रूप से समर्थ हों यानि, उनके पास पर्याप्त क्रय शक्ति हो ताकि वे आवश्यक मात्रा में खाद्य खरीद सके। हालाकि गत वर्षो में भारत खाद्य के मामलों में सुरक्षित हो गया है, फिर विश्व खाद्य संगठन का अनुभव है करोड़ों भारतवासी अभी भी **"चिरंतन खाद्य असुरक्षा"** के दुष्चक्र में फंसे है। इनमें सीमांत किसान, जन जातियां, दलित, भूमिहीन मजदूर और अस्थायी मजदूर शामिल है।

दूसरे, राष्ट्रीय स्तर पर खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता का आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि राज्य या प्रदेशिक स्तर पर भी आत्मनिर्भरता है। भारत में केवल 5 राज्यों में ही अतिरिक्त खाद्य उत्पादन होता है जबकि अन्य राज्य खाद्य की कमी वाले राज्य है। खाद्य सुरक्षा बनाये रखने के लिए अतिरिक्त बचे हुए अन्न वाले राज्यों से कमी वाले राज्यों में निर्बाध प्रवाह होना चाहिये।

तीसरे, उच्चतर खाद्यान्न उत्पादन से खाद्य सुरक्षा की समस्या स्वतः हल नही होता। इससे यह गारंटी नही होती कि जरूरतमंद को खाद्यान्न उपलबध है। ऐसी स्थिति तब पैदा होती है जब निर्धन लोग आय या क्रय क्षमता के अभाव के कारण, पर्याप्त मात्रा में खाद्यान्न नहीं खरीद पाते। इस दशा में खाद्य अधिक्य की बहुत ही भ्रामक स्थिति का निर्माण हो जाता है।

कुल खाद्यान्न का लगभग 85 प्रतिशत मनुष्यों के उपभोग के लिए उपलब्ध है जबकि 15 प्रतिशत खाद्यान्न उत्पादन का प्रयोग बीज या चारे के लिए होता है, या व्यर्थ हो जाता है। खाद्यान्नों की उपलब्धता उत्पादन से भिन्न भी हो सकती है। उत्पादन से अधिक उपलब्धता दो माध्यमों से होती है पहला विदेशों से अन्न आयात करके उपलब्धता बढ़ाई जा सकती है। दूसरी और निर्यात से उपलब्धता घट सकती है ।

एक खास वर्ष में विद्यमान भंडार से खाद्यान्न निकालकर उपलब्ध्ता बढ़ाई जा सकती है। अतः भंडार में परिर्वतन से भी उपलब्धता पर प्रभाव पड़ता है।

पूर्व दशक की अपेक्षा 1990 के दशक में कृषि उत्पादन में काफी मंदी आई है। 1980 के दशक में प्रति वर्ष 3.2 प्रतिशत की तुलना में 1990 के वर्षो में केवल 1.5 प्रतिशत की दर से खाद्य उत्पादन बढ़ा और 2000 के दशक में जनसंख्या वृद्धि दर से भी कम है।

खाद्य उत्पादन वृद्धि की धीमी गति और बढ़ते खाद्यान्न भंडार के परिणामस्वरूप जनता को उपलब्ध खाद्यान्नों की मात्रा 1991 के प्रति दिन प्रति व्यक्ति क औसत 510 ग्राम से गिर कर 2010 में 451 ग्राम पहुँच गई।

नवम पंचवर्षीय योजना के दस्तावेज के अनुसार अखिल भारतीय स्तर पर ग्रामीण क्षेत्रों में लोग औसतन कुल खर्च का 63 प्रतिशत भोजन पर व्यय करते हैं और नगरों में लगभग 55 प्रतिशत भोजन पर खर्च करते हैं। खाद्यान्नों पर होने वाला व्यय ग्रामीण क्षेत्रों में 45 प्रतिशत और नगरीय क्षेत्रों में 32 प्रतिशत के लगभग बैठता है। जनसंख्या का निम्नतम आय वाला 30-40 प्रतिशत वर्ग अपने कुल व्यय का 70 प्रतिशत से अधिक भोजन पर खर्च करता है। इस वर्ग में ग्रामीण लोग खाद्यान्न पर 50 प्रतिशत आय तथा शहरी 40 प्रतिशत आय से अधिक खर्च करते है।

दालों व अनाजों की कुल उपलब्धता

प्रति व्यक्ति निवल उपलब्धता प्रतिदिन ग्राम में			
वर्ष	**अनाज**	**दालें**	**कुलयोग**
1961	399.7	69.0	468.7
1971	417.6	51.2	468.8
1981	417.3	37.5	454.8
1991	468.5	41.6	510.1
2000	426.0	32.0	458.0
2009 - 10	421.0	30	451.0

स्रोतः आर्थिक सर्वेक्षण

खाद्य समस्या के स्वरूप, प्रस्तावित समाधानों और सरकारी नीति के उपयुक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि समस्या बड़ी भी है और गम्भीर भी है। सरकारी नीति अभी भी इस चुनौती का सामना करने में पर्याप्त सफलता प्राप्त नही कर पाई अतः एक उचित खाद्य नीति क्या हो यह एक यक्ष प्रश्न बना हुआ है।

भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक उचित खाद्य नीति

सरकार ने खाद्य-समस्या को हल करने के कई प्रयत्न किये है, लेकिन उसको खाद्य-समस्या के सभी पहलुओं के उचित हल निकालने में अभी तक पूरी सफलता नहीं मिलि है। खाद्य-समस्या को हल करने के लिए निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते है-:

(1) आधुनिक व गहन खेती की आवश्यकता - भारत में नई भूमि पर विस्तृत खेती की सम्भावनाएँ बहुत कम हैं। अतः वर्तमान कृषत भूमि पर गहन खेती के उपाय अपनाकर प्रति हेक्टेयर उपज में वृद्धि की जनी चाहिए इसके लिए सुधरे हुए बीजों, उत्तम खाद और रासायनिक उर्वराकों, उत्तम हल तथा अन्य औजारों और खेती के सुधरे तरीकों का प्रयोग करना चाहिए।

(2) वर्षा पर आश्रित तथा सूखी खेती के विस्तार की आवश्यकता - भारत में वर्षा पर आश्रित क्षेत्र से लगभग 45 प्रतिशत खाद्यान्न प्राप्त होते है। विभन्न श्रोतों से कुल कृषिगत क्षेत्र फल के लगभग 1/3 भाग में सिचाई की जाती है और शेष 2/3 क्षेत्र आज भी वर्षा पर आश्रित रहता है। लगभग समस्त मोटे अनाज, दालें, अधिकांश

कपास व तिलहन वर्षा पर आश्रित क्षेत्रों में बोये जाते है। अतः स्पष्ट है कि भारत में बहुचर्चित दूसरी हरित क्रान्ति सूखी-कृषि की ही क्रान्ति होगी।

(3) प्रति व्यक्ति अनाज व दालों क उपभोग में स्थिरता या गिरावट की समस्या को हल किया जाना चाहिए।

(4) फसलों की रक्षा- भारत में प्रति फसल का एक बड़ा हिस्सा टिड्डियों, चूहों, कीड़ों, फसलों क रोगों से नष्ट हो जाते है। कीड़े मारने की दवाओं के प्रयेग से भी फसलों को रोग नहीं लगता। फसलों को बाढ़, अनावृष्टि व अन्य खतरों से बचाने के लिए इनका बीमा कराया जाना चाहिए। इनका सुरक्षित भण्डार किया जाए।

(5) संस्थागत परिर्वतन- इनके अन्तर्गत भूमि-सुधार व बिक्री-सम्बन्धी नये संगठनों आदि का समावेश किया जाता है। सहकारी संयुक्त खेती करनी चाहिए।

(6) विस्तार कार्यो के लिए प्रभावशाली संगठन-केवल संस्थागत परिर्वतन से ही काम नही चलेगा, बल्कि सरकारी व गैर-सरकारी संस्थाओं जैसे ग्राम पंचायतों, सहकारी संगठनों, जिला ग्रामीण-विकास-ऐजेन्सियों ;क्त्क्।द्ध आदि को अधिक सक्रिय व सफल बनाया जाना चाहिए। कृषिकों को कृषिगत साधन खाद, बीज, कीटनाशक दवाएँ आदि उचित समय पर उचित मूल्यों पर उचित मात्रा में उपलब्ध की जानी चाहिए। इस सम्बन्ध में प्रशासनिक कार्य कुशलता बढ़नी चाहिए।

(7) देश व्यापी सार्वजनिक वितरण की प्रणाली का महत्व प्रदान किया जाए।

(8) उपयोग में सुधार एवं परिर्वतन किया जाना चाहिए।

(9) जनसंख्या का नियन्त्रण- जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण स्थापित किये बिना खाद्यान्नों में स्थायी आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में कठिनांई होगी।

(10) खाद्यान्नों के लिए आर्थिक सहायता कम करने की आवश्यकता।

(11) खाद्यान्नों के सम्बन्ध में उचित मूल्य नीति की आवश्यकता एवं निजी संस्थान क्रय को बढ़ावा देना।

(12) अधिक स्थिर व अपेक्षाकृत अधिक स्थायी व दीर्घकालीन खाद्य नीति - की आवश्यकता खाद्य नीति के सम्बन्ध में योजना आयोग के पूर्व सदस्य तथा भारत के सुप्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो .बी .एस .मिन्हास का यह मत था कि "एक स्थिर खाद्य-नीति के अभाव में खाद्यान्नों के उत्पादन के क्षेत्र में हमारी कमियाँ और भी तीव्र हो जाती है।

हमारी खाद्य नीति काफी अस्थिर भी रही है। एक वर्ष खुले बाजार में खरीद, दूसरें वर्ष एकाधिकार खरीद, तीसरे वर्ष व्यापारियों व मिलर्स पर लेवी और चौथें वर्ष में इनमें से कुछ का मिश्रण तथा पाँचवें वर्ष में पुनः इनमें से किसी भी एक पर वापस चले जाने की स्थिति आदि। इस प्रकार पिछली शताब्दी में एक स्थाई व स्थिर खाद्य-नीति की कमी ने हमें बहुत हानि पहुँचाई है। इसी के फलस्वरूप हमें खाद्यान्नों के आयात की शरण लेनी पड़ी है, जिसमें दीर्घकाल तथा रियायती शर्तो पर पी .एल .480 के आयात व आजकल व्यावसायिक आयात भी शामिल होते है।"

राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन - इसका प्रारम्भ रबी मौसम 2007-08 से केन्द्र प्रायोजित योजना के रूप में हुआ। इसका उद्देश्य 11वीं योजना) 2007-12) के अन्त तक चावल, गेहूँ और दलहनों का उत्पादन क्रमशः 10, 8 और 2 मिलियन टन करना, रोजगार सृजन तथा किसानों के विश्वास की बहाली।

- यह योजना कृषि एवं सहकारिता विभाग, कृषि मंत्रालय द्वारा संचालित होती है।
- वर्तमान में यह देश के 17 राज्यों के 476 चिन्हित जिलों में कार्यान्वित की जा रही है।
- इस मिशन के तीन प्रमुख संघटक हैं एन.एफ.एस.एम-.चावल, एन.एफ.एस.एम-.गेहूँ तथा एन.एफ.एस.एम-.दलहन।
- इसके तहत क्षेत्र विस्तार और उत्पादकता संवर्द्धन, मृदा उर्वरता एवं उत्पादकता की वापसी, रोजगार अवसरों के सृजन, किसानों में आत्मविश्वास की वापसी तथा कृषि स्तर की मितव्ययिता के संवर्धन के जरिए उत्पादन वृद्धि के प्रयास किये जा रहे हैं।
- 2010-11 से नई पहल के रूप में ए3पी एन.एफ.एस.एम-.दालों के भाग के रूप में शुरू हुआ। इसके तहत तूर, उड़द, मूंग, चना और मसूर सहित सम्भावित दलहन क्षेत्र का 1 मिलियन हेक्टेयर सघन खण्डों में तकनीकी के बड़े स्तर पर प्रदर्शन के लिए लिया गया है।
- राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन देश के 17 राज्यों के 476 चिन्हित जिलों में कार्यान्वित की जा रही है।

अभ्यास प्रश्न 2

1. खाद्य सुरक्षा से क्या आशय है ?
2. राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन को संक्षेप में बताइए ?

8.13 सांराश

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् यह जान चुके हैं कि आर्थिक समस्याओं में सर्वाधिक प्रमुख समस्या मुद्रा स्फीति है। अर्थव्यवस्था को मुद्रा स्फीति के जाल से निकाला जाय तथा देश में तीव्र तथा आत्मनिर्भर आर्थिक विकास लाया जाए इसलिए नियोजन काल में मिश्रित आर्थिक प्रणाली को चुना गया। मुद्रा स्फीति की माप के लिए दो प्रतिमानों का प्रयोग किया जाता है। तथापि इन समस्याओं को दूर करने के लिए सरकार को अभी और गम्भीरता से अपने प्रयासों को लागू करना होगा। इस इकाई के अध्ययन से आप आर्थिक समस्याओं में सर्वाधिक प्रमुख समस्या मुद्रा स्फीति के कारणों,निवारण के उपाय एवं उसके प्रभाव की व्याख्या कर सकेंगें ।खाद्य समस्या का स्वरूप क्या है ।खाद्य समस्या के कारणों एवं भारत सरकार की खाद्य नीति और भारतीय अर्थव्यवस्था के लिए एक उचित खाद्य नीति का विवेचन इस इकाई में किया गया है।

8.14 शब्दावली

खाद्य सुरक्षा-खाद्य सुरक्षा से तात्पर्य है कि लोगो को व्यावहारिक और आर्थिक तौर पर खाद्यान्न उपलब्ध कराना।

खाद्य सहायता-यह उपभोक्ता सहायता और सुरक्षित भंडार के वहन मूल्य का कुल योग होता हैं।

8.15 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 2

1-देखिए 8.8, 2- देखिए 8.12।

8.16 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. Kapila, Uma (2008-09), India's Economic Development Since 1947, Academic Foundation.
2. Misra and Puri, Indian Economy (2010) Himalaya Publishing House.
3. Mishra, S.K. and V.K. Puri (2010) Problems of Indian Economy, Himalaya Publishing House.
4. Rao, Hanumantha C.H. (2006) Agriculture, Food Security Poverty and Environment, Oxford University Press.
5. दत्त, रूद्र एवं केएम.पी सुन्दरम (2010), भारतीय अर्थ व्यवस्था, एसचन्द एण्ड कम्पनी लि . नई दिल्ली।
6. लाल एस .के.एवं एस .एन.लाल (2010) भारतीय अर्थ व्यवस्था सर्वेक्षण तथा विश्लेषण -, शिवम् पब्लिशर्स, इलाहाबाद।

8.17 सहायकउपयोग पाठ्य सामग्री/

- www.ibef.org/economy/agriculture.aspx
- www.economywatch.com/database/agriculture.
- business.gov.in/indian_economy/agriculture
- आर्थिक सर्वेक्षण (विभिन्न अंक, वित मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली।
- कुरूक्षेत्र (विभिन्न अंक), ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
- योजना योजना आयोग (विभिन्न अंक), नई दिल्ली।

8.18 निबन्धात्मक प्रश्न

1. खाद्य सुरक्षा से क्या आशय है?इस समस्या से निवारण हेतु सरकार ने क्या कदम उठायें स्पष्ट कीजिए

इकाई 9—कृषि उत्पादन फलन और आगत—निर्गत सम्बन्ध

इकाई संरचना

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 उत्पादन फलन
9.4 उत्पादन फलन की मान्यताएँ
9.5 उत्पादन फलन की विशेषताएँ
9.6 उत्पादन फलन के प्रकार
  9.6.1 बढ़ता हुआ उत्पादन फलन
  9.6.2 घटता हुआ उत्पादन फलन
9.7 आगत—निर्गत सम्बन्ध या साधन उत्पाद सम्बन्ध
9.8 अभ्यास प्रश्न
9.9 सारांश
9.10 शब्दावली
9.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.14 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

उत्पादन फलन, सम्बन्ध एवं नियम से सम्बन्धित यह नवाँ इकाई है। इससे पहले की इकाई में आप खादय सुरक्षा एवं इसके विभिन्न पहलुओं की प्रकृति तथा उद्देश्य के बारे में ज्ञान प्राप्त किये।

प्रस्तुत इकाई में उत्पादन फलन एवं आगत–निर्गत सम्बन्ध के बारे में विस्तार से लिखा गया है। किसान को अधिकतम लाभ कैसे प्राप्त हो। इसको उदाहरण के द्वारा समझाया गया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप उत्पादन फलन को समझा सकेंगे तथा कुल उत्पादन एवं सीमान्त उत्पाद में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे। इसके अलावा आप आगत–निर्गत के उद्देश्य एवं सम्बन्ध का सम्यक् विश्लेषण कर सकेंगे।

9.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि–

- उत्पादन फलन क्या है?
- आगत–निर्गत सम्बन्ध किस प्रकार से किसान को अधिकतम लाभ प्राप्त करने में मदद करता है।
- बढ़ता हुआ उत्पादन फलन एवं घटता हुआ उत्पादन में क्या अन्तर है?

9.3 उत्पादन फलन

उत्पादन एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उत्पादन कार्य उत्पादन के अनेक साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी, साहस तथा संगठन) के सामूहिक सहयोग एवं साधनों के एक विशेष सम्मिश्रण (combination) से सम्पन्न किया जाता है। उत्पादन के साधनों को अर्थशास्त्र की भाषा में आगत अथवा आदा (Input) कहा जाता है तथा उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं को निर्गत अथवा प्रदा (Output) कहते है। किसी फर्म के उत्पादों तथा आगतों के बीच के सम्बन्ध को उत्पादन फलन कहते है। उत्पादन फलन यह बताता है कि एक दिये हुए तकनीकी ज्ञान और प्रबन्ध योग्यता की सहायता से आगतों के विभिन्न संयोजन से उत्पादन की अधिकतम मात्रा किस प्रकार प्राप्त कर सकता है। संक्षेप में, उत्पादन फलन आगत और इसके परिणामस्वरूप उत्पादित निर्गत के बीच का भौतिक सम्बन्ध है। स्पष्टतया उत्पादन फलन उत्पादन संभावनाओं की वह अनुसूची या सारणी है जो यह बताती है कि आगतों के विभिन्न संयोगों से निर्गत की कितनी मात्रा प्राप्त होती है जबकि प्रौद्योगिकी दी गई हो। उत्पादन फलन शुद्ध रूप से निर्गत–आगत के तकनीकी सम्बन्ध को दर्शाता है। यह अनुपात के नियम की चर्चा करता है, जिसमें आगत को एक निश्चित अवधि में निर्गत में परिवर्तन या रूपान्तरण करने का कार्य करता है। इस तकनीकी सम्बन्ध को फलन के रूप में इस प्रकार लिखा जा सकता है।

$$O = f(I)$$

जहाँ O = वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन है; अथवा निर्गत है,

I = उत्पादन के साधन अथवा आगत है जिसके द्वारा वस्तुओं एवं सेवाओं का उत्पादन किया जाता है।

F = फलन है, जिसका अर्थ है आश्रित (depends upon) इस प्रकार स्पष्ट है कि निर्गत, आगतों का फलन (Output is a function of input) है। यदि उदाहरण के लिए मान लें के आगत केवल 'श्रम एवं पूँजी' है, तब हम लिख सकते है :

$O = f(L,C)$ जहाँ, L = श्रम, C = पूँजी' है

साधारण भाषा में यह समीकरण यह बताता है कि उत्पादन की मात्रा श्रम तथा पूँजी पर निर्भर है। इस समीकरण में यह माना गया है कि उत्पादन के लिए दो साधनों का प्रयोग किया गया है। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं होता है। उदाहरणतया, एक किसान अपने फसल के उत्पादन के लिए श्रम एवं पूँजी के अतिरिक्त वह अन्य कई साधनों जैसे कि बीज, उर्वरक, सिंचाई, भूमि के उपजाऊपन इत्यादि पर निर्भर करता है। इस प्रकार के उत्पादन फलन को नीचे दिये हुए ढ़ग से लिखा जा सकता है :

$$O = f(x_1, x_2, x_3, \ldots\ldots x_n)+U$$

इस उत्पादन फलन का अर्थ है कि उत्पादन (O) की मात्रा कई साधनों जैसे (x_1, x_2, x_3,.....) आदि पर निर्भर करती है। उत्पादन फलन में लिखे गये अक्षर (U) का अर्थ है, कुछ 'अन्य अनियन्त्रित कारण' जो कि उत्पाद की मात्रा को प्रभावित करते है। यह समीकरण केवल यह दर्शाता है कि साधनों की मात्रा में परिवर्तन करने से उत्पादन में भी परिवर्तन आता है। परन्तु प्रश्न यह है कि साधनों की मात्रा के परिवर्तन से, वास्तव में, उत्पादन में कितना परिवर्तन होगा। उदाहरणस्वरूप, एक किसान इस बात को जान लेने से संतुष्ट नहीं होगा कि किसी फसल का उत्पादन बीजों, उर्वरक, सिंचाई आदि के प्रयोग पर निर्भर करता है। वह तो उत्पादन (निर्गत) तथा उत्पादन के साधन (आगत) के बीच के मात्रिक सम्बन्ध को जानना चाहेगा। इसलिए अन्त में, इस उत्पादन फलन को एक मात्रिक सम्बन्ध दर्शाने वाले समीकरण (algebric expression) के रूप में दिखाना आवश्यक हो जाता है। उदाहरणस्वरूप,

$$O = a+bx_1$$

यह बताता है कि उत्पादन (O) की मात्रा, साधन x_1 की मात्रा बढ़ने पर कितनी बढ़ेगी। इस उत्पादन फलन में अचल (fixed) साधनों को नहीं दिखाया गया है।

तालिका 9.1 में उत्पादन फलन का एक संख्यात्मक उदाहरण दिया गया है। बायाँ कालम कारक 1 की मात्रा जिसमें श्रमिक की मात्रा को दिखाया गया है तथा उपर की पंक्ति कारक/आगत 2 जिसमें पूँजी की मात्रा को दिखाया गया है। जैसे–जैसे हम किसी भी पंक्ति में दायीं तरफ जाते हैं, कारक 2 में वृद्धि होती है तथा जैसे–जैसे हम किसी भी कॉलम में नीचे की तरफ जाते है तो कारक 1 में वृद्धि होती है। दोनों कारकों के विभिन्न मानों के लिए, तालिका तद्नुरूप निर्गत स्तर दर्शाती है। उदाहरण के तौर पर, कारक 1 की एक इकाई तथा कारक 2 की 1 इकाई के साथ अधिक निर्गत की 2 इकाई श्रमिक की

तालिका 9.1 : उत्पादन फलन

कारक / आगत 1	कारक / आगत 2					
	पूंजी / मशीनों की संख्या					
श्रमिकों की संख्या	0	1	2	3	4	5
0	0	0	0	0	0	0
1	0	2	4	6	8	10
2	0	4	6	8	10	12
3	0	6	8	10	12	14
4	0	8	10	12	14	16
5	0	10	12	14	16	18

पूँजी की 5 इकाई के साथ निर्गत की 10 इकाई, कारक 2 या पूँजी की 4 इकाई तथा श्रमिक की 3 इकाई के साथ निर्गत की 12 इकाई, पूँजी की 4 इकाई तथा श्रमिक की 4 इकाई के साथ निर्गत की 14 इकाई का उत्पादन करता है। इसी तरह आगतों के विभिन्न संयोग से आगे भी उत्पादन किया जाता है। इस तालिका से अब आप समझ गये होगें कि उत्पादन कलन क्या है और आगतों के विभिन्न संयोग से किस तरह निर्गत प्राप्त होता है।

9.4 उत्पादन फलन की मान्यताएँ

उत्पादन फलन की धारणा निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

- उत्पादन के साधनों की एक विशेष मात्रा, उत्पाद की केवल एक ही मात्रा को निर्मित कर सकती है, किसी अन्य को नहीं;
- उत्पादन की भिन्न–भिन्न मात्रा को निर्मित करते समय उत्पादन की टैक्नॉलोजी (technology) में कोई परिवर्तन नहीं होता है;
- उत्पादन फलन एक निश्चित समय से सम्बन्धित होता है,
- फर्म उपलब्ध कुशलतम तकनीक प्रयोग करती है।

9.5 उत्पादन फलन की विशेषताएँ

उत्पादन फलन की विशेषताएँ निम्नलिखित है–

- एक उत्पादन फलन, एक दी हुई प्रौद्योगिकों के लिए परिभाषित किया जाता है। यह प्रौद्योगिकीय ज्ञान है जो निर्गत के अधिकतम स्तरों को निर्धारित करता है जिसका उत्पादन आगतों के विभिन्न संयोगों को उपयोग में लाकर किया जाता है,

- यदि प्रौद्योगिकी में सुधार होता है, तो विभिन्न आगत संयोगों में वृद्धि से प्राप्त होने वाले निर्गत के अधिकतम स्तरों को प्राप्त की जा सकती है। तब हमें एक नवीन उत्पादन फलन प्राप्त होता है;
- अल्पकालीन उत्पादन फलन में फर्म सभी आगतों में परिवर्तन नहीं कर सकता है। निर्गत स्तर में परिवर्तन लाने के लिए फर्म केवल परिवर्ती आगत में परिवर्तन करता है जबकि स्थिर आगत स्थिर रहती है;
- दीर्घकालीन उत्पादन फलन में फर्म उत्पादन के सभी साधनों (कारकों) में परिवर्तन ला सकता है; एक फर्म निर्गत के विभिन्न स्तरों का उत्पादन करने के लिए, दीर्घकाल में दोनों कारकों 'स्थिर एवं परिवर्ती' में साथ–साथ परिवर्तन ला सकती है। अतः दीर्घकाल में कोई भी स्थिर आगत नहीं होती है;
- उत्पादन फलन का कार्य उत्पादन की भौतिक मात्रा (physical quantities of outputs) तथा साधनों की भौतिक मात्रा (physical quantities of inputs) के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या करना है;
- उत्पादन का सिद्धान्त उत्पादन के नियम की चर्चा करता है। कुशलतम तकनीक में से किसी एक विशेष तकनीक का चुनाव, कीमत पर निर्भर करता है न कि तकनीक पर। यहाँ पर आप को बता दें कि एक कुशलतम तकनीक विधि जरूरी नहीं है कि आर्थिक दृष्टि से भी कुशलतम हो;
- उत्पादन फलन स्थैतिक अर्थशास्त्र का विषय है क्योंकि यह (उत्पादन फलन) तकनीकी ज्ञान का स्तर, साधनों की कीमतों तथा समयावधि को निश्चित मानकर कार्य करता है।

9.6 उत्पादन फलन के प्रकार :

अभी तक आप समझ गये होगें कि उत्पादन फलन, उत्पाद की मात्रा तथा साधन की मात्रा के बीच एक विशेष सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है। साधरणतया, उत्पादन फलन दो प्रकार के होते हैं–

1. बढ़ता हुआ उत्पादन फलन, तथा
2. घटता हुआ उत्पादन फलन

9.6.1 बढ़ता हुआ उत्पादन फलन

साधनों की मात्रा के बढ़ने पर जब उत्पाद की की कुल मात्रा में भी वृद्धि होती है तो ऐसे उत्पादन फलन को एक बढ़ता हुआ उत्पादन फलन कहा जाता है। बढ़ता हुआ उत्पादन फलन को तीन श्रेणीयों में बाँट सकते है –

(अ) बढ़ता हुआ उत्पादन फलन जिसमें एक चल साधन का सीमान्त प्रतिफल बढ़ता जाता है– ऐसे उत्पादन फलन में चल साधन या परिवर्ती आगत में प्रत्येक इकाई के लगाने से कुल उत्पादन में वृद्धि होती है तथा सीमान्त उत्पाद में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है। आगत की मात्रा तथा निर्गत की मात्रा में यह सम्बन्ध तब प्रकट होता है जब चल साधन के साथ प्रयोग किये जा रहे अचल या स्थिर साधन का पूर्ण क्षमता तक प्रयोग नहीं हुआ

होता है इसलिए चल साधन में वृद्धि करने से स्थिर साधन की अप्रयुक्त क्षमता का प्रयोग होने लगता है फलस्वरूप बढ़ते हुए उत्पादन के साथ–साथ सीमान्त उत्पाद या सीमान्त प्रतिफल में भी वृद्धि होने लगती है। नीचे दी हुई तालिका का इस प्रकार के उत्पादन फलन को स्पष्ट कर रही है

तालिका 9.2

X	धान की बीज	1	2	3	4	5
	की मात्रा (किलोग्राम)					
Y	i धान का कुल उत्पादन (Kg.)	2	5	10	16	24
	Ii धान का सीमान्त उत्पादन (Kg.)	-	3	5	6	8

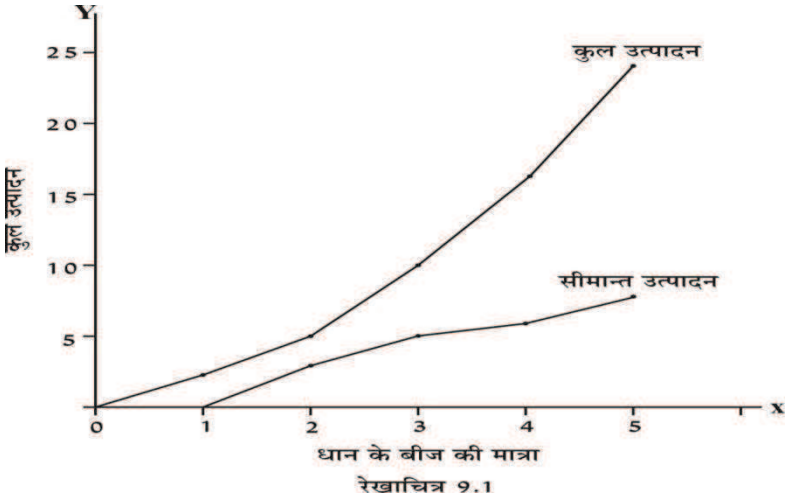

रेखाचित्र 9.1

रेखाचित्र 9.1 में स्पष्ट है कि चल साधन (धान की बीज) जिसे X अक्ष पर दिखाया गया है। चल साधन में वृद्धि के फलस्वरूप कुल उत्पाद में वृद्धि हो रही है जिससे कुल उत्पाद वक्र ऊपर की ओर उठता जा रहा है। इस प्रकार यह वक्र नीचे की x अक्ष (axis) की ओर उत्तल (convex) हो जाता है। रेखाचित्र में स्पष्ट है कि बढ़ते हुए उत्पादन फलन में एक चल साधन का सीमान्त प्रतिफल बढ़ता जा रहा है, जिसे सीमान्त उत्पादन से दिखाया गया है। आप को यहाँ पर ध्यान देना होगा कि जब स्थिर साधन अपने पूर्ण क्षमता तक पहुँच जाता है तब चल साधन की अतिरिक्त मात्रा सीमान्त प्रतिफल में वृद्धि नहीं ला पाती है।

(ब) बढ़ता हुआ उत्पादन फलन, जिसमें एक चल साधन का सीमान्त प्रतिफल नियत/स्थिर (constant) रहता है– इस उत्पादन फलन में, परिवर्ती साधन या चल साधन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से प्राप्त होने वाली कुल उत्पादन में वृद्धि होती है परन्तु सीमान्त प्रतिफल नियत रहती है। इसे रेखाचित्र 9.2 एवं तालिका 9.3 में दर्शाया गया है।

तालिका 9.3

उर्वरक की मात्रा किलो (X)	धान का कुल उत्पादन किलो (Y)	सीमान्त उत्पादन (kg)
0	5	–
5	10	5
10	15	5
15	20	5
20	25	5
25	30	5

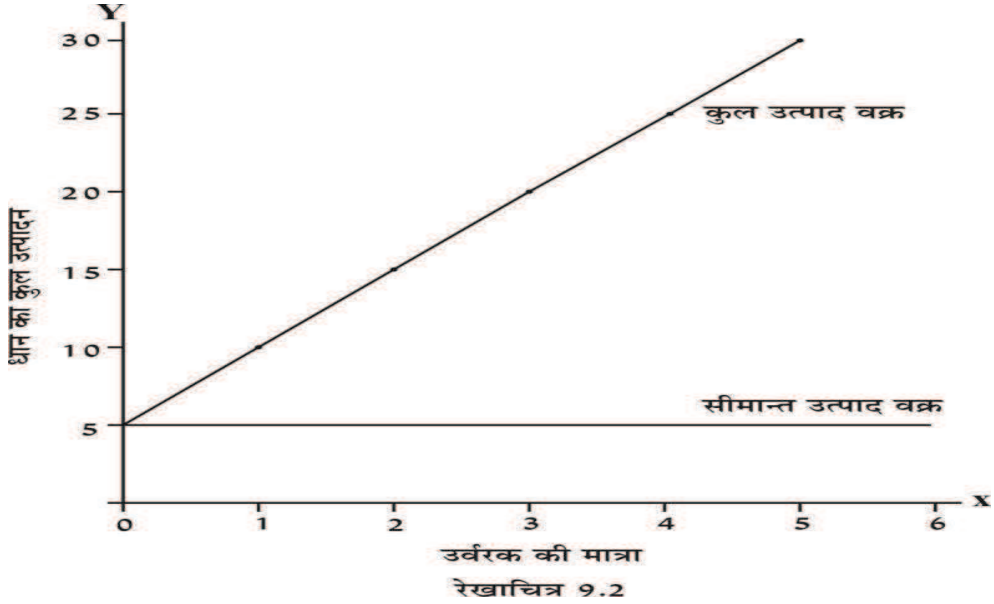

रेखाचित्र 9.2

रेखाचित्र 9.2 में X अक्ष (axis) पर उर्वरक की मात्रा में वृद्धि करने से Y अक्ष (axis) पर धान की कुल मात्रा में वृद्धि हो रही है जिसे कुल उत्पाद वक्र से दिखाया गया है। कुल उत्पादन में वृद्धि एक स्थिर मात्रा में हो रही है। उदाहरण के लिए उर्वरक की 5 किलो ग्राम की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से धान के उत्पादन में प्रत्येक बार 5 किलो ग्राम की वृद्धि होती है जिसे कुल उत्पादन वक्र से दिखाया गया है। फलस्वरूप चल साधन का सीमान्त प्रतिफल स्थिर है, जिसे सीमान्त उत्पादन वक्र से दर्शाया गया है।

(स) बढ़ता हुआ हुआ उत्पादन फलन, जिसमें चल साधन का सीमान्त प्रतिफल घटता जाता है– इस प्रकार के उत्पादन फलन में कुल उत्पादन, एक परिवर्ती साधन के बढ़ने पर बढ़ता जाता है। परन्तु इसमें परिवर्ती/चल साधन की प्रत्येक इकाई की वृद्धि से कुल उत्पादन में होने वाली वृद्धि उत्तरोत्तर घटती जाती है। फलस्वरूप चल साधन की अतिरिक्त इकाई का

सीमान्त प्रतिफल घटता जाता है। ऐसे उत्पादन फलन को तालिका 9.4 एवं रेखाचित्र 9.3 में दिखाया गया है।

तालिका 9.4

धान की बीज की मात्रा (किग्रा.)	0	1	2	3	4	5
धान का कुल उत्पादन (किग्रा.)	0	30	55	70	80	85
सीमान्त उत्पादन (किग्रा.)	—	30	25	15	10	05

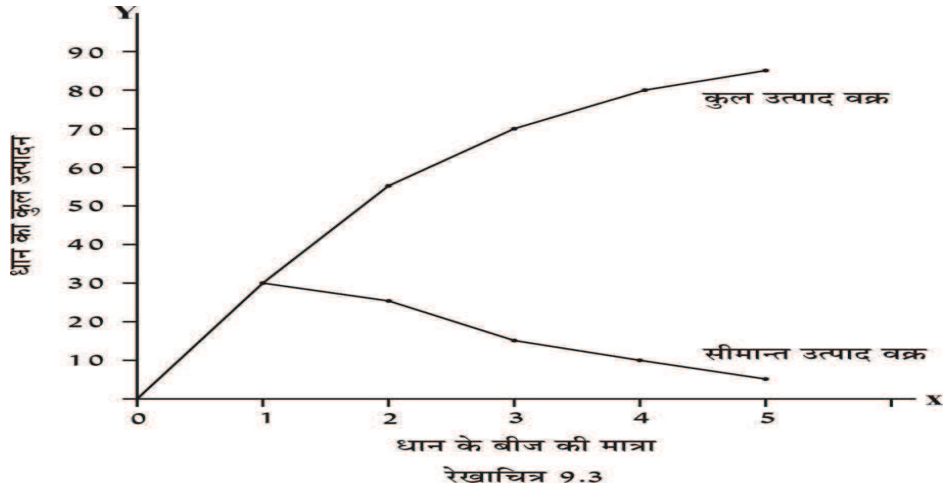

रेखाचित्र 9.3

रेखाचित्र 9.4 में स्पष्ट है कि आगत में अतिरिक्त इकाई की वृद्धि से कुल उत्पादन में होने वाली वृद्धि में कमी होने लगती है फलस्वरूप चल साधन का सीमान्त उत्पादन एक नीचे की और अर्थात् दाहिनें तरफ की ओर गिरता जाता है। इस तरह के उत्पादन फलन में चल साधन के अतिरिक्त इकाई का सीमान्त प्रतिफल घटता जाता है।

9.6.2 घटता हुआ उत्पादन फलन

घटता हुआ उत्पादन फलन के अन्तर्गत चल साधनों की मात्रा के बढ़ने पर, उत्पाद की कुल मात्रा में कमी आती है। फलस्वरूप चल साधन का सीमान्त प्रतिफल नकरात्मक होता है जिसे तालिका 9.5 एवं रेखाचितत्र 9.4 में दर्शाया गया है।

तालिका 9.5

धान की बीज की मात्रा किग्रा.	0	1	2	3	4	5
धान की कुल उत्पादन किग्रा.	10	20	40	30	25	5
सीमान्त उत्पादन किग्रा.		10	20	—10	—15	—20

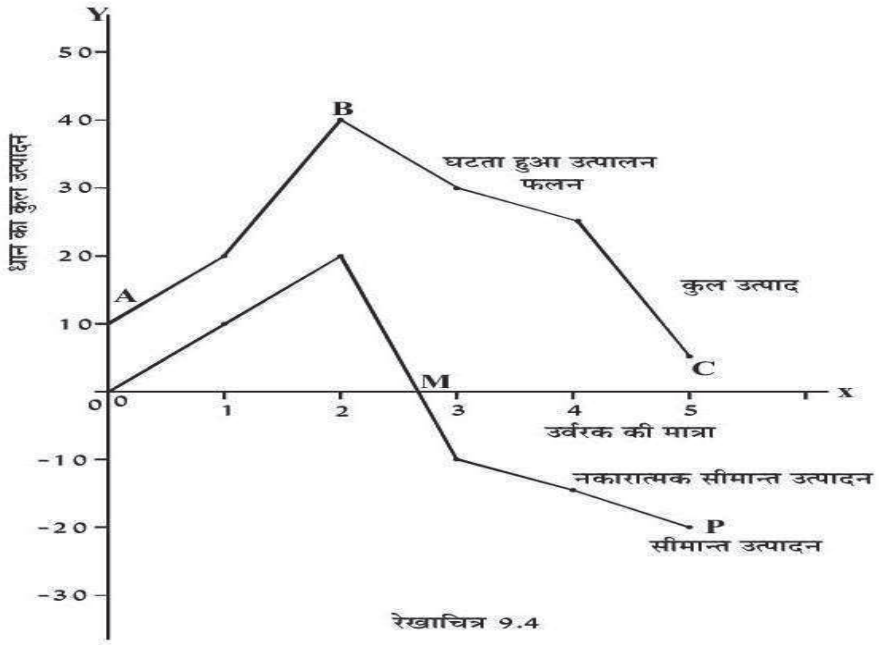

रेखाचित्र 9.4

तालिका 9.5 में उर्वरक की मात्रा में तीसरी इकाई की वृद्धि से कुल उत्पादन घटने लगा है जिसे वक्र BC से दिखाया गया है जो कुल उत्पादन ABC का एक भाग है जिसमें कुल उत्पादन गिर रहा है। दूसरी इकाई के बाद चल साधन की मात्रा में वृद्धि से कुल उत्पादन घटता है तथा सीमान्त उत्पाद नकरात्मक हो जाता है जिसे रेखाचित्र 9.4 में MP वक्र से दिखाया गया है। कोई भी विवेकशील उत्पादक, घटते हुए उत्पादन फलन के क्षेत्र में (अर्थात् जब साधन के बढ़ने पर कुल उत्पादन में कमी आती है), कभी भी उत्पादन नहीं करेगा।

9.7 आगत–निर्गत सम्बन्ध या साधन–उत्पाद सम्बन्ध

वास्तव में कृषि में एक बढ़ता हुआ–घटता हुआ उत्पादन फलन (Increasing-Decreasing Production function) सक्रिय होता है। ऐस उत्पादन फलन के बढ़ते हुए भाग में सबसे पहले प्रयोग किये जा रहे परिवर्ती साधन (Variable factor) का सीमान्त प्रतिफल बढ़ता जाता है। फलस्वरूप, किसान को बढ़ता हुआ उत्पादन फलन प्राप्त होता है जिसका प्रमुख कारण है कि परिवर्तनशील साधन बढ़ने पर स्थिर साधनों का इष्टतम विदोहन (optimum utilisation) संभव हो पाता है। बढ़ता हुआ–घटता हुआ उत्पादन फलन के सन्दर्भ में, आगत–निर्गत सम्बन्ध (Input-Output Relation) को अनुकूलतम बनाने वाली आवश्यक शर्तों को ढूंढने की चेष्टा करेंगे। इस उद्देश्य के लिए हम तालिका 9.6 एवं रेखाचित्र 9.5 पर एक दृष्टि डालते है। यहाँ पर हम यह मान कर चल रहे है कि चल साधन मजदूर/प्रति श्रमिक की मजदूरी रू0 100 है एवं गेहूँ की कीमत रू0 4 प्रति कि0 ग्रा0 है।

तालिका 9.6

स्थिर साधन	परिवर्ती साधन श्रमिक	कुल उत्पादन गेहूं (किग्रा.)	सीमान्त उत्पादन	लागत मजदूरी	कुल आय (रु. 4 प्रति किग्रा.)	लाभ	सीमान्त आय
1	2	3	4	5	6	7	8
1	1	100	—	100	400	300	—
1	2	400	300	200	1600	1400	1200
1	3	600	200	300	2400	2100	800
1	4	700	100	400	2800	2400	400
1	5	800	100	500	3200	2700	400
1	6	800	00	600	3200	2600	00
1	7	700	—100	700	2800	2100	—400
1	8	500	—200	800	2000	1200	—800

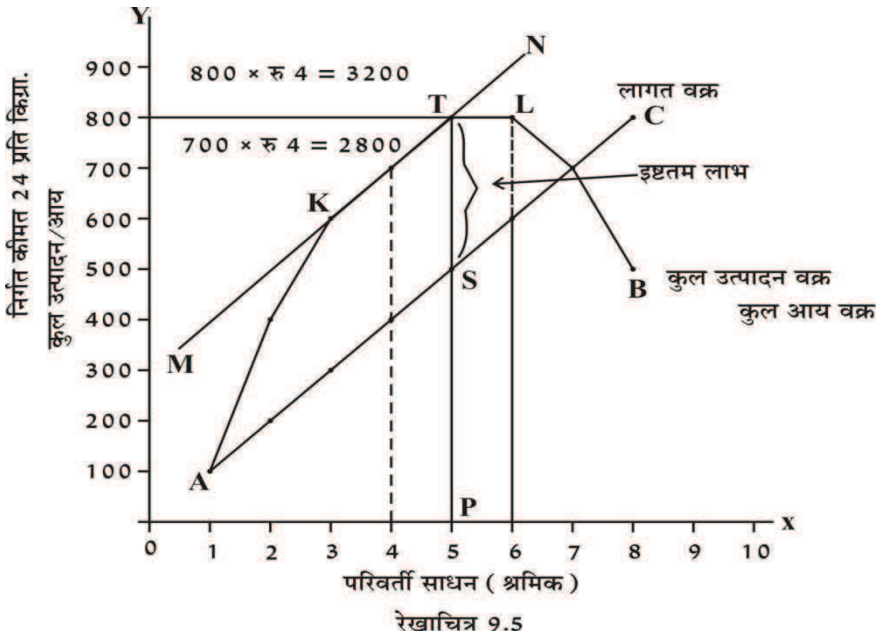

रेखाचित्र 9.5

रेखाचित्र 9.5 में स्थिर साधन के साथ परिवर्ती साधन में परिवर्तन करने से कुल वस्तुपरक उत्पादन में वृद्धि हो रही है तथा शुरू में सीमान्त प्रतिफल में भी वृद्धि हो रही है (देखें तालिका 9.6) जब आगत (श्रमिक) की मात्रा में वृद्धि करते है तो कुल निर्गत (उत्पादन) में वृद्धि होती है। उदाहरणार्थ जब श्रमिक की एक अतिरिक्त इकाई लगाते है तो इस अतिरिक्त श्रमिक (आगत) का सीमान्त उत्पादन 300 इकाई है अर्थात् स्थिर आगत के

साथ परिवर्तनशील आगत में वृद्धि करने से कुल परिवर्ती आगत 2 (श्रमिक) पर कुल निर्गत 400 किलोग्राम है। अब किसान के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि वह परिवर्ती आगत में स्थिर साधन के साथ कब तक परिवर्तन करता रहेगा जिससे उसे ज्यादा से ज्यादा वस्तुपरक उत्पादन प्राप्त हो सके। इसका उत्तर तालिका 9.6 में तथा रेखाचित्र 9.5 में दर्शाया गया है। आगत की पाँचवी इकाई का कुल आय 3200 किलोग्राम है। जिसे रेखाचित्र 9.5 में X अक्ष पर आगत की पाँचवी इकाई को बिन्दु P से दिखाया गया है तथा Y अक्ष पर निर्गत की मात्रा 800 किलोग्राम को बिन्दु T से दिखाया गया है। रेखाचित्र 9.5 में ST की मात्रा, किसान के अधिकतम लाभ को दिखा रही है। श्रमिक की पाँचवीं इकाई तक उत्पादन चलता रहेगा क्योंकि चल साधन की कुल पाँच इकाई पर कुल 800 कि0 ग्रा0 का उत्पादन हो रहा है। अब आप कह सकते है कि आगत की 6 इकाई की मात्रा पर भी तो गेहूँ का उत्पाद 800 कि0 ग्रा0 है। इसको भी तो वस्तुपरक उत्पादन लाभ से दिखाया जा सकता है। इसको आप वस्तुपरक उत्पादन लाभ नहीं कह सकते है क्योंकि श्रमिक की 6 इकाई की मात्रा पर कुल उत्पादन 800 कि0 ग्रा0 है परन्तु इस अतिरिक्त इकाई का सीमान्त उत्पाद शून्य है जबकि श्रमिक की पाँचवी इकाई का सीमान्त उत्पादन 100 कि0 ग्रा0 है। इस आधार पर आप यह भी प्रश्न पूछ सकते हैं कि चौथी इकाई का सीमान्त उत्पादन 100 कि0 ग्रा0 है तो फिर यह क्यों नहीं अधिकत वस्तुपरक उत्पादन हो सकता है। परिवर्ती साधन की चौथी इकाई का सीमान्त उत्पाद 100 कि0 ग्रा0 है परन्तु यहाँ पर कुल उत्पादन मात्र 700 किग्रा. है जो कि 800 कि0 ग्रा0 से कम है। इसलिए इसे हम अधिकतम उत्पादन नहीं कह सकते है।

रेखाचित्र 9.5 में AKTLB वक्र कुल उत्पादन वक्र है। हमारी पूर्ण प्रतियोगिता की मान्यता के आधार पर उत्पाद की प्रत्येक इकाई का मूल्य एक समान रहता है जिसे यहाँ पर हमने गेहूँ प्रति किलो कीमत रू0 4 रखे हैं। हमें वस्तुपरक उत्पादन को मुद्रा के रूप में इसलिए परिवर्तन करना पड़ा है क्योंकि अब हमारा उद्देश्य लाभ तथा इसके अधिकतम स्तर को निश्चित करना है तथा इसके लिए कुल उत्पादन की वस्तुपरक इकाईयों तथा साधनों की कुल इकाईयां, दोनों को ही मुद्रा के रूप में तालिका 9.6 में कॉलम संख्या 6 एवं 5 में क्रमशः दिखाया गया है रेखाचित्र में लाईन AC लगता वक्र है जो गेहूँ के उत्पादन में लगे चल साधन की भिन्न–भिन्न इकाईयों की प्रति श्रमिक लागत को दर्शा रहा है। रेखाचित्र में दो वक्रों अर्थात् कुल आय वक्र (AB) और कुल लागत वक्र (AC) की सहायता से, उस बिन्दु का पता लगा सकते है जो कि किसी किसान के अधिकतम लाभ का प्रतीक है। कुल आय वक्र की जगह इस रेखाचित्र में कुल उत्पादन वक्र है क्योंकि X अक्ष पर आगत की मात्रा है तथा Y अक्ष पर निर्गत की मात्रा को दर्शाया गया है परन्तु कुल उत्पादन वक्र से कुल आय प्राप्त किया जा सकता है कुल आय प्राप्त करने के लिए कुल उत्पादन को उसके प्रति इकाई के मूल्य से गुना कर रहे है। किसान को अधिकतम लाभ बिन्दु (T) पर प्राप्त होगा जहाँ दोनों वक्र (कुल आय एवं कुल लागत वक्र) के बीच की अनुलम्वता (Vertically) का अन्तर अधिक होगा। रेखाचित्र में यह बिन्दु वहॉ होता है जहॉ दोनों

वक्र की स्पर्श रेखा (Tangent) समानान्तर होती है या दूसरे शब्दों में, दोनों स्पर्श रेखाओं का ढ़ाल का माप एक समान हो। अधिकतम लाभ बिन्दु ST पर प्राप्त होती है क्योंकि बिन्दु ST पर लाभ=बिन्दु T- बिन्दु S (लाभ=कुल आय–कुल लागत)=रू0 2700=(800 कि0 ग्रा0 × रू0 4)–500 (5 श्रमिक × रू100) आगत–निर्गत का अधिकतम लाभ बिन्दु T पर श्रमिक की 5 इकाई पर प्राप्त हो रहा है। आगत–निर्गत सम्बन्ध ''किसी वस्तु का कितना उत्पादन करना चाहिए'' जैसे समस्याओं का समाधान करता है।

9.8 अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न
   - (क) उत्पादन फलन क्या है?
   - (ख) उत्पादन फलन की मान्यताएँ बताइये।
   - (ग) कारक 1 का कुल उत्पादन फलन क्या होगा?
   - (घ) उत्पादन फलन की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।

2. सत्य/असत्य बताइये

(क) एक आगत के प्रयोग के किसी भी स्तर के लिए, सीमांत उत्पादों का कुल जोड़, उस आगत की प्रति इकाई प्रयोग के स्तर पर, उस आगत के लिए कुल उत्पाद प्रदान करता है।

(ख) उत्पादन फलन आगतों के केवल कुशल उपयोग पर ही विचार करता है।

(ग) बढ़ते हुए उत्पादन फलन में स्थिर साधन के साथ प्रथम अवस्थाओं में साधन की अतिरिक्त वृद्धि से कुल उत्पादन में गिरावट आती है

(घ) कृषि में बढ़ता हुआ घटता हुआ उत्पादन फलन सक्रिय होता है

(ड़) उत्पादन फलन की धारणा एक निश्चित समय से सम्बन्धित है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) आगत–निर्गत सम्बन्ध है–
   - (अ) साधन–उत्पाद सम्बन्ध (ब) साधन–साधन सम्बन्ध
   - (स) उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

(ख) दीर्घकाल में, सभी आगत–
   - (अ) परिवर्तनशील होत है (ब) स्थिर होते है
   - (स) स्थिर आगत के साथ चल साधन परिवर्तनशील होते हैं।
   - (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

(ग) उत्पादन के साधनों को अर्थशास्त्र की भाषा में क्या कहते है–
   - (अ) आगत (ब) आदा
   - (स) कारक (द) उपर्युक्त सभी

(घ) उत्पादन फलन की अवधारणा किन मान्यताओं पर आधारित है।
   - (अ) उत्पादन में प्रयुक्त टैक्नॉलोजी में कोई परिवर्तन नहीं होता है,

(ब) फर्म उपलब्ध कुशलतम तकनीक का प्रयोग करता है,
(स) एक निश्चित समय से सम्बन्धित है।
(द) उपर्युक्त सभी

(ड़) अल्पकाल में आगत–
(अ) परिवर्तनशील होते है (ब) स्थिर होते है
(स) स्थिर आगत के साथ परिवर्ती आगत परिवर्तनशील होते है
(द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द वाले प्रश्न

(क) कृषि में किस तरह का उत्पादन फलन सक्रिय होता है?
(ख) उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं को क्या कहते है?
(ग) उत्पादन फलन किसे कहते है?
(घ) अल्पकालीन अवधि में निर्गत स्तर में वृद्धि करने के लिए, स्थिर साधन के चल साधन का सीमान्त प्रतिफल बढ़ता जाता है। ऐसे उत्पादन फलन को क्या कहते है?

5. रिक्त स्थान भरिए

(क) उत्पादन फलन_____तथा साधन की मात्रा के बीच एक विशेष सम्बन्ध को प्रदर्शित करता है।
(ख) उत्पादन फलन आगत एवं इसके परिणामस्वरूप उत्पादित निर्गत के बीच का_ _सम्बन्ध है
(ग) एक उत्पादन फलन, एक दी हुइ_____के लिए परिभाषित किया जाता है।
(घ) कृषि में_____उत्पान फलन सक्रिय होता है।

9.9 सारांश

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकते है कि उत्पादन फलन आगत एवं इसके परिणाम स्वरूप उत्पादित निर्गत के बीच का भौतिक सम्बन्ध है। आगतों के विभिन्न सम्मिश्रण के लिए उत्पादन फलन निर्गत की अधिकतम मात्रा दर्शाता है, जिस पर उत्पादन सम्भव है। अल्पकाल में स्थिर साधन के साथ कुछ परिवर्ती साधन में परिवर्तन कर निर्गत/उत्पाद की मात्रा में वृद्धि की जाती है जबकि दीर्घकाल में निर्गत में वृद्धि करने के लिए सभी आगातों में परिवर्तन किया जा सकता है। साधारणतया, उत्पादन फलन दो प्रकार के होते है– बढ़ता हुआ उत्पादन फलन एवं घटता हुआ उत्पादन फलन। आगत की मात्रा में वृद्धि करने पर निर्गत की कुल मात्रा में वृद्धि होती जाती है। इसी को बढ़ता हुआ उत्पादन फलन कहते है जिसमें किसान अपना उत्पादन बढ़ाते जाते है। घटता हुआ उत्पादन फलन उसे कहते है जब आगत की प्रत्येक इकाई की वृद्धि के फलस्वरूप निर्गत घटता जाता है।

उत्पादन फलन को सामान्यतः इस प्रकार लिखते है– $O = f(x_1, x_2)$ यह बताता है कि आप कारक 1 की x_1 मात्रा तथा कारक 2 की x_2 मात्रा का प्रयोग कर वस्तु की अधिकतम मात्रा 0 का उत्पादन कर सकते है। उत्पादन के लिए दोनों आगत आवश्यक है।

यदि कोई भी आगत शून्य हो जाता है, तो कोई भी उत्पादन नहीं होगा। दोनों सकरात्मक आगतों के साथ, निर्गत सकरात्मक होगा।

9.10 शब्दावली

उत्पादन का कारक (Factors of Production) : उत्पादन प्रक्रिया में फर्म जिन आगतों का उपयोग करता है, उसे उत्पादन का कारक कहते हैं।

चल साधन (Variable Factor) : वे साधन जिसमें फर्म अल्पकाल में परिवर्तन कर सकता है, चल साधन कहलाता है।

अचल साधन : (Fixed Factor) वे साधन जो अल्पकाल में स्थिर रहता है अर्थात् फर्म अल्पकाल में ऐसे साधन में परिवर्तन नहीं कर पाती है। ऐसे साधन को स्थिर आगत कहते है या अचल साधन कहते है।

निर्गत : अर्थशास्त्र की भाषा में उत्पादित वस्तुओं एवं सेवाओं को निर्गत कहते है।

9.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1.(क) उत्पादन एक ऐसी प्रकिया है जिसके अन्तर्गत उत्पादन कार्य उत्पादन के अनेक साधनों (भूमि, श्रम, पूँजी, साहस तथा संगठन) के सामूहिक सहयोग एवं साधनों के एक विशेष सम्मिश्रण (combination) से सम्पन्न किया जाता है।

1.(ख) उत्पादन फलन की धारणा निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

- उत्पादन के साधनों की एक विशेष मात्रा, उत्पाद की केवल एक ही मात्रा को निर्मित कर सकती है, किसी अन्य को नहीं;
- उत्पादन की भिन्न–भिन्न मात्रा को निर्मित करते समय उत्पादन की टैक्नॉलोजी (technology) में कोई परिवर्तन नहीं होता है;
- उत्पादन फलन एक निश्चित समय से सम्बन्धित होता है,
- फर्म उपलब्ध कुशलतम तकनीक प्रयोग करती है।

1.(ग) उत्पादन फलन में, यदि हम कारक 2 को स्थिर रखते है मूल्य X_2 पर तथा X_1 के हर मूल्य के लिए कारक 1 परिवर्तित होता है, तो हम 1 का मूल्य प्राप्त करते है, विशेषत X_2 के लिए। इसे हम निम्न तरिके से भी लिख सकते है : $Q = f(x_1\bar{x}_2)$ यह कारक 1 का कुल उत्पादन फलन है। पुनः तालिका 9.1 को देखें। मान लीजिए, कारक 2,4 इकाई पर निश्चित है। अब तालिका 9.1 को देखे जहॉ कारक 2,4 मूल्य लेते है। जब हम कॉलम के नीचे जाते है, तब हम कारक 1 के विभिन्न मूल्यों के लिए निर्गत मूल्य प्राप्त करते है। यह कारक 1 का कुल उत्पाद है, जिसका मान है– X_2=4 X_1=O, कुल उत्पाद=O, X_1=1 कुल उत्पाद निर्गत की 8 इकाई है, X_1=2 कुल उत्पाद 10 इकाई है और मांगे भी इसी प्रकार है। इसे कभी–कभी कुल प्रतिफल अथवा परिवर्ती आगतों को कुल भौतिक उत्पाद भी कहा जाता है।

1. (घ) उत्पादन फलन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित है–

1. उत्पादन फलन एक दी हुई प्रौद्योगिकी के लिए परिभाषित किया जाता है।
2. अल्पकालीन उत्पादन फलन में सभी आगतों में परिवर्तन नहीं कर सकते है।
3. दीर्घकाल उत्पादन फलन में सभी साधनों में परिवर्तन कर सकते है।
4. उत्पादन फलन का कार्य उत्पादन की भौतिक मात्रा तथा साधनों की भौतिक मात्रा के बीच सम्बन्ध की व्याख्या करना होता है।
5. उत्पादन का सिद्धान्त उत्पादन के नियम की चर्चा करता है।
6. उत्पादन फलन के अन्तर्गत कुशलतम तकनीक का प्रयोग किया जाता है।

2. (क)सत्य (ख) सत्य (ग) असत्य (घ) सत्य (ड़) सत्य
3. (क) अ (ख) अ (ग) द (घ) द (ड़) स
4. (क) बढ़ता हुआ–घटता हुआ उत्पादन फलन
   (ख) निर्गत
   (ग) किसी फर्म के आगत एवं निर्गत के बीच के सम्बन्ध को उत्पादन फलन कहते है।
   (घ) बढ़ता हुआ उत्पादन फलन
5. (क) उत्पाद की मात्रा (ख) भौतिक (ग)प्रौद्योगिकी (घ)बढ़ता हुआ–घटता हुआ

9.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

- सोनी, आर0 एन (2008), ''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय'' विशाल पब्लिशिंग कं0, जालन्धर, इण्डिया, पृ0 290
- ''व्यष्टि अर्थशास्त्र–एक परिचय,'' 2009, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली पृ0 42
- मिश्र, जय प्रकाश, (2008), ''कृषि अर्थशास्त्र,'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ0 105
- अग्रवाल, एन0 एल (1977) ''भारतीय कृषि का अर्थतंत्र,'' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर पृ0 138

9.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Tyagi, B.P., (1998), "Agricultural Ecomomics and Rural Development," A.D. offset printers, Meerut
2. पंत, जे0 सी0, एवं मिश्रा, जे0 पी0 (2010) ''व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

9.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. उत्पादन फलन किसे कहते है? इसकी विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
2. उत्पादन फलन के प्रकार की चर्चा कीजिए तथा कृषि में यह किस प्रकार से कार्य करता है। इसका वर्णन कीजिए।
3. घटता हुआ उत्पादन फलन को चित्र के द्वारा समझाइये।

इकाई 10 – साधन–साधन सम्बन्ध

इकाई संरचना

10.1 प्रस्तावना

10.2 उद्देश्य

10.3 साधन–साधन सम्बन्ध

10.3.1 साधन–साधन सम्बन्धित मान्यताएँ

10.4 दो परिवर्ती आदाओं (साधन) सहित उत्पादन फलन

10.5 सम–उत्पाद या सममात्रा वक्र

10.5.1 समोत्पाद वक्रों की विशेषताएँ

10.5.2 समोत्पाद वक्र और विवेकपूर्ण उत्पादन

10.5.3 समोत्पाद वक्र और सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर

10.6 दो साधनों के न्यूनतम लागत पर उत्पादन

10.7 साधन–साधन सम्बन्धों की दृष्टि से विस्तार पथ एवं सम–ढाल वक्र

10.8 सारांश

10.9 शब्दावली

10.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

10.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

10.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

10.13 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

उत्पादन फलन, सम्बन्ध एवं नियम से सम्बन्धित यह दसवीं इकाई है। इससे पहले की इकाईयों में आप साधन–उत्पाद या आगत–निर्गत सम्बन्ध के लिए आवश्यक शर्तों की चर्चा की, जिसमें साधन–उत्पाद सम्बन्ध के द्वारा यह ज्ञात करने की कोशिश की कि एक किसान को किसी एक वस्तु का कितना उत्पादन करना चाहिए।

प्रस्तुत इकाई साधन–साधन सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा करती है। इस इकाई में साधन–साधन सम्बन्ध के माध्यम से अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए वस्तुओं का कैसे उत्पादन करे तथा सम–मात्र वक्र एवं इसकी विशेषता आदि का विस्तृत अध्ययन किया गया है।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप साधन–साधन सम्बन्ध का उद्देश्य एवं इसकी आवश्यकता को बता सकेंगे तथा साधन–साधन सम्बन्ध की मायताएँ एवं इसकी अनुकूलतम शर्त की व्याख्या कर सकेंगे।

10.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि–

- साधन–साधन सम्बन्ध क्या है?
- वे कौन–सी शर्तें हैं जो कि साधन–साधन सम्बन्ध के अनुकूलतम स्तर को सुनिश्चित करती है।
- समोत्पाद अथवा सममात्र वक्र क्या है?
- समोत्पाद वक्र एवं सम–लागत रेखा के द्वारा न्यूनतम लागत का निर्धारण कैसे किया जाता है।

10.3 साधन–साधन सम्बन्ध

साधन–साधन सम्बन्ध एक किसान को किसी एक फसल के पैदा करने के लिए दो या दो से अधिक साधनों के ऐसे मिश्रण के बारे में निर्णय लेने में सहायता करती है जिससे कि उस फसल के उत्पादन की लागत न्यूनतम हो जाती है। दूसरे शब्दों में आप यह कह सकते हैं कि साधन–साधन उत्पादन फसल के अन्तर्गत किसी वस्तु का उत्पादन कैसे किया जाय सम्बन्धित निर्णय लिए जाते हैं।

आप को एक बात का सदैव ध्यान रखना होगा कि जब हम उत्पदन फलन के अन्तर्गत साधन–उत्पाद की चर्चा करते हैं या साधन–साधन सम्बन्ध की या फिर उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध की, प्रत्येक स्थिति में सम्बन्धित उत्पादन (फसल) के लिए पर्याप्त उत्पादन फलन ही हमारे विश्लेषण का आरम्भ बिन्दु होता है। आपको सिर्फ इस बात का ध्यान देना होगा कि क्या उत्पादन फलन एक चल साधन पर आधारित है या एक से अधिक चल साधनों पर।

10.3.1 साधन–साधन सम्बन्धित मान्यताएँ

साधन–साधन सम्बन्धित मान्यताएँ निम्नलिखित हैं–

- एक फसल के उत्पादन के लिए केवल दो चल साधनों का प्रयोग हुआ है।
- बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है।
- फसलों के उत्पादन की मात्रा में या साधनों के प्रयोग में परिवर्तन साधन तथा उत्पाद के मूल्य में परिवर्तन नहीं लाते हैं अर्थात प्रत्येक स्थिति में साधन तथा उत्पाद के मूल्य वही रहते हैं।

10.4 दो परिवर्ती (चलन) साधनों सहित उत्पाादन फलन

अब तक आप समझ गये होंगे कि उत्पादन–वृद्धि हेतु एक परिवर्ती साधन को कई 'स्थिर' साधनों के साथ बढ़ा दिया जाता है अथवा सभी साधनों (परिवर्ती एवं स्थिर) को बढ़ा दिया जाता है। प्रथम स्थिति से सम्बन्धित उत्पादन फलन अल्पकालीन उत्पादन फलन कहलाता है जबकि द्वितीय स्थिति से सम्बन्धित उत्पादन फलन को दीर्घकालीन उत्पादन–फलन कहकर सम्बोधित किया जाता है। अब हम उस स्थिति का अध्ययन करेंगे जिसमें किसान उन दो साधनों को बढ़ाकर उत्पादन बढ़ाता है जो एक दूसरे के स्थानापन्न है, जैसे श्रम एवं पूँजी। इस तरह के उत्पादन फलन को समझने के लिए आप इकाई नौ में तालिका 9.1 को पुनः देखें जहाँ पर दो साधनों के विभिन्न संयोग के उत्पादन फलन को दिखाया गया है। यह उत्पादन फलन हमें एक अन्य लाभदायक जानकारी भी प्रदान करता है। एक निश्चित उत्पाद/प्रदा को अनेक विभिन्न साधन संयोगों का प्रयोग करके प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरणार्थ तालिका 9.1 देखें जिसमें 18 इकाईयों की प्रदा को दो विभिन्न साधन संयोगों का प्रयोग करके प्राप्त किया जा सकता है। 2 मशीनें एवं 3 श्रमिक, 3 मशीनें एवं 2 श्रमिक। जब मशीनों की संख्या में वृद्धि होती है तो श्रमिकों की संख्या घट जाती है। इसके विपरीत, जब मशीनो की संख्या में कमी होती है तो श्रमिकों की संख्या बढ़ जाती है। उत्पादन के लिए दोनों आगत आवश्यक है। यदि कोई भी आगत शून्य हो जाता है तो कोई भी उत्पादन नहीं होगा। दोनों सकारात्मक आगतों के साथ, निर्गत सकारात्मक होगा। ये सभी साधन–संयोग (जो एक निश्चित प्रदा उत्पनन करते हैं) प्राविधिक दृष्टि से कार्यकुशल होते हैं क्योंकि इनसे समान प्रदा उत्पन्न होती है। लेकिन इनमें से केवल एक ही साधन संयोग आर्थिक दृष्टि से कार्यकुशल होता है क्योंकि यह एक निश्चित प्रदा को न्यूनतम लागत पर उत्पन्न करता है। साधन–साधन सम्बन्ध का कौन–सा संयोग उत्पादन फलन के लिए उत्तम है, इसका निर्णय प्राविधिज्ञ नहीं बल्कि अर्थशास्त्री करता है क्योंकि प्राविधिज्ञ इन विभिन्न संयोगों की गणना करता है जिनका प्रयोग करने से समान उत्पाद प्राप्त होता है लेकिन अर्थशास्त्री का यह कर्तव्य है कि उस साधन संयोगों का चयन करे जो आर्थिक दृष्टि से भी कार्यकुशल हो। उपर्युक्त उत्पादन फलन उत्पाद पैमाने से सम्बद्ध ह्रासमान प्रतिफल अवस्था को अभिव्यक्त करता है।

अनुपात का विचार ह्रासमान प्रतिफल नियम में निहित है। इस नियम के अनुसार 'भूमि' स्थिर साधन है जबकि 'श्रम' एवं 'पूँजी' परिवर्तनशील है, अतः तीनों साधनों के बीच का अनुपात बदल जाता है। साधनों के इस अनुपात में होने वाले परिवर्तन के कारण ही ह्रासमान प्रतिफल नियम कार्यशील होता है। दो परिवर्ती आदाओं सहित उत्पादन फलन को

समोत्पाद वक्रों के परिवारों द्वारा भी व्यक्त किया जाता है, जिसे सम–उत्पाद वक्र या सम–मात्र (iso-quant) भी कहा जाता है।

10.5.1 सम उत्पाद वक्र या सम मात्र वक्र या समोत्पाद वक्र

समोत्पाद वक्र दो आगतों/साधनों के विभिन्न संयोग को बताती है, जो कि समान अधिकतम संभावित स्तर का निर्गत/उत्पादन प्राप्त करता है। प्रत्येक सम–मात्र वक्र निर्गत के एक विशेष स्तर का प्रतिनिधित्व करती है तथा निर्गत की मात्रा को स्तर प्रदान करती है।

कीरस्टेड (Keirstead) के अनुसार, 'समोत्पाद वक्र दो साधनों के उन संभावित संयोगों को बताती है जो कि एक समान कुल उत्पादन करते हैं।'

आइए, अब हम समोत्पाद वक्र को रेखाचित्र के द्वारा स्पष्ट करते हैं। समोत्पाद वक्र को रेखाचित्र 10.1 में दिखाया गया है। रेखाचित्र 10.1 में X अक्ष पर साधन X को दिखाया गया है तथा लंबवत Y पर साधन Y को दिखाया गया है। यदि हम मान लें कि किसी वस्तु की 50 इकाइयों की निर्गत को उत्पन्न करने हेतु सधन X तथा Y के विभिन्न संयोगों से प्राप्त किया जाता है। उदाहरणार्थ किसी वस्तु की 50 इकाई के उत्पादन के लिए साधन X1 तथा Y1 की मात्रा का प्रयोग किया जा रहा है। साधन X2,Y2 के मिलाने से वस्तु की 50 इकाई का उत्पादन किया जा रहा है। यदि उत्पाद की हर मात्रा को दिखाने वाले ये सब सम–मात्र वक्र एक ग्राफ पर दिखा दिये जाये तो हमें सम–मात्र वक्रों का एक मानचित्र प्राप्त हो जायेगा। निम्न समोत्पाद वक्र वस्तुओं की कम मात्रा को दर्शाता है जबकि उच्च समोत्पाद वक्र वस्तु की ज्यादा मात्रा को दर्शाता है। साधन–साधन संबन्ध को समझने के लिए हमें समोत्पाद वक्र की विशेषताओं को समझना होगा।

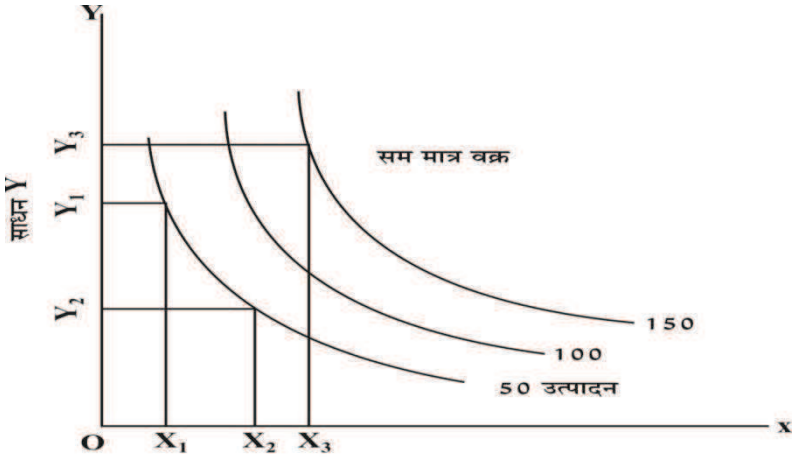

रेखाचित्र 10.1

10.6 समोत्पाद वक्रों की विशेषताएँ

समोत्पाद वक्र की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. सम मात्र वक्र ऊपर से नीचे दाईं ओर को आता है,
2. समोत्पाद वक्र प्रायः शून्य बिन्दु (origin) की ओर उत्तल या अन्नतोदर होते हैं,

3. जैसे–जैसे एक समोतपाद वक्र का स्तर ऊँचा होता जाता है, इसके द्वारा दिखायी जाने वाली उत्पाद की मात्रा बढ़ती जायेगी,
4. दो सम–मात्रा वक्र एक दूसरे को कभी भी नहीं काटते या छूते हैं,
5. समोत्पाद वक्र को उत्पादन की इकाइयों की संख्या में व्यक्त किया जाता है जबकि उदासीनता वक्र या तटस्थता वक्र को इस प्रकार प्रकट नहीं किया जा सकता है क्योंकि उपभोक्ता द्वारा प्राप्त संतुष्टि को मापने हेतु भौतिक इकाइयों का अभाव होता है,
6. सम–मात्र वक्र उत्पादन की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है जबकि तटस्थता वक्र उपभोक्ता की संतुष्टि या उपभोग की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है।

साधन–साधन सम्बन्धों को अनुकूलतम बनाने के लिए आवश्यक शर्तों की (अर्थात एक उत्पाद की लागत को न्यूनतम करने के लिए आवश्यक शर्तों की) खोज करने में समोत्पाद वक्र की पहली दो विशेषतायें सहायता करती है।

समोत्पाद वक्र की पहली विशेषता है कि समोत्पाद वक्र प्रायः ऊपर से नीचे दाईं ओर आता है। यह समोत्पाद वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि एक साधन के साथ दूसरे साधन की मात्रा में अतिरिक्त इकाई लगाने से उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती है। ऐसी स्थिति में यदि उत्पादन की मात्रा को वही रखना है, जैसा कि एक समोत्पाद वक्र का उद्देश्य है तो एक साधन की अतिरिक्त इकाई लगाने के साथ–साथ दूसरे साधन की इकाई में कमी करनी पड़ती है परिणामस्वरूप, उत्पादन की समान मात्रा एक समोत्पाद वक्र पर प्राप्त होती है।

सारणी 10.1

संयोग	टागत		निर्गत	श्रम तथा पूँजी के बीच तकनीकी प्रतिस्थापन की समीन्त दर ($MRTS_{LK}$)
	श्रम की इकाइयाँ साधन (L)	पूँजी की इकाइयाँ साधन (K)	गेहूं (क्विंटल) उत्पादन	
1	2	3	4	5
A	1	50	100	–
B	2	42	100	1:8
C	3	35	100	1:7
D	4	29	100	1:6
E	5	24	100	1:5
F	6	20	100	1:4
G	7	17	100	1:3
H	8	15	100	1:2

उत्पादन की समान मात्रा प्राप्त करने के लिए एक साधन की इकाई में वृद्धि के साथ दूसरे साधन की इकाई में कमी लाने से समोत्पाद वक्र ऊपर से नीचे दाईं ओर आता है। समोत्पाद वक्र की दूसरी विशेषता है – यह वक्र प्रायः शून्य बिन्दु की ओर उत्तल होता है। इस विशेषता का कारण है कि जब एक साधन की एक अतिरिक्त इकाई का प्रयोग किया जाता है तो साधारणतया इसका सीमान्त उत्पादन अपने आप में कम होता जाता है जिसे दो साधनों के बीच तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर कहते हैं। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिए सारणी 10.1 में 100 क्विंटल गेहूं प्राप्त करने के लिए पूँजी तथा श्रम के विभिन्न संयोग की तकनीकी स्थानापत्ति या प्रतिस्थापन की सीमान्त दर को दिखाया गया है।

सारणी सं. 10.1 से स्पष्ट है कि गेहूं की 100 क्विंटल प्राप्त करने के लिए किसान 1 श्रम तथा 50 पूँजी, 2 श्रम तथा 42 पूंजी, 3 श्रम तथा 35 पूंजी, 4 श्रम तथा 29 पूंजी, 5 श्रम तथा 24 पूंजी, 6 श्रम तथा 20 पूंजी, 7 श्रम तथा 17 पूंजी अथवा 8 श्रम तथा 15 पूंजी की इकाइयॉ लगा सकता है। इन विभिन्न संयोगों को जैसे A,B,C,D,E,F,G और H को जोड़ देने पर समोत्पाद वक्र प्राप्त होता है। सारणी 10.1 का कॉलम श्रम तथा पूंजी के बीच तकनीकी प्रतिस्थापान की सीमान्त दर को दिखा रहा है। तकनीकी या प्राविधिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर वह दर स्पष्ट करती है जिस पर बिना उत्पादन के स्तर में परिवर्तन किये हुए साधनों में प्रतिस्थापन किया जा सके। इस प्रकार यदि उत्पादन में केवल दो साधनों L एवं K का प्रयोग किया जा रहा हो तो K साधन के लिए L साधन की तकनीकी प्रतिस्थापन की दर K की वह मात्रा है जो L साधन की एक इकाई के द्वारा प्रतिस्थापित की जा सकती है, यदि उत्पादन के स्तर (जैसे गेहूं का उत्पादन 100 क्विंटल है) में किसी प्रकार का परिवर्तन न हो। इसका स्पष्टीकरण सारिणी 10.1 से हो जाता है। सारिणी के अन्तिम खाने से स्पष्ट है कि एक ही उत्पादन के स्तर पर बने रहने की स्थिति में प्रतिस्थापन की दर क्रमशः घटती गयी है। A से B संयोग की स्थिति में L की 1 इकाई K की 8 इकाई को प्रतिस्थापित करती है जबकि संयोग C पर L की 1 इकाई की वृद्धि केवल 7 K, D पर केवल 6 K, E पर केवल 5 K, F पर केवल 4 K, G पर केवल 3 K तथा H पर K की केवल 2 इकाई को प्रतिस्थापित करती है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि किसी बिन्दु पर सम उत्पादन वक्र के ढाल के द्वारा उस बिन्दु पर तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ज्ञात की जा सकती है जैसा रेखाचित्र 10.2 में दिखाया गया है– रेखाचित्र में (IPC) समोत्पाद वक्र को प्रदर्शित करता है। इसके किसी बिन्दु पर तकनीकी प्रतिस्थापन दर ज्ञात करना है तो रेखाचित्र में समोत्पाद वक्र (IPC) पर नीचे की ओर B से C की ओर अत्यन्त अल्प दूरी तक चलिए जहाँ उत्पादन में बीना किसी हानि के पूँजी (K) की इकाई में कमी की जाती है (K) तथा श्रम (L) की मात्रा में वृद्धि (L) की जाती है। अर्थात् समोत्पाद वक्र (IPC) पर बिन्दु B से बिन्दु C पर उत्पादन के समान

स्तर को प्राप्त करने के लिए K को L की मात्रा से प्रतिस्थापित होती है। IP का ढाल (slope) या प्रतिस्थापन की सीमान्त दर $-\frac{\Delta K}{\Delta L}$ होगा।

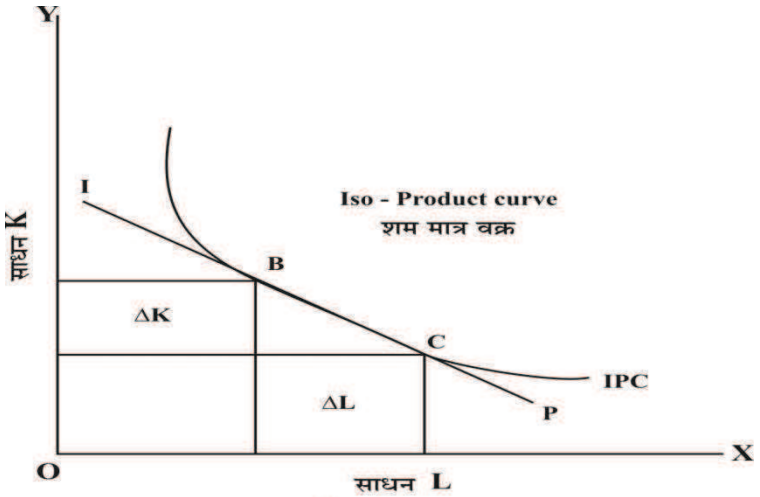

रेखाचित्र 10.2

चूँकि उत्पादन का स्तर एक ही बना रहता है इसलिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर दो आगतों L तथा K की सीमान्त उत्पादकताओं के अनुपात को बताती है। जब कोई उत्पादक किसी समोत्पाद वक्र के एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु पर चलता है जैसे रेखाचित्र 10.2 में किसान बिन्दु B से बिन्दु C की ओर चलता है वह गेहूं की 100 क्विंटल मात्रा को ही प्राप्त करता है क्योंकि किसान K की कुछ मात्रा को छोड़ता है जिसके कारण उत्पादन में कुछ कमी होगी तथा उसके स्थान पर L की मात्रा बढ़ाता है जिससे कुल उत्पादन में वृद्धि होगी पर चूँकि वह एक समोत्पाद वक्र पर चलता है अथवा उसके उत्पादन का स्तर एक ही बना रहता है इसलिए यह आवश्यक है कि K की कमी के कारण उत्पादन में कमी निश्चित रूप से L की वृद्धि के कारण उत्पादन में हुई वृद्धि के बराबर हो, अन्यथा उत्पादन का एक समान स्तर नहीं बना रहेगा। इस प्रकार K की कमी के कारण उत्पादन में कमी = L की वृद्धि के कारण उत्पादन में वृद्धि। K की कमी के कारण उत्पादन में कमी = $\Delta K . \Delta MP_K$ (K की सीमान्त उत्पादकता) तथा L की वृद्धि के कारण उत्पादन में वृद्धि = $\Delta L \times MP_L$ श्रमिक की सीमान्त उत्पादकता, इस प्रकार

$$\Delta K \times MP_K = \Delta L \times MP_L$$

अर्थात् $\frac{\Delta K}{\Delta L} = \frac{MP_L}{MP_K}$

इसलिए तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर अर्थात L की प्रत्येक बार एक अतिरिक्त इकाई बढ़ाने पर आगत पूँजी की प्रत्येक बार इकाइयों को घटाने की मात्रा (या Marginal rate of technical substittution of L for K $MRTS_{LK}$) घटती

जायेगी। जब भी इस प्रकार प्राप्त किये गये दो साधनों के संयोग/सम्मिश्रण की एक सम–मात्र वक्र बनाने के लिए प्रयोग किया जायेगा तो ऐसा सम–मात्र वक्र सदा ही शून्य बिन्दु की ओर उत्तल/उन्नतोदर (convex) होगा।

$\frac{\Delta K}{\Delta L}$ K के लिए L साधन की तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर ($MRTS_{LK}$) है, इसलिए

$$MRTS_{LK} = -\frac{\Delta K}{\Delta L} = \frac{MP_L}{MP_K}$$

अभी आपने देखा कि जब एक साधन के द्वारा दूसरे साधन को प्रतिस्थापित किया जाता है तो तकनीकी प्रतिस्थापन की सीमान्त दर क्रमशः घटने लगती है। वास्तविकता तो यह है कि तकनीकी प्रतिस्थापन की घटती हुई सीमान्त दर का सिद्धान्त क्रमागत उत्पादन ह्रास नियम का विस्तार मात्र है। अभी आप जान गये होंगे कि –

$$MRTS_{LK} = \frac{\text{L साधन का सीमान्त उत्पादकता } (MP_L)}{\text{K साधन की सीमान्त उत्पादकता } (MP_K)}$$

स्पष्ट है कि जब एक ही समोत्पाद वक्र पर L की मात्रा बढ़ायी जाती है तथा K की मात्रा घटायी जाती है तो $\frac{\Delta K}{\Delta L} = \frac{MP_L}{MP_K}$ तो L की सीमान्त उत्पादकता कम होती जायेगी। इसी कारण से सम–मात्र वक्र शून्य बिन्दु की उत्तल (convex) है। यहाँ पर ध्यान दें L की सीमान्त उत्पादकता घटती जा रही है जैसे 1:8, 1:7, 1:6.... जबकि पूँजी (K) की सीमान्त उत्पादकता बढ़ती जा रही है क्योंकि L की एक अतिरिक्त इकाई के बढ़ाने से उत्पादन 100 क्विंटल ही रहता है। जबकि गेहूँ के 100 क्विंटल प्राप्त करने के लिए K की मात्रा में कमी होती जाती है इसलिए K की सीमान्त दर बढ़ती जाती है तथा L की सीमान्त दर घटती जाती ळें

10.5.2 समोत्पादन वक्र और विवेकपूर्ण उत्पादन

समोत्पाद वक्र पर विवेकपूर्ण उत्पादन तभी तक संभव है जब तक एक साधन की अतिरिक्त इकाई में वृद्धि के फलस्वरूप दूसरे साधन की इकाई में कमी होती जाती है जिससे हम उसी सममात्र वक्र पर वस्तुओं का उत्पादन करते हैं। दूसरे शब्दों में आप कह सकते हैं कि उत्पादक को उत्पादन तभी तक करना चाहिए जब तक समोत्पाद वक्र की ढाल नकारात्मक होती है। समोत्पाद वक्र के नकारात्मक ढाल पर किया गया उत्पादन विवेकपूर्ण उत्पादन माना जायेगा। जब समोत्पाद वक्र की ढाल सकारात्मक होती है तो इस वक्र पर उत्पादन विवेकहीन माना जायेगा। इसे रेखाचित्र 10.3 के द्वारा स्पष्ट किया गया है–

रेखाचित्र में CD समोत्पाद वक्र है। रेखाचित्र में दो बिन्दु B और A क्रमशः X2 और Y2 साधनों के सम्मिश्रण को दिखाते हैं, जहाँ पर सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर शून्य के बराबर है। बिन्दु A एवं बिन्दु B पर सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर शून्य है।

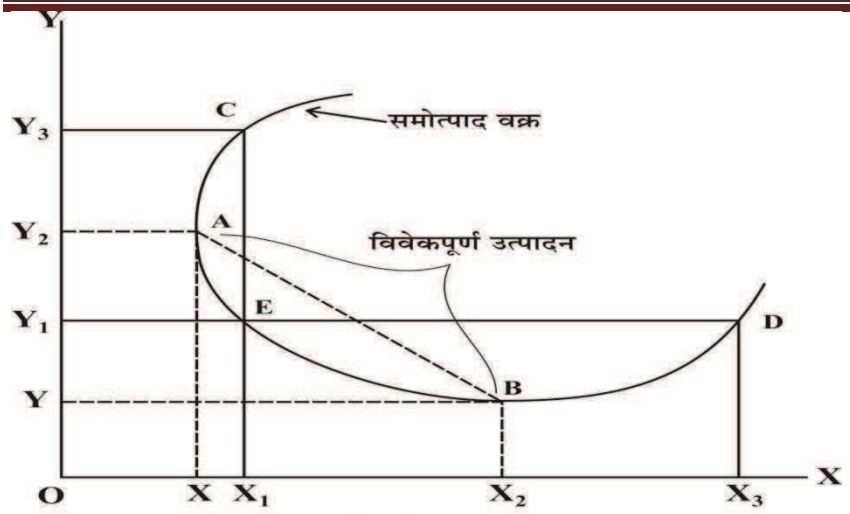

रेखाचित्र 10.3

इन दोनों बिन्दुओं के बीच समोत्पाद वक्र पर किया गया उत्पादन विवेकपूर्ण माना जायेगा क्योंकि समोत्पाद वक्र पर इन दोनों बिन्दुओं के बीच उत्पादन के लिए एक साधन (X) के मात्रा में वृद्धि के साथ दूसरे साधन (Y) के मात्रा में कमी करके समान मात्रा में उत्पादन प्राप्त किया जाता है। समोत्पाद वक्र के बिन्दु E पर दो साधनों (X1 Y1) के संयोग से उत्पादन प्राप्त हो रहा है। बिन्दु B पर वही उत्पादन प्राप्त करने के लिए जब साधन X की मात्रा में वृद्धि करते हैं तो उसी समय पर साधन Y की मात्रा में कमी करते हैं। परिणामस्वरूप साधन X2 और Y के संयोग बिन्दु B पर वही उत्पादन प्राप्त हो रहा है जो इससे पहले बिन्दु D पर प्राप्त हो रहा था। बिन्दु D पर उत्पादन की वही मात्रा प्राप्त करने के लिए दोनों साधनों की मात्रा में वृद्धि करनी पड़ रही है। इसलिए समोत्पाद वक्र पर बिन्दु D पर किया गया उत्पादन विवेकहीन (irrational) माना जायेगा। इसी तरह से बिन्दु C पर भी किया गया उत्पादन विवेकहीन माना जायेगा।

यदि रेखाचित्र में दिये गये समोत्पद वक्र को और आगे बढ़ाा जाए तो दोनों सिरें आपस में मिल जायेंगे तथा सम मात्रा वक्र आकार में गोल दिखायी देने लगेगा। परन्तु इस अवस्था में भी एक विवेकशील उत्पादक, सम–मात्रा वक्र के बिन्दु A तथा बिन्दु B के बीच में ही दोनों साधन (X और Y) के किसी एक सम्मिश्रण के साथ उत्पदन करेगा। समोत्पाद वक्र पर बिन्दु A और C तथा बिन्दु B और D के बीच का उत्पादन विवेकहीन माना जायेगा।

10.5.3 समोत्पाद वक्र और सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर

अभी तक आप समझ गये होंगे कि समोत्पाद वक्र ऊपर से नीचे दायीं की ओर आता है। यह वक्र शून्य या मूल बिन्दु की ओर उत्तल होता है। इस स्थिति में एक साधन के लिए दूसरे साधन की सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर क्रमशः घटती जाती है तथा दोनों साधनों का सीमान्त उत्पादन सकारात्मक होता है जैसा कि सारणी 10.1 में दिखाया गया है। परन्तु यह आवश्यक नहीं कि यह सीमान्त उत्पादन किसी एक साधन की अतिरिक्त

इकाई लगाने पर, अपने आप में घटता जाये। यह सीमान्त उत्पादन वही रह सकता है या फिर बढ़ भी सकता है। इस स्थिति में सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर घटेगी नहीं। इसे तालिका 10.2 में स्पष्ट किया गया है।

तालिका 10.2

दिए हुए वस्तु के उत्पादन में लगे दो साधनों की सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर

संयोग	साधन				सीमान्त प्रतिस्थापन दर	साधन		सीमान्त प्रतिस्थापन दर
	X_1	X_2	ΔX_1	ΔX_2	$\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$ (MRTS $_{X_1X_2}$)	X_3	ΔX_3	$\frac{\Delta X_3}{\Delta X_1}(MRTS_{X_1X_3})$
A	10	40	-	-	-	90		-
B	11	35	+1	-5	-5	84	-6	-6
C	12	30	+1	-5	-5	77	-7	-7
D	13	25	+1	-5	-5	69	-8	-8
E	14	20	+1	-5	-5	60	-9	-9
F	15	15	+1	-5	-5	50	-10	-10
G	16	10	+1	-5	-5	39	-11	-11

यदि प्रत्येक साधन का सीमान्त उत्पादन सदा वही रहता है, तो एक विशेष साधन (X1) की एक अतिरिक्त इकाई में वृद्धि करने पर दूसरे साधन की छोड़ने वाली इकाईयों की मात्रा X2 किसी बार भी नहीं घटेगी वह सदा वही रहेगी। दूसरे शब्दों में सीमान्त तकनीकी स्थानापत्ति दर सदा वही रहेगी। इस स्थिति में समोत्पाद वक्र एक सीधी रेखा होगी जो ऊपर से नीचे दाईं ओर आती सीधी रेखा का रूप लेगा। इसे रेखाचित्र 10.4 में दिखाया

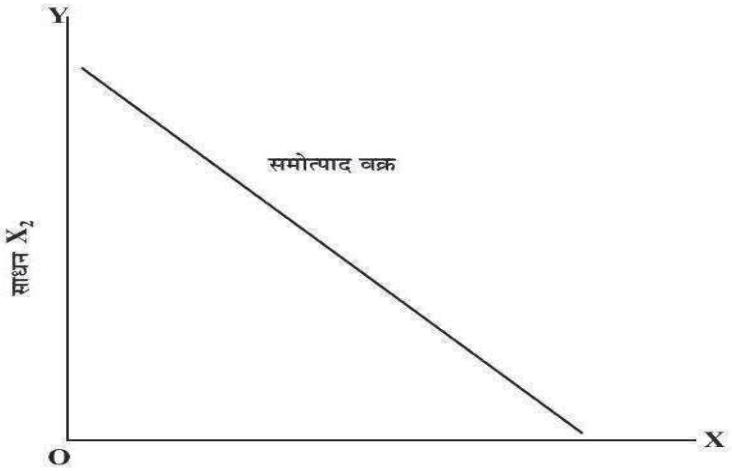

रेखाचित्र 10.4

गया है। तालिका 10.2 से स्पष्ट है कि साधन X1 में प्रत्येक बार, एक इकाई की वृद्धि पर, साधन X2 की 5 इकाईयों को छोड़नी पड़ती है ताकि दी गयी उत्पदन की मात्रा उसी समोत्पाद वक्र पर बनी रहे। इस तरह के समोत्पाद वक्र को सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर $\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$ वही (–5 के बराबर) रहती है। इसे रेखाचित्र 10.4 में दिखाया गया है।

समोत्पाद वक्र शून्य या मूल बिन्दु की ओर अवतल भी हो सकता है। इस प्रकार का सम–मात्र वक्र उस समय प्रकट होता है जब एक दिये हुए समोत्पाद वक्र पर एक साधन की मात्रा में वृद्धि करने पर तथा दूसरे साधन की मात्रा में कमी (X2) लाने पर एक साधन के लिए दूसरे साधन द्वारा प्रतिस्थापित सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर घटने की बजाय बढ़ता जाता है अर्थात $\frac{\Delta X_3}{\Delta X_1}$ सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर बढ़ता जाता है ऐसी स्थिति में समोत्पाद वक्र शून्य या मूल बिन्दु की ओर अवतल होगा जिसे रेखाचित्र 10.5 में दिखाया गया है। रेखाचित्र 10.5 से स्पष्ट है कि आगत X1 की एक अतिरिक्त इकाई में वृद्धि होने पर X3 की छोड़ने वाली इकाईयों की मात्रा में पहले से अधिक वृद्धि होती जाती है। अर्थात् सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर बढ़ती जा रही है। समोत्पाद वक्र की ढाल $\frac{\Delta X_3}{\Delta X_1}$ जो कि सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर को दिखाता है, जो बढ़ता जाता है। इस प्रकार यह समोत्पाद वक्र शून्य या मूल बिन्दु की ओर अवतल (concave) होता है।

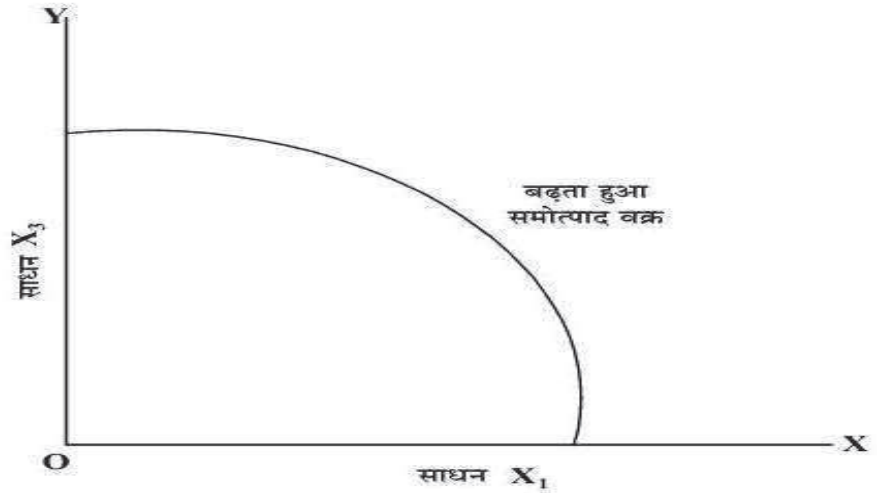

रेखाचित्र 10.5

10.6 दो साधनों के न्यूनतम लागत पर उत्पादन

साधन–साधन सम्बन्ध में हमारा उद्देश्य उन शर्तों को खोजना है जो कि एक उत्पाद की विशेष मात्रा को प्राप्त करने के लिए दो (या दो से अधिक) प्रयोग किये जाने वाले साधनों पर आने वाली कुल लागत को न्यूनतम कर देगी। इसके लिए समोत्पाद वक्र एवं सम–लागत रेखा दोनों को एक साथ लेना होगा। यहाँ पर यह मान्यता है कि उत्पाद तथा

साधनों के मूल्यों में कोई परिवर्तन नहीं होता है। जब दो साधनों के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता है तो इन दो साधनों को x अक्ष और y अक्ष पर मिलाने से जो रेखा प्राप्त होती है उसी को सम–लागत रेखा कहते हैं। सम–लागत रेखा पर किसी भी बिन्दु पर वस्तु के उत्पादन की लागत समान रहती है। समोत्पाद वक्र और सम–लागत की सहायता से उत्पादक को उस बिन्दु पर उत्पादन करना चाहिए जहाँ सम लागत की रेखा समोत्पाद वक्र को स्पर्श करती है क्योंकि यह बिन्दु न्यूनतम लागत को दर्शाती है। इसे तालिका 10.3 एवं रेखाचित्र 10.6 में दिखाया गया है।

तालिका 10.3 सम–लागत सूची (कुल लागत 600)

संयोग	साधन	
	X_1	X_2
A	60	0
B	50	10
C	40	20
D	30	30
E	20	40
F	10	50
G	0	60

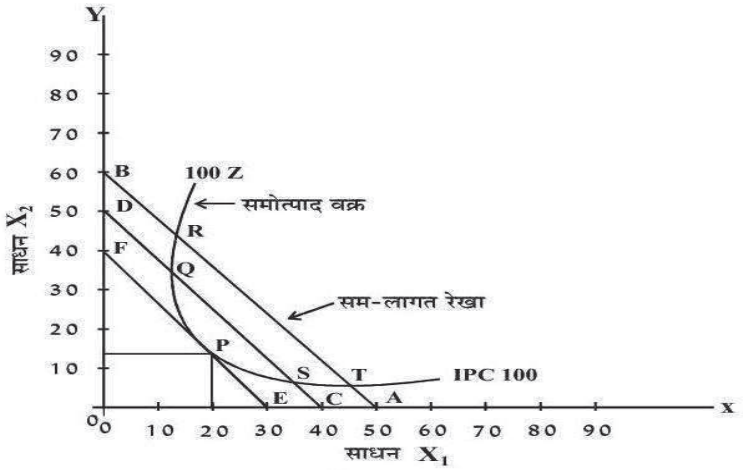

रेखाचित्र 10.6

कल्पना करो एक किसान के पास दो साधनों X1 तथा X2 को खरीदने के लिए रु. 600 है। अगर साधन X1 एवं X2 की इकाई कीमत रु. 12 एवं रु. 10 है किसान कुल रु. 600 को X1 पर व्यय करताा है तो वह X1 की 50 इकाई खरीद सकेगा $\left(\frac{\text{रु.}600}{\text{रु.}12}\right)$ तथा X2 की शून्य इकाई अर्थात X2 की कोई इकाई नहीं खरीद पायेगा इसलिए किसान

साधन X_1 की 50 इकाई (जिसे बिन्दु A पर दिखाया गया है) खरीदेगा। अगर वह साधन X_2 पर कुल व्यय करना चाहे तो वह साधन X_2 की 60 इकाई $\left(\frac{\#-600}{\#-10}\right)$ (जिसे बिन्दु B पर दिखाया गया है) को खरीद पायेगा जबकि X_1 की शून्य इकाई खरीदेगा। बिन्दु A एवं बिन्दु B को जोड़ने से सम–लागत रेखा प्राप्त होती है। रेखाचित्र में AB, CD, EF विभिन्न–विभिन्न सम लागत रेखायें हैं। सभी सम–लागत रेखायें एक दूसरे के सामान्तर है क्योंकि दो साधनों के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं है। ऊँची सम–लागत रेखायें अधिक लागत का प्रतिनिधित्व करती है तथा नीची सम–लागत रेखायें कम लागत का प्रतिनिधित्व करती है। सम–लागत रेखा EF न्यूनतम लागत को दिखा रही है जो समोत्पाद वक्र IPC को बिन्दु P पर स्पर्श कर रही है। रेखाचित्र 10.6 में स्पष्ट है कि Z उत्पाद की 100 इकाईयाँ, साधन X1 तथा साधन X2 के संयोग से न्यूनतम लागत बिन्दु P पर पैदा की जा सकती है। इसलिए किसी उत्पाद की एक विशेष मात्रा पर आने वाली लागत तभी न्यूनतम होगी जब सम–लागत रेखा की ढाल का माप $\left(\frac{PX_1}{PX_2}\right)$ समोत्पाद वक्र की ढाल के माप $\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$ के बराबर हो।

या $\frac{PX_1}{PX_2} = \frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$

या $PX_1.\Delta X_1 = PX_2.\Delta X_2$

किसान बिन्दु P पर उत्पादन करेगा क्योंकि यह दोनों साधनों के सम्मिश्रण का न्यूनतम लागत है। ये दोनों साधन इस तरह से मिश्रित किया जाता है कि यदि ऐसे मिश्रण में उत्पाद की मात्रा को वही रखने के लिए एक साधन को घटाया जाता है तथा दूसरे को बढ़ाया जाता है तो इस बिन्दु पर बढ़ने वाले साधन की लागत तथा घटने वाले साधन की लागत में कोई अन्तर नहीं अर्थात् दोनों साधनों की कुल लागत न ही बढ़ती है और न ही घटती है।

समीकरण $\frac{PX_1}{PX_2} = \frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$ को साधनों की सीमान्त मूल्य उत्पादकता के रूप में भी प्रकट कर सकते हैं। अभी तक आप जान गये होंगे कि किसी बिन्दु पर एक सम मात्रा वक्र की ढाल का माप $\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$ उस बिन्दु पर साधनों की सीमान्त प्रतिस्थापन दर $\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$ को भी दर्शाता है। इसलिए इसे हम निम्नलिखित ढंग से भी लिख सकते हैं।

$$\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1} = \frac{\Delta Z}{\Delta X_1} \div \frac{\Delta Z}{\Delta X_2}$$

यहाँ $\frac{\Delta Z}{\Delta X_1}$ साधन X_1 की उत्पाद Z के लिए सीमान्त वस्तुपरक उत्पादन (marginal physical product of X_1) को दिखाता है। इसी प्रकार $\frac{\Delta Z}{\Delta X_2}$, साधन X_2 के सीमान्त वस्तुपरक उत्पादक (marginal physical product of X_2) को दिखलायेगा।

अब आप समझ गये होंगे कि अगर ΔZ को साधन X_1 में परिवर्तन की मात्रा ΔX_1 से भाग दे तो हमें $\frac{\Delta Z}{\Delta X_1}$ प्राप्त होगा। इसी प्रकार से Z को ZX_2 से भाग दे तो $\frac{\Delta Z}{\Delta X_2}$ प्राप्त होगा। अब आप समझ गये होंगे कि सम मात्रा वक्र की ढाल, सम लागत रेखा के बराबर होती है–

$$\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1} = \frac{PX_1}{PX_2}$$

उपर्युक्त समीकरण को हम इस तरह से भी लिख सकते हैं–

$$\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1} = \frac{\Delta Z/\Delta X_1}{\Delta Z/\Delta X_2} = \frac{\text{Marginal Physical Product of } X_1 \text{ in terms of } Z}{\text{Marginal Physical Product of } X_2 \text{ in terms of } Z}$$

या $$\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1} = \frac{\Delta Z/\Delta X_1}{\Delta Z/\Delta X_2} = \frac{PX_1}{PX_2}$$

या $$\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1} = \frac{\text{Marginal Physical Productvity of } X_1 \text{ in terms of } Z}{\text{Marginal Physical Productvity of } X_2 \text{ in terms of } Z} = \frac{PX_1}{PX_2}$$

यदि दोनों साधनों के वस्तुपरक उत्पादन को एक ही गुणज (multiple) अर्थात् उत्पाद के मूल्य से गुणा कर दिया जाय तो हमें न्यूनतम लागत पर साधनों की सीमान्त मूल्य उत्पादकता (marginal value productivity) प्राप्त हो जायेगी। इसे इस तरह से लिख सकते हैं–

$$\frac{PX_1}{PX_2} = \frac{\text{Marginal value productvity of } X_1 \text{ in producing } Z}{\text{Marginal value productvity of } X_2 \text{ in producing } Z}$$

या $$\frac{\text{Marginal value productvity of } X_1 \text{ in producing } Z}{\text{Price of } X_1 (Px_1)}$$

$$= \frac{\text{Marginal value productvity of } X_2 \text{ in producing } Z}{\text{Price of } X_2 (Px_2)}$$

यही एक उत्पाद की किसी एक विशेष मात्रा की कुल लागत को न्यूनतम करने के लिए, साधनों की सीमान्त मूल्य उत्पादकता के रूप में एक शर्त है।

10.7 साधन–साधन सम्बन्धों की दृष्टि से विस्तार पथ एवं सम–ढाल वक्र

अभी तक आप परिचित हो गये होंगे कि समोत्पाद वक्रों से उत्पादन फलन सम्बन्ध की व्याख्या तो हो सकती है परन्तु इसकी व्याख्या नहीं होती है कि उत्पादन में वृद्धि तथा

साधनों की वृद्धि में क्या अनुपात है। जैसा कि आप जानते हैं पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या इसी से सम्बन्धित है। इसके लिए समोत्पाद वक्र के साथ उत्पादन के विस्तार (Expansion of output/Expansion path) का विश्लेषण आवश्यक है। उत्पाद रेखा उत्पाद विस्तार प्रदर्शित करती है।

उत्पाद रेखा एक समोत्पाद वक्र से दूसरे समोत्पाद वक्र पर जाने की गति (चलने की क्रिया) प्रदर्शित करती है, जब हम सभी साधनों या किसी एक साधन में परिवर्तन लाते हैं। इस प्रकार 'उत्पाद रेखा' उत्पाद के विस्तार के सम्भावित प्राविधिक पथ प्रदर्शित करती है। उत्पाद रेखा को रेखाचित्र 10.7 में स्पष्ट किया गया है। रेखाचित्र में OR, PL तथा KQ उत्पाद रेखा या विस्तार पथ (Expansion path) है जब दोनों साधन परिवर्तनीय हो तो उत्पाद रेखा मूल बिन्दु से प्रारम्भ होकर जायेगी जैसे OR उत्पाद रेखा। यह OR उत्पाद रेखा मूल बिन्दु O से होकर जा रही है क्योंकि जब सम–मात्रा वक्र IPC_1 से IPC_2 या IPC_3 पर चलते हैं तो दोनों साधनों में श्रम एवं पूंजी (k) में परिवर्तन होता है। उत्पाद रेखा आधार अक्ष या लम्ब अक्ष के किसी बिन्दु से प्रारम्भ होगी, जबकि एक साधन स्थिर हो तथा दूसरा परिवर्तनीय हो जैसे कि रेखाचित्र में स्पष्ट है। LP उत्पाद रेखा श्रम की स्थिर मात्रा के साथ तथा KQ रेखा पूंजी की स्थिर मात्रा के साथ उत्पादन विस्तार प्रदर्शित करती है। यदि सभी साधन परिवर्तनीय हो तो उत्पाद रेखा मूल बिन्दु से होकर जायेगी। ऐसी उत्पाद रेखा जो विभिन्न समोत्पाद रेखाओं के ऐसे बिन्दु से जाय जिन पर साधनों के बीच तकनीकी प्रतिस्थापन का सीमान्त दर स्थिर हो तो इन समोत्पाद रेखाओं को समनतिक या सम–दान वक्र (isoclines) कहते हैं।

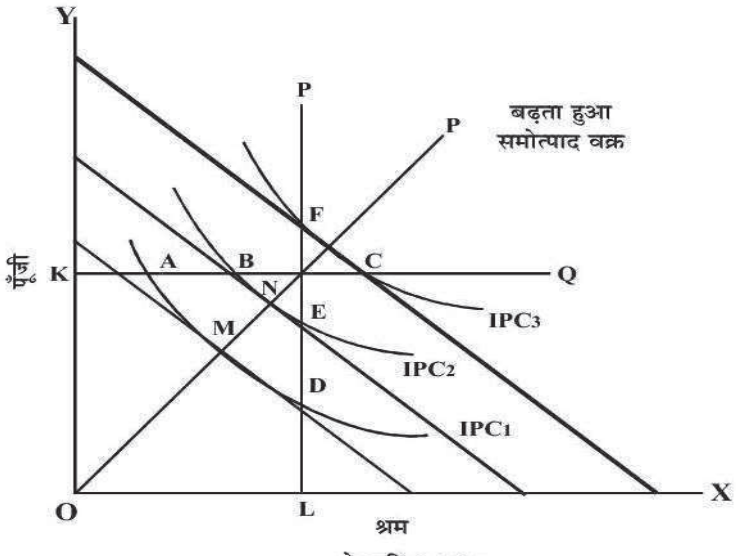

रेखाचित्र 10.7

जब उत्पादक वस्तु की एक विशेष मात्रा के उत्पादन को बढ़ाने की चेष्टा करता है तो इस बात का ध्यान रखता है कि प्रत्येक बढ़ी हुई मात्रा के लिए इन साधनों पर आने वाली कुल लागत न्यूनतम रहती है। रेखाचित्र 10.7 में उत्पादक के इस निर्णय के कारण

होने वाली उत्पादन प्रक्रिया को दिखाया गया है। रेखाचित्र में IPC_1, IPC_2 तथा IPC_3 समोत्पाद वक्र है जो कि उत्पादन की मात्रा में वृद्धि को प्रदर्शित करते हैं। यदि साधनों के मूल्य वही रहते हैं तो इन पर न्यूनतम लागत वाले सम्मिश्रण क्रमशः MNT बिन्दुओं द्वारा दिखाया जायेगा। यदि इन सब बिन्दुओं को जोड़ दिया जाय तो इससे प्राप्त रेखा या वक्र साधन–साधन से सम्बन्धों की दृष्टि से उत्पादन का विस्तार पथ कहलायेगा। यह पथ इस बात को दर्शाता है कि वस्तु की हर मात्रा की उत्पादन लागत केवल इस पर पड़े बिन्दुओं द्वारा दिखाये गये साधनों के सम्मिश्रण से ही न्यूनतम होगी।

10.8 अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न
   (क) साधन–साधन सम्बन्ध से आप क्या समझते हैं?
   (ख) साधन–साधन उत्पादन फलन की मान्यताएँ बताइये।
   (ग) सम–मात्रा वक्र की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
   (घ) उत्पाद रेखा क्या है?
2. सत्य/असत्य बताइये–
   (क) 'अनुपात' का विचार ह्रासमान प्रतिफल नियम में निहित है।
   (ख) दो समोत्पाद वक्र एक दूसरे को काट सकते हैं।
   (ग) समोत्पाद वक्र 'साधनों में वृद्धि' एवं 'उत्पाद में वृद्धि' के अनुपात की व्याख्या करता है।
3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) उत्पादन की प्रक्रिया से कौन–सा वक्र सम्बन्धित है।
   (अ) सम–मात्रा वक्र (ब) तटस्थता वक्र
   (स) दोनों (द) कोई नहीं

(ख) जब दोनों साधनों को बढ़ाया जाता है तो सम–मात्रा वक्र–
   (अ) ऊपर की ओर जाता है (ब) नीचे होता जाता है
   (स) दोनों (द) कोई नहीं

(ग) समोत्पाद वक्र व्याख्या करता है–
   (अ) उत्पादनों में वृद्धि की (ब) उत्पादन फलन सम्बन्ध की
   (स) साधनों में वृद्धि की (द) उपर्युक्त सभी

(घ) 'पैमाने का प्रतिफल' की व्याख्या सम्बन्धित है–
   (अ) उत्पादनों में वृद्धि से (ब) साधनों में वृद्धि से
   (स) दोनों (द) कोई नहीं

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द वाले प्रश्न
   (क) समोत्पाद वक्र शून्य बिन्दु की ओर उत्तल क्यों होता है?
   (ख) किसी उत्पाद की एक विशेष मात्रा पर आने वाली लागत न्यूनतम कब होगी।
   (ग) उपभोग की प्रक्रिया से सम्बन्धित वक्र का नाम बताइये।
   (घ) सम–लागत रेखा से आप क्या समझते हैं?

5. रिक्त स्थान भरिए–

(क) एक ही सम–मात्रा वक्र पर उत्पादन बनाये रखने के लिए जब एक साधन में वृद्धि करते हैं तो दूसरे साधन में ..... करते हैं।

(ख) उत्पादन रेखा ..... प्रदर्शित करती है।

10.9 सारांश

साधन–साधन उत्पादन फलन के अन्तर्गत दो साधनों के सम्मिश्रण से न्यूनतम लागत पर कैसे उत्पादन किया जाये सम्बन्धित निर्णय लिये जाते हैं। समोत्पाद वक्र (जिसे सम–मात्रा वक्र या सम उत्पद वक्र भी कहते हैं) को और सम लागत रेखा की सहायता से न्यूनतम लागत का निर्धारण किया जाता है। जब साधनों की मात्रा में परिवर्तन किया जाता है तो इसका अभिप्राय यह होता है कि एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन का प्रयोग किया जाता है। ये सभी साधन संयोग (जो एक निश्चित प्रदा/निर्गत उत्पन्न करते हैं) प्राविधिक दृष्टि से कार्यकुशल होते हैं क्योंकि इनसे समान निर्गत की प्राप्ति होती है, लेकिन इनमें से केवल एक ही साधन संयोग आर्थिक दृष्टि से कार्यकुशल होता है क्योंकि यह एक निश्चित प्रदा को न्यूनतम लागत पर उत्पन्न करता है। साधन–साधन संबंध का कौन सा संयोग उत्पादन फलन के लिए उत्तम है, यह निर्णय प्रविधिज्ञ नहीं बल्कि अर्थाशास्त्री करता है। किसी उत्पाद की एक विशेष मात्रा पर आने वाली लागत तभी न्यूनतम होती है जब सम–लागत रेखा की ढाल का माप, सम–मात्रा वक्र की ढाल के माप के बराबर होती है। समोत्पाद वक्र से उत्पादन फल सम्बन्धी व्याख्या की जा सकती है परन्तु 'उत्पाद में वृद्धि' तथा 'साधनों की वृद्धि' के अनुपात की व्याख्या, समोत्पाद वक्र नहीं कर पाता है। इसके लिए समोत्पाद वक्रों के साथ 'उत्पाद के विस्तार' का विश्लेषण आवश्यक है।

10.10 शब्दावली

अनुपात – अनुपात की धारणा अल्पकालीन है क्योंकि अल्पकाल में पर्याप्त समय की अनुपलब्धता के कारण स्थिर साधन के साथ केवल परिवर्ती साधनों में ही परिवर्तन कर सकते हैं। परिवर्ती साधनों में परिवर्तन के कारण, सभी साधनों के अनुपात में परिवर्तन होता है परिणामस्वरूप अनुपात का विचार ह्रासमान प्रतिफल नियम में निहित है।

सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर – $\frac{\Delta X_1}{\Delta X_2}$ (X_1, X_2 उत्पादन के साधन है) एक सम मात्र वक्र की ढाल का माप है। किसी एक बिन्दु पर एक सम–मात्र वक्र की ढाल का माप, उस बिन्दु पर साधनों की सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर $\left(\frac{\Delta X_1}{XX_2}\right)$ को भी दर्शाता है।

10.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1(क)– साधन–साधन सम्बन्ध एक किसान को किसी एक फसल के पैदा करने के लिए दो या दो से अधिक साधनों के ऐसे मिश्रण के बारे में निर्णय लेने में सहायता करती है जिससे कि उस फसल के उत्पादन की लागत न्यूनतम हो जाती है। दूसरे शब्दों में आप यह कह

सकते हैं कि साधन–साधन उत्पादन फसल के अन्तर्गत किसी वस्तु का उत्पादन कैसे किया जाय सम्बन्धित निर्णय लिए जाते हैं।

1(ख)– साधन–साधन सम्बन्धित मान्यताएँ निम्नलिखित हैं–

- एक फसल के उत्पादन के लिए केवल दो चल साधनों का प्रयोग हुआ है।
- बाजार में पूर्ण प्रतियोगिता है।
- फसलों के उत्पादन की मात्रा में या साधनों के प्रयोग में परिवर्तन साधन तथा उत्पाद के मूल्य में परिवर्तन नहीं लाते हैं अर्थात प्रत्येक स्थिति में साधन तथा उत्पाद के मूल्य वही रहते हैं।

1(ग)– समोत्पाद वक्र की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

1. सम मात्र वक्र ऊपर से नीचे दाईं ओर को आता है,
2. समोत्पाद वक्र प्रायः शून्य बिन्दु (origin) की ओर उत्तल या अन्नतोदर होते हैं,
3. जैसे–जैसे एक समोतपाद वक्र का स्तर ऊँचा होता जाता है, इसके द्वारा दिखायी जाने वाली उत्पाद की मात्रा बढ़ती जायेगी,
4. दो सम–मात्रा वक्र एक दूसरे को कभी भी नहीं काटते या छूते हैं,
5. समोत्पाद वक्र को उत्पादन की इकाइयों की संख्या में व्यक्त किया जाता है जबकि उदासीनता वक्र या तटस्थता वक्र को इस प्रकार प्रकट नहीं किया जा सकता है क्योंकि उपभोक्ता द्वारा प्राप्त संतुष्टि को मापने हेतु भौतिक इकाइयों का अभाव होता है,
6. सम–मात्र वक्र उत्पादन की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है जबकि तटस्थता वक्र उपभोक्ता की संतुष्टि या उपभोग की प्रक्रिया से सम्बन्धित होता है।

1(घ)– उत्पाद रेखा एक समोत्पाद वक्र से दूसरे समोत्पाद वक्र पर जाने की गति (चलने की क्रिया) प्रदर्शित करती है, जब हम सभी साधनों या किसी एक साधन में परिवर्तन लाते हैं। इस प्रकार 'उत्पाद रेखा' उत्पाद के विस्तार के सम्भावित प्राविधिक पथ प्रदर्शित करती है।

2(क)– सत्य, (ख) असत्य, (ग) असत्य 3(क)– अ, (ख)– अ, (ग)– ब, (घ)– स

4(क)– सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर की प्रत्येक एक अतिरिक्त इकाई के बढ़ाने पर दूसरे इकाई के प्रत्येक इकाई की मात्रा घटती जाती है। जिसके कारण समोत्पाद वक्र शून्य बिन्दु की ओर उत्तल होता है।

(ख)– किसी उत्पाद की एक विशेष मात्रा पर आने वाली लागत तभी न्यूनतम होगी जब सम–लागत रेखा की ढाल का माप $\left(\frac{PX_1}{PX_2}\right)$ समोत्पाद वक्र की ढाल के माप $\frac{\Delta X_2}{\Delta X_1}$ के बराबर हो।

(ग)– तटस्थता वक्र

(घ)– सम–लागत रेखा पर किसी भी बिन्दु पर वस्तु के उत्पादन की लागत समान रहती है।

5(क)– कमी, (ख)– उत्पाद विस्तार

10.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

- सोनी, आर.एन. (2008), 'कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय', विशाल पब्लिशिंग कं0 जालन्धर, इण्डिया, पृ. 301
- सेठ, एम.एल. 'माइक्रो अर्थशास्त्र', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ. 258
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण प्ररिषद् (2000), 'व्यष्टि अर्थशास्त्र – एक परिचय', नई दिल्ली

10.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

- लाल, एस.एन. (2003), 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त', व्यष्टि अर्थशास्त्र', शिव पब्लिशिंग हाउस, इलहाबाद।
- Tyagi, B.P., (1998), "Agricultural Ecomomics and Rural Development," A.D. offset printers, Meerut
- पंत, जे0 सी0, एवं मिश्रा, जे0 पी0 (2010) ''व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

10.14 निबन्धात्मक प्रश्न

(क) समोत्पाद वक्र और सीमान्त तकनीकी प्रतिस्थापन दर की व्याख्या कीजिए।

(ख) दो साधनों के न्यूनतम लागत पर उत्पादन की विस्तृत चर्चा कीजिए तथा इसे रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट कीजिए।

इकाई संरचना

11.1 प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध
11.4 उत्पादन संभावना वक्र
11.4.1 सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर
11.5 उत्पादन संभावना वक्र एवं दो उत्पादों के आपसी सम्बन्ध
11.6 उत्पादन संभावना वक्र एवं विवेकपूर्ण उत्पादन
11.7 सम–आय रेखा
11.8 उत्पादन सम्भावना वक्र तथा अधिकतम आय के लिये शर्तें
11.9 अभ्यास प्रश्न
11.10 सारांश
11.11 शब्दावली
11.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
11.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.15 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

उत्पादन फलन, सम्बन्ध एवं नियम से सम्बन्धित यह ग्यारहवीं इकाई है। इससे पहले की इकाई में साधन–साधन सम्बन्ध के बारे में अध्ययन किया गया था। साधन–साधन सम्बन्ध परिचर्चा इस बारे में थी कि जब दो चल साधन किसी वस्तु की एक विशेष मात्रा को प्राप्त करने के लिए प्रयोग में लाये जाते हैं, तो इन साधनों का क्या सम्मिश्रण होना चाहिए कि इनकी पूर्व प्रचलित नियत दामों पर, कुल लागत न्यूनतम हो जाये।

प्रस्तुत इकाई में उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध के बारे में परिचर्चा की जायेगी जिसमें यह बताया जायेगा कि यदि किसान के पास एक चल साधन जिससे वह दो (या दो से अधिक) फसलों का उत्पादन कर सकता है तो वह उससे, इन फसलों के किस सम्मिश्रण को प्राप्त करने की चेष्टा करे कि जिससे फसलों के प्रचलित नियत मूल्यों पर उसकी कुल आय (total revenue) अधिकतम हो जाये।

वर्तमान इकाई के अध्ययन के बाद आप अधिकतम आय प्राप्त करने वाली अनुकूलतम शर्तों की चर्चा कर सकेंगे।

11.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप बता सकेंगे कि–

- उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध किसे कहते हैं?
- उत्पादन सम्भावना वक्र के किस बिन्दु पर अधिकतम आय प्राप्त किया जा सकता है?
- सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर क्या है?

11.3 उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध

उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध के अन्तर्गत किस उत्पाद वस्तु का उत्पादन किया जाये सम्बन्धी निर्णय लिया जाताा है। इसके लिए उत्पादन सम्भावना वक्र का प्रयोग किया जाता है। अधिकतम आय सुनिश्चित करने के लिए उत्पादन सम्भावना वक्र के अतिरिक्त सम–आय (Iso-Revenue) रेखा का प्रयोग किया जाता है। जिस तरह से साधन–साधन सम्बन्धों की अनुकूलतम स्थिति को जानने के लिए आप दो उपकरणों का प्रयोग किये थे। वे उपकरण थे– (1) सम–मात्रा वक्र तथा (2) सम–लागत रेखा, उसी तरह से उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध की अनुकूलतम स्थिति के बारे में जानने के लिए निम्नलिखित दो उपकरणों का प्रयोग करेंगे–

(1) उत्पादन संभावना वक्र, तथा

(2) सम–आय रेखा

11.4 उत्पादन सम्भावना वक्र

उत्पादन संभावना वक्र पूर्ति पक्ष को व्यक्त करता है। यह बताता है कि कोई किसान उपलब्ध उत्पादन के साधनों का अधिकतम कुशलता से प्रयोग करते हुए दो वस्तुओं के

कोन–कौन से विविध वैकल्पिक संयोगों का उत्पादन कर सकता है। उत्पादन सम्भावना वक्र को उत्पाद रूपान्तरण वक्र भी कहते हैं। इसी को सम–साधन वक्र भी कहा जाता है। उत्पादन सम्भावना वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि किसान के पास कुछ और साधन तो है, परन्तु वे एक विशिष्ट (specific) प्रकृति के हैं तथा किसी विशेष फसल के उत्पादन के लिए ही प्रयोग में लाये जा सकते हैं। इस कारण उनके, एक से अधिक फसलों के उत्पादन के लिये प्रयोग किये जाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उत्पादन संभावना वक्र की ढलान किसी एक उत्पाद की उस मात्रा को मापती है जो किसी दूसरी उत्पाद की अतिरिक्त इकाई पाने के लिए छोड़नी पड़ती है। उत्पादन सम्भावना वक्र दो उत्पादों के बीच भिन्न–भिन्न प्रकार के सम्बन्धों तथा इनके कारण प्राप्त होने वाले विभिन्न प्रकार के उत्पादन सम्भावना वक्रों का वर्णन करता है।

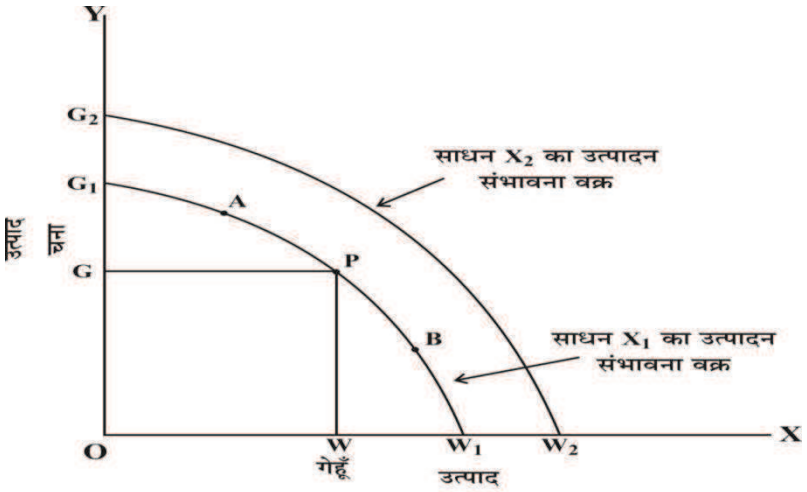

रेखाचित्र 11.1 : उत्पादन संभावना वक्र

रेखाचित्र 11.1 में उत्पादन सम्भावना वक्र को दिखाया गया है। कल्पना कीजिए कि एक किसान के पास एक चल साधन की X_1 मात्रा है तथा इससे वह दो फसलों X अक्ष पर गेहूँ तथा Y अक्ष पर चना का उत्पादन कर सकता है। जब किसान के पास साधन X_1 की एक नियत मात्रा है, तो वह इससे या तो गेहूँ का उत्पदन (OW_1) कर सकता है या चना का (OG_1) या फिर दोनों के किसी सम्मिश्रण का। जैसे कि बिन्दु P पर दिखाया गया है। बिन्दु P पर गेहूँ का OW एवं चना का OG का उत्पादन कर सकता है। बिन्दु G_1PW_1 को जोड़ देने से जो रेखा प्राप्त होती है उसे उत्पादन संभावना वक्र कहते हैं। साधन X_1 का G_1W_1 उत्पादन सम्भावना वक्र है। यदि किसान केवल गेहूँ या केवल चना का उत्पादन करने की बजाय, इनके मिले–जुले उत्पादन को प्राप्त करना चाहता है तो वह उत्पादन संभावना वक्र G_1W_1 के किसी भी बिन्दु (A,P,B आदि) पर दोनों फसलों के कई सम्मिश्रण प्राप्त कर सकता है। जब साधन की मात्रा में वृद्धि (X_2) होती है, तो उत्पादना संभावना वक्र दायीं की ओर जाता है जिसे G_2W_2 से दिखाया गया है। तकनीकी में वृद्धि या सुधार के फलस्वरूप भी उत्पादन में वृद्धि होती है। उत्पादन संभावना

वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि दिये हुए साधन द्वारा, पैदा किये दोनों उत्पाद एक दूसरे के प्रतियोगी है तथा दोनों का उत्पादन, साधन के घटते हुए सीमान्त वस्तुपरक उत्पादन के नियम के अनुसार होता है।

11.4.1 सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर (MARGINAL RATE OF PRODUCT SUBSTITUTION – MRPS) या सीमान्त उत्पाद रूपान्तरण दर (MARGINAL RATE OF TRANSFORMATION)

सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर एक उत्पादन संभावना वक्र के किसी एक बिन्दु पर, एक उत्पाद (मान लो गेहूँ) की वह मात्रा दिखाती है जो कि दूसरे उत्पाद (मान लो चना) की एक अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिये, गेहूँ के उत्पादन की इकाई को छोड़नी पड़ेगी। सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर (MRPS) को इस प्रकार दर्शाया जायेगा।

$$MRPS_{GW} = \frac{\Delta W}{\Delta G}$$

$MRPS_{GW}$ उत्पादन सम्भावना वक्र की ढाल को भी दर्शाता है। इसलिये हम कह सकते हैं कि एक उत्पादन संभावना वक्र के किसी बिन्दु पर MRPS उस वक्र की ढाल $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ के माप के बराबर होगा। एक उत्पादन संभावना की ढाल प्रायः नकारात्मक होती है।

11.5 उत्पादन सम्भावना वक्र एवं दो उत्पादों के बीच आपसी सम्बन्ध

अभी तक आप समझ गये होंगे कि उत्पादन संभावना वक्र इस मान्यता पर आधारित है कि एक दिये हुए साधन के द्वारा जिन दो वस्तुओं का उत्पादन किया जाता है, वे एक दूसरे के प्रतियोगी उत्पाद है तथा दोनों का उत्पादन साधन के घटते हुए सीमान्त वस्तुपरक उत्पादन के नियम के अनुसार होता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि दो उत्पाद के आपसी सम्बन्ध के कुछ और भी आधार होते हैं, जिसके कारण उत्पादन संभावना वक्र की शक्लें कई प्रकार की होती है। उत्पादन संभावना वक्र उत्पाद की प्रकृति एवं विशेषता पर निर्भर करता है। विभिन्न प्रकार के उत्पादन संभावना वक्र का वर्णन नीचे किया जा रहा है।

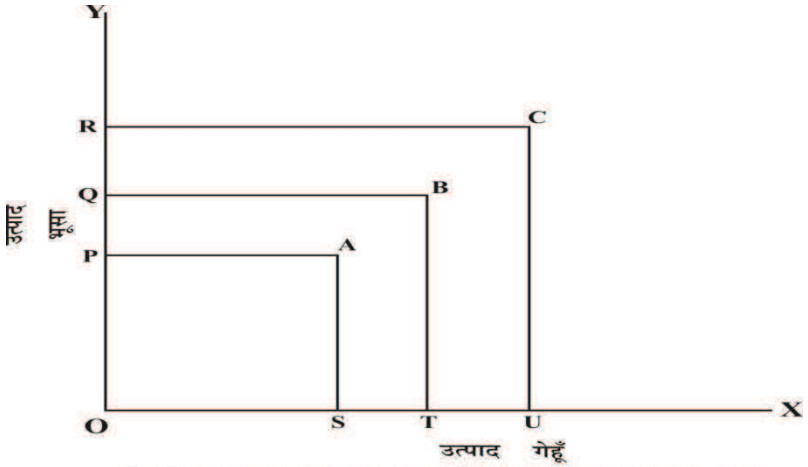

रेखाचित्र 11.2 : संयुक्त उत्पाद के लिए उत्पादन संभावना वक्र

(1) संयुक्त उत्पाद और उत्पादन संभावना वक्र (Joint Product and Production Posibility Curve): संयुक्त उत्पाद से तात्पर्य उस उत्पाद से होता है जब एक उत्पाद के उत्पादन प्रक्रिया में दूसरे उत्पाद का उत्पादन स्वयं होता है जैसे गेहूँ तथा भूसा, किसी पशु का मांस तथा उसकी खाल आदि। रेखाचित्र 11.2 में स्थिर अनुपात के अन्तर्गत उत्पादित संयुक्त उत्पाद के उत्पादन के लिए उत्पादन संभावना वक्र को दिखाया गया। रेखाचित्र से स्पष्ट है कि एक उत्पाद में वृद्धि के साथ दूसरे उत्पाद में भी वृद्धि दर्ज हो रही है।

(2) संपूरक उत्पाद (Complementary Product) तथा उत्पादन संभावना वक्रः जब एक दिये हुए साधन की मात्रा के प्रयोग से एक उत्पाद का उत्पादन दूसरे उत्पाद के उत्पादन में (बिना पहले उत्पाद के उत्पादन में घटाये) वृद्धि करता है तो ऐसे उत्पाद को संपूरक उत्पाद कहते हैं। कृषि में प्रायः संपूरक उत्पादों के उदाहरण मिश्रित खेती में मिलते हैं, जैसे गेहूँ तथा सरसों की खेती। दोनों फसलों को इकट्ठा उगाने से, एक सीमा तक दोनों उत्पाद के उत्पादन में वृद्धि होती है। परन्तु एक सीमा के बाद ये दो उत्पाद एक दूसरे के प्रतियोगी उत्पाद बन जाते हैं। अर्थात् एक उत्पाद में वृद्धि दूसरे उत्पाद में कमी लाने लगता है। इस तरह के उत्पादन संभावना वक्र को रेखाचित्र 11.3 में दिखाया गया है।

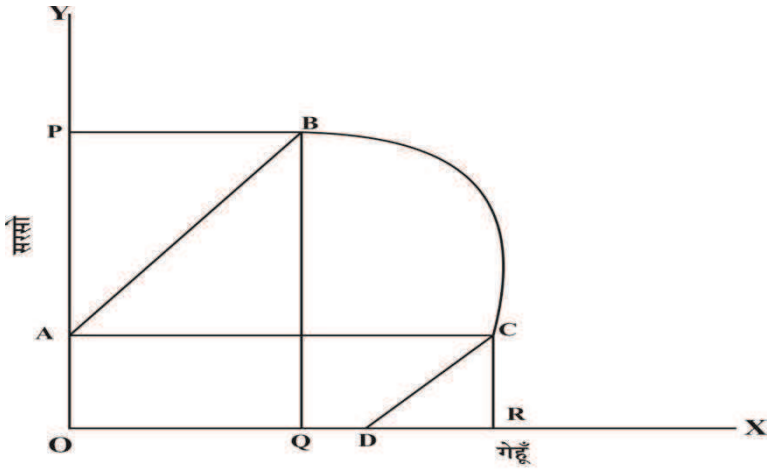

रेखाचित्र 11.3 : संपूरक उत्पाद के लिए उत्पादन संभावना वक्र

ABCD उत्पादन संभावना वक्र है। उत्पादन संभावना वक्र के बिन्दु A से लेकर बिन्दु B तक तथा बिन्दु B से C तक गेहूँ के उत्पादन में वृद्धि सरसों के उत्पादन में भी वृद्धि ला रही है। रेखाचित्र 11.3 में स्पष्ट है कि गेहूँ तथा सरसों संपूरक उत्पादन है। यदि एक उत्पादक, साधन की दी हुई मात्रा से केवल सरसों का उत्पादन करता है तो वह सरसों का केवल OA मात्रा का उत्पादन कर सकता है। परन्तु वह साधन की इस मात्रा का कुछ भाग गेहूँ के उत्पादन में लगाता है, तो सरसों का उत्पादन घटने की बजाय बढ़ता जाता है, इसी के साथ गेहूँ का उत्पादन भी बढ़ता जाता है। ऐसा तब तक होता रहता है जब तक दोनों उत्पाद का उत्पादन OP के बराबर नहीं हो जाता है या QB के बराबर नहीं हो जाता है। बिन्दु B के पश्चात यदि साधन की और मात्रा, गेहूँ के उत्पादन के लिए लगी जाती है, तो सरसों का उत्पादन कम होने लगता है अर्थात् उत्पादन संभावना वक्र

पर बिन्दु B के पश्चात गेहूँ उत्पाद सरसों का सम्पूरक होने की बजाय, सरसों का प्रतियोगी बन जाता है। अब गेहूँ के उत्पादन में वृद्धि करने पर, सरसों की मात्रा में कमी हो जायेगी। बिन्दु B एवं C उत्पादन संभावना वक्र के उस वक्र को दर्शाता है जहाँ दोनों फसलें एक दूसरे के प्रतियोगी है। उत्पादन संभावना वक्र ABCD के दो सिरों AB एवं CD पर दो उत्पादों की संपूरक वृत्ति दिखायी देती है, बिन्दु B एवं C के बाद ये उत्पाद एक दूसरे के प्रतियोगी बन जाते हैं।

(3) अनुपूरक उत्पाद (Supplementary Product) तथा उत्पादन संभावना वक्रः फसलों का उत्पादन एक मौसमी प्रक्रिया है, एक निश्चित मौसम के आने से उस अवधि में एक साधन श्रम के रूप में पूर्णतया व्यस्त हो जाते हैं। परन्तु उस अवधि के पश्चात श्रमिकों की आवश्यकता कम हो जाती है। इस प्रकार के समय में कुछ श्रम को मुर्गी पालन आदि के कामों में लगाया जा सकता है। इससे फसलों के उत्पादन में न तो कमी आयेगी और न ही यह बढ़ेगा। इस प्रकार के उत्पाद के लिए उत्पादन संभावना वक्र को रेखाचित्र 11.4 में दिखाया गया। X अक्ष पर उत्पाद X एवं Y अक्ष पर उत्पाद Y को दिखाया गया है।

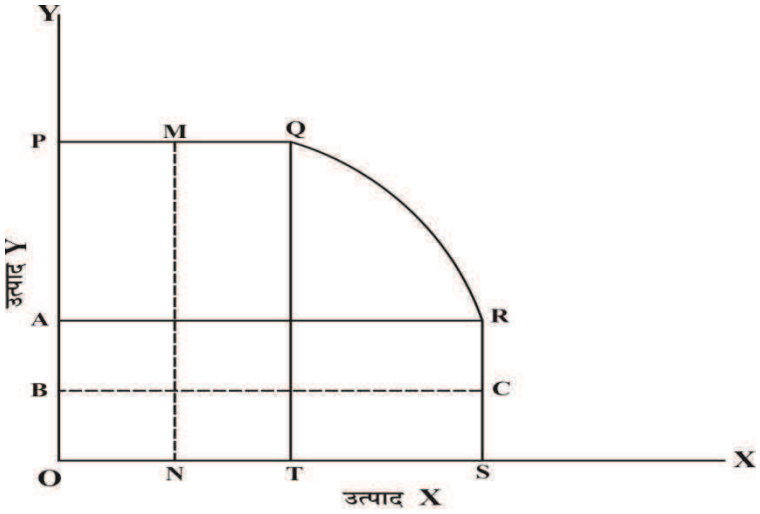

रेखाचित्र 11.4 : अनुपूरक उत्पाद के लिए उत्पादन संभावना वक्र

PQRS उत्पादन संभावना वक्र है। जब उत्पाद X की मात्रा ON से बढ़ा कर OT की जाती है, तो उत्पाद Y की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है, Y उत्पाद का उत्पादन पहले की स्थिति OP पर बना हुआ है यहाँ रेखा उत्पादन संभावना वक्र की वह बिन्दु है जहाँ पर उत्पाद X, उत्पाद Y का अनुपूरक है। इसी तरह से उत्पाद Y, उत्पादन संभावना वक्र के दो सिरों, R,S पर उत्पाद X का अनुपूरक है। परन्तु यह दोनों उत्पाद उत्पादन संभावना वक्र PQRS के QR भाग में प्रतियोगी हो गये हैं। इस भाग में एक उत्पाद की अधिक मात्रा को केवल दूसरे उत्पाद की पहली मात्रा को घटाकर ही प्राप्त किया जा सकता है।

(4) प्रतियोगी उत्पाद और उत्पादन संभावना वक्र दो उत्पाद उस समय प्रतियोगी उत्पाद कहे जाते हैं जब दिये हुए साधन की मात्रा वही रहने पर, एक उत्पाद की मात्रा को

बढ़ाने के लिए दूसरे उत्पाद में लगे हुए साधन की मात्रा को कम करना पड़ता है, फसस्वरूप, एक उत्पाद की मात्रा में वृद्धि, दूसरे उत्पाद की मात्रा में कमी लाती है। प्रतियोगी उत्पाद की स्थानापत्ति दर, एक नियत दर या बढ़ती हुई दर या घटती हुई दर से हो सकती है, यद्यपि प्रतियोगी उत्पाद के लिए उत्पादन संभावना वक्र प्रत्येक अवस्था में ऊपर से नीचे दाईं ओर ही आयेंगे, परन्तु इनकी गोलाई (Curvature) भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में अलग–अलग होगी जैसा कि रेखाचित्र 11.5 में दिखाया गया है–

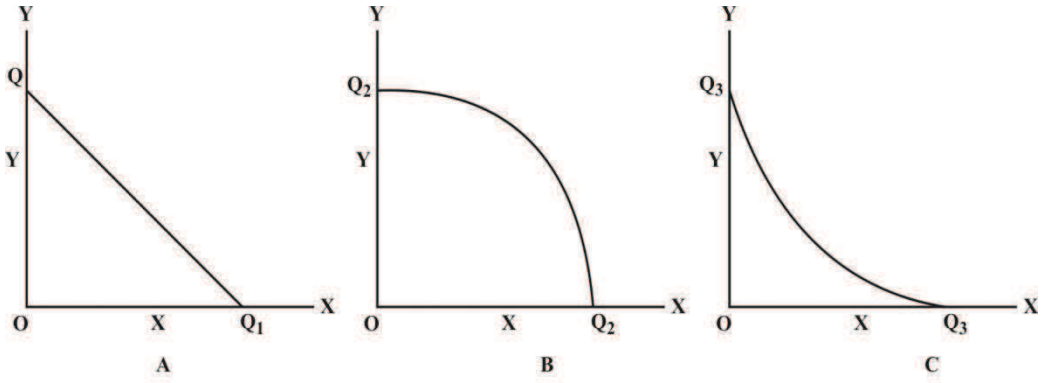

रेखाचित्र 11.5 - प्रतियोगी उत्पाद के लिए उत्पादन संभावना वक्र

रेखाचित्र 11.5(A) में QQ1 उत्पादन संभावना वक्र है। यह उत्पादन संभावना वक्र ऊपर से नीचे दाईं की ओर एक सीधी रेखा है। जब दो उत्पादों की उत्पादन संभावना वक्र ऊपर से नीचे दाईं, एक सीधी तिरछी रेखा के रूप में होती है, तो यह दर्शाती है कि एक उत्पाद की मात्रा में नियत वृद्धि, दूसरे उत्पाद की मात्रा नियत कमी लाता है अर्थात् जैसे–जैसे उत्पाद के उत्पादन में एक नियत मात्रा में वृद्धि होती है तो Y उत्पाद के उत्पादन में प्रत्येक बार, एक नियत/स्थिर मात्रा से कमी होती है। दूसरे शब्दों में आप कह सकते हैं कि इस तरह के उत्पादन संभावना वक्र में दो उत्पादों की सीमान्त प्रतिस्थापन (स्थानापत्ति) दर स्थिर होती है। इस तरह का उत्पादन संभावना वक्र (Q_1Q_1) स्थिर अवसर लागत के अन्तर्गत होता है। रेखाचित्र 11.5(B) में दो उत्पादों का उत्पादन संभावना वक्र (Q_2Q_2) मूल बिन्दु के प्रति नतोदर (concave) है, जो यह बताता है X उत्पाद की एक अतिरिक्त इकाई के लिए Y उत्पाद की छोड़े जाने वाली इकाई, X उत्पाद की एक अतिरिक्त इकाई से अधिक होती है, इसी कारण यह वक्र मूल बिन्दु की ओर नतोदर होता है, अर्थात् वस्तु X का सीमान्त प्रतिस्थापन दर बढ़ता जाता है, दूसरे शब्दों में आप कह सकते हैं कि बढ़ती अवसर लागत के अन्तर्गत उत्पादन संभावना वक्र मूल बिन्दु के प्रति नातेदार होती है जैसे कि रेखाचित्र 11.5(B) में दिखाया गया है। इसको यह भी कह सकते हैं कि उत्पादन संभावना वक्र मूल बिन्दु की ओर उस समय अवतल (concave) होता है जब दोनों उत्पादों के उत्पादन फलन घटते हुए सीमान्त प्रतिफल के नियम पर आधारित होते हैं या फिर उनमें एक घटते हुए सीमान्त प्रतिफल के नियम का अनुसरण करता है, जबकि दूसरा स्थिर सीमान्त प्रतिफल के नियम का।

रेखाचित्र 11.5(C) में Q_3Q_3 उत्पादन संभावना वक्र है, जो मूल बिन्दु के प्रति उत्तल/उन्नतोदर (Convex) है। यह वक्र उस समय प्रकट होता है जब (1) दोनों वस्तुओं का उत्पादन बढ़ते हुए सीमान्त प्रतिफल नियम के अनुसार होता है, या फिर (2) एक का उत्पादन बढ़ते हुए सीमान्त प्रतिफल के नियम के अनुसार होता है तथा दूसरे का उत्पादन स्थिर सीमान्त प्रतिफल नियम के अनुसार होता है। यह वक्र यह दर्शाता है कि X वस्तु के एक अतिरिक्त इकाई के उत्पादन के लिए, दूसरी वस्तु Y की छोड़े जाने वाली मात्रा में, प्रत्येक बार में कमी होती जाती है, अर्थात X वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई का उत्पादन लागत Y के रूप में कम है। दूसरे शब्दों में आप कह सकते हैं कि घटती अवसर लागत के अन्तर्गत उत्पादन संभावना वक्र उन्नतोदर होती है। अब आप समझ गये होंगे कि स्थिर अवसर लागत के अन्तर्गत जैसे–जैसे X वस्तु की एक अतिरिक्त इकाई में वृद्धि होती जाती है, $\left(\frac{\Delta Y}{\Delta X}\right)$ का माप स्थिर रहता है रेखाचित्र 11.5(A) में दिखाया गया है। रेखाचित्र 11.5(B) में जैसे–जैसे X की एक अतिरिक्त इकाई में वृद्धि होती है तो $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ का माप बढ़ता जाता है उसी तरह से घटती अवसर लागत के अन्तर्गत X उत्पाद की एक अतिरिक्त इकाई में वृद्धि होती है तो $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ का माप घटता जाता है जिसे रेखाचित्र 11.5(C) में स्पष्ट किया गया है।

11.6 उत्पादन संभावना वक्र एवं विवेकपूर्ण उत्पादन

आपको याद होगा कि इससे पहले आप साधन–साधन सम्बन्ध में सम–मात्रा वक्र के अन्तर्गत विवेकपूर्ण उत्पादन का अध्ययन किया था तथा आप यह भी समझ गये होंगे कि न्यूनतम लागत पर वही उत्पादन की मात्रा को प्राप्त करने के लिए समोत्पाद वक्र के अतिरिक्त सम–लागत रेखा की आवश्यकता पड़ती है। इसी तरह से उत्पाद–उत्पाद के अनुकूलतम सम्बन्ध के लिए आवश्यक शर्तों को ढूंढ़ने के लिए सम–आय रेखा (Iso-revenue line) की आवश्यकता पड़ती है। सम–आय वक्र का अध्ययन इसके बाद करेंगे। इससे पहले, आपको एक दिये हुए उत्पादन सम्भावना वक्र के विवेकपूर्ण उत्पादन वाले भाग के बारे में जानना आवश्यक है, क्योंकि एक विवेकशील किसान सदा ही उत्पादन संभावना वक्र के विवेकपूर्ण उत्पादन वाले भाग में ही उत्पादन के बारे में कोई निर्णय लेगा।

एक उत्पादन संभावना वक्र का वही भाग विवेकपूर्ण उत्पादन का भाग माना जाता है जहां दोनों उत्पाद प्रतियोगी होते हैं। अगर उत्पााद कोई विशेष उत्पाद है जैसे संपूरक या अनुपूरक, जहां एक उत्पादन की मात्रा बढ़ने पर दूसरे उत्पाद की मात्रा भी बढ़ जाती है या वही रहती है जैसे कि रेखाचित्र 11.3 में AB एवं DC द्वारा दिखाया गया है एवं रेखाचित्र 11.4 में PQ एवं SR द्वारा क्रमशः दिखाया गया है। AB एवं DC तथा PQ एवं SR

भाग को विवेकहीन उत्पादन वाले भाग कहे जाते हैं, क्योंकि उत्पादक को इन भागों के किसी भी बिन्दु पर उत्पादन को बन्द नहीं करना चाहिए। रेखाचित्र 11.3 एवं 11.4 में स्पष्ट है कि जब एक उत्पादक, अपनी ओर से एक विशेष उत्पाद की मात्रा, मान लो गेहूं की मात्रा को बढ़ाने के लिये और साधन लगा रहा है तो इसके साथ ही दूसरे उत्पाद सरसो की मात्रा अपने आप बढ़ रही है, तो उत्पादक को इस गेहूं की मात्रा बढ़ाने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। वह तो गेहूं के उत्पादन को अधिक न बढ़ाने के बारे में तभी सोचेगा जब इसके उत्पादन को बढ़ाने के लिये, सरसों के उत्पादन को घटाना पड़ेगा या जब ये उत्पादन एक दूसरे के प्रतियोगी हो जायेंगे। इसे रेखाचित्र 11.4 में स्पष्ट किया गया है।

इस व्याख्या के अनुसार रेखाचित्र 11.3 एवं 11.4 में उत्पादन संभावना वक्रों में AB एवं DC तथा PQ एवं SR भाग क्रमशः विवेकहीन उत्पादन वाले भाग हैं तथा BC एवं QR भाग क्रमशः विवेकपूर्ण उत्पादन को दर्शाते हैं। अब आप समझ गये होंगे कि उत्पादन संभावना वक्र का वही भाग विवेकपूर्ण माना जाता है जहां दोनों उत्पाद एक दूसरे के प्रतियोगी हों, अर्थात् जब एक उत्पाद की मात्रा बढ़ाना हो तो दूसरे उत्पाद की मात्रा को घटना आवश्यक हो जाता है। इस वृद्धि से प्रतियोगी उत्पादों के तीनों उत्पादन संभावना वक्र एक सिरे से दूसरे सिरे तक (रेखाचित्र 11.5 का A,B तथा C में दिखाये गये वक्र) विवेकपूर्ण उत्पादन को दिखाते हैं।

11.7 सम–आय रेखा (Iso-revenue line)

उत्पादन संभावना वक्र के दो उत्पादों के किस सम्मिश्रण पर अधिकतम आय प्राप्त होगा। इसे जानने के लिये उत्पादन संभावना वक्र के साथ–साथ आपको सम–आय रेखा की जानकारी होनी चाहिए। जिस प्रकार एक उत्पादन संभावना वक्र, दो उत्पादों के उस विभिन्न सम्मिश्रणों की जानकारी देता है जो कि एक दिये हुए साधन के द्वारा उस वक्र पर समान रूप से प्राप्त होता है, वैसे ही एक सम–आय रेखा दो उत्पादों के उस सम्मिश्रण को दिखाती है जहाँ पर यह सम–आय रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र को स्पर्श करती है। उत्पादन संभावना वक्र और सम–आय रेखा का स्पर्श बिन्दु ही अधिकतम आय को दिखाता है। अब आप समझ गये होंगे कि सम–आय रेखा दो उत्पादों के उस सम्श्रिण को दिखाती है जिनको इन उत्पादों के दिये हुए स्थिर या नियत (fixed) दामों पर बेचने से प्राप्त होने वाली कुल आय वही रहती है। दोनों उत्पादों को बेचने से जो आय प्राप्त होगी, इसे इस प्रकार लिख सकते हैं–

कुल आय (Total Revenue, TR) = उत्पाद X की मात्रा (Qx) गुणांक उत्पाद X की कीमत (Px)

कुल आय = Qx.Px

क्योंकि उत्पादन संभावना दो उत्पाद के संयोग या सम्मिश्रण को दर्शाती है जहां उत्पादक दिये हुए साधन से दोनों उत्पादों के सम्मिश्रण को प्राप्त करेगा। इसलिये यहाँ पर कुल आय = Qx.Px+Qy.Py होगा जहाँ Qx तथा Qy दो उत्पाद की मात्रा है Px

तथा Py दो उत्पाद की कीमत है। हमारी मान्यता है कि कृषि में पूर्ण प्रतियोगिता होती है, इसलिए Px तथा Py सदा स्थिर (Constant) रहेंगे। उपर्युक्त समीकरण को इस प्रकार भी लिख सकते हैं–

$TR = Qx.Px + Qy.Py$ OR $TR=Qy.Py+Qx.Px$

$Qx.Px=TR-Qy.Py$ $Qy.Py=TR-Qx.Px$

$$Qx=\frac{TR-Qy.Py}{Px} \qquad Qy=\frac{TR-Qx.Px}{Py}$$

$$Qx=\frac{TR}{Px}-\frac{Py}{Px}.Qy \qquad Qy=\frac{TR}{Py}-Qx.\frac{Px}{Py}$$

उपर्युक्त समीकरण में $\frac{TR}{Px}$, रेखाचित्र 11.6 में X अक्ष पर इस रेखा की मूल बिन्दु (O) से दूरी (intercept) को दिखायेगी तथा $\frac{Py}{Qx}$ ढाल की माप को दिखायेगी। मान लीजिए उत्पाद X एवं Y की कीमत क्रमशः रु. 40 एवं 30 है, तथा उत्पादक की वांछित आय रु.160 है तो उत्पाद X की मूल बिन्दु (O) से दूरी होगी $Qx=TR/Px=160/40=4$ अर्थात् अगर उत्पादक Y उत्पाद का उत्पादन शून्य करता है तो रु.160 आय प्राप्त करने के लिए वह उत्पाद X की 4 इकाई का उत्पाद करेगा, इसी प्रकार से अगर उत्पादक केवल Y उत्पादन के उपयोग से वही आय (रु.160) को प्राप्त करना चाहता है तो उत्पाद X की शून्य इकाई तथा Y की $TR/PY=160/30=5.33$ इकाई (जो मूल बिन्द से Y अक्ष पर दूरी को दर्शा रहा है) से प्राप्त करेगा। दोनों उत्पाद के बिन्दुओं को जोड़ देने से जो रेखा प्राप्त होगी उसे सम–आय रेखा कहा जाता है। यह रेखा एक दी हुई वांछित आय (TR) का प्रतिनिधित्व करेगी, जिसे रेखाचित्र 11.6 में दिखाया गया है।

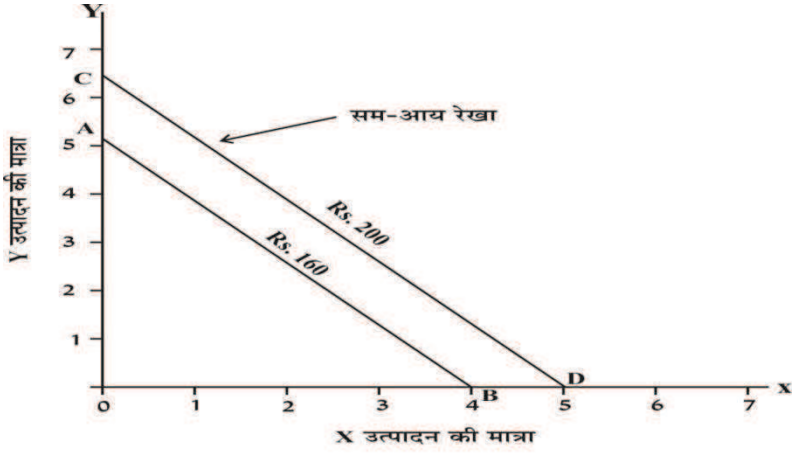

रेखाचित्र 11.6 : सम-आय रेखा

रेखाचित्र 11.6 में दो सम–आय AB तथा CD है जो कि क्रमशः 160 तथा 200 आय को दिखा रही है। सम–आय रेखा AB दो उत्पादों के उन सम्मिश्रणों को दिखाती है जिनको उनके प्रचलित (स्थिर) कीमत पर बेचने से एक ही आय प्राप्त होती है। यहाँ पर आप ध्यान दें कि प्रत्येक सम–आय रेखा का ढाल PY/PX के बराबर होगा, क्योंकि सभी सम–आय रेखा इस मान्यता पर बनाई गयी है कि प्रत्येक रेखा के लिए उत्पाद कीमत वही है, इसलिए सभी सम–आय रेखा की ढाल का माप वही होगा। इसका अर्थ यह होगा कि सभी सम–आय रेखा एक दूसरे के समानांतर होगी। अगर आप रेखाचित्र 11.6 में सम–आय रेखा CD को देखें तो वह सम–आय रेखा AB के समानांतर है तथा AB रेखा से ऊपर है। यह तब होता है जब वांछित आय अधिक हो और कीमत वही बनी रहे। रेखाचित्र 11.6 में सम–आय रेखा CD पर वांछित आय 200 है, जो कि वांछित आय 160 से अधिक है। अब वांछित आय रु0 200 पर सम–आय रेखा कैसी होगी या उत्पाद X और Y की मूल बिन्दु से दूरी को ज्ञान करने के लिए वांछित आय को उत्पाद की कीमत से भाग देने पर जो इकाई प्राप्त होगी, वही मूल बिन्दु से दूरी बतायेगी, जैसे उत्पाद X से कुल वांछित आय प्राप्त करना चाहते हैं तो रु. 200÷40=5 इकाई तथा Y की शून्य इकाई। इसी प्रकार उत्पाद Y से कुल आय प्राप्त करना चाहते हैं तो, 200/30=6.66 इकाई। इन दोनों बिन्दुओं X की शून्य से 5 तथा Y की शून्य से 6.66) को जोड़ने से सम–आय रेखा CD प्राप्त होगी। जिसे रेखाचित्र 11.6 में CD से दिखाया गया है।

आप समझ गये होंगे कि जब तक दो उत्पादों की कीमत वही रहता है, सम–आय रेखा की ढाल वही रहेगी। जब इनमें से किसी एक उत्पाद या दोनों उत्पाद की कीमत में परिवर्तन होता है तो सम–आय रेखा की ढाल में भी परिवर्तन होता है। मान लीजिए उत्पाद X की कीमत रु. 40 प्रति इकाई से गिरकर रु0 20 हो जाती है तो अब वही आय (रु. 160) प्राप्त करने के लिए 160/20=8 इकाई को बेचना होगा, जिससे सम आय रेखा AB का सिरा Y लंब पर वही रहेगा अर्थात 5.33 इकाई तथा X अक्ष पर बदल कर 8 इकाई पर चला जायेगा, बिन्दु AE को जोड़ देने से नयी सम–आय रेखा AE प्राप्त होगी जिस पर वही (रु. 160) आय प्राप्त करने के लिए X की अधिक इकाई बेच रहा है, क्योंकि यह उत्पाद पहले की अपेक्षा सस्ती हो गयी है। यहां पर आप ध्यान दें कि X की कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप सम–आय रेखा AE ने सम–आय रेखा AB की जगह ले ली है। कीमत में परिवर्तन के फलस्वरूप सम–आय रेखा AE का ढाल, सम–आय रेखा AB से अलग होगा। नई सम–आय रेखा AE को रेखाचित्र 11.7 में दिखाया गया है।

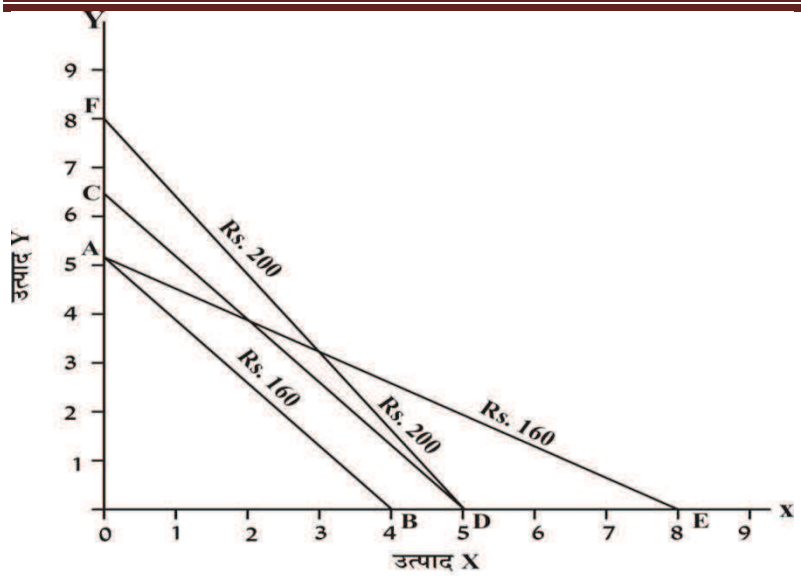

रेखाचित्र 11.7 - सम-आय रेखा पर उत्पाद के कीमतों में परिवर्तन का प्रभाव

इसी प्रकार से जब उत्पाद Y की कीमत कम हो जाती है तथा X की वही बनी रहती है, तो सम–रेखा में परिवर्तन आ जायेगा। मान लीजिए उत्पाद Y की कीमत प्रति इकाई रु. 30 से गिरकर रु. 25 हो जाती है तो वांछित आय वही (200) प्राप्त करने के लिए अब Y अक्ष पर उत्पाद Y की 8 इकाई (200/25) प्राप्त करेगा। बिन्दु DF को जोड़ देने से नयी सम–आय रेखा DF प्राप्त होगी जिसे रेखाचित्र 11.7 में दिखाया गया है। इस सम–आय रेखा पर वही वांछित आय (200) प्राप्त होगी, परन्तु इस रेखा की ढाल का माप वही नहीं रहेगा, बदल जायेगा, क्योंकि उत्पाद Y की कीमत में परिवर्तन हो गया है।

सम–आय रेखा AB पर वांछित आय 160 प्राप्त हो रहा है तथा सम–आय रेखा AE पर वही आय (160) प्राप्त हो रहा है क्योकिं सम–आय रेखा AB पर कुल आय (TR) है–

$TR=Qx.Px+Qy.Py$

$4x40+0x30$

$160+0=160$

= रु. 160

इसी प्रकार सम–आय रेखा AE पर भी कुल आय 160 है–

AE सम–आय रेखा पर कुल आय $= Qx.Px+Qy.Py$

$= 8x20+0x30$

$=160+0$

= रु. 160

इसी तरह से अन्य सम–आय रेखा को समझा सकते हैं।

11.8 उत्पादन संभावना वक्र तथा अधिकतम आय की शर्तें

जिस प्रकार से आप सम–मात्रा वक्र पर एक दिये हुए उत्पादन को प्राप्त करने के लिए दो साधनों के उस सम्मिश्रण का प्रयोग किये थे जो सम–लागत रेखा की न्यूनतम बिन्दु को स्पर्श करती थी उसी प्रकार से अब आप यहाँ पर जानने की चेष्टा करेंगे कि एक दिये हुए साधन के द्वारा दो उत्पादों के उत्पादन संभावना वक्र के किस बिन्दु पर अधिकतम आय प्राप्त होगी। उत्पाद संभावना वक्र पर अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए हमें सम–आय रेखा की आवश्यकता पड़ेगी। उत्पादन संभावना वक्र पर अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक है–

1. उत्पादन संभावना वक्र किस प्रकार का है– क्या यह अवतल (concave) है? या उत्तल (convex) या एक सीधी रेखा के रूप में है।
2. उत्पादन संभावना पर दिये हुए उत्पाद एक दूसरे के प्रतियोगी हो।
3. उत्पादन सम्भावना वक्र एक सिरे से दूसरे सिरे तक केवल विवेकपूर्ण उत्पादन को ही दिखाता है।
4. सम–आय रेखा इस मान्यता पर आधारित है कि दोनों उत्पाद के मूल्य कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता है।
5. अधिकतम आय वहाँ पर प्राप्त होगी जहाँ पर सम–आय रेखा, उत्पादन संभावना वक्र के उच्चतम बिन्दु को स्पर्श करती है।

उपर्युक्त शर्तों के आधार पर अवतल उत्पादन संभावना वक्र पर अधिकतम आय प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे।

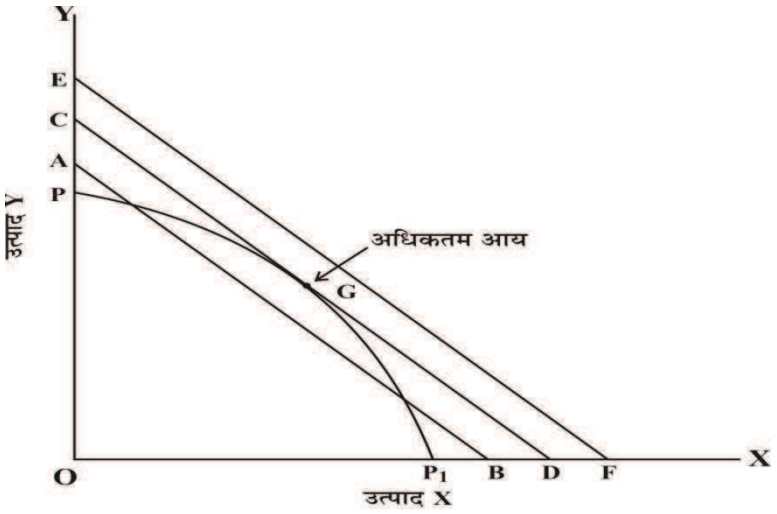

रेखाचित्र 11.8 : अवतल उत्पादन संभावना वक्र पर अधिकतम आय

रेखाचित्र 11.8 में उत्पादन संभावना वक्र दिखाया गया है, जिसमें उपर्युक्त बिन्दु 2 से 5 तक की सभी शर्तें लागू होती है। PP_1 उत्पादन संभावना वक्र है। AB,CD,EF सम–आय रेखा है जो एक दूसरे के समानांतर है क्योंकि इसमें उपर्युक्त चौथी शर्त लागू

होती है। बिन्दु G अधिकतम आय को दर्शा रहा है। PP_1 उत्पादन संभावना वक्र एक सबसे ऊँची सम–आय रेखा CD बिन्दु G पर स्पर्श कर रहा है। यही G पर उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त होगा। दूसरे शब्दों में इस बिन्दु पर उत्पादन संभावना वक्र की ढाल सम–आय रेखा की ढाल के बराबर है। यही उत्पादक के लिए अपनी कुल आय को अधिकतम करने के लिए शर्त है। यहाँ पर ध्यान दें कि सम–आय रेखा जिस तरह से ऊपर दाहिने के तरफ जाती है, वह अधिक सम–आय की दिखाती है। उत्पादक सम–आय रेखा EF पर उत्पादन नहीं करेगा क्योंकि यह उत्पादक की पहुंच से बाहर है। इसी तरह सम–आय रेखा (AB) पर उत्पादन नहीं करेगा क्योंकि यह कम आय को दिखाती है।

जैसा कि आप जानते हैं कि एक उत्पादन संभावना वक्र के किसी बिन्दु पर, इसकी ढाल का माप उसके सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर (Marginal rate of product substitution) (ऊपर दिये गये रेखाचित्र 11.8 के अनुसार) $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ के बराबर है।

सम–आय रेखा की ढाल का माप $\frac{Px}{Py}$ के बराबर है यदि आप कुल आय को इस तरह से गणना करते हैं–

$$TR = Qy.Py + Qx.Px$$

$$Qy.Py = TR - Qx.Px$$

$$Qy = \frac{TR - Qx.Px}{Py} \text{ or } Qy = \frac{TR}{Py} - \frac{Px}{Py}.Qx$$

अब आप समझ गये होंगे कि उत्पादक के लिए अधिकतम आय प्राप्त करने की शर्त यह है–

$$\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{Px}{Py}$$

इस समीकरण को इस प्रकार भी लिखा जा सकता है–

$$\Delta y.Py = \Delta x.Px$$

यहाँ पर ध्यान दें कि उत्पाद Y और उत्पाद X की मात्रा में परिवर्तन (अर्थात ΔY तथा ΔX) का कारण एक ही है। वह यह है कि साधन श्रमिक (L) का वही भाग (L) एक उत्पाद के उत्पदन की बजाय दूसरे उत्पादन में लगा दिया जाता है। अब यदि समीकरण $\Delta y.Py = \Delta x.Px$ के दोनों पक्षों को L से भाग देते हैं, तो इस समीकरण को इस प्रकार लिख सकते हैं–

$$\frac{\Delta y.Py}{\Delta L} = \frac{\Delta x.Px}{\Delta L}$$

वास्तव में यह $\frac{\Delta y.Py}{\Delta L}$ साधन L की, उत्पाद Y से प्राप्त होने वाली सीमान्त मूल्य उत्पदकता ही है। इसी प्रकार समीकरण $\frac{\Delta x.Px}{\Delta L}$ साधन L की, उत्पाद X के उत्पादन से प्राप्त होने वाली सीमान्त मूल्य उत्पादकता को दर्शाती है। दूसरे शब्दों में समीकरण $\frac{\Delta y.Py}{\Delta L}=\frac{\Delta x.Px}{\Delta L}$ को ऐसे भी लिख सकते हैं–

साधन L की,

उत्पाद Y के उत्पादन से प्राप्त सीमान्त मूल्य उत्पादकता = साधन L की, उत्पाद X के उत्पादन से प्राप्त सीमान्त मूल्य उत्पादकता।

अब यदि साधन L की, उत्पाद Y के उत्पादन से प्राप्त सीमान्त मूल्य उत्पादकता एवं उत्पाद X के उत्पादन से प्राप्त सीमान्त मूल्य उत्पादकता को साधन L के मूल्य से भाग दे दिया जाये तो उपर्युक्त समीकरण निम्नलिखित रूप ले लेगा।

$$\frac{\text{साधन L की उत्पाद Y के उत्पादन से प्राप्त सीमान्त मूल्य उत्पादकता}}{\text{साधन L का मूल्य}}$$

$$= \frac{\text{साधन L की उत्पाद X के उत्पादन से प्राप्त सीमान्त मूल्य उत्पादकता}}{\text{साधन L का मूल्य}}$$

या $$\frac{\text{Marginal value Productivity of L in Producing Y}}{\text{Price of factor L}}$$

$$= \frac{\text{Marginal value Productivity of L in Producing i}}{\text{Price of factor L}}$$

उपर्युक्त समीकरण ही दो उत्पादों के उत्पादन से अधिकतम आय सुनिश्चित करने वाले वांछित सम्मिश्रण की, एक साधन की सीमान्त मूल्य उत्पादकता के रूप में, जानकारी देता है।

आपने अभी अध्ययन किया कि जब उत्पादन संभावना वक्र अवतल होता है तो अधिकतम आय का निर्धारण उस बिन्दु पर होता है, जहाँ सम आय रेखा उत्पादन संभावना वक्र को स्पर्श करती है, लेकिन जब उत्पादन संभावना वक्र एक सीधी रेखा या शून्य बिन्दु की ओर उत्तल होती है तो कुल आय को अधिकतम करने की शर्तें अलग होती है। एक उत्पादन सम्भावना उस समय एक सीधी सरल रेखा होती है, जब इसके प्रत्येक बिन्दु पर सीमान्त उत्पादन स्थानापत्ति दर समान रहती है। इस तरह का उत्पादन सम्भावना वक्र रेखाचित्र 11.9 में दिखाया गया है।

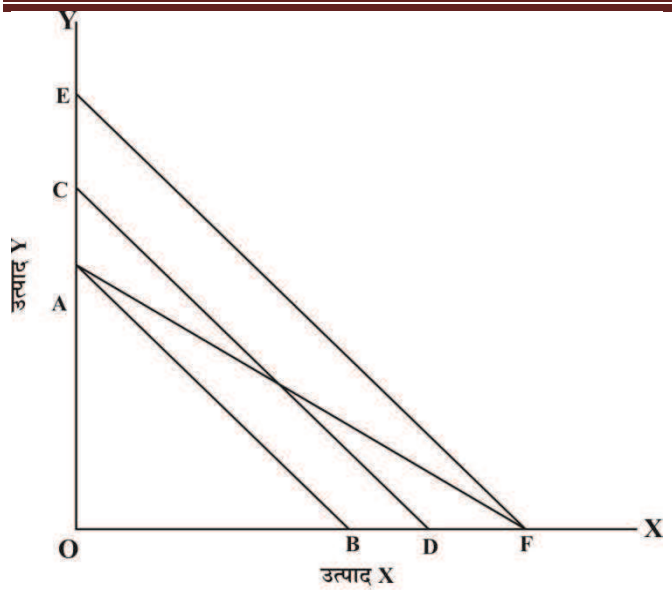

रेखाचित्र 11.9

रेखाचित्र 11.9 में AF रेखा उत्पादन सम्भावना वक्र है। AB,CD तथा EF सम–आय रेखा है। इस प्रकार के उत्पादन संभावना वक्र की दशा में अधिकतम आय वाला बिन्दु वहाँ नहीं होता है, जहां एक सम–आय रेखा इनको स्पर्श करती है। अपितु अधिकतम आय बिन्दु F पर होगा। ऐसी स्थिति में यदि उत्पादक को कुल आय को अधिकतम करना है तो वह उत्पाद X की OF इकाई का उत्पादन करेगा क्योंकि EF सम–आय रेखा सबसे ऊँची सम–आय रेखा है।

एक उत्पादन संभावना वक्र जब उत्तल या उन्नतोदर होती है तो इस वक्र पर सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर घटती जाती है जिसे रेखाचित्र 11.10 में दिखाया गया है।

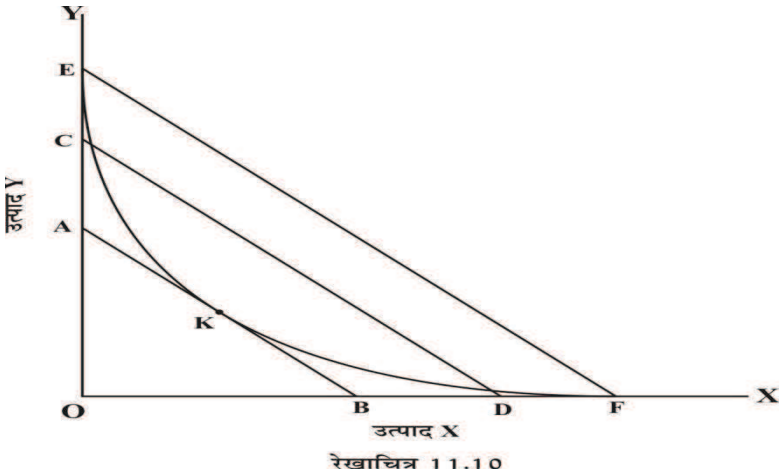

रेखाचित्र 11.10

रेखाचित्र 11.10 में CKD उत्पादन संभावना वक्र है जो शून्य या मूल बिन्दु की ओर उत्तल है। इस रेखाचित्र में उत्पादन संभावना वक्र CKD सम–आय रेखा AB को बिन्दु K पर स्पर्श कर रही है, परन्तु बिन्दु K पर अधिकतम आय प्राप्त नहीं होगी क्योंकि ऐसा

स्पर्श बिन्दु K एक न्यूनतम आय को दर्शायेगा न कि अधिकतम आय को। ऐसी स्थिति में स्पष्ट है कि यदि उत्पादक को अपनी कुल आय को अधिक करनी है तो उसे केवल उत्पाद Y की OE मात्रा का उत्पादन करना चाहिए, क्योंकि EF सम–आय रेखा सबसे ऊँची सम–आय रेखा है। इस सम–आय रेखा EF पर उत्पादन संभावना वक्र बिन्दु E पर स्पर्श कर रही है, जहाँ उत्पादक को अधिकतम आय प्राप्त होती है।

11.9 अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

(क) अवतल उत्पाद संभावना वक्र का कारण बताइये।

(ख) सम–आय रेखा किसे कहते हैं?

(ग) अवतल उत्पादन संभावना वक्र पर अधिक आय प्राप्त करने वाली शर्त बताइये।

(घ) सीमान्त उत्पाद प्रतिस्थान दर किसे कहते हैं?

2. सत्य–असत्य बताइये–

(क) प्रायः कृषि में दो प्रतियोगी उत्पाद के सम्बन्ध में निर्णय लेने के लिए शून्य की ओर अवतल उत्पादन संभावना वक्र का प्रयोग किया जाता है।

(ख) घटती अवसर लागत के अन्तर्गत उत्पादन संभावना वक्र उन्नतोदर होती है।

(ग) संपूरक उत्पाद और अनुपूरक उत्पाद में कोई अन्तर नहीं है।

(घ) सम–आय रेखा पर समान आय प्राप्त नहीं होता है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) एक उत्पादन संभावना वक्र मूल बिन्दु की ओर अवतल होता है, जब

(अ) दोनों उत्पाद के उत्पादन फलन घटते हुए सीमान्त प्रतिफल नियम पर आधारित होता है।

(ब) एक घटते हुए सीमान्त प्रतिफल नियम का अनुसरण करता है, जबकि दूसरा स्थिर सीमान्त प्रतिफल नियम का अनुसरण करता है,

(स) दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(ख) निम्नलिखित रेखाचित्र में विवेकपूर्ण उत्पादन है–

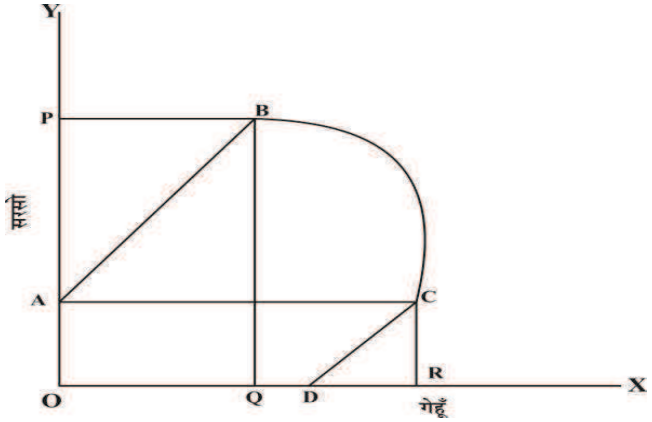

(अ) PB (ब) BC (स) DC (द) AB

(ग) उत्पाद के लिए अधिकतम लाभ प्राप्त करने की शर्त है–

(अ) $\frac{\Delta y}{\Delta x}$ (ब) $\frac{\Delta y}{\Delta x} = \frac{Px}{Py}$ (स) $\frac{Px}{Py}$ (द) इनमें से कोई नहीं

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द वाले प्रश्न

(क) संपूरक उत्पाद क्या है

(ख) उत्पादन संभावना वक्र का कोई दूसरा नाम बताइये।

(ग) संपूरक उत्पाद किस तरह की खेती में पाया जाता है?

(घ) निचे दिये हुए उत्पादन संभावना वक्र पर निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिए–

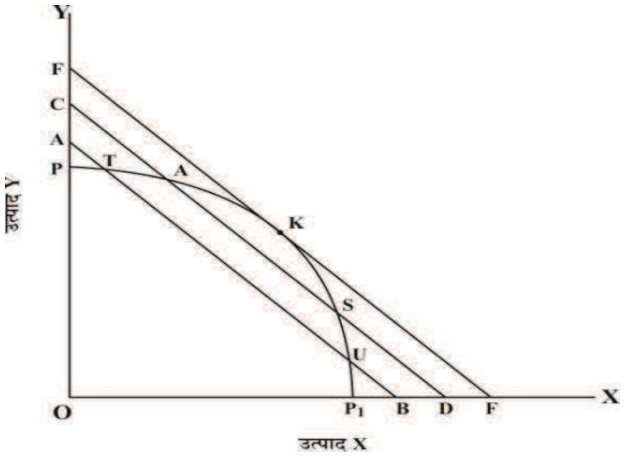

(1) अधिकतम आय बिन्दु को बताइये

(2) उस सम–आय रेखा को बताइये जहाँ पर अधिकतम आय प्राप्त हो रही है

(3) उत्पादन संभावना वक्र किस तरह का है।

5. रिक्त स्थान भरिये–

(क) स्थिर अवसर लागत के अन्तर्गत उत्पादन संभावना वक्र का सीमान्त प्रतिस्थापना दर ..... होता है।

(ख) दो उत्पाद की कीमत वही (समान) रहने पर, वांछित आय में वृद्धि होने पर सम–आय रेखा एक दूसरे के ..... होती है तथा इनका ढाल $Py \div Px$ प्रत्येक सम रेखा के लिए ..... रहता है।

(ग) वे उत्पाद जो उत्पादन की प्रक्रिया से इकट्ठे प्राप्त होते हैं, ... उत्पाद कहे जाते हैं।

(घ) एक उत्पादन संभावना वक्र की ढाल प्रायः ..... होती है।

11.10 सारांश

एक दिये हुए चल साधन की मात्रा से उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध के अन्तर्गत किस उत्पाद का उत्पादन किया जाये सम्बन्धी निर्णय लिया जाता है। उत्पादन संभावना वक्र पर दो उत्पाद के किस सम्मिश्रण को प्राप्त करने की चेष्टा करें कि जिससे फसलों के प्रचलित नियत

मूल्यों पर, उसकी कुल आय अधिकतम हो जाती है। इस प्रकार के निर्णय के लिए आवश्यक शर्तों को हम उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध को अनुकूलतम बनाने वाली शर्तें कहते हैं। उत्पादन संभावना वक्र के किसी भी बिन्दु पर सीमान्त उत्पाद प्रतिस्थापन (स्थानापत्ति) दर उस मात्रा को दिखाती है जो कि एक उत्पाद (मान लो X) की एक अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिए दूसरे उत्पाद (मान लो Y) की कितनी इकाई को छोड़नी पड़ेगी। सीमान्त उत्पाद प्रतिस्थापन दर $MRPS_{XY}$ को इस प्रकार लिख सकते हैं– $MRPS_{XY} = \frac{\Delta Y}{\Delta X}$ यह सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ उतपादन संभावना के वक्र की ढाल को भी दर्शाता है। इसलिये एक उत्पादन संभावना वक्र के किसी बिन्दु पर $MRPS$ उस वक्र के ढाल के बराबर होगी। एक उत्पादन संभावना वक्र की ढाल प्रायः नकारात्मक होती है। उत्पादन संभावना वक्र पर कुल आय का अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए सम–आय रेखा की आवश्यकता पड़ती है। सम–आय रेखा के किसी भी बिन्दु पर समान आय प्राप्त होती है। जब उत्पादन संभावना वक्र अवतल (नतोदर) होता है तो, अधिकतम आय उस बिन्दु पर प्राप्त होता है जहाँ सम आय रेखा उत्पादन संभावना वक्र को स्पर्श करती है। सम–आय रेखा एक दूसरे के समानान्तर होती है क्योंकि दो उत्पादों का मूल्य एक समान बना रहता है।

11.11 शब्दावली

- **उत्पाद रूपान्तरण वक्र** – उत्पाद रूपान्तरण वक्र को उत्पादन संभावना वक्र भी कहते हैं। यह वक्र एक उत्पाद को दूसरे उत्पाद में रूपान्तरण करने (एक उत्पाद की बजाय, साधन को दूसरे उत्पाद के उत्पादन में लगाने के द्वारा) के बारे में सूचना देता है।
- **सम–साधन वक्र**– उत्पादन रूपान्तरण वक्र को सम–साधन वक्र भी कहते हैं क्योंकि इस वक्र के प्रत्येक बिन्दु द्वारा दर्शाये गये दो उत्पादों के सम्मिश्रण को प्राप्त करने के लिए साधन की उसी मात्रा की आवश्यकता है।
- **संयुक्त उत्पाद**– वे उत्पाद जो उत्पादन की एक प्रक्रिया से इकट्ठे प्राप्त होते हैं, (जैसे भेंड़ का मांस तथा ऊन) संयुक्त उत्पाद कहे जाते हैं।
- **संपूरक उत्पाद**– एक दिये हुए साधन द्वारा दो उत्पाद के उत्पादन प्रक्रिया में एक उत्पाद की मात्रा में वृद्धि, एक सीमा तक दूसरे उत्पाद की मात्रा में भी वृद्धि लाती है। ऐसे उत्पादों को अनुपूरक उत्पाद कहते हैं।
- **अनुपूरक उत्पाद**– एक दिये हुए साधन की मात्रा द्वारा दो उत्पाद के उत्पादन प्रक्रिया में एक उत्पाद की मात्रा में वृद्धि, दूसरे उत्पाद की मात्रा को एक सीमा तक प्रभावित नहीं करती है अर्थात् दूसरी उत्पााद का उत्पादन यथास्थिर बना रहता है।

- **प्रतियोगी उत्पाद–** जब दिये हुए साधन की मात्रा के वही रहने पर एक उत्पाद की मात्रा को बढ़ाने के लिए दूसरे उत्पाद की मात्रा को कम करना आवश्यक हो जाता है। ऐसे उत्पाद प्रतियोगी उत्पाद कहलाते हैं।

11.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1(क) एक उत्पादन संभावना वक्र शून्य बिन्दु की ओर उस समय अवतल होता है, जबः

(i) दोनों उत्पादों के उत्पादन फलन घटते हुए सीमान्त प्रतिफल के नियम पर आधारित होता है, या

(ii) एक घटते हुए सीमान्त प्रतिफल के नियम का अनुसरण करता है, जबकि दूसरा नियत (constant) सीमान्त प्रतिफल के नियम का।

(ख) सम–आय रेखा दो उत्पादों से प्राप्त समान आय को दिखाती है। उत्पादन संभावना वक्र और सम–आय रेखा वक्र का स्पर्श बिन्दु अधिकतम आय को दिखाता है।

(ग) संभावना वक्र पर अधिकतम आय प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित शर्तों का होना आवश्यक है–

6. उत्पादन संभावना वक्र किस प्रकार का है– क्या यह अवतल (concave) है? या उत्तल (convex) या एक सीधी रेखा के रूप में है।
7. उत्पादन संभावना पर दिये हुए उत्पाद एक दूसरे के प्रतियोगी हो।
8. उत्पादन सम्भावना वक्र एक सिरे से दूसरे सिरे तक केवल विवेकपूर्ण उत्पादन को ही दिखाता है।
9. सम–आय रेखा इस मान्यता पर आधारित है कि दोनों उत्पाद के मूल्य कीमत में कोई परिवर्तन नहीं होता है।

अधिकतम आय वहाँ पर प्राप्त होगी जहाँ पर सम–आय रेखा, उत्पादन संभावना वक्र के उच्चतम बिन्दु को स्पर्श करती है।

(घ) सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर एक उत्पादन संभावना वक्र के किसी एक बिन्दु पर, एक उत्पाद (मान लो गेहूँ) की वह मात्रा दिखाती है जो कि दूसरे उत्पाद (मान लो चना) की एक अतिरिक्त इकाई को प्राप्त करने के लिये, गेहूँ के उत्पादन की इकाई को छोड़नी पड़ेगी। सीमान्त उत्पाद स्थानापत्ति दर (MRPS) को इस प्रकार दर्शाया जायेगा।

$$MRPS_{GW} = \frac{\Delta W}{\Delta G}$$

2(क) सत्य (ख) सत्य (ग) असत्य (घ) असत्य

3 (क) स (ख) ब (ग) ब

4 (क) जब एक दिये हुए साधन की मात्रा के प्रयोग से एक उत्पाद का उत्पादन दूसरे उत्पाद के उत्पादन में (बिना पहले उत्पाद के उत्पादन में घटाये) वृद्धि करता है तो ऐसे उत्पाद को संपूरक उत्पाद कहते हैं।

(ख) रूपान्तरण वक्र, सम–साधन वक्र

(ग) मिश्रित खेती

(घ) 1-K, 2- EF, 3- अवतल

5 (क) स्थिर (ख) समानान्तर, बराबर (ग) संयुक्त (घ) नकारात्मक

11.13 संदर्भ ग्रंथ सूची

- सोनी, आर.एन. (2008), 'कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय', विशाल पब्लिशिंग कं0 जालन्धर, इण्डिया, पृ. 321–338
- सेठ, एम.एल. 'माइक्रो अर्थशास्त्र', लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा, पृ. 258
- राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण प्ररिषद् (2000), 'व्यष्टि अर्थशास्त्र – एक परिचय', नई दिल्ली

11.14 सहायक / उपयोगी पाठ्य सामग्री

- लाल, एस.एन. (2003), 'अर्थशास्त्र के सिद्धान्त', व्यष्टि अर्थशास्त्र', शिव पब्लिशिंग हाउस, इलहाबाद
- Tyagi, B.P., (1998), "Agricultural Ecomomics and Rural Development," A.D. offset printers, Meerut
- पंत, जे0 सी0, एवं मिश्रा, जे0 पी0 (2010) ''व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

11.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. उत्पाद–उत्पाद सम्बन्ध से आप क्या समझते हैं? इसकी विस्तृत चर्चा कीजिए।
2. उत्पादन संभावना वक्र को रेखाचित्र द्वारा समझाइए।
3. उत्पादन संभावना वक्र एवं दो उत्पादों के बीच के आपसी सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।

इकाई संरचना

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन
12.4 परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धांत
12.5 परिवर्तनीय अनुपात के नियम के लागू होने के कारण
12.6 उत्पादन नियम की व्याख्या की अवधारणा
12.6.1 कुल उत्पाद और सीमान्त उत्पाद में सम्बन्ध
12.6.2 सीमान्त उत्पाद और औसत उत्पाद में सम्बन्ध
12.7 उत्पादन फलन के क्षेत्र
12.8 परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त का प्रतिफल दर
12.9 पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त
12.10 पैमाने के प्रतिफल का रेखाचित्रीय प्रदर्शन
12.11 अभ्यास प्रश्न
12.12 सारांश
12.13 शब्दावली
12.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.15 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
12.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.17 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

उत्पादन फलन सम्बन्ध एवं नियम से सम्बन्धित यह बारहवीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आप उत्पााद–उत्पाद सम्बन्ध के बारे में जानकारी प्राप्त किये थे, जिसमें आप अध्यय किये थे कि अन्य साधन स्थिर रहने पर, एक चल साधन में परिवर्तन होने पर एक किसान दो उत्पादों के किस सम्मिश्रण को प्राप्त करे, जिससे फसलों के प्रचलित मूल्यों पर अधिकतम आय की प्राप्ति हो।

प्रस्तुत इकाई में परिवर्तनीय अनुपात सिद्धान्त/नियम एवं पैमाने के प्रतिफल सिद्धान्त के बारे में विस्तृत चर्चा की जायेगी। इस इकाई में आप दोनों सिद्धान्तों के लागू होने के कारण, महत्त्व एवं अन्तर के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त करेंगे।

वर्तमान इकाई के अध्ययन के बाद आप दोनों सिद्धान्तों में अन्तर स्पष्ट कर सकेंगे तथा कृषि पर इसके लागू होने के कारण को स्पष्ट कर सकेंगे।

12.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप बता सकेंगे कि–

- परिवर्तनीय अनुपात एवं पैमाने के प्रतिफल सिद्धान्त क्या है?
- परिवर्तनीय अनुपात नियम क्यों लागू होता है?
- सीमान्त उत्पाद एवं औसत उत्पााद में क्या अन्तर है?

12.3 अल्पकालीन एवं दीर्घकालीन उत्पादन फलन

उत्पादन फलन में समय–तत्व (Time Element) एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। अर्थशास्त्र में समय से आशय उस अवधि से है जो मांग में परिवर्तन के अनुसार पूर्ति को समायोजित करने में उत्पादक को लगता है। समय तीन प्रकार का हो सकता है–

(1) अति अल्पकाल;
(2) अल्पकाल; और
(3) दीर्घकाल

(1) अति अल्पकालः इस समयावधि में पूर्ति में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता है अर्थात् उत्पत्ति के सभी साधन स्थिर स्वभाव के होते हैं।

(2) अल्पकालः इस समयावधि में कुछ साधन स्थिर स्वभाव के होते हैं तथा कुछ साधन परिवर्तनीय स्वभाव के होते हैं। अल्पकाल में जिन उत्पत्ति के साधनों में परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, उन्हें स्थिर साधन कहते हैं। जैसे प्लाण्ट तथा मशीन उत्पादन में प्रयुक्त होने वाले अल्पकाल में स्थिर साधन होंगे। अल्पकाल में जिन उत्पत्ति के साधनों में परिवर्तन किया जा सकता है, उन्हें परिवर्तनीय साधन (Variable Factor) कहते हैं जैसे श्रम। इस प्रकार अल्पकालीन उत्पादन फलन में कुछ उत्पत्ति के साधन स्थिर है तथा कुछ परिवर्तनीय। परिवर्तनशील साधनों में परिवर्तन करके उत्पादन स्तर में परिवर्तन प्राप्त किया जा सकता है। इसे परिवर्तनीय अनुपात नियम अथवा उत्पादन के परिवर्तनीय साधन का प्रतिफल कहते हैं। इसे अल्पकालीन उत्पादन फलन भी कहते हैं।

(3) दीर्घकाल– दीर्घकाल वह काल होता है, जिसमें सभी साधनों में परिवर्तन किया जा सकता है, इसलिए इस समयावधि में उत्पत्ति के कोई भी साधन स्थिर नहीं होते हैं अर्थात् सभी साधन परिवर्तनीय होते हैं। दूसरे शब्दों में, दीर्घकाल में उत्पादन पैमाने (Scale of Production) को पूर्णतः परिवर्तित किया जा सकता है। दीर्घकाल में एक फर्म अपने उत्पादन पैमाने को परिवर्तित करने के लिए उत्पत्ति के साधनों को सुविधा तथा आवश्यकतानुसार परिवर्तित कर सकती है। इसलिए दीर्घकालीन उत्पादन फलन को पैमाने का प्रतिफल (Return to Scale) भी कहा जाता है।

12.4 परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त

परिवर्तनीय अनुपात का सिद्धान्त अल्पकाल समयावधि से सम्बन्ध रखता है जिसमें उत्पत्ति के समस्त साधनों को परिवर्तित नहीं किया जा सकता। परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त में उत्पादन के लिए आवश्यक उत्पादन–साधनों में से एक या एक से अधिक उत्पादन–साधनों की मात्रा में परिवर्तन होता है, जबकि उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य सभी उत्पादन–साधनों की मात्रा स्थिर रहती है जैसे उर्वरक की मात्रा में परिवर्तन होता है तथा उत्पादन के लिए आवश्यक अन्य साधन– भूमि का क्षेत्र, सिंचाई की संख्या, श्रमिकों की आवश्यकता आदि की मात्रा स्थिर रहती है, अर्थात् इन साधनों की मात्रा में कोई परिवर्तन नहीं होता है। अल्पकाल में जब एक फर्म उत्पत्ति के कुछ साधनों को स्थिर रखकर अन्य साधनों की मात्रा में परिवर्तन करती है तब उत्पादन की मात्रा में जो परिवर्तन होता है, उसे 'उत्पत्ति के नियम' (Law of Returns) से जाना जाता है। अल्पकालीन उत्पादन फलन की तीन अवस्थाएं होती हैं जिन्हें उत्पत्ति के तीन नियमों के रूप में जाना जाता है–

(1) उत्पत्ति वृद्धि नियम/सम्वृद्धि दर प्रतिफल/क्रमागत उत्पादन वृद्धि नियम (Law of Increasing Returns)

(2) उत्पत्ति समता नियम/समान दर प्रतिफल/उत्पादन समता नियम (Law of Constant Returns)

(3) उत्पत्ति ह्रास नियम/ह्रास–दर प्रतिफल/उत्पादन ह्रास नियम (Law of Diminishing Returns)

उत्पत्ति ह्रास नियम अल्पकालीन उत्पादन फलन का तीसरा नियम है। किन्तु आधुनिक अर्थशास्त्री इन तीनों नियमों को उत्पत्ति का एक ही नियम मानते हैं तथा इसे परिवर्तनशील अनुपात के नियम (Law of Variable Proportion) का नाम देते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्ति के नियमों को परिवर्तनशील अनुपात के नियम की तीन विभिन्न अवस्थाएं मानते हैं। आधुनिक अर्थशास्त्रियों का यह मत है कि उत्पादन के साधनों में से किसी एक को यदि स्थिर कर दिया जाय तथा अन्य साधनों की मात्रा में वृद्धि लायी जाय तो यह नियम उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में भी उसी प्रकार से क्रियाशील होगा जिस प्रकार मार्शल का उत्पादन ह्रास नियम कृषि क्षेत्र में भूमि की मात्रा स्थिर करने पर लागू होता है। इसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने परिवर्तनीय अनुपात का नियम कहा। इस नियम के अनुसार

उत्पादन प्रक्रिया में अन्य सभी साधनों के स्थिर रहने पर किसी एक साधन में वृद्धि करने पर कुछ समय तक उत्पादन में वृद्धि साधन में वृद्धि के अनुपात से अधिक होती है। परन्तु एक समय के बाद परिवर्तनशील साधनों में वृद्धि उत्पादन की मात्रा में कमी लाती है।

परिवर्तनीय अनुपात का नियम निम्नलिखित मान्यताओं पर आधारित है–

1. उत्पादन प्रक्रिया में एक साधन परिवर्तनशील होता है जबकि अन्य साधन को स्थिर रखा जाता है।
2. इस नियम के क्रियाशीलन के लिए प्रविधि के स्तर (State of Technology) में कोई परिवर्तन नहीं होगा। यदि प्रविधि के स्तर में उन्नति हो जाय तो सीमान्त तथा औसत उत्पादन में परिवर्तन हो सकता है।
3. स्थिर साधन अविभाज्य होते हैं।
4. परिवर्तनीय साधन की समस्त इकाइयाँ समरूप (Homogeneous) होती है।
5. विभिन्न उत्पत्ति के साधन अपूर्ण स्थानापन्न (Imperfect Substitute) होते हैं।
6. स्थिर साधन सीमित एवं दुर्लभ है।
7. यह नियम उन उत्पादों के सम्बन्ध में लागू होगा जहाँ उत्पादन को प्राप्त करने के लिए साधनों का एक निश्चित अनुपात में संयोग आवश्यक हो।
8. साधनों के संयोग का अनुपात परिवर्तनशील है।

उपर्युक्त मान्यताओं के आधार पर परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त की स्पष्ट व्याख्या सारिणी 12.1 की सहायता से रेखाचित्र 12.1 में किया गया है। यह मान लिया गया है कि पूँजी की एक स्थिर मात्रा (k) है। जिसके साथ श्रम की उत्तरोत्तर इकाइयों का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार श्रम की उत्तरोत्तर इकाइयों की वृद्धि से जो उत्पादन प्राप्त होता है उसे सारिणी 12.1 में दिखाया गया है। सारिणी में पूँजी की एक निश्चित मात्रा के साथ श्रम की उत्तरोत्तर इकाइयाँ लगायी गयी है। सारिणी 12.1 पर ध्यानपूर्वक विचार करने पर निम्नलिखित तथ्य सामने आते हैं–

सारिणी 12.1 में देखने से स्पष्ट हो रहा है कि अल्पकाल में जैसे–जैसे परिवर्तनशीलन साधन श्रम की मात्रा में, स्थिर साधन पूँजी के दिये होने पर वृद्धि होती है तो उत्पादन की तीन अवस्थाएँ दृष्टिगोचर होती है–

प्रथम अवस्था– प्रथम अवस्था में परिवर्तनीय साधन में वृद्धि के फस्वरूप कुल उत्पादकता, औसत उत्पादकता एवं सीमान्त उत्पादकता सभी में वृद्धि होती है। इसलिए इस अवस्था को वर्धमान प्रतिफल या उत्पत्ति वृद्धि नियम भी कहते हैं। प्रथम अवस्था के दो भाग होते हैं। प्रथम भाग में सीमान्त उत्पादकता और औसत उत्पादकता बढ़ती है। परिवर्तनशील साधन की तीसरी इकाई पर सीमान्त उत्पादकता अधिकतम है, चौथी इकाई के लिए सीमान्त उत्पादकता घट जाती है और यह औसत उत्पादकता के बराबर हो जाती है। प्रथम चरण और द्वितीय चरण के बीच के बिन्दु को मोड़ का बिन्दु (Point of Inflexion) कहते हैं। जिसे रेखाचित्र 12.1 में दिखाया गया है।

सारिणी 12.1 परिवर्तनीय साधन एवं उत्पादन के बीच सम्बन्ध

साधनों की मात्रा		उत्पादन की मात्रा			उत्पादन की अवस्था
स्थिर साधन पूँजी (भूमि)	परिवर्तनशील साधन (श्रम)	कुल उत्पाद (TP)	औसत उत्पाद (AP)	सीमांत उत्पादन (MP)	
50	0	0	0	0	(I) **प्रथम अवस्था** परिवर्तनीय साधन (श्रम) का वर्धमान/संवृद्धि दर प्रतिफल या बढ़ते औसत उत्पादन
50	1	100	100	100	
50	2	260	130	160	
50	3	480	160	220	
50	4	640	160	160	
50	5	750	150	110	(II) **द्वितीय अवस्था** परिवर्तनीय साधन का ह्रासमान प्रतिफल या घटते औसत उत्पादन
50	6	840	140	90	
50	7	910	130	70	
50	8	960	120	50	
50	9	990	110	30	
50	10	1000	100	10	
50	11	1000	90.9	00	
50	12	960	80	-40	(III) तृतीय अवस्था ऋणात्मक प्रतिफल

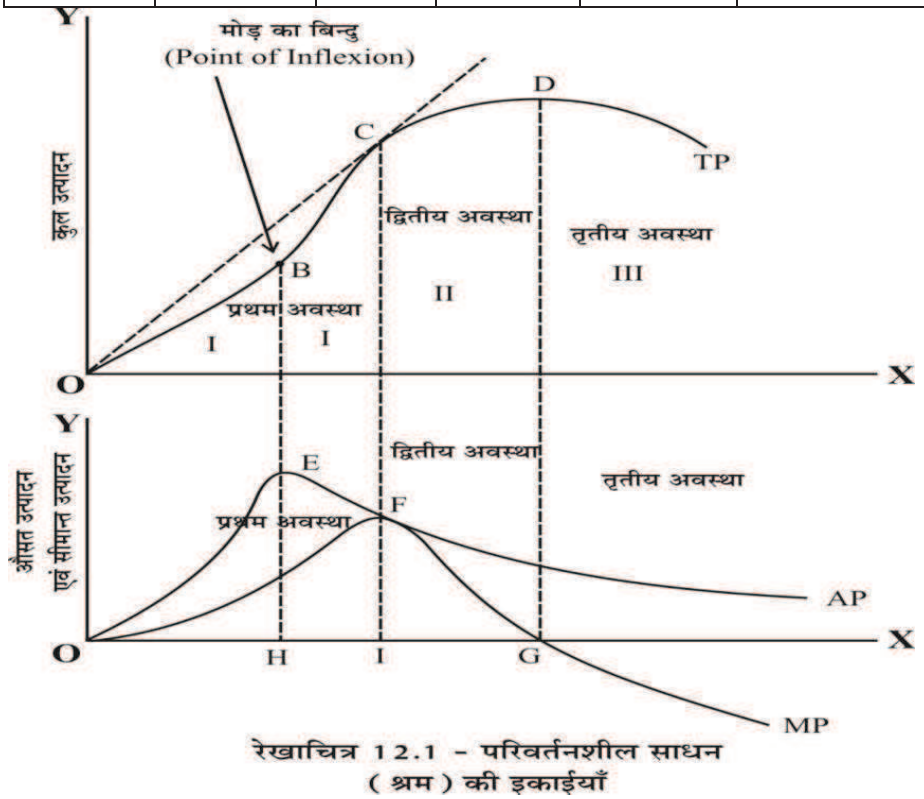

रेखाचित्र 12.1 - परिवर्तनशील साधन (श्रम) की इकाईयाँ

प्रथम अवस्था का समापन उस बिन्दु पर होता है जहाँ औसत उत्पादकता अधिकतम हो जाय प्रथम अवस्था में आरम्भ से अन्त तक औसत उत्पादकता (AP) निरन्तर बढ़ती हुई है। इसलिए इस अवस्था को बढ़ते औसत उत्पादन की अवस्था कहते हैं। पहली अवस्था बिन्दु F पर समाप्त होती है। रेखाचित्र 12.1 में प्रथम अवस्था को दो भाग में बाँटा गया है। प्रथम अवस्था का पहला भाग बिन्दु B पर समाप्त होती है। बिन्दु B तक कुल उत्पादन (TP) बढ़ रही है अर्थात् इस बिन्दु तक कुल उत्पादन (TP) बढ़ती हुई दर से बढ़ रही है। जिसका आशय यह है कि सीमान्त उत्पादन (MP) बढ़ रहा है। सारिणी 12.1 में स्पष्ट है कि श्रम की तीसरी इकाई तक कुल उत्पादन (TP) में वृद्धि बढ़ते हुए दर से हो रही है, जिसे बिन्दु रेखाचित्र में बिन्दु B से दिखाया गया है। इस बिन्दु को मोड़ का बिन्दु कहते हैं, क्योंकि इस बिन्दु B के बाद कुल उत्पादन (TP) में वृद्धि हो रही परन्तु कुल उत्पादन में वृद्धि गिरती हुई दर से हो रही है। इस अवस्था को प्रथम अवस्था की दूसरी भाग में दिखाया गया है जो बिन्दु B से बिन्दु C के बीच में स्थित है। B बिन्दु से ऊपर C बिन्दु तक जहाँ प्रथम अवस्था समाप्त होती है, कुल उत्पाद में वृद्धि गिरती हुई दर से हो रही है। बिन्दु B से बिन्दु C तक कुल उत्पादन वक्र का ढाल क्रमशः कम होता जा रहा है। मूल बिन्दु O से बिन्दु B के मध्य कुल उत्पाद वक्र (TP) का ढाल x अक्ष के प्रति उन्नतोदर (convex) है तथा बिन्दु B से बिन्दु C के मध्य कुल उत्पादन (TP) वक्र अक्ष के प्रति नतोदर (concave) है। प्रथम अवस्था के प्रथम भाग में अर्थात् मोड के बिन्दु (B) तक सीमान्त उत्पदन बढ़ता है और यह औसत उत्पाद से अधिक होता है तथा इस भाग में सीमान्त उत्पादन अधिकतम स्थिति को प्राप्त करता है, जिसे बिन्दु E से दिखाया गया है। प्रथम अवस्था के दूसरे भाग में सीमान्त उत्पादन गिरने लगता है, परन्तु यह औसत उत्पादन (AP) से अधिक होता है। जहाँ सीमान्त उत्पादन और औसत उत्पादन एक दूसरे को काटते हैं, वहीं प्रथम अवस्था समाप्त होती है। प्रथम अवस्था बिन्दु F पर समाप्त होती है।

द्वितीय अवस्था

दूसरी अवस्था वहाँ से प्रारम्भ होती है जहाँ औसत उत्पादन वक्र (AP) अधिकतम स्थिति को प्राप्त कर लेता है, जैसे बिन्दु F जहाँ पर औसत उत्पादन सीमान्त उत्पादन (MP) के बरबार है। रेखाचित्र 12.1 में कुल उत्पादन वक्र (TP) के बिन्दु C और D के मध्य परिवर्तनीय अनुपात नियम की दूसरी अवस्था को प्रदर्शित किया गया है। इस अवस्था में कुल उत्पादन में वृद्धि तो होती है परन्तु यह वृद्धि घटती हुई दर से होती है क्योंकि इस अवस्था में सीमान्त उत्पादन एवं औसत उत्पादन दोनों घटती हुई होती है। सारिणी 12.1 में दूसरी अवस्था को देखने से स्पष्ट है कि औसत उत्पादन एवं सीमान्त उत्पादन दोनों घट रही है। परन्तु औसत उत्पादन सीमान्त उत्पादन से अधिक है। यही कारण है कि रेखाचित्र 12.2 में दूसरी अवस्था में औसत उत्पाद वक्र सीमांत उत्पाद वक्र के ऊपर है। इस अवस्था का समापन उस बिन्दु पर होता है जहाँ पर सीमान्त उत्पादकता शून्य हो जाती है। सारिणी

12.1 में श्रम की ग्यारहवीं इकाई की सीमान्त उत्पादकता शून्य है जिसे रेखाचित्र 12.1 में बिन्दु G से दिखाया गया है। जब सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है तो कुल उत्पादन अपने अधिकतम स्तर को प्राप्त करता है जिसे कुल उत्पादन वक्र (TP) के बिन्दु D से दिखाया गया है। यह अवस्था यह स्पष्ट करती है कि यदि परिवर्तनशील साधन की OG इकाई अर्थात् श्रम की ग्यारहवीं इकाई तक का प्रयोग किया जाय तो कुल उत्पाद अधिकतम बिन्दु पर होगा जिसे कुल उत्पाद वक्र (TP) पर बिन्दु D से दिखाया गया है। इस अवस्था को 'उत्पादन ह्रास नियम की अवस्था' कहा जाता है।

तृतीय अवस्था

यह तृतीय अवस्था बिन्दु D के बाद शुरू होती है जब कुल उत्पादन घटने लगती है क्योंकि बिन्दु D पर सीमान्त उत्पादकता शून्य हो जाती है। यदि रेखाचित्र 12.1 में बिन्दु G के बाद परिवर्तनीय साधन श्रम की मात्रा में वृद्धि करते है तो इस अतिरिक्त इकाई की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है जिसे सारिणी 12.1 में दिखाया गया है कि श्रम की बारहवीं इकाई की उत्पादकता ऋणात्मक है। इसलिए तृतीय अवस्था को ''ऋणात्मक प्रतिफल की अवस्था'' कहते है। इस अवस्था में परिवर्तनशील साधन स्थिर साधन की तुलना में अत्यधिक हो जाता है। जिसके कारण सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है।

12.5 परिवर्तनीय अनुपात के नियम के लागू होने के कारण

आधुनिक अर्थशास्त्री उत्पत्ति हास नियम लागू होने के निम्न कारण मानते है :

1. **एक परिवर्तनीय साधन के साथ अन्य साधनों का स्थिर होनाः** उत्पादन प्रक्रिया में उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का एक आदर्श अनुपात होता है और जब एक परिवर्तनीय साधन जैसे श्रम को स्थिर साधन पूँजी के साथ वृद्धि करने पर उत्पादन में वृद्धि होती है परन्तु जब श्रम की मात्रा आदर्श अनुपात के बाद बढ़ती जाती है तो उत्पादन में कमी होती है क्योंकि अब श्रमिक को आवश्यकता से कम पूँजी उपलब्ध हो रही है।
2. **साधनों की अविभाज्यता :** उत्पादन के अधिकांश साधन अविभाज्य होते है। ये अविभाज्य साधन परिवर्तनीय साधन में वृद्धि के फलस्वरुप अनुकूलतम बिन्दु की प्राप्ति तक तो उत्पादकता को बढाते है किन्तु जब अविभाज्य साधनों का अनुकूलतम बिन्दु की प्राप्ति के बाद भी साधनों का निरंतर उपयोग जारी रहता है तब साधनों की उत्पादकता घटने लगती है।
3. **साधनों की सीमितता एवं दुर्लभलताः** उत्पत्ति के कुछ साधन सीमित एवं दुर्लभ होते है जैसे भूमि। परिणामस्वरुप सीमित साधन का परिवर्तशील साधन के साथ अनुपात में परिवर्तन उत्पादन में वृद्धि करता है परन्तु अनुकूलतम बिन्दु की प्राप्ति के बाद साधनों का असंतुलित अनुपात उत्पादन में कमी लाता है।
4. **उत्पादन के साधनों का अपूर्ण स्थानापन्नः** श्रीमती जोन रॉबिन्सन साधनों की अपूर्ण स्थापन्न की उत्पत्ति ह्रास नियम की क्रियाशीलता का मुख्य कारण मानती है। उनके

अनुसार साधनों की स्थानापन्नता सीमित होने के कारण सीमित साधनों की कमी को किसी अन्य साधन से पूरा नहीं कर सकते, परिणामस्वरुप घटते प्रतिफल उत्पन्न होते है।

12.6 उत्पादन नियम की व्याख्या की अवधारणा

उत्पादन फलन तथा उत्पादन के नियम की व्याख्या के अन्तर्गत आप परिवर्तनीय अनुपात के नियम की व्याख्या की जिसमें आप ने देखा कि एक साधन परिवर्तनशील हो पर अन्य स्थिर हो तो इस प्रकार के उत्पादन फलन अथवा आगत एवं निर्गत के बीच सम्बन्ध का अध्ययन आप ने परिवर्तनीय अनुपात के नियम (Law of Variable Proportions) अथवा उत्पादन के परिवर्तनीय साधन का प्रतिफल (Returns to Variable Factors of Production) के अन्तर्गत किया। आप समझ गये होंगें कि परिवर्तनीय अनुपात का नियम अल्पकाल में लागू होता है। जब सभी आगतों में परिवर्तन करते है तथा इसके निर्गत के ऊपर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करते है, इस स्थिति का अध्ययन हम ''पैमाने के प्रतिफल' (Returns to Scale) नियम के अनतर्गत करते है। इसे हम दीर्घकालीन उत्पादन फलन कहते है। जिसका अध्ययन आप आगे करेगें।

उत्पादन फलन या उत्पादन के नियम की व्याख्या अल्पकालीन उत्पादन से सम्बन्धित हो या दीर्घकाल से हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि आगतों में परिवर्तन का कुल उत्पाद, सीमान्त उत्पाद एवं औसत उत्पाद पर क्या प्रभाव पड़ता है। उत्पादन के नियम की व्याख्या को समझने के लिए उत्पादन फलन से सम्बन्धित कुल उत्पाद एवं सीमान्त उत्पाद तथा औसत उत्पाद के सम्बन्ध का ज्ञान होना आवश्यक है।

12.6.1 कुल उत्पाद और सीमान्त उत्पाद में सम्बन्ध

1. उत्पादन प्रक्रिया में स्थिर साधन दिये होने पर परिवर्तनशील साधन में वृद्धि के परिणामस्वरुप जो निर्गत प्राप्त होते हैं, इनका योग ही कुल उत्पाद होगा। जैसे श्रम की विभिन्न चार इकाईयों के प्रयोग से हमें, 10, 20 25 एवं 30 इकाईयों का क्रमशः उत्पादन प्राप्त हो तो इनका कुल योग 10+20+25+30=85 इकाईयाँ, श्रम की चार इकाईयों का कुल उत्पाद है। सीमान्त उत्पाद से तात्पर्य परिवर्तनशील साधन की एक अतिरिक्त इकाई की वृद्धि जबकि अन्य साधन स्थिर है, परिणामस्वरुप कुल उत्पादन में जो परिवर्तन होता है। तो उसे हम साधन की अतिरिक्त इकाई का सीमान्त उत्पाद कहेंगे। उदाहरण के लिए यद श्रम की 2 इकाई का कुल उत्पाद 260 है, अब यदि श्रम की तीसरी इकाई लगायी जाय और कुल उत्पाद बढ़कर 480 हो जाय तो तीसरी इकाई का सीमान्त उत्पाद 220 (480–260) इकाई होगा।

2. कुल उत्पाद सभी आगतों के संयोग से प्राप्त कुल निर्गत का योग है जबकि सीमान्त उत्पाद एक अतिरिक्त उत्पादन के साधन द्वारा कुल उत्पाद में परिवर्तन को दिखाता है। इसकों सूत्र के रुप में आप इस रुप में लिख सकते है– श्रम की n वीं इकाई का सीमान्त उत्पादन (MPn) = (TPn-TPn-1) यहाँ TP कुल उत्पाद है, तथा n साधन की इकाई को प्रदर्शित करता है।

3. परिवर्तनीय अनुपात सिद्धान्त की प्रथम अवस्था के प्रथम भाग में जब सीमान्त उत्पाद अपने अधिकतम बिन्दु पर होता है तो कुल उत्पाद में वृद्धि बढ़ते हुए दर से बढ़ती है।

4. जब सीमान्त उत्पादन अपने अधिकतम बिन्दु से गिर रहा होता है परन्तु सकरात्मक होता है तो कुल उत्पादन में वृद्धि घटते हुए दर से होती है।

5. जब सीमान्त उत्पाद शून्य पर पहुँचता है, तो कुल उत्पाद अपने अधिकतम स्तर पर होता है (देखे रेखाचित्र 12.1)

6. कुल उत्पादन अपने अधिकतम स्तर पर पहुँचकर घटने लगता है जब सीमान्त उत्पादन नकरात्मक होने लगता है।

12.6.2 सीमान्त उत्पाद और औसत उत्पाद में सम्बन्ध

1. अभी तक आप सीमान्त उत्पाद समझ गये होंगे। इसलिए अब औसत उत्पाद क्या होता है। इसके बारे में अध्ययन करेंगे। औसत उत्पाद उस समय प्राप्त होता है जब परिवर्तनशील साधन की मात्रा से प्राप्त कुल उत्पाद को परिवर्तनशील साधन की मात्रा से भाग दे देतें है। उदाहरण के लिए पूँजी की स्थिर मात्रा के साथ श्रम की 10 इकाईयों के प्रयोग के कारण कुल उत्पाद 1000 है, तो श्रम का औसत उत्पाद $(1000 \div 10)$ होगा। हम यह भी कह सकते है कि श्रम का औसत उत्पाद $(AP_L) = \frac{TP}{L}$ यहाँ TP कुल उत्पाद है तथा L श्रम की मात्रा है।

2. परिवर्तनीय अनुपात के नियम में प्रथम अवस्था में सीमान्त उत्पाद एवं औसत उत्पाद दोनों बढ़ रहे होते है परन्तु सीमान्त उत्पाद औसत उत्पाद से अधिक होता है।

3. द्वितीय अवस्था में सीमान्त उत्पादन एवं औसत उत्पादन दोनों घटती है परन्तु सीमान्त उत्पाद औसत उत्पाद की तुलना में तीव्र गति से घटता है।

4. परिवर्तनीय अनुपात नियम के तीसरी अवस्था में सीमान्त उत्पाद नकरात्मक होता है जबकि औसत उत्पाद सकरात्मक रहता है।

5. सीमान्त उत्पाद के औसत उत्पाद के समतुल्य होने पर (बिन्दु F रेखाचित्र 12.1) औसत उत्पाद सर्वाधिक होता है। इस बिन्दु से सीमान्त उत्पाद वक्र रेखा औसत उत्पाद वक्र रेखा के नीचे हो जाती है। सीमान्त उत्पाद वक्र रेखा औसत उत्पाद वक्र रेखा को उसके अधिकतम बिन्दु F पर ऊपर से काटती है।

12.7 उत्पादन फलन के क्षेत्र

आप समझ गये होंगे कि परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त में तीन अवस्थाएं होती है। उत्पादन फलन को उत्पादन साधनों के दक्षतम प्रयोग के निर्णय लेने की महत्ता के अनुसार तीन क्षेत्रों या भागों में विभक्त किया जाता है।

क्षेत्र I : उत्पादन फलन का यह क्षेत्र अयुक्तिक (Irrational Zone) क्षेत्र कहलाता है क्योंकि इस क्षेत्र में उत्पादन करने पर उत्पादन साधन की मात्रा के बढ़ाने से प्राप्त लाभ भी बढ़ता जाता है। कृषकों को उत्पादन से लाभ प्राप्त होता है, परन्तु इस क्षेत्र में उत्पादन

करने का निर्णय लेना उचित नहीं है। क्योंकि इस क्षेत्र में उत्पादन प्रारम्भ बिन्दु O से अन्तिम बिन्दु F तक होता है, जहाँ पर सीमान्त उत्पादन औसत उत्पाद को ऊपर से काटती है। बिन्दु O से बिन्दु F तक औसत उत्पाद एवं सिमान्त उत्पाद की मात्रा में निरन्तर वृद्धि होती रहती है जिसके कारण प्रत्येक अतिरिक्त उत्पादन साधन की इकाई पहले से अधिक लाभ प्रदान करती है। इसलिए कृषक परिवर्तनीय अनुपात नियम की दूसरी अवस्था में उत्पादन करने की कोशिश करेगा। कृषकों का उत्पादन करने का उद्देश्य लाभ कमाना ही नहीं होता बल्कि लाभ की अधिकतम राशि प्राप्त करना होता है। अतः इस क्षेत्र में उत्पादन करने का निर्णय लेना उचित नहीं है। रेखाचित्र 12.1 देखें।

क्षेत्र II : यह क्षेत्र परिवर्तनीय अनुपात के नियम की दूसरी अवस्था है। इस क्षेत्र को उत्पादन फलन का यौक्तिक क्षेत्र (Rational Zone) कहते है क्योंकि इसी क्षेत्र में किसान को न केवल सर्वाधिक लाभ प्राप्त होता अपितु उत्पादन के साधनों का दक्षतम कुशलतम प्रयोग होता है। उत्पादन फलन का यह क्षेत्र उस बिन्दु से शुरू होता है, जहाँ पर (बिन्दु F, रेखाचित्र 12.1) सीमान्त उत्पाद और औसत उत्पाद एक दूसरे के समतुल्य होते है और सीमान्त उत्पाद वक्र औसत उत्पाद वक्र को ऊपर से काटता है। उत्पादन फलन का यह क्षेत्र बिन्दु G (रेखाचित्र 12.1) पर समाप्त होता है, जहाँ पर सीमान्त उत्पाद शून्य हो जाता है। कुषक को इसी क्षेत्र में उत्पादन करना चाहिए।

क्षेत्र III : प्रथम क्षेत्र की तरह इस क्षेत्र को भी अयुक्तिक क्षेत्र (Irrational Zone) कहा जाता है। यह अयुक्तिक क्षेत्र परिवर्तनीय अनुपात के नियम की प्रथम अवस्था की अयुक्तिक क्षेत्र से भिन्न है। तृतीय अवस्था की अयुक्तिक क्षेत्र में उत्पादन के साधनों के अतिरिक्त प्रयोग से उत्पादन नकरात्मक होता जाता है, इसलिए इसे अयुक्तिक क्षेत्र कहते है जबकि प्रथम अवस्था के अयुक्तिक क्षेत्र में उत्पत्ति के साधनों के अतिरिक्त प्रयोग से उत्पादन में वृद्धि होती जाती है। उत्पत्ति के साधनों का इस अवस्था में कुशलतम प्रयोग नहीं हो पाता है। इसलिए इस क्षेत्र को भी अयुक्तिक क्षेत्र कहते है। उत्पादन फलन की तीसरी अवस्था की अयुक्तिक क्षेत्र वहाँ से प्रारम्भ होता है जहाँ से सीमान्त उत्पाद की मात्रा ऋणात्मक होने लगती है। जिसके कारण कृषकों को प्राप्त कुल उत्पाद की मात्रा उत्पादन साधन की मात्रा में वृद्धि करने के साथ–साथ निरन्तर कम होती जाती है।

इस क्षेत्र में अर्थात बिन्दु G (रेखाचित्र 12.1 देखे) के बाद कृषक उत्पादन करता है तो उसे निम्नलिखित दो प्रकार की हानियाँ होती है।

(अ) उत्पादन साधन की अतिरिक्त मात्रा की लागत की हानि, एवं

(ब) उत्पादन साधन के प्रयोग से कुल उत्पाद में कमी होने (बिन्दु D के बाद की स्थिति, रेखाचित्र 12.1) से लाभ की राशि नकरात्मक होती है। अर्थात् सीमान्त उत्पादन नकरात्मक होने लगता है (रेखाचित्र 12.1 में बिन्दु G के बाद की स्थिति का अवलोकन करें)

12.8 परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त का प्रतिफल दर

परिवर्तनीय अनुपात के सिद्धान्त में प्रतिफल तीन दर से होता है–

1. ह्रास–दर प्रतिफल का सिद्धान्त;
2. समान–दर प्रतिफल का सिद्धान्त; एवं
3. संवृद्धि–दर प्रतिफल का सिद्धान्त

1 ह्रास–दर प्रतिफल का सिद्धान्त

कृषकों के पास उत्पादन के लिए भूमि, पशु आदि स्थिर साधन एवं श्रम, पूँजी, खाद, बीज, उर्वरक, कीटनाशी दवाईयॉ, सिंचाई, चारा, दाना आदि परिवर्तनशील साधन होते है। कृषक स्थिर साधनों से अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए परिवर्तनशील साधनों की अतिरिक्त इकाई में वृद्धि करते जाता है। जिससे उसे कुल उत्पाद की मात्रा क्रमशः पहले उत्पादन वृद्धि की मात्रा से कम होती जाती है। अर्थात् परिवर्तनशील साधनों की एक अतिरिक्त इकाई से जो उत्पाद में वृद्धि होती है वह क्रमागत उत्पादन साधन की इकाई की अपेक्षा कम होती जाती है। अतः कुल उत्पादन की मात्रा मे वृद्धि ह्रास–दर से होती है। इसे ह्रास–दर प्रतिफल का सिद्धान्त कहते है।

प्रो0 मार्शल ने ह्रास–दर प्रतिफल के सिद्धान्त को अग्रांकित शब्दों में परिभाषित किया है– ''यदि साथ–साथ कृषि कला में उन्नति नहीं होती है तो भूमि पर नियोजित श्रम एवं पूँजी की मात्रा मे वृद्धि करने से सामान्यतः कुल उत्पाद में अनुपात से कम वृद्धि होती है।''[1] रेखाचित्र 12.2 उत्पादन का ह्रास–दर प्रतिफल सिद्धान्त प्रदर्शित करता है। X अक्ष पर उत्पादन साधन में वृद्धि करने पर कुल उत्पादन में कमी होती जा रही है। कृषि के क्षेत्र में प्रत्येक उत्पादन साधन के प्रयोग से ह्रास–दर प्रतिफल का सिद्धान्त पाया जाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार यदि उत्पादन साधन की प्रथम इकाई कुल उत्पाद की मात्रा में 24 इकाई वृद्धि करती है तो उत्पादन साधन की दूसरी इकाई कुल उत्पाद में पहले से कम अर्थात 20 इकाई ही वृद्धि करेगी। इसी प्रकार उत्पादन साधन की तीसरी इकाई उत्पादन में 16 इकाई की वृद्धि एवं चौथी उत्पादन की कुल उत्पाद की मात्रा में 12 इकाई की वृद्धि करेगी।

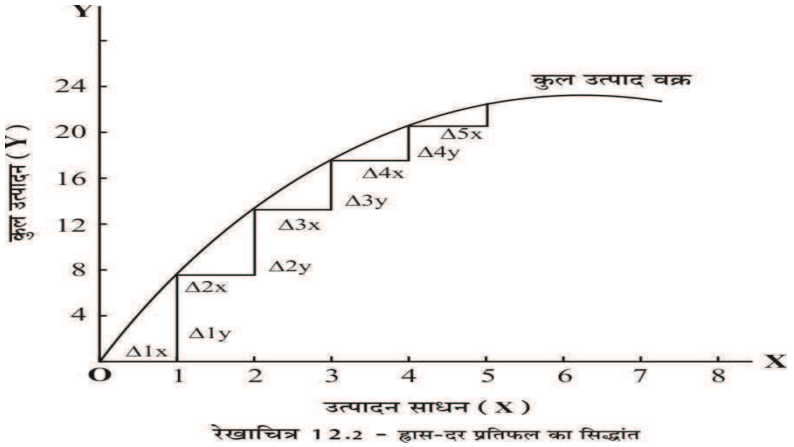

रेखाचित्र 12.2 – ह्रास-दर प्रतिफल का सिद्धांत

[1] An increase in the capital and labour applied in the cultivation of land covers in general a less than proportionate increase in the amount of produce raised unles it happens to coincide with an improvement in the arts of agriculture" A. Marshal's, *Principles of Economics*, Macmillan and Company Ltd. London, 1956, Eight Edition, p. 128.

ह्रास–दर प्रतिफल सिद्धान्त में प्राप्त कुल उत्पाद वक्र उद्‌गम बिन्दु से अवतल (Concave to the Origin) होती है। ह्रास–दर प्रतिफल की अवस्था में निम्न सम्बन्ध पाये जाते है।

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} > \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} > \frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X} \ldots\ldots \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

चूँकि $\Delta_1 X = \Delta_2 X = \Delta_3 X \ldots + \Delta_n X$ अतः Δy की मात्रा निरन्तर कम होती जाती है जिससे $\frac{\Delta Y}{\Delta X}$ का अनुपात–साधन की मात्रा बढ़ने के साथ कम होता जाता है।

ह्रास–दर प्रतिफल की अवस्था में निर्णय के नियम के अनुसार अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए उत्पादन की मात्रा मे उस स्तर तक वृद्धि करते रहना चाहिए जब तक कि अतिरिक्त प्रतिफल की राशि (Marginal Returns or MR) अतिरिक्त लागत की राशि (Marginal Costs or MC) से अधिक होती है। अतिरिक्त प्रतिफल एवं अतिरिक्त लागत की राशि के समतुल्य होने की स्थिति के उपरान्त परिवर्तनशील साधन की मात्रा में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। इस स्तर पर प्राप्त उत्पादन की मात्रा कृषक को अधिकतम लाभ प्रदान करती है। परिवर्तनशील साधनों के अधिकतम लाभ के स्तर को सूत्र के द्वारा ज्ञात किया जा सकता है–

$$\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{PX}{PY}$$

$$= \Delta Y.PY = \Delta X.PX$$

जबकि,

Δ = परिवर्तन

Y = उत्पाद

X = उत्पादन साधन

P = कीमत

$\Delta Y.PY$ = अतिरिक्त / सीमान्त लाभ

$\Delta X.PX$ = अतिरिक्त / सीमान्त लागत

सूत्र $\frac{\Delta Y}{\Delta X} = \frac{PX}{PY}$ या,

$$\frac{\text{अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा}}{\text{अतिरिक्त उत्पादन साधन की मात्रा}} = \frac{\text{उत्पादन साधन की प्रति इकाई कीमत}}{\text{उत्पाद की प्रति इकाई कीमत}}$$

2. समान–दर प्रतिफल का सिद्धान्त

समान–दर प्रतिफल के सिद्धान्त के अन्तर्गत परिवर्तनशील साधन की अतिरिक्त इकाई जब स्थिर साधन के साथ प्रयोग करते है तो उससे प्राप्त अतिरिक्त / सीमान्त उत्पाद क्रमशः समान होती है अर्थात् परिवर्तनशील उत्पादन साधन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई उत्पाद के

उत्पादन में समान मात्रा में वृद्धि करती है। समान–दर प्रतिफल का सिद्धान्त सारिणी 12.2 में दिखाया गया है।

सारिणी 12.2 समान–दर प्रतिफल का सिद्धान्त

उत्पादन साधनों की इकाइयाँ	कुल उत्पाद की मात्रा	उत्पादन साधन की सीमान्त मात्रा	उत्पाद की सीमान्त मात्रा	उत्पाद–उत्पादन साधन की सीमान्त दर का अनुपात	उत्पाद–उत्पादन साधन की कीमतों का विलोम अनुपात
(X)	**(Y)**	**(ΔX)**	**(ΔY)**	$\left(\frac{\Delta Y}{\Delta X}\right)$	$\left(\frac{PX}{PY}\right)$
0	0	-	-	-	-
5	2	5	2	0.4	0.15
10	4	5	2	0.4	0.15
15	6	5	2	0.4	0.15
20	8	5	2	0.4	0.15
25	10	5	2	0.4	0.15

सारिणी 12.2 में स्पष्ट है कि परिवर्तशील साधन में पविर्तन उत्पाद में समान मात्रा (2 इकाई) की वृद्धि कर रही है। समान–दर प्रतिफल की अवस्था का रेखीय चित्र के द्वारा रेखाचित्र 12.3 में दिखाया गया है।

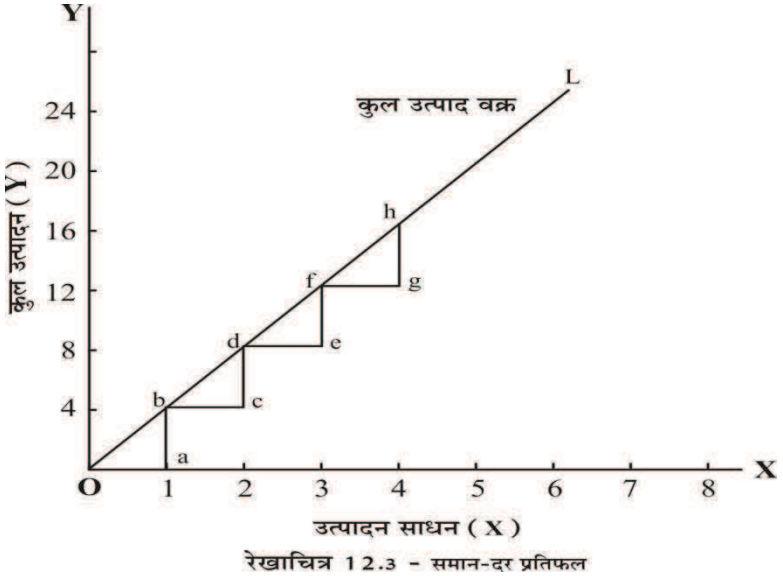

रेखाचित्र 12.3 - समान-दर प्रतिफल

रेखाचित्र 12.3 में OL कुल उत्पाद वक्र है। यह सीधी रेखा यह दर्शा रही है कि परिवर्तनशील साधन की प्रत्येक इकाई समान मात्रा में उत्पादन में वृद्धि करती है अर्थात् पविर्तनशील साधन की प्रत्येक इकाई का सीमान्त उत्पादन समान रहता है जैसे रेखाचित्र में

ab=cd=ef=gh यह सीमान्त उत्पादन की समान मात्रा को प्रदर्शित कर रहा है। समान–दर प्रतिफल के सीद्धान्त का वक्र (OL) एक सीधी रेखा होती है तथा वक्र पर ढ़ाल सभी स्थानों पर समान होता है। समान दर प्रतिफल की अवस्था में निम्न सम्बन्ध पाया जाता है।

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} = \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} = \frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X} = ... \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

समान–दर प्रतिफल की अवस्था में यदि उत्पादन साधन की प्रत्येक इकाई का प्रयोग लाभप्रद है तो आगे की सभी इकाईयाँ लाभप्रद होगी। यदि उत्पादन–साधन की प्रथम इकाई लाभप्रद नहीं है। तो आगे की कोई भी इकाई लाभप्रद नहीं होगी। अतः ऐसी अवस्था में उत्पादन साधन की किसी भी इकाई का प्रयोग लाभप्रद नहीं होगा।

3. संवृद्धि–दर प्रतिफल का सिद्धान्त

संवृद्धि–दर प्रतिफल सिद्धान्त के अन्तर्गत परिवर्तशील साधन की प्रत्येक इकाई का जब स्थिर साधनों के साथ प्रयोग किया जाता है तो उत्पादन में वृद्धि क्रमशः बढ़ते जाती है अर्थात् परिवर्तनशील साधनों की प्रत्येक इकाई से सीमान्त उत्पादन में वृद्धि, संवृद्धि दर से होती है। इसे सारिणी 12.3 में स्पष्ट किया गया है।

सारिणी 12.3 संवृद्धि दर प्रतिफल का सिद्धान्त

उत्पादन साधन की इकाइयां	उत्पाद की कुल मात्रा	उत्पादन साधन की सीमान्त मात्रा	उत्पाद की सीमान्त मात्रा	उत्पाद–उत्पान साधनों की सीमान्त दर का अनुपात	कीमतों का विलोम अनुपात यदि **Px=1.50, Py=10**
(X)	**(Y)**	**(ΔX)**	**(ΔY)**	$\left(\frac{\Delta Y}{\Delta X}\right)$	$\left(\frac{PX}{PY}\right)$
0	0	-	-	-	-
5	2	5	2	0.4	0.15
10	5	5	3	0.6	0.15
15	9	5	4	0.8	0.15
20	14	5	5	1	0.15
25	20	5	6	1.2	0.15

सारिणी 12.3 से स्पष्ट है कि परिवर्तनशील साधन की प्रत्येक अतिरिक्त इकाई से कुल उत्पाद में वृद्धि संवृद्धि–दर (2,3,4.....) से ही रही है। इस संवृद्धि दर प्रतिफल सिद्धान्त का रेखीय चित्र 12.4 में प्रदर्शित किया गया है।

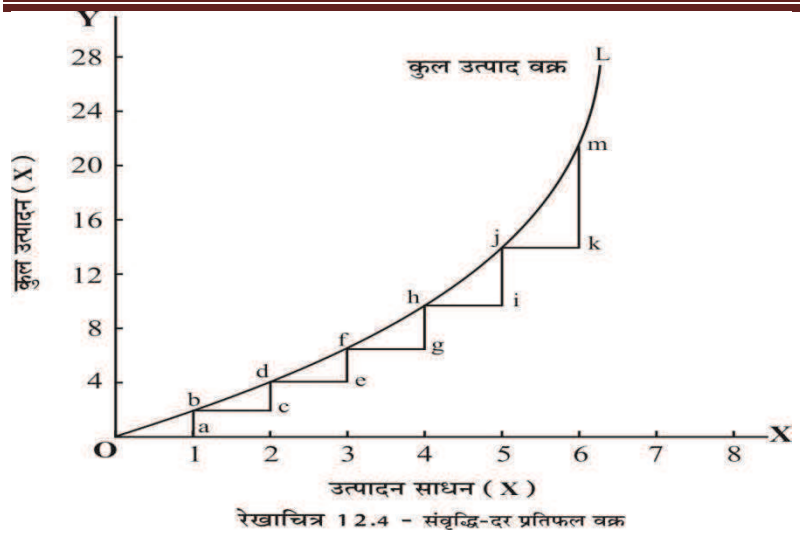

रेखाचित्र 12.4 - संवृद्धि-दर प्रतिफल वक्र

रेखाचित्र 12.4 में परिवर्तनशील साधन (X) की मात्रा में वृद्धि से कुल उत्पाद में वृद्धि संवृद्धि–दर से हो रही है। यह संवृद्धि–दर रेखाचित्र में स्पष्ट है ab<cd<ef<gh<ij<km संवृद्धि–दर प्रतिफल की अवस्था में कुल उत्पाद वक्र का ढ़ाल उद्‌गम से उत्तल (Convex to the origin) होता है तथा प्राप्त सम्बन्ध निम्न प्रकार से होता है–

$$\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X} < \frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X} < \frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X} < .... \frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$$

अर्थात् उत्पादन साधन की इकाईयों में वृद्धि के साथ–साथ $(\frac{\Delta Y}{\Delta X})$ का अनुपात बढ़ता जाता है।

संवृद्धि–दर प्रतिफल सिद्धान्त के अन्तर्गत उत्पादन का निर्णय उसी प्रकार लिया जाता है जिस प्रकार से ह्रासमान दर प्रतिफल सिद्धान्त के अन्तर्गत लिया जाता है अर्थात् जब तक उत्पाद–उत्पादन साधन की सीमान्त दर का अनुपात उनकी विलोम कीमतों के अनुपात से अधिक है, तब तक उत्पादन साधन की मात्रा मैं वृद्धि करते रहना चाहिए। कृषि क्षेत्र में संवृद्धि–दर प्रतिफल का सिद्धान्त निम्न अवस्थाओं में पाया जाता है–

(अ) जब स्थिर या स्थायी साधनों का पूर्ण रुप से प्रयोग नहीं हो रहा है अर्थात् उनमें उत्पाद की अधिक क्षमता होती है

(ब) जब परिवर्तनशील साधन की प्रयोग की गई इकाई की मात्रा बहुत कम होती है।

12.9 पैमाने के प्रतिफल का सिद्धान्त

आप समझ गये होंगे कि परिवर्तनीय अनुपात का नियम अल्पकालीन उत्पादन फलन की व्याख्या करता है जिसमें आप ने देखा कि स्थिर साधन के साथ जब परिवर्तनीय साधन की मात्रा में वृद्धि करते है तो इसका प्रभाव उत्पादन के ऊपर पड़ता है। पैमाने का प्रतिफल दीर्घकालीन उत्पादन फलन की व्याख्या करता है। दीर्घकाल में उत्पाद में वृद्धि उत्पादन के सभी साधनों की वृद्धि के द्वारा लायी जा सकती है क्योंकि दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनीय होते हैं। सभी साधनों की वृद्धि होने पर 'उत्पादन का पैमाना' ही बड़ा हो जाता

है और इसलिए इस स्थिति को हम पैमाने का प्रतिफल कहते है अर्थात् प्रतिफल या उत्पादन में वृद्धि जो पैमाने में वृद्धि के परिणामस्वरुप हो। पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त में उत्पादन के सभी साधन परिवर्तनीय होते है अथात् कोई भी उत्पादन साधन स्थिर मात्रा में नहीं होता है। पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त में उत्पादन वृद्धि के लिए आवश्यक सभी उत्पादन साधनों की मात्रा में वृद्धि की दर समान अथवा विभिन्न अनुपात में हो सकती है। पर सामान्यतया ''पैमाने के प्रतिफल'' से अभिप्राय उत्पादन के साधनों में इस प्रकार के परिवर्तन से है जिससे उनके बीच का अनुपात अपरिवर्तित रहे।

पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त के अन्तर्गत सभी उत्पादन–साधनों की मात्रा में समान अनुपात मे वृद्धि करने की अवस्था में उत्पादन वृद्धि समान, संवृद्धि–दर एवं ह्रास दर से होती है, जिसके कारण पैमाने के प्रतिफल के सिद्धान्त में भी उत्पादन–वृद्धि की निम्न दरे होती है :

1. पैमाने का वर्धमान या संवृद्धि प्रतिफल (Increasing Returns to Scale) या ह्रास लागत नियम;

2. पैमाने का सम या समान–दर प्रतिफल (Constant Returns to Scale) या लागत समता नियम;

3. पैमाने का ह्रासमान प्रतिफल (Constant Returns to Scale) या लागत प्रतिफल नियम

1. पैमाने का वर्धमान प्रतिफल नियम : इस नियम के अन्तर्गत जिस अनुपात में आगतों में वृद्धि की जाती है, उससे अधिक अनुपात में निर्गत में वृद्धि होती है। इस स्थिति को रेखाचित्र 12.5 में प्रदर्शित किया गया है।

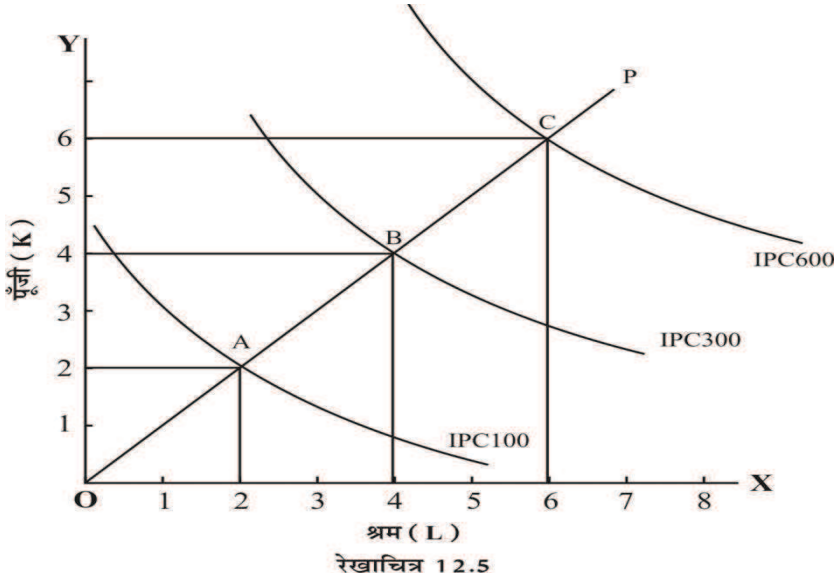

रेखाचित्र 12.5

इस रेखाचित्र में OP उत्पाद रेखा या पैमाने का रेखा है जिस पर स्थिर AB, BC श्रम तथा पूँजी का अनुपात प्रदर्शित करते है जिससे विभिन्न उत्पाद के स्तर प्राप्त होते है। IPC सम–मात्र वक्र को दर्शाता है। शुरू में A बिन्दु पर 2K तथा 2L साधन की मात्रा

के संयोग से उत्पादन की 100 इकाई प्राप्त हो रही है। अब यदि पूँजी की मात्रा 2 गुनी कर दी जाय जैसे 4K और 4L तो उत्पादन में 2 गुना से ज्यादा वृद्धि होती है जिसे IPC 300 से दिखाया गया है। इसी तरह से बिन्दु C पर पूँजी एवं श्रम में तीन गुना वृद्धि करने पर उत्पादन में 6 गुना की वृद्धि होती है जिसे IPC600 से प्रदर्शित किया गया है। रेखाचित्र 12.5 को ध्यान से देखें तो स्पष्ट है कि AB=BC अर्थात् पूँजी का अनुपात समान है परन्तु पैमाने का वर्धमान प्रतिफल उत्पादन में वृद्धि पहले 100 है, फिर 300 है, फिर 600 है।

2. पैमाने का सम प्रतिफल नियम : इस नियम के अन्तर्गत आगत तथा निर्गत में समान आनुपातिक परिवर्तन होता है जिसे रेखाचित्र 12.6 में दिखाया गया है।

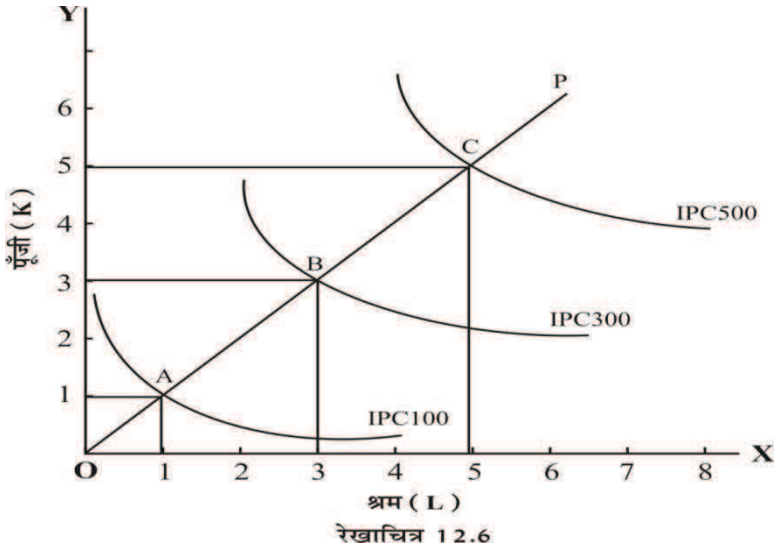

रेखाचित्र 12.6

OP उत्पाद रेखा है। रेखाचित्र 12.6 में जब श्रम एवं पूँजी की मात्रा में तीन गुना की वृद्धि होती है तो उत्पाद में भी तीन गुना की वृद्धि होती जिसे 3K तथा 3L के बिन्दु B पर IPC300 के द्वारा दर्शाया गया है। AB=BC के अनुपात में ही उत्पादन में भी वृद्धि हो रही है। यहाँ स्पष्ट है कि जिस अनुपात में आगत में वृद्धि हो रही है, उसी अनुपात में निर्गत में भी वृद्धि हो रही है।

3.पैमाने का ह्रासमान प्रतिफल : इसके अन्तर्गत उत्पादन साधनों में एक इकाई मात्रा से वृद्धि करने पर प्राप्त अतिरिक्त उत्पाद की मात्रा क्रमशः पहले की अपेक्षा कम होती जाती है अर्थात् जिस अनुपात में आगत में वृद्धि होती है उससे कम अनुपात में निर्गत में वृद्धि होती है। इसे रेखाचित्र 12.7 में प्रदर्शित किया गया है।

रेखाचित्र में 1K तथा 1L से 100 उत्पादन की प्राप्ति होती है। जब दोनों साधनों को तीन गुना कर दिया जाता है 3K तथा 3L तो उत्पादन का स्तर तीन गुना से कम होता है, उत्पादन का स्तर मात्र 200 ही रहता है।

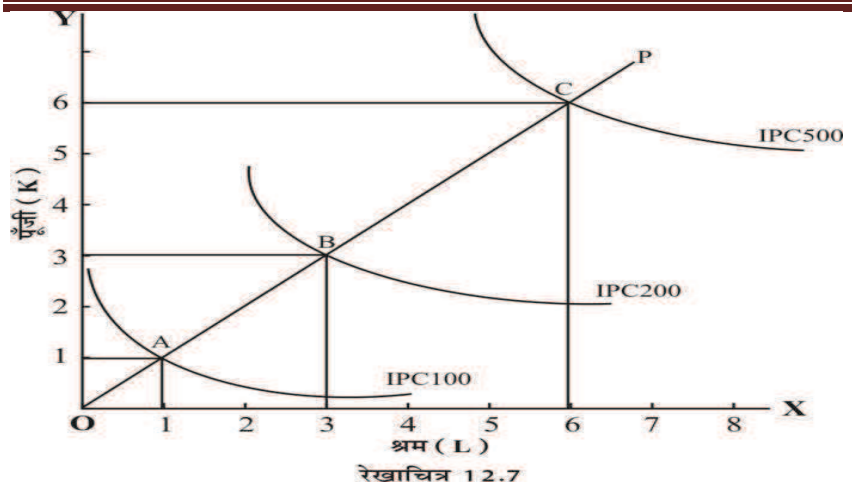

रेखाचित्र 12.7

12.10 पैमाने के प्रतिफल का रेखाचित्रीय प्रदर्शन

इकाई 10 मे आप ने समोत्पाद वक्र या सम उत्पादन वक्र का अध्ययन किया तथा यह देखा कि सम उत्पादन वक्र आगत तथा निर्गत के बीच दीर्घकालीन प्रविधिक तथा फलनात्मक सम्बन्ध प्रदर्शित करते हैं। इस प्रकार सम उत्पादन वक्रों से उत्पादन फलन सम्बन्ध की व्याख्या हो जाती है, पर इसकी व्याख्या नहीं होती है कि 'उत्पादन में वृद्धि' तथा 'साधनों की वृद्धि' में क्या अनुपात है। पैमाने के प्रतिफल की व्याख्या इसी से सम्बन्धित है। इसके लिए सम उत्पाद वक्रों के साथ 'उत्पादन के विस्तार' (Expansion of Output) का विश्लेषण आवश्यक है। उत्पाद रेखा उत्पाद विस्तार प्रदर्शित करती है उत्पाद रेखा (Product Line) 1. उस समय मूल बिन्दु से प्रारम्भ होकर जायेगी, जबकि दोनों साधन परिवर्तनीय हो तथा 2. आधार अक्ष या लम्ब अक्ष के किसी बिन्दु से प्रारम्भ होगी, जबकि एक साधन स्थिर हो दूसरा परिर्वनीय हो।

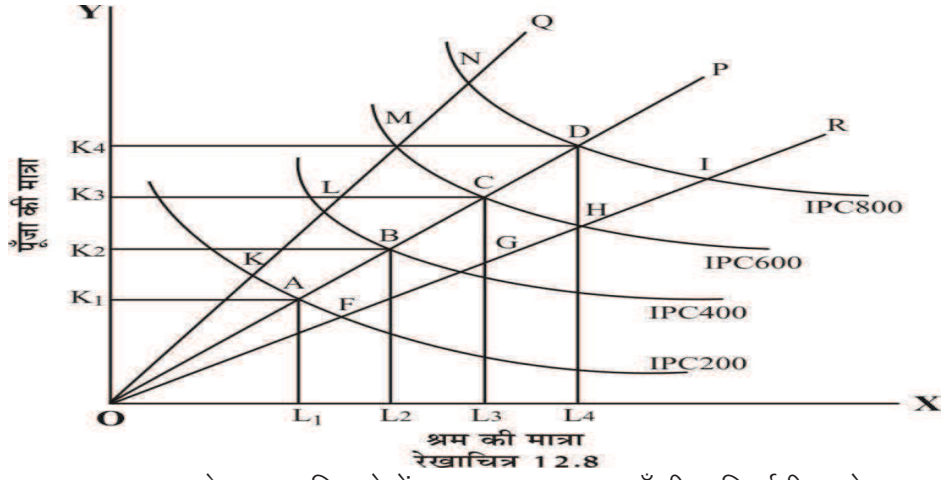

रेखाचित्र 12.8

3. उत्पाद रेखा जबकि दोनों साधन, श्रम तथा पूँजी परिवर्तनीय हो– इस स्थिति में उत्पाद रेखा सम–उत्पाद मानचित्र पर मूल बिन्दु से प्रारम्भ होगी और इस के प्रत्येक बिन्दु दोनों साधनों के परिवर्तन के अनुपात प्रदर्शित करेंगे जिससे सम्बन्धित उत्पादन का स्तर

प्राप्त किया जा सके। इस स्थिति में उत्पाद रेखा का स्पष्टीकरण रेखाचित्र 12.8 में किया गया है–

रेखाचित्र 12.8 में मूल बिन्दु से मूलतः खींची गयी OP रेखा उत्पाद रेखा या पैमाने का रेखा (Scale Line) है। IPC सम–उत्पाद वक्र है। उत्पाद रेखा OP पर बिन्दु AB,BC,CD के बीच समान अनुपात है अर्थात् इस उत्पाद रेखा के A बिन्दु पर श्रम तथा पूँजी का अनुपात या OL1 तथा OK1 के बीच का अनुपात वहीं होगा जो बिन्दु D पर OL4 तथा OK4 के बीच या बिन्दु C पर OL3 तथा OK3 के बीच होगा। परन्तु उत्पाद रेखा OQ तथा OR पर क्रमशः K,L,M,N तथा F,G,H,I पर वही अनुपात नहीं होगा जो उत्पाद रेखा OP पर है, अर्थात् एक उत्पाद रेखा पर जब दोनों साधनों में परिवर्तन होता है तो सामान्यतः समान अनुपात रहता है। जबकि दूसरे उत्पाद रेखा पर अलग या भिन्न अनुपात प्रदर्शित होता है। उल्लेखनीय यह है कि एक उत्पाद रेखा के सभी बिन्दुओं पर श्रम तथा पूँजी का अनुपात रेखाओं पर यह अनुपात अलग–अलग होगा।

1. **उत्पाद या पैमाना रेखा जब एक साधन स्थिर हो तथा दूसरा परिवर्तनीय–** यदि उत्पादन प्रक्रिया में एक उत्पाद साधन स्थिर हो तथा दूसरा परिवर्तनीय हो तो उत्पाद रेखा आधार या लम्ब अक्ष के समानान्तर होगी। इस प्रकार की उत्पाद रेखा परिवर्तनीय साधन के सन्दर्भ में उत्पादन विस्तार प्रदर्शित करेगी जैसा कि रेखाचित्र 12.9 में दिखाया गया है।

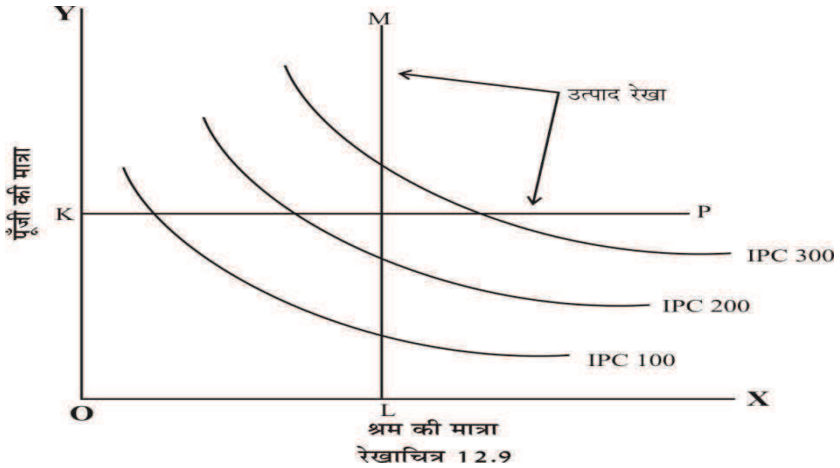

रेखाचित्र 12.9

LM उत्पाद रेखा श्रम की स्थिर मात्रा के साथ तथा KP पूँजी की स्थिर मात्रा के साथ उत्पाद विस्तार प्रदर्शित करती है। यदि सभी साधन परिवर्तनीय हो तो उत्पाद रेखा उद्गम बिन्दु O से हो कर जायेगी। ऐसी उत्पाद रेखा जो विभिन्न सम–उत्पाद रेखाओं के ऐसे बिन्दु से जाय जिन पर साधनों के बीच प्राविधिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर स्थिर हो तो इन सम–उत्पाद रेखाओं की समनतिक (isoc lines) कहते हैं। यदि उत्पादन फलन सहजातीय हो तो ऐसी उत्पादन रेखाये मूल बिन्दु से जाने वाली सीधी रेखा के रुप में होगी। किसी एक ऐसी उत्पाद रेखा पर K/L अनुपात तथा साथ ही $MRTS_{LK}$ स्थिर होगा, पर यह अनुपात अलग–अलग उत्पाद रेखाओं पर अलग–अलग होगा जैसा कि

रेखाचित्र 12.10 में प्रदर्शित है। परन्तु यदि उत्पदन फलन असहजातीय हो तो समनतिक उत्पाद रेखायें सीधी रेखा के रुप में नहीं होगी, यद्यपि मूल बिन्दू से जायेगी तथा सम–उत्पाद वक्रों के उन बिन्दुओं से जायेगी जिन पर प्राविधिक सीमान्त प्रतिस्थापन दर (MRTS) स्थिर है, पर यह उत्पाद रेखा टेढ़ी मेढ़ी होगी तथा प्रत्येक उत्पाद रेखा पर K/L अनुपात परिवर्तित होता रहेगा जैसे कि रेखाचित्र 12.11 में दिखाया गया है।

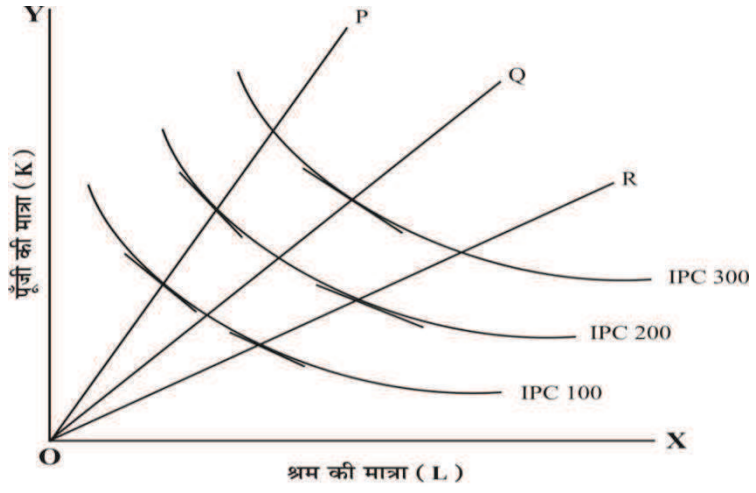

रेखाचित्र 12.10

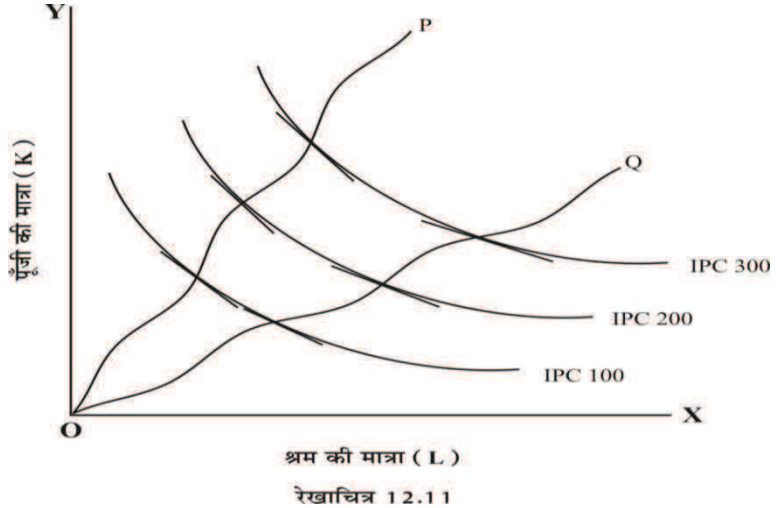

रेखाचित्र 12.11

रेखाचित्र 12.10 एवं 12.11 में IPC सम उत्पाद वक्र है तथा OP,OQ,OR उत्पाद रेखा है।

12.11 अभ्यास प्रश्न

1. लघु उत्तरीय प्रश्न

(क) परिवर्तनीय अनुपात के नियम की प्रथम अवस्था में उत्पादन वृद्धि की स्थिति क्यों प्राप्त होती है।

(ख) उत्पादन क्षेत्र III में कृषक को किस प्रकार की हानियाँ होती है?

(ग) ह्रास–दर प्रतिफल की अवस्था में उत्पादन सम्बन्धित निर्णय को स्पष्ट कीजिए।

2. सत्य/असत्य बताइये

(क) परिवर्तनीय अनुपात सिद्धान्त के दूसरी अवस्था में औसत उत्पाद वक्र, सिमान्त उत्पाद वक्र के ऊपर होता है।

(ख) MPn=TPn-TPn-1

(ग) सीमान्त उत्पाद का औसत उत्पाद के समतुल्य होने पर औसत उत्पाद अधिकतम होता है।

(घ) परिवर्तनीय अनुपात नियम में मोड़ के बिन्दु के बाद कुल उत्पाद में वृद्धि घटती दर से होती है तथा सीमान्त उत्पादन अधिकतम होता है।

3. बहुविकल्पीय प्रश्न

(क) संवृद्धि दर प्रतिफल में निम्न संबन्ध प्राप्त होता है–

(अ) $\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X}=\frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X}=\frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X}\cdots\frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$ (ब) $\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X}>\frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X}>\frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X}\cdots\frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$

(स) $\frac{\Delta_1 Y}{\Delta_1 X}<\frac{\Delta_2 Y}{\Delta_2 X}<\frac{\Delta_3 Y}{\Delta_3 X}\cdots\frac{\Delta_n Y}{\Delta_n X}$ (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं

(ख) सम–उत्पाद वक्र व्याख्या करता है–

(अ) समान उत्पादन (ब) उत्पादन फलन सम्बन्ध

(स) दोनों (द) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

(ग) परिवर्तनीय अनुपात के नियम के लागू होने के कारण हैं–

(अ) एक परिवर्तनीय साधनों के साथ अन्य साधनों का स्थिर होना

(ब) साधनों की अविभाज्यता

(स) साधनों की सीमितता एवं दुर्लभता

(द) उपर्युक्त सभी

4. एक पंक्ति अथवा एक शब्द वाले प्रश्न

(क) फार्म व्यवस्थापन किसे कहते है?

(ख) मोड़ का बिन्दु किसे कहते है?

(ग) परिवर्तनीय अनुपात सिद्धान्त में तृतीय अवस्था में ऋणात्मक प्रतिफल की अवस्था के कारण बताइये।

(घ) समान–दर प्रतिफल की अवस्था में कौन सा सम्बन्ध पाया जाता है?

5. रिक्त स्थान भरिए

(क) पैमाने का प्रतिफल सिद्धान्त उत्पादन फलन के ..... उत्पादन फलन की व्याख्या करता है।

(ख) परिवर्तनीय अनुपात नियम में एक साधन ..... होता है जबकि अन्य साधन ..... होते है।

(ग) आगत तथा निर्गत के बीच का सम्बन्ध ..... कहलाता है।

12.12 सारांश

उत्पादन की क्रिया को पूरा करने के लिए विभिन्न साधनों की आवश्यकता पड़ती है, जिसे आगत कहते है। इस आगत के सहयोग से जिस वस्तु का उत्पादन किया जाता है उसे निर्गत कहते है। आगत तथा निर्गत के बीच का सम्बन्ध उत्पादन फलन कहलाता है। पर उत्पादन फलन की प्रकृति अथवा किस प्रकार से साधनों के संयोगों में परिवर्तन से उत्पादन प्रभावित होता है, उस बात का कथन उत्पादन का नियम कहलाता है। इस प्रकार उत्पादन फलन तथा उत्पादन के नियम की व्याख्या के अन्तर्गत आप आगत–निर्गत सम्बन्ध की व्याख्या करते है और यह व्याख्या समय तत्व पर आधारित होती है। उत्पादन फलन की अल्पकालीन व्याख्या 'परिवर्तनीय अनुपात के नियम' के अन्तर्गत करते है, जिसमें एक साधन परिवर्तनीय होता है तथा अन्य साधन स्थिर होते है। उत्पादन फलन की दीर्घकालीन व्याख्या ''पैमाने का प्रतिफल'' के अन्तर्गत करते है जिसमें सभी साधन परिवर्तनीय होते है। परिवर्तनीय अनुपात नियम में प्रतिफल तीन दर से होता है : (1) संवृद्धि–दर प्रतिफल, (2) सामान दर प्रतिफल एवं (3) ह्रास–दर प्रतिफल। इसी प्रकार 'पैमाने का प्रतिफल नियम' में भी तीन दरे होती है : (1) संवृद्धि–दर से पैमाने का प्रतिफल, (2) समान दर से पैमाने का प्रतिफल एवं (3) ह्रास–दर से पैमाने का प्रतिफल

12.13 शब्दावली

उत्पाद रेखा या पैमाना रेखा : उत्पाद रेखा एक सम उत्पाद वक्र से दूसरे सम उत्पाद वक्र पर जाने की गति प्रदर्शित करती है, जब हम सभी साधन या एक साधन में परिवर्तन लाते है। इस प्रकार 'उत्पाद रेखा' उत्पादन के विस्तार के सम्भावित प्राविधिक पथ प्रदर्शित करती है।

सम उत्पाद वक्र : सम–उत्पाद वक्र दोनों साधनों के उन संभावित विभिन्न संयोग को प्रदर्शित करता है, जहॉ पर उत्पादक को समान उत्पादन प्राप्त होता है।

सम–उत्पाद मानचित्र : एक से अधिक सम–उत्पाद वक्र के समूह को सम–उत्पाद मानचित्र कहते है।

समनतिक (Isoclines) : ऐसी उत्पाद रेखा जो विभिन्न सम–उत्पाद रेखाओं के ऐसे बिन्दु से जाये जिन पर स्थिर साधनों के बीच प्राविधिक प्रतिस्थापन की सीमान्त दर स्थिर हो तो इन सम–उत्पाद रेखाओं को समनतिक कहते है।

12.14 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1(क). प्रथम अवस्था में साधनों का पूर्ण विदोहन नहीं हुआ होता है, फलस्वरूप, परिवर्तनशील साधनों की अतिरिक्त इकाइयों के प्रयोग से साधनों का पूर्ण विदोहन सम्भव हो पाता है। इसी कारण आरम्भ में कुल उत्पादकता, औसत उत्पादकता एवं सीमांत उत्पादकता तीनों बढ़ते हैं।

1(ख). उत्पादन III क्षेत्र में कृषक को दो प्रकार की हानियाँ होती है– जो निम्नलिखित है– (i) उत्पादन साधन की अतिरिक्त मात्रा की लागत की हानि, एवं (ii) उत्पादन साधन के प्रयोग से कुल उत्पाद में कमी होने (बिन्दु D के बाद की स्थिति, रेखाचित्र 12.1) से लाभ

की राशि नकरात्मक होती है। अर्थात् सीमान्त उत्पादन नकरात्मक होने लगता है (रेखाचित्र 12.1 में बिन्दु G के बाद की स्थिति का अवलोकन करें)

1(ग) ह्रास–दर प्रतिफल की अवस्था में निर्णय के नियम के अनुसार अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए उत्पादन की मात्रा मे उस स्तर तक वृद्धि करते रहना चाहिए जब तक कि अतिरिक्त प्रतिफल की राशि (Marginal Returns or MR) अतिरिक्त लागत की राशि (Marginal Costs or MC) से अधिक होती है। अतिरिक्त प्रतिफल एवं अतिरिक्त लागत की राशि के समतुल्य होने की स्थिति के उपरान्त परिवर्तनशील साधन की मात्रा में वृद्धि नहीं करनी चाहिए। इस स्तर पर प्राप्त उत्पादन की मात्रा कृषक को अधिकतम लाभ प्रदान करती है।

2. (क) सत्य, (ख) सत्य, (ग) असत्य, (घ) सत्य

3. (क) स, (ख) अ, (ग) द

(क) फार्म व्यवस्थापन विज्ञान का मुख्य उद्देश्य अधिकतम उत्पादन की भौतिक मात्रा प्राप्त करना न होकर अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त करना होता है।

(ख) जिस बिन्दु पर सीमान्त उत्पादकता अधिकतम होती है (रेखाचित्र 12.1 में बिन्दु E) उस बिन्दु से सम्बन्धित कुल उत्पादन का बिन्दु (बिन्दु B) मोड़ का बिन्दु कहलाता है। यही वह बिन्दु है जिसके बाद कुल उत्पादकता में घटती दर से वृद्धि होती है।

(ग) इस अवस्था में परिवर्तनशील साधन, स्थिर साधन की तुलना में अत्यधिक होने के कारण सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है।

(घ) $\frac{\Delta 1y}{\Delta 1x} = \frac{\Delta 2y}{\Delta 2x} = \frac{\Delta 3y}{\Delta 3x} \ldots\ldots \frac{\Delta ny}{\Delta nx}$

4. रिक्त स्थान भरिए।

(क) दीर्घकालीन, (ख) परिवर्तनीय, स्थिर (ग) उत्पादन फलन

12.15 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. अग्रवाल, एन0 एल (1977), ''भारतीय कृषि का अर्थतंत्र'', राजस्था हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, पृ0 141–155
2. मिश्रा, जे0 पी0; पन्त, जे0 जी0, (2009)'', व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण,'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ0 200
3. लाल, एस0 एन0 (2003), ''अर्थशास्त्र के सिद्धान्त,'' शिव पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद, पृ0 137–140
4. मिश्रा, जे0 पी0 (2008),'' कृषि अर्थशास्त्र,'' साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा, पृ0 200

12.16 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सोनी, आर0 एन0 (2008) ''कृषि अर्थशास्त्रा के मुख्य विषय,'' विशाल पब्लिशिंग कं0, जालन्धर न्यू दिल्ली।

2. Tyagi, B.P., (1998), "Agricultural Ecomomics and Rural Development," A.D. offset printers, Meerut
3. पंत, जे0 सी0, एवं मिश्रा, जे0 पी0 (2010) ''व्यष्टि आर्थिक विश्लेषण साहित्य भवन पब्लिकेशन्स, आगरा

12.17 निबंधात्मक प्रश्न

(क) परिवर्तनीय अनुपात नियम की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
(ख) पैमाने के प्रतिफल सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।

इकाई–13 : लेविस का कृषि विकास प्रारूप

इकाई संरचना

13.1 प्रस्तावना

13.2 उद्देश्य

13.3 लेविस का कृषि विकास प्रारूप

13.4 लेविस के कृषि विकास प्रारूप की मान्यताएं

13.5 लेविस के कृषि विकास प्रारूप की व्याख्या

- 13.5.1 द्वि–क्षेत्र अर्थव्यवस्था
- 13.5.2 असीमित श्रमपूर्ति
- 13.5.3 पूंजी निर्माण पूंजीवादी अतिरेक पर निर्भर करता है
- 13.5.4 राज्य तथा निजी पूँजीपतियों की भूमिका
- 13.5.5 बैंक साख द्वारा पूँजी निर्माण
- 13.5.6 वृद्धि प्रक्रिया का अंत
- 13.5.7 खुली अर्थव्यवस्था में लेविस का सिद्धान्त
- 13.5.8 लेविस के कृषि विकास प्रारूप की आलोचनाएं

13.6 सारांश

13.7 शब्दावली

13.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

13.10 निबन्धात्मक प्रश्न

13.1 प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई में आपने कृषि उत्पादन नियम के बारे में विस्तृत रूप से जानकारी प्राप्त की। इस इकाई में हम लेविस के कृषि विकास प्रारूप की चर्चा करेंगे। प्रो० डब्ल्यू आर्थर लेविस ने पिछड़े देशों के आर्थिक विकास का मॉडल तैयार किया। लेविस ने अपने प्रसिद्ध लेख **श्रम की असीमित पूर्ति के साथ आर्थिक विकास** (1954) में इस बात पर बल दिया कि अल्पविकसित देशों मे श्रम की असीमित पूर्ति होती है जो कृषि क्षेत्र में कार्य करते हुए दिखायी तो देती है परन्तु उनकी सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है। जिनकों जीवन निर्वाह मजदूरी प्राप्त होती है। लेविस के अनुसार अतिरिक्त श्रम की मात्रा आर्थिक विकास में मददगार हो सकती हैं। यदि इस अतिरिक्त श्रम को कृषि क्षेत्र से निकाल कर पूंजीवादी क्षेत्र में लगाकर अधिक पूंजी निर्माण किया जायें। इस प्रकार प्रक्रिया में धीरे–धीरे जीवन निर्वाह क्षेत्र का अतिरेक समाप्त हो जायेगा और पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में विकसित हो जायेगा। लेविस ने अतिरेक या निवेश योग्य अतिरेक की भूमिका पर विशेष बल दिया है।

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप लेविस के कृषि विकास प्रारूप का विश्लेषण कर सकेंगे।

13.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप यह जान सकेंगे कि–

- लेविस का कृषि विकास प्रारूप से सम्बन्धित मॉडल क्या है।
- समझा सकेंगे कि विकासशील देशों में कृषि क्षेत्र तथा पूँजीवादी क्षेत्र के बीच क्या सम्बन्ध होता है।
- विशद् विश्लेषण कर सकेंगे कि आर्थिक विकास की प्रक्रिया किस प्रकार से कार्य करती हैं।
- लेविस को मॉडल मे बैंक की भूमिका क्या हैं।
- अल्पविकसित देशों मे श्रम की असीमित पूर्ति से आशय क्या हैं।

13.3 लेविस का कृषि विकास प्रारूप

बहुत से अर्थशास्त्रियों की तरह आर्थर लेविस ने अर्थव्यवस्था के सर्वांगीण विकास के लिए कृषि की भूमिका को बहुत अधिक महत्व दिया है। लेविस का मत है कि कृषि उत्पादन तथा बाजार की दशायें अर्थव्यवस्था के सम्पूर्ण विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। अल्प विकसित देशों में अधिकतर छिपी बेरोजगारी पाई जाती है। छिपी बेरोजगारी का यह अभिप्राय है कि किसी कार्य को करने के लिए जितने व्यक्ति चाहिए, उससे अधिक व्यक्ति काम पर लगे हुए हैं। यदि कुछ व्यक्तियों को काम पर से हटा दिये जाए तो कुल उत्पादन में कमी नहीं होगी। इस प्रकार इन श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है। इसे आपको एक उदाहरण द्वारा समझाया जा सकता हैं। जैसे एक हेक्टेयर खेत की जुताई करने के लिए तीन व्यक्तियों की आवश्यकता है। यदि उस खेत में पांच व्यक्ति काम पर

लगे हुए हैं तो दो व्यक्ति छिपी बेरोजगारी को व्यक्त करते है। अल्प विकसित देशों में छिपी या अदृश्य बेरोजगारी की समस्या बहुत गंभीर है।

अल्प विकसित देशों में छिपी बेरोजगारी को पूंजी निर्माण हेतु प्रयोग करने के लिए प्रो० लेविस ने एक सिद्वांत का प्रतिपादन किया था, जिसे लेविस का कृषि विकास प्रारूप कहा जाता है। प्रो० आर्थर लेविस ने अपने एक लेख 'Economic Development with Unlimited Supply of Labour' (1954) में इस तथ्य को स्पष्ट किया कि अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास हेतु अल्पविकसित देश अपनी असीमित श्रम शक्ति का उपयोग पूंजी–निर्माण के लिए करके आर्थिक विकास की गति को तीव्र कर सकते हैं।

अल्प विकसित देशों में पूंजी की कमी पाई जाती है। इन देशों में निवेश की दर 5 प्रतिशत से 10 प्रतिशत तक होती है जबकि आर्थिक विकास की उचित दर प्राप्त करने के लिए 15 से 20 प्रतिशत की निवेश दर आवश्यक है। इन अर्थव्यवस्थाओं में श्रम की पूर्ति असीमित होती है। श्रम की पूर्ति का उचित उपयोग करके निवेश की दर में वृद्धि की जा सकती है।

13.4 मॉडल की मान्यताएं

लेविस के कृषि विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यताएं निम्नलिखित हैः–

(क) अल्प विकसित देशों में जनसंख्या घनत्व अधिक होने के कारण बहुत से लोग छिपी हुयी बेरोजागरी से पीड़ित हैं। इनकी सीमान्त उत्पादकता शून्य होती हैं।

(ख) जीवन निर्वाह स्तर पर मजदूरों की पूर्ति पूर्णतया लोचदार होती है।

(ग) अर्थव्यवस्था में दो प्रमुख क्षेत्र हैं– (1) पूंजीवादी क्षेत्र (2) पिछड़ा प्राथमिक क्षेत्र

(घ) पूंजीवादी क्षेत्र में मजदूरी की दर अधिक होती है, जबकि प्राथमिक क्षेत्र में मजदूरी की दर कम होती है। यह जीवन निर्वाह के बराबर होती है।

13.5 लेविस के कृषि विकास प्रारूप की व्याख्या

लेविस के कृषि विकास प्रारूप की व्याख्या निम्नांकित शीर्षकों में बाँट कर सकते हैं–

13.5.1 द्वि–क्षेत्र अर्थव्यवस्था

लेविस अपना कृषि विकास प्रारूप एक द्वैत अर्थव्यवस्था की मान्यता पर करते हैं जिसमें दो क्षेत्र हैं।

(a) आधुनिक विनिमय क्षेत्र या पूँजीवादी क्षेत्र तथा (b) जीवन निर्वाह क्षेत्र।

पूंजीवादी क्षेत्र वह क्षेत्र है जो पुर्नउत्पादनीय पूँजी प्रयोग में लाता है। पूँजी के प्रयोग पर नियंत्रण करता है। पूँजीवादी क्षेत्र उत्पादन के लिए श्रमिकों को किराये पर लेता है। दूसरी ओर जीवन–निर्वाह क्षेत्र वह है जो पुर्नउत्पादनीय पूँजी का प्रयोग नहीं कर रहा है। इसे घरेलू परम्परागत क्षेत्र या स्व रोजगार क्षेत्र कहा जा सकता है। जीवन निर्वाह क्षेत्र में प्रतिव्यक्ति उत्पादन का स्तर पूँजीवादी क्षेत्र से बहुत ही कम है।

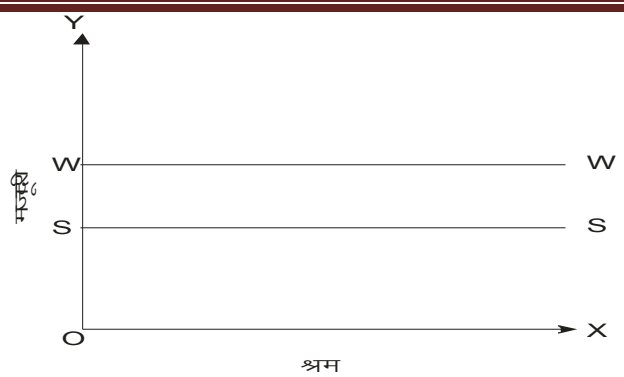

चित्र 1

चित्र में अक्षैतिक अक्ष OX रोजगार पर लगे श्रम को मात्रा को मापता है और अनुलम्ब अक्ष OY श्रम की मजदूरी तथा सीमान्त उत्पादकता को मापता है। SS औसत निर्वाह आय को तथा WW पूँजीवादी मजदूरी को प्रकट करता है।

चित्र से स्पष्ट है कि पूँजीवादी क्षेत्र में आय का स्तर जीवन निर्वाह क्षेत्र के आय स्तर से कम है। अर्थशास्त्रियों के अनुसार दोनों क्षेत्रों की आय का यह अन्तर 30 प्रतिशत से 50 प्रतिशत तक हो सकता है। प्रो0 लुइस ने इस अन्तर को 30 प्रतिशत अगणित किया था।

13.5.2 असीमित श्रमपूर्ति

लेविस माडल इस महत्वपूर्ण मान्यता पर आधारित है कि जीवन निर्वाह क्षेत्र में श्रम की असीमित पूर्ति होती है जिसका अर्थ यह है कि जीवन–निर्वाह क्षेत्र में प्रचलित जीवन निर्वाह स्तरीय मजदूरी दर पर श्रम की पूर्ति श्रम की मांग से अधिक है और इस श्रमाधिक्य को जीवन निर्वाह स्तरीय मजदूरी दर पर दूसरी जगह रोजगार दिया जा सकता है। श्रमिकों का सीमान्त उत्पादन जीवन–निर्वाह मजदूरी से नीचे है जिससे कि श्रमिकों को दूसरी जगह रोजगार दिये जाने के कारण श्रमिक के औसत उत्पादन में कमी नही आयेगी, बल्कि इसमें वृद्धि होगी।

लेविस नें 'श्रमतिरेक' को स्पष्ट करते हुए यह तर्क रखा कि अल्पविकसित देशों में श्रमिक सीमान्त उत्पादन विकास के अल्पस्तर पर भी शून्य या ऋणात्मक हो सकता है। कृषि क्षेत्र में भूमि की प्राविधिक गुणांक में परिवर्तनशीलता के अभाव के कारण उत्पादन ह्रास नियम लागू होने लगता है। अब यदि जनसंख्या में तेज वृद्धि हो और भूमि के अतिरिक्त रोजगार का कोई अन्य अवसर नहीं हो तो जैसा ए०के० सेन ने कहा भूमि पर लगे श्रमिक अपने कार्य के घण्टों में कमी ला देंगे। श्रम के सीमान्त उत्पादन में तेजी से गिरावट आयेगी और एक स्थिति में शून्य भी हो जायेगी और जब सीमान्त उत्पादन शून्य या नगण्य हो जाता है तो इन अर्थव्यवस्थाओं में मजदूरी की दर जीवन निर्वाह स्तरीय मजदूरी दर के बराबर हो जाती है। इस स्थिति में श्रम की पूर्ति जब तक अपरिमित रहेगी जब तक कि श्रम की पूर्ति इस मजदूरी दर पर श्रम की माँग से अधिक होगी। इस स्थिति की व्याख्या हम चित्र द्वारा निम्न प्रकार कर रहे है–

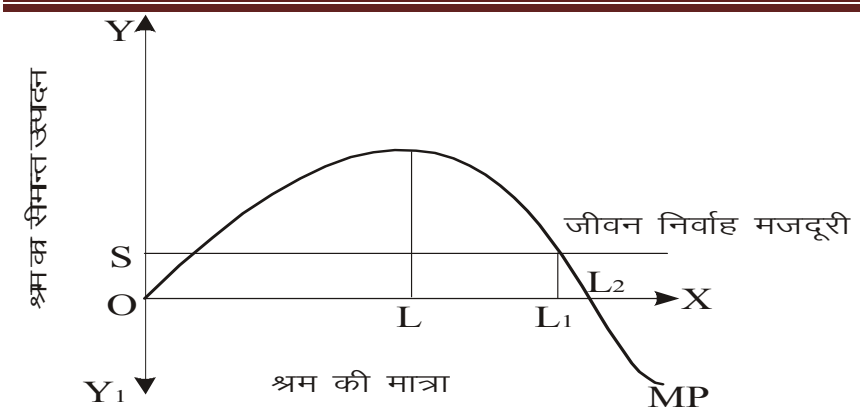

चित्र–2

इस रेखाचित्र में भूमि की स्थिर मात्रा के साथ श्रम की उत्तरोत्तर अधिक इकाइयाँ लगायी गयी हैं; OL श्रम के बाद श्रम के सीमान्त उत्पादन में गिरावट शुरू हो जाती है और जब इसकी मात्रा OL_1 होती है तो इसका मूल्य जीवन निर्वाह स्तरीय मजदूरी के बराबर हो जाता है। OL_2 के बाद श्रम की सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक हो जाती है। OL_1 के बाद जितने भी श्रमिक कृषि क्षेत्र में लगेंगे वें सभी अतिरेक श्रमिक होंगे। यदि इस अतिरेक श्रम को जिनको जीवन निर्वाह मजदूरी से भी कम आय प्राप्त हो रही हैं जीवन निर्वाह क्षेत्र से निकाल कर पूँजीवादी क्षेत्र में लगा दिया जाये तो निश्चित ही अतिरेक श्रम को जीवन निर्वाह स्तरीय मजदूरी से अधिक आय प्राप्त होगी। आपको हम पहले ही बता चुके है कि पूंजीवादी क्षेत्र में मजदूरी जीवन निर्वाह स्तरीय मजदूरी से अधिक है। औद्योगिक क्षेत्र के लिए श्रम की पूर्ति की लोच पूर्णतया लोचदार होगी, अर्थात् उद्योगपति दी हुयी मजदूरी दर पर जितने श्रमिक चाहे, उतने क्रय कर सकता है।

13.5.3 पूंजी निर्माण पूंजीवादी अतिरेक पर निर्भर करता है–

लेविस जिस द्वैत व्यवस्था की बात करते है उसमें पूँजीवादी क्षेत्र तथा जीवन निर्वाह क्षेत्र इस अर्थ से परस्पर सम्बन्धित हैं कि जब पूँजीवादी क्षेत्र विकसित होता है श्रम हेतु रोजगार के अवसर अधिक होते है। यह जीवन निर्वाह क्षेत्र से श्रमिकों को निकालता है तथा पूँजीवादी क्षेत्र में लगाता है और जैसा हम पहले ही देख चुके है कि नये उद्योग खोले जा सकते है या बिना सीमा के पुराने उद्योगों का विस्तार वर्तमान मजदूरी दर पर किया जा सकता है। हम लोगों ने उर्पयुक्त चित्र में देखा कि OL_1 के बाद सभी श्रमिक दी हुयी औद्योगिक मजदूरी पर असीमित पूर्ति के रूप में औद्योगिक क्षेत्र के लिए उपलब्ध हैं।

पूँजीपति श्रमिक को तब तक रोजगार देता जायेगा, जब तक कि श्रम को दी जाने वाली मजदूरी उसकी सीमान्त उत्पादकता के बराबर नहीं हो जाती। पूँजीपति जो निर्वाह क्षेत्र से आये हुये अकुशल श्रमिकों को मजदूरी देगा वह उस आय द्वारा बहुत अधिक सीमा तक निर्धारित होगी जिसे वे श्रमिक जीवन–निर्वाह क्षेत्र में अर्जित कर रहे थे। यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब इन श्रमिकों की जीवन निर्वाह क्षेत्र में सीमान्त उत्पादकता शून्य थी।

इसीलिये वहाँ इनकी आय शून्य थी फिर इसके आधार पर पूँजीवादी क्षेत्र में इसकी मजदूरी का निर्धारण कैसे होगा? इस सम्बन्ध में लेविस यह प्रतिपादित करते हैं कि यद्यपि इनकी सीमान्त उत्पादकता शून्य है पर वास्तविकता यह है कि एक किसान परिवार कुल उत्पादन को आपस में बाँटता है, इसीलिए प्रत्येक सदस्य औसत उत्पाद के बराबर आय प्राप्त करेगा, जो शून्य से अधिक होगा, पर सीमान्त उत्पादन के बराबर नहीं प्राप्त करता। हॉ इतना अवश्य है कि यदि पूँजीवादी क्षेत्र में मिलने वाली मजदूरी उसको प्राप्त होने वाले औसत उत्पादन से कम है तो जीवन निर्वाह क्षेत्र में ही बना रहेगा। लेविस यह प्रतिपादित करते है कि सामान्यतया जीवन निर्वाह आय तथा पूँजीवादी क्षेत्र में मजदूरी में 30 प्रतिशत का अन्तर होगा। इस प्रक्रिया को निम्न रेखाचित्र से स्पष्ट किया गया है–

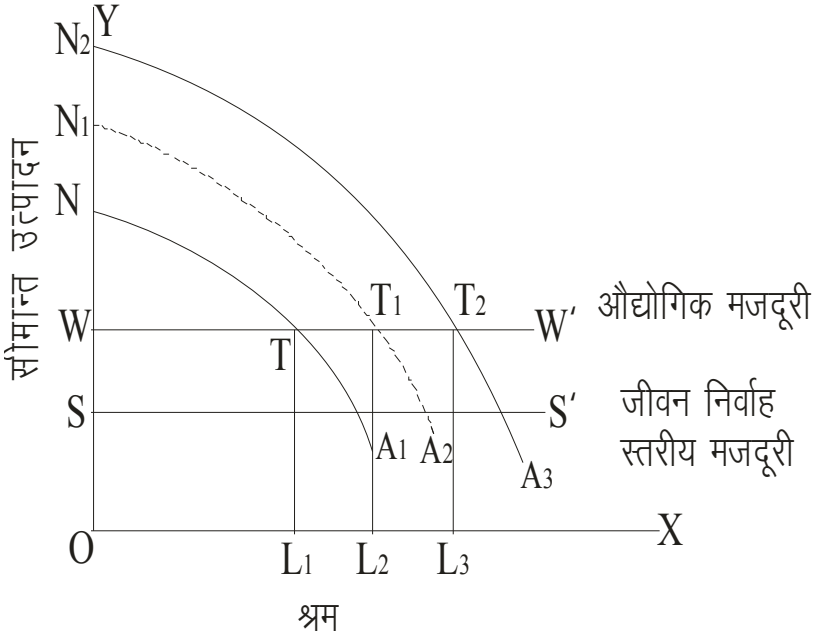

चित्र–3

यह रेखाचित्र पूँजीवादी या औद्योगिक क्षेत्र को प्रदर्शित करता है, रेखाचित्र नं० 2 में हम लोगों ने देखा कि OL_1 के अतिरिक्त जो भी श्रमिक जीवन–निर्वाह क्षेत्र में है वे सभी औद्योगिक क्षेत्र में लिए किसी भी औद्योगिक मजदूरी पर (जो निश्चित रूप से श्रमिक के औसत उत्पादन या जीवन–निर्वाह से ऊपर होगी) 'पूर्ण लोचदार पूर्ति' के रूप में हैं। औद्योगिक मजदूरी WW पूर्णयता लोचदार रेखा के रूप में प्रदर्शित है जिससे यह स्पष्ट होता है कि OW मजदूरी पर पूँजीपति जितना श्रमिक चाहे जीवन निर्वाह क्षेत्र से प्राप्त कर सकता है। रेखाचित्र में श्रम की सीमान्त उत्पादकता वक्र मूलतः NA से प्रदर्शित है। यदि हम यह मान लें कि पूँजीपति रोजगार देते समय अपने लाभ को अधिकतम करेगा, तो यह श्रम को वहीं तक रोजगार देगा, जबकि उसकी सीमान्त उत्पादकता औद्योगिक मजदूरी के बराबर हो जाये। रेखाचित्र 3 में वह OL_2 श्रमिकों को रोजगार देगा जिस पर सीमान्त उत्पादन L_1T = मजदूरी (OW)। हम जानते हैं कि सीमान्त उत्पादन के नीचे का सम्पूर्ण

भाग जो वस्तुतः श्रम की प्रति इकाई पर प्राप्त उत्पादन प्रदर्शित करता है, कुल उत्पादन प्रदर्शित करेगा। (यदि हम प्रत्येक इकाई से प्राप्त उत्पादन को एक साथ जोड़ दे ंतो योग ही कुल उत्पादन होगा)।

रेखाचित्र में OL_1 श्रमिको से प्राप्त कुल उत्पादन $ONTL_1$ है। अब यदि हम इसमें से श्रमिकों को दी गयी मजदूरी जो $OL_1 \times OW = OWTL_1$ घटा दे ंतो शेष $ONTL_1 - OWTL_1 = WNT$ पूँजीपति को प्राप्त लाभ होगा।

यदि इस अतिरेक (WNT) को पूँजीपति द्वारा विनियोजित कर दिया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप अतिरिक्त पूँजी निर्माण होगा, श्रम उत्पादकता में वृद्धि होगी, सीमान्त उत्पादकता वक्र ऊपर विवर्तित होकर N_1A_1 हो जायेगा। अब पूँजीवादी अतिरेक और रोजगार पहले से अधिक हो जाता है।

रोजगार की मात्रा OL_1 से OL_2 हो जाती है तथा पूँजीवादी अतिरेक भी WNT से बढकर WN_1T_1 हो जाता है। इस पूँजीवादी अतिरेक (WN_1T_1) को पुनः निवेशित किया जाता है तो सीमान्त उत्पादकता का वक्र ऊपर को सरक कर N_2A_2 हो जाता है। अब पूँजीवादी अतिरेक और रोजगार पहले से अधिक हो जाते है जो कि क्रमशः WN_2T_2 तथा OL_3 है। इस पूँजवादी अतिरेक को पुनः निवेश किया जाता है और यह तब तक चलता रहता है, जब तक कोई अतिरेक श्रम न बचे।

इस प्रकार पूँजीपतियों द्वारा कमायें गये लाभों में से पूँजी का निर्माण होता है। प्रो० लेविस तकनीकी ज्ञान और उत्पादक पूँजी की वृद्धि के बीच कोई भेद नही करता है और दोनों को एक ही तत्व मानता है जिसका परिणाम यह है कि तकनीकी प्रगति लाभों को बढ़ाती है और पूँजीवादी क्षेत्र में रोजगार में वृद्धि करती है।

विकास की इस प्रक्रिया में लेविस पूरी अर्थव्यवस्था में पूँजीवादी क्षेत्र के सापेक्षिक आकार से ज्यादा सम्बन्धित हैं। जितना ही यह आकार बढ़ता जायेगा उत्पादन में पूँजीपति का हिस्सा बढ़ता जायेगा क्योंकि यह हिस्सा जितना ही बढ़ेगा राष्ट्रीय आय में लाभ का हिस्सा बढ़ता जायेगा। लेविस कहते भी है कि अल्पविकसित देशों में इतने गरीब इसलिए हैं क्योंकि उनमें पूँजीवादी क्षेत्र का आकार अत्यन्त कम है। अल्पविकसित देशों का आर्थिक विकास पूँजीवादी क्षेत्र के विस्तार पर निर्भर करेगा।

13.5.4 राज्य तथा निजी पूँजीपतियों की भूमिका

लेविस के सिद्वांत में विस्तार की प्रक्रिया में पूँजी आधिक्य या संचयन की भूमिका सबसे महत्वपूर्ण है। लेविस के अनुसार आर्थिक विकास के सिद्धान्त में सबसे महत्वपूर्ण समस्या उस प्रक्रिया को समझने की है जिसमें कोई समाज जो पहले अपनी राष्ट्रीय आय का 4 से 5 प्रतिशत या इससे कम बचत तथा निवेश करता था, वह अपने आप को एक ऐसी अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करता है, जहाँ ऐच्छिक बचत राष्ट्रीय आय की लगभग 12 से 15 प्रतिशत या इससे भी अधिक हो रही है। यही प्रमुख समस्या है कि क्योंकि आर्थिक विकास का सबसे प्रमुख तथ्य तीव्र पूँजी संचय है। जिसमें पूँजी के साथ ज्ञान और कौशल भी शामिल है।

अर्थव्यवस्था में पूँजीसंचयन कितना होगा या पूँजीपति के पास पुनर्विनियोजन योग्य आधिक्य कितना होगा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि राष्ट्रीय उत्पाद में पूँजीपति को लाभ के रूप में कितना भाग मिलता है और लाभ इस बात पर निर्भर करता है कि राष्ट्रीय उत्पाद में पूँजीवादी क्षेत्र का हिस्सा कितना है। लेविस के अनुसार जैसे–जैसे पूँजीवादी क्षेत्र का विस्तार होता है मजदूरी–मूल्य अनुपात स्थिर होने की स्थिति में, राष्ट्रीय आय में लाभ का हिस्सा बढ़ता जाता है और चूँकि बचत का प्रमुख स्रोत लाभ ही है। इसलिए राष्ट्रीय आय के अनुपात के रूप में बचत एवं पूँजी–निर्माण का भी भाग बढ़ता जाता है। अतिरेक श्रम वाले अल्पविकसित देशों में अधिक आय वाले 10 प्रतिशत लोग, जो राष्ट्रीय आय का 40 प्रतिशत प्राप्त करते है, वही बचत करते है। वेतन एवं मजदूरियां प्राप्त करने वाला वर्ग कठिनाई से राष्ट्रीय आय का 3 प्रतिशत बचाते है। परन्तु मुख्य वर्ग में भूमिपति, व्यापारी, पुजारी, राजे–महाराजे आदि उत्पादक निवेशों की अपेक्षा व्यर्थ उपभोग में लगे रहते है।

राज्य पूँजीपति और देशीय निजी पूँजीपति कमायें गये लाभों में से पूँजी निर्माण करते है। प्रो० लेविस इस तथ्य का जोरदार समर्थन करते है कि राज्य पूँजीपति, निजी पूँजीपति की अपेक्षा शीघ्रता से पूँजी संचय कर सकता है। तकनीकी के सन्दर्भ में प्रो० लेविस कहते है कि यदि बहुत कम तकनीकी विकास का स्तर है तो अतिरेक केवल धीरे–धीरे ही वृद्धि करेगा परन्तु यदि किसी भी कारण पूँजी उत्पादकता के प्रयोग के अवसरों में शीघ्रता से वृद्धि होती है तो अतिरेक तेजी से बढ़ेगा और उसके साथ पूँजीवादी वर्ग भी।

13.5.5 बैंक साख द्वारा पूँजी निर्माण

लेविस ने पूँजी–सृजन के सम्बन्ध में पूँजीपति के लाभ या अतिरेक पर बल दिया। परन्तु वह यह भी स्वीकार करते हैं कि मुद्रा की पूर्ति में वृद्धि या बैंक साख के द्वारा भी पूँजी का सृजन हो सकता है। इस प्रकार से पूँजी सृजन का महत्व अल्पविकसित देशों में विशेष रूप से होगा जहाँ पूँजी की कमी के कारण श्रमातिरेक है। इस स्थिति में बिना अन्य प्रयोगों से संसाधनों की निकासी के ही पूँजी सृजन सम्भव होगा। बैंक साख द्वारा लायी गयी विस्तार की इस प्रक्रिया में प्रमुख कठिनाई होगी– स्फीतिक दबाव की। क्योंकि अतिरिक्त मुद्रा के सृजन के कारण मौद्रिक आय तथा उसके परिणामस्वरूप वस्तुओं की माँग तत्काल बढ़ जायेगी पर वस्तुओं की पूर्ति उसी के साथ नही बढ़ेगी, पूर्ति को माँग की वृद्धि के साथ समायोजित करने मे समय लगेगा। पर इसके सम्बन्ध में लेविस यह मत प्रकट करते है कि स्फीतिक दबाव की यह स्थिति स्वतः समाप्त हो जायेगी क्योंकि उत्पादन की धीरे–धीरे वृद्धि के साथ वांछित बचत जो लाभ पर निर्भर करेगी, बढ़ने लगेगी और पुनः एक ऐसी स्थिति आ जायेगी जब विकास की प्रक्रिया की वित्तीय व्यवस्था पूँजीपति के लाभ या बचत से हो जायेगी, बैंक साख की आवश्यकता नहीं होगी।

13.5.6 वृद्धि प्रक्रिया का अंत

लेविस का कृषि विकास प्रारूप स्पष्ट करता हैं कि आर्थिक विकास की ऐसी प्रक्रिया अपरमित सीमा तक नहीं चल सकती, यह प्रक्रिया उस समय रूक जायेगी जब जीवन निर्वाह क्षेत्र में अब श्रमातिरेक शेष ही न रहे जिसे रोजगार में लेना हो। जब यह श्रमातिरेक समाप्त हो जाता है तो औद्योगिक क्षेत्र के लिए श्रम की पूर्ति पूर्ण लोचदार नहीं रह जाती।

इस स्थिति में श्रम के लिए पूँजीवादी क्षेत्र तथा कृषि क्षेत्र के बीच प्रतियोगिता शुरू होगी। जब यह स्थिति आ जाये तो कृषि क्षेत्र का व्यापारीकरण हो जायेगा। निम्नांकित परिस्थितियों मे विकास की यह प्रक्रिया पूर्ण परिपक्वता से पहले बिना सम्पूर्ण श्रमातिरेक को रोजगार दिए ही रूक सकती है क्योंकि–

(A) यदि पूँजी निर्माण के परिणामस्वरूप कोई अतिरेक श्रम न बचे।

(B) यदि पूँजी–क्षेत्र इतनी तेजी से विकास करे कि निर्वाह क्षेत्र में जनसंख्या बिल्कुल घट जाये और उस (निर्वाह) क्षेत्र में श्रम की औसत उत्पादकता बढ़ जाएं क्योंकि उत्पादन को बाँटने वाले बहुत कम लोग रह गये है और इस प्रकार पूँजीवादी क्षेत्र में मजदूरी बढ़ जाये।

(C) यदि निर्वाह क्षेत्र की सापेक्षता में पूँजीवादी क्षेत्र का विस्तार होने के परिणामस्वरूप व्यापार की स्थितियां पूँजीवादी क्षेत्र के विरूद्ध जाएं, और कच्चे माल तथा अन्न की चढ़ती कीमतों के साथ पूँजीपति को श्रमिकों को अधिक ऊँची मजदूरी का भुगतान करना पड़े।

(D) यदि निर्वाह क्षेत्र उत्पादन की नई तकनीकें अपना ले, जिससे पूँजीवादी क्षेत्र में वास्तविकता मजदूरी बढ़ जाये तथा इस प्रकार पूँजीवादी अतिरेक कम हो जाएं।

(E) यदि पूँजीवादी क्षेत्र में श्रमिक पूँजीवादी ढंग का जीवन अपना लें तथा अधिक ऊँची मजदूरी के लिए संघर्ष करें और अपनी मजदूरी बढ़वानें में सफल हो जाएं तो पूँजी–निर्माण की दर और पूँजीवादी अतिरेक कम हो जाएंगे।

13.5.7 खुली अर्थव्यवस्था में लेविस का सिद्धान्त–

जब इन साधनों में से कोई भी वृद्वि की प्रक्रिया पर प्रतिकूल प्रभाव डालता है, तो या तो आप्रवास को प्रोत्साहन देकर या उन देशों को, जिनमें निर्वाह मजदूरी पर अधिक श्रम प्राप्त होता हैं, पूँजी का निर्यात करके पूँजी संचय जारी रखा जा सकता है। परन्तु ये सम्भावनाऐं लेविस द्वारा स्वयं की रद्द की गयी। क्योंकि अकुशल श्रम का आप्रवास सम्भव नहीं तथा भुगतान शेष के विपरित होने के कारण देश में कठिनाईयां उत्पन होती है। अतः ऐसी अर्थव्यवस्थाओं के लिए लेविस विनिमय नियंत्रण की सलाह देते है।

13.5.8 लेविस का कृषि विकास प्रारूप की आलोचनाएं–

यदि हम प्रो० नर्क्स तथा प्रो० लेविस द्वारा प्रतिपादित पूँजी–निर्माण सम्बन्धी इस प्रकार के दृष्टिकोणों की तुलना करें तो पायेंगे कि दोनों ही यह मानते है कि अल्पविकसित देशों में, विशेष रूप से कृषि क्षेत्र में, श्रमातिरेक पाया जाता है, जिसे बिना कुल उत्पादन में किसी कमी के निकाला जा सकता है तथा इस प्रकार पूँजी निर्माण की दर में वृद्धि की जा सकती है। पर दोनों इसके सम्बन्ध में कि इन श्रमिकों को वहाँ से निकालने के लिए क्या आवश्यक दशा हों, भिन्न मत रखते हैं। प्रो० लेविस इस मत के है कि संगठन के बिना किसी सुधार अथवा नयी पूँजी को लाये हुए इस प्रकार के श्रमातिरेक को निकाला जा सकता है। इसके विपरीत नर्क्स अथवा उनके अनुमोदकों के दृष्टिकोण के अनुसार, संगठन में उन्नति जैसे– कृषि जोतों में सुधार, इस प्रकार के श्रमिकों को निकालने के लिये

आवश्यक दशा है, यद्यपि प्राविधिक प्रगति इसकी मान्यता में नही है अर्थात् प्राविधिक प्रगति नही होनी चाहिए। इस प्रकार दोनों के बीच का अन्तर संगठन सम्बन्धी परिवर्तनों का ही है।

प्रो० लेविस का यह दृष्टिकोण अनेक अव्याहावारिक मान्यताओं पर आधारित है।

लेविस के कृषि विकास प्रारूप की निम्नलिखित आलोचनायें की जाती है–

1. **श्रम की गतिशीलता आसान नहीं** – ऊँची पूँजीवादी मजदूरी होने से अतिरेक–श्रम निर्वाह क्षेत्र से पूँजीवादी क्षेत्र में नही चला जाएगा। लोगों को अपनी भूमिका एवं परिवार से इतना अधिक लगाव होता है कि वह अपने रिश्तेदारों और घर को छोड़ना पसन्द नही करते। इसके अतिरिक्त पूँजीवादी क्षेत्र में भाषा एवं रीति–रिवाज की विभिन्नताएं तथा भीड़–भाड़, मकान एवं महंगाई की समस्याएं निर्वाह क्षेत्र से इस क्षेत्र में श्रम की गतिशीलता के रास्ते में महत्वपूर्ण रूकावटें है। यह इस मॉडल की एक प्रमुख कमी है।
2. **सीमिति क्षेत्र**– इस सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित है क्योंकि यह सिद्धान्त अल्पविकसित देशों में श्रम की असीमित पूर्ति की मान्यता पर आधारित है। परन्तु कई अल्प विकसित अर्थव्यवस्थाओं जैसे दक्षिणी अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका में श्रम की पूर्ति असीमित नहीं है। इसलिए यह सिद्धान्त उन अर्थव्यवस्थाओं पर लागू नहीं होता।
3. **कुशल श्रमिकों की कमी**– लुईस का यह निष्कर्ष भी ठीक नही है कि अल्प विकसित देशों में अकुशल श्रमिकों को प्रशिक्षण देकर आसानी से कुशल बनाया जा सकता है। इसलिए श्रम की कुशलता को वे आर्थिक विकास के लिए कोई बड़ी बाधा नहीं मानते थे। परन्तु अल्प विकसित देशों में कुशल श्रम की पूर्ति थोडी होती हैं। कौशल निर्माण एक गम्भीर समस्या हैं अत वास्तव मे अकुशल श्रमिकों को प्रशिक्षण देकर कुशल बनाने में बहुत अधिक समय लगता है।
4. **स्थिर जीवन–निर्वाह मजदूरी संभव नही**– इस सिद्धान्त की यह मान्यता भी गलत है कि जीवन–निर्वाह क्षेत्र मे मिलने वाली मजदूरी जीवन–निर्वाह स्तर के बराबर स्थिर रहेगी तथा उसमें कोई वृद्धि नहीं होगी। वास्तव में आर्थिक विकास के फलस्वरूप जीवन–निर्वाह क्षेत्र में श्रमिकों का दबाव कम होने के कारण उनकी औसत तथा सीमान्त उत्पादकता बढ़ जाती है तथा वे अधिक मजदूरी की मांग करते है।
5. **उद्यमियों का अभाव**– लुईस के सिद्धान्त की यह मान्यता भी उचित नहीं है कि अल्प विकसित देशों में उद्यमी पर्याप्त संख्या में होते हैं, इसलिए असीमित श्रम शक्ति का पूर्ण उपयोग किया जा सकता है। वास्तव मे अल्पविकसित देशों में योग्य उद्यमियों का अभाव पाया जाता है। इनके अभाव में आर्थिक विकास की प्रक्रिया तेजी से नहीं हो पाती।
6. **सीमान्त उत्पादकता शून्य नहीं होती**– प्रो० सेन एवं शुल्टज के अनुसार लुईस के माडल की यह धारणा भी गलत है कि जीवन–निर्वाह क्षेत्र में श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है। वास्तव में सीमान्त उत्पादकता शून्य नहीं होती हैं। इसलिए

यह अनुमान लगाना कठिन हो जाता है कि कृषि में कितने लोग छिपे रूप से बेरोजगारी हैं।

7. **निवेश गुणक का क्रियाशील न होना**– इस माडल की यह मान्यता भी उचित नहीं है कि अल्प विकसित देशों में उद्यमी अपने लाभ को निवेश नहीं करते। इसलिए निवेश गुणक क्रियाशील होता है। परन्तु वास्तव में जैसा डॉ० राव तथा प्रो० दास गुप्ता मत है कि अल्प विकसित देशों में निवेश गुणक क्रियाशील नहीं होता। निवेश गुणक के क्रियाशील न होने के कारण श्रम का पूर्ण उपयोग नहीं हो पाता।
8. **धन की असामनता**– कुजनेट्स ने इस सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा है कि यह माडल धन की असामनता को प्रोत्सहित करता है। परन्तु वास्तव में यह आवश्यक नहीं है। धन की असमानता के कारण धनी वर्ग अपने धन को उत्पादक कार्यों में निवेश करके पूंजी निर्माण करे। अल्प विकसित देशों में धनी वर्ग अधिकतर अनुत्पादक कार्यों में अपने धन को खर्च कर देते है। इस कारण धन की असमानता के होते हुए भी इन देशों का आर्थिक विकास नहीं हो पाता।
9. **कुल मांग की अवेहलना**– लुईस ने अपने माडल में कुल मांग की अवेहलना की है। लुईस के माडल की यह धारणा है कि पूंजीवादी क्षेत्र द्वारा जितना भी उत्पादन होता है उसका या तो पूंजीवादी क्षेत्र द्वारा उपभोग कर लिया जाता है या उसका निर्यात कर दिया जाता है। परन्तु वास्तविकता यह नहीं है। वास्तव में पूंजीवादी क्षेत्र द्वारा उत्पादित वस्तुओं की जीवन निर्वाह क्षेत्र द्वारा भी मांग की जाती है। यदि जीवन–निर्वाह क्षेत्र द्वारा की जाने वाली मांग कम हो जाती है तो कुल मांग कम हो जाएगी तथा विकास प्रक्रिया रुक जायेगी।
10. **पूंजीवादी क्षेत्र द्वारा ही बचत नहीं होती**– लुईस के माडल की यह धारणा भी गलत है कि अल्पविकसित देशों में केवल पूंजीवादी क्षेत्र ही बचत करता है। इन देशों में घरेलू क्षेत्र द्वारा भी काफी बचत की जाती है। इसीलिए आर्थिक विकास की प्रक्रिया केवल पूंजीवादी क्षेत्र पर ही निर्भर नहीं करती।
11. **मुद्रास्फीति स्वयं विनााशक नहीं होती**– प्रो० ओलवर्स के अनुसार प्रो० लेविस के मॉडल की यह धारणा भी उचित नहीं है कि मुद्रास्फीति स्वयं होती है। वास्तव में भारत जैसे अल्प विकसित देशों के उदाहरण से ज्ञात होता है जब एक बार मुद्रास्फीति आरम्भ हो जाती है तो उस पर नियंत्रण करना कठिन हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन देशों की संरचनात्मक कठिनाइयों के कारण उत्पादन उतनी शीघ्रता से नहीं बढ़ता जितनी शीघ्रता से इन देशों में मुद्रास्फीति फैलती है।

हालांकि लेविस के सिद्वांत की कड़ी आलोचना की गई है परन्तु यह सिद्वांत आर्थिक विकास की उचित व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह स्पष्ट करता है कि उन अल्पविकसित देशों में पूँजी संचय किस प्रकार होता है, यहाँ श्रम की अधिकता और पूँजी की दुर्लभता हो। इस सिद्वांत में जनसंख्या वृद्धि, मुद्रास्फीति, अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग, पूंजी निर्माण आदि तत्वों का उपयोगी विश्लेषण किया गया है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. लेविस का कृषि विकास प्रारूप कितने क्षेत्रों में आपसी सम्बन्ध की व्याख्या करता है?
   (i) दो क्षेत्र (ii) तीन क्षेत्र
   (iii) चार क्षेत्र (iv) उपर्युक्त में से कोई नही
2. लेविस के अनुसार जीवन निर्वाह क्षेत्र एवं पूँजीवादी क्षेत्र के श्रमिकों की मजदूरी में कितने प्रतिशत का अन्तर होता है?
   (i) 10 प्रतिशत (ii) 20 प्रतिशत
   (iii) 30 प्रतिशत (iv) 40 प्रतिशत
3. प्रो0 लेविस द्वारा निम्न में से कौन सा सिद्धान्त दिया गया है?
   (i) श्रम की सीमित पूर्ति का सिद्धान्त (ii) श्रम की असीमित पूर्ति का सिद्धान्त
   (iii) पूँजी की सीमित पूर्ति का सिद्धान्त (iv) पूँजी की असीमित पूर्ति का सिद्धान्त
4. पूँजी–निर्माण किसके अतिरेक पर निर्भर करता है?
   (i) लाभ के अतिरेक पर (ii) समाजवादी अतिरेक पर
   (iii) श्रम के अतिरेक पर (iv) उपर्युक्त में से कोई नही
5. अदृश्य बेरोजगारी की स्थिति में श्रमिकों की उत्पादकता कितनी होती है?
   (i) एक के बराबर (ii) एक से कम
   (iii) शून्य (iv) उपर्युक्त में से कोई नही

13.6 सारांश

इस इकाई में आपने प्रो0 लेविस के श्रम की असीमित पूर्ति सिद्धान्त की बिन्दुवार जानकारी प्राप्त की। प्रो0 लेविस ने, जीवन–निर्वाह (कृषि–क्षेत्र) के अतिरेक श्रम को प्रशिक्षित कर पूंजीवादी क्षेत्र (उद्योग–क्षेत्र) में रोजगार देकर पूंजी निर्माण को बढ़ाकर आर्थिक विकास की बात करते है परन्तु पूँजी निर्माण की यह प्रक्रिया अनन्त काल तक नही चलती है। हमने इस तथ्य का भी विश्लेषण किया है कि बैंक किस प्रकार से पूंजी निर्माण में भूमिका निभाते है। आपने यह भी जानने की कोशिश की कि पूंजी निर्माण की इस प्रक्रिया में स्फीतिक दबाव की यह स्थिति स्वतः किस प्रकार समाप्त हो जाती है। अन्त में हमने उन स्थितियों पर चर्चा की जब यह नियम लागू नहीं होता हैं।

13.7 शब्दावली

जीवन निर्वाह मजदूरी – न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्राप्त होने वाली मजदूरी

पूर्णतया लोचदार– X -अक्ष के सामानान्तर लोच, इसमें लोच अन्नत होती है।

पूंजीवादी क्षेत्र– वह क्षेत्र जिसके पास पर्याप्त पूंजी होती है तथा जो पूंजी का निवेश करता है।

पुर्नउत्पादनीय– पुनः उत्पादन हेतु प्रयुक्त

उत्पादन ह्रास नियम– इकाईयों का निरन्तर प्रयोग करने पर जब उत्पादन घटती दर से प्राप्त होता है।

13.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

(i) दो क्षेत्र (ii) 30 प्रतिशत (iii) श्रम की असीमित पूर्ति का सिद्धान्त (iv) श्रम के अतिरेक पर (v) शून्य

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. द्वि–क्षेत्र अर्थव्यवस्था को परिभाषित कीजिए।
2. पूँजी निर्माण, पूँजीवादी अतिरेक द्वारा होता है, समझाइए।
3. पूँजी निर्माण में बैंक साख की भूमिका बताइए।
4. प्रो0 लेविस के सिद्धान्त की प्रमुख मान्यतायें लिखिए।
5. प्रो0 लेविस के सिद्धान्त में पूँजी निर्माण की प्रक्रिया किस प्रकार रूकती है?

13.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झिंगन एम0एल, विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. लाल एस0एन0 एवं एस0के0 लाल, आर्थिक विकास तथा आयोजन, शिव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।
3. गुप्ता पी0के0, कृषि अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।

13.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. प्रो0 लेविस के श्रम के असीमित पूर्ति सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?
2. आर्थर लेविस के कृषि विकास प्रारूप का विश्लेषण करते हुए यह भी बताइये कि अल्पविकसित अर्थव्यवस्था मे कहाँ तक सफल हो सकता है?
3. प्रो0 लेविस के सिद्धान्त में किस तरह बैंक साख द्वारा पूँजी निर्माण होता है?

इकाई : 14 फाई रेनिस का कृषि प्रारूप

इकाई संरचना

14.1 प्रस्तावना

14.2 उद्देश्य

14.3 फाई–रेनिस का कृषि प्रारूप

14.3.1. फाई–रेनिस कृषि प्रारूप की मान्यताएं

14.3.2. अतिरेक श्रम के स्थानान्तरण की अवस्थाएं

14.3.3. सन्तुलित विकास

14.3.4. फाई–रेनिस कृषि प्रारूप की आलोचनाएं

14.4. सारांश

14.5. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

14.6. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

14.7. निबन्धात्मक प्रश्न

14.1. प्रस्तावना

इससे पहले की इकाई में लेविस के कृषि विकास प्रारूप की चर्चा की गई। इस इकाई में हम फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप का विश्लेषण करेंगे। फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप आपको तब ही समझ आयेगा जबकि आपने इससे पहले की इकाई में लेविस के कृषि विकास प्रारूप को अच्छी प्रकार से समझा होगा। फाई–रेनिस का सिद्धान्त एक ऐसी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था है जो संसाधनहीन हैं, श्रम का अतिरेक है, जो कृषि पर आधारित है। ज्यादातर लोग परम्परिक कृषि व्यवसायों में लगे हुए है। एक तरह से कृषि आधारित यह अर्थव्यवस्था बंद एवं गतिहीन है।

फाई–रेनिस ने इस तथ्य पर बल दिया कि संक्रमणकाल से गुजर रही एक विकासशील अर्थव्यवस्था अपने अतिरेक श्रम का प्रयोग कर किस प्रकार से गतिहीनता की अवस्था से स्वयं–पोषण आत्म वृद्धि (Self Sustained Growth) की तरफ जाने का प्रयत्न करती है। जहाँ वह अपना विकास स्वयं कर सके।

आपको यह बताना आवश्यक है कि लेविस एवं फाई–रेनिस दोनों का ही कृषि विकास प्रारूप असीमित श्रम शक्ति को कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र की ओर प्रवाहित कर विकास करने का समर्थन करते है परन्तु फाई–रेनिस का सिद्धान्त लेविस के सिद्धान्त से श्रेष्ठ है क्योंकि फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप लेविस के कृषि विकास प्रारूप की कमियों को दूर करते हुए उसमें सुधार करता है।

फाई–रेनिस ने अपने कृषि विकास प्रारूप सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए यह बताने का प्रयत्न किया कि कृषि क्षेत्र से अतिरेक श्रम के हस्तांतरण के बाद औद्योगिक क्षेत्र में किस प्रकार के परिवर्तन होंगे तथा कृषि क्षेत्र किस प्रकार से औद्योगिक क्षेत्र को प्रभावित करेगा। यहीं जानने का प्रयत्न हम इस इकाई में करेंगे।

14.2. उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप यह बता सकेंगे कि–

- फाई–रेनिस ने अपने कृषि विकास प्रारूप में अतिरेक श्रम का प्रयोग कृषि क्षेत्र से उद्योग क्षेत्र में किस प्रकार से करने का सुझाव देते है।
- फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप की अवस्थायें कौन–कौन सी है।
- संस्थानिक मजदूरी का अर्थ क्या है।
- बंद अर्थव्यवस्था किसे कहते है।
- वास्तविक मजदूरी के अर्थ को समझेंगे।
- विषद् विश्लेषण कर सकेंगे कि फाई–रेनिस की तीनों अवस्थाओं का प्रमुख आधार क्या है तथा तीनों में अन्तर बता सकेंगे।

14.3. फाई–रेनिस का कृषि प्रारूप

फाई–रेनिस ने 1961 में छपे 'A Theory of Economics Development' शीर्षक वाले एक लेख मे यह विश्लेषण किया है कि किस प्रकार संक्रमण काल में एक विकासशील

अर्थव्यवस्था गतिहीनता की स्थिति से आत्मजनक वृद्धि की ओर जाने का प्रयत्न करती है। इस सिद्धान्त का सम्बन्ध एक ऐसी अल्पविकसित अर्थव्यवस्था से है जो संसाधनहीन कृषि पर आधारित अर्थव्यस्था है। इसमें श्रम का अतिरेक होता है। जिसमें अधिकतर जनसंख्या, विस्तृत बेरोजगारी और जनसंख्या की ऊँची वृद्धि दरों के बीच कृषि में कार्यरत है। कृषि अर्थव्यवथा बंद एवं गतिहीन है। लोग पारम्परिक कृषि व्यवसायों में लगे होते है। इसमें एक सक्रिय तथा गत्यात्मक औद्योगिक क्षेत्र भी है। विकास से अभिप्राय कृषि अतिरेक श्रमिकों का औद्योगिक क्षेत्र को पुनः आवंटित करना है, जिनका कृषि उत्पादन में योगदान शून्य अथवा नगण्य है, जहाँ वे कृषि में संस्थानिक मजदूरी के बराबर मजदूरी पर उत्पादक बन जाते है। इस सिद्धान्त के विश्लेषण को विस्तृत रूप से समझते हुए इसकी मान्यताओं को समझना होगा।

14.3.1. फाई–रेनिस कृषि प्रारूप की मान्यताएं

आर्थिक विकास के सिद्धान्त को प्रस्तुत करते हुए फाई तथा रेनिस ने निम्नांकित मान्यताएं दी है–

1. यह एक दोहरी अर्थव्यवस्था है जिसमें प्रथम परम्परागत तथा गतिहीन कृषि क्षेत्र है और द्वितीय एक सक्रिय औद्योगिक क्षेत्र।
2. कृषि क्षेत्र का उत्पादन केवल भूमि तथा श्रम का फलन है।
3. भूमि के सुधार के अतिरिक्त कृषि में पूँजी का संचय नही होता है।
4. भूमि की पूर्ति स्थिर है।
5. यदि जनसंख्या उस मात्रा से अधिक होती है जहाँ श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य बन जाती है तो श्रम को कृषि उत्पादन में हानि के बिना औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरण किया जा सकता है।
6. कृषि–कार्य में पैमाने के स्थिर प्रतिफल पाए जाते हैं जिनमे श्रम एक परिवर्ती साधन है।
7. औद्योगिक क्षेत्र का उत्पादन केवल पूँजी तथा श्रम का फलन है। भूमि की उत्पादन के साधन के रूप में कोई भूमिका नही है।
8. जनसंख्या वृद्धि को एक बहिर्जात तत्व के रूप में माना गया है।
9. औद्योगिक क्षेत्र में वास्तविक मजदूरी स्थिर रहती है। यह कृषि क्षेत्र की प्रारम्भिक वास्तविक आय के बराबर होती है। इसे संस्थानिक मजदूरी कहते है।
10. दोनों क्षेत्रों में श्रमिक केवल कृषि उत्पादों का उपभोग करते है।

14.3.2. अतिरेक श्रम के स्थानान्तरण की अवस्थाएं

उपुर्यक्त मान्यताओं के आधार पर फाई–रेनिस के अनुसार श्रम का अतिरेक निम्न अवस्थाओं से होता हुआ विकास की ओर अग्रसर होता है।

I. **प्रथम अवस्था**– इस अवस्था में कृषि क्षेत्र के अतिरेक श्रमिकों को जिनका कुल उत्पादन में कोई योगदान नहीं है अर्थात् जो अदृश्य बेरोजगार है, संस्थानिक मजदूरी पर कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिया जाता है।

निम्न चित्र में अदृश्य बेरोजगार अथवा अतिरेक श्रम को दिखाया गया हैं–

चित्र 1 में कृषि की प्रक्रियां को दर्शाया गया है। जिसमें x अक्ष पर श्रम शक्ति को y अक्ष पर चित्र A में भूमि को तथा B चित्र में कुल उत्पादन दर्शाया गया है। OR रेखा कृषि वस्तुओं के उत्पादन की रेखा है। कोण ABC कृषि वस्तुओं की उत्पादन परिधि रेखा हैं। भूमि को OZ पर स्थिर मानकर अधिकतम ON_1 श्रमिकों को लगाने पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त होता है। चित्र B में TP वक्र श्रमिकों की कुल उत्पादकता को बताता है कि यदि N_1 के बाद अधिक श्रमिकों को लगाया जाता है तो उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं होती है क्योंकि TP वक्र के M बिन्दु के बाद श्रम की कुल उत्पादकता स्थिर हो जाती है। ON_1 के बाद अधिक श्रमिकों को रोजगार दिया जाए तो उनका कुल उत्पादन स्थिर ही रहेगा। अतः ON_1 के बाद यदि $N_1 N_2$ अतिरिक्त श्रमिको को रोजगार दिया जाता है तो कुल

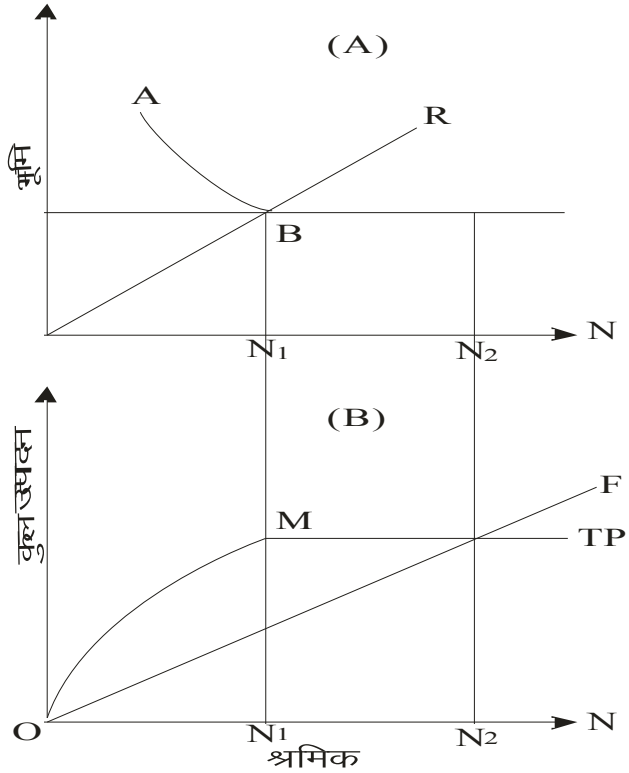

चित्र–1

उत्पादन बढने के स्थान पर घट जायेगा क्योंकि श्रमिकों का सीमान्त उत्पादन घटने लगती हैं। इस प्रकार आप समझ गये होगें कि $N_1 N_2$ श्रमिक अदृश्य बेरोजगार है। इन मजदूरों को कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र में तीन अवस्थाओं में स्थानान्तरित कर दिया जाय तो आर्थिक विकास होता है। जिसे निम्न चित्र द्वारा दिखाया गया है।

II. **द्वितीय अवस्था**– इस अवस्था में कृषि क्षेत्र के ऐसे श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र में भेजा जाता है जो कृषि क्षेत्र में उत्पादन कार्य में तो संलग्न है परन्तु उनका उत्पादन संस्थानिक मजदूरी से कम है। ऐसे श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरित करने से

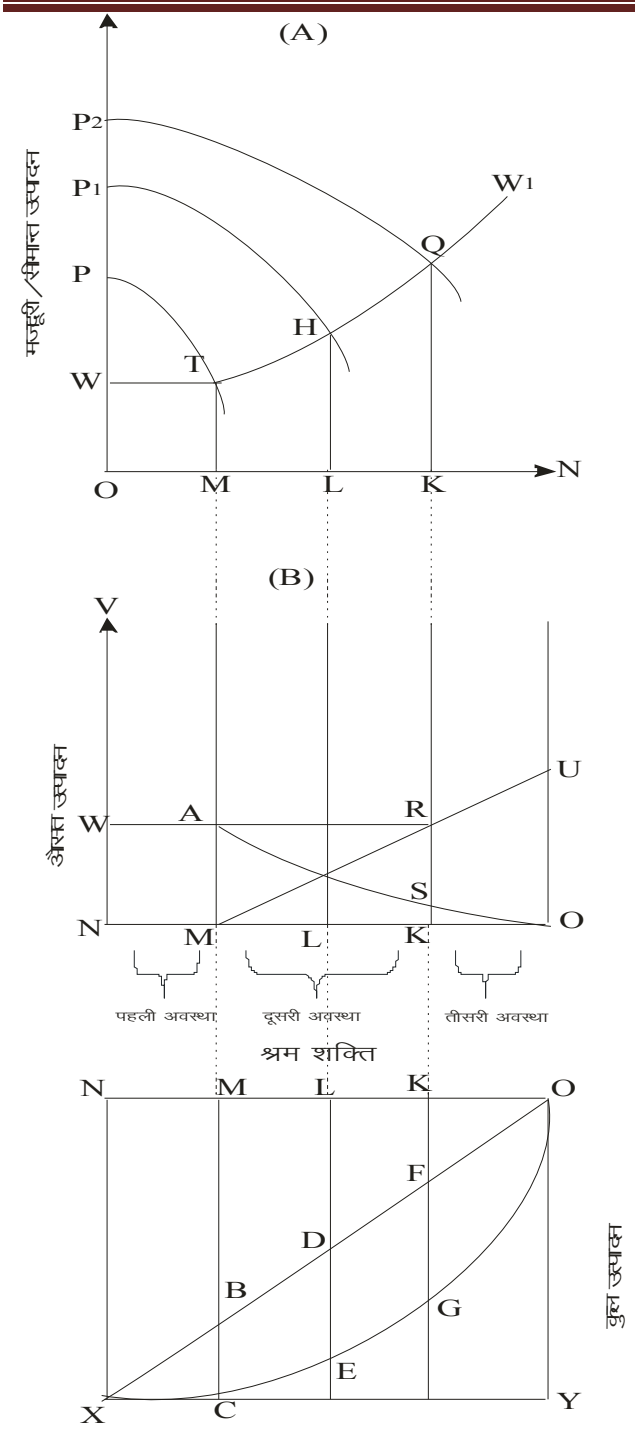

कृषि क्षेत्र पर दबाव कम हो जायेगा जिससे कृषि क्षेत्र मे श्रमिको की मजदूरी संस्थानिक मजदूरी के बराबर हो जाती हैं।

III. **तृतीय अवस्था**– यह अवस्था उत्कृषता (take off) की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था में कृषि श्रमिक संस्थानिक मजदूरी से अधिक उत्पादन करने लगते है। श्रम अतिरेक

समाप्त हो जाता है। कृषि का व्यापारीकरण हो जाता है। फाई–रेनिस ने इसे ही आत्मजनक वृद्धि (Self Sustained Growth) का प्रारम्भ कहा है।

फाई–रेनिस की इन अवस्थाओं द्वारा आपको यह समझाने का प्रयत्न किया जायेगा कि यदि इन अदृश्य श्रमिकों को कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरित कर दिया जाये तो किस प्रकार से आर्थिक विकास होता है। जिसे चित्र 2 में दिखाया गया है।

चित्र (A) औद्योगिक क्षेत्र को चित्र (B) तथा चित्र (C) कृषि क्षेत्र को दर्शाते है। पहले हम भाग (C) पर विचार करते है। वहां श्रम शक्ति को दाई ओर से बाई और क्षैतिज अक्ष (ON) पर तथा कृषि के कुल उत्पादन को O से नीचे की ओर अनुलम्ब अक्ष OY पर मापा गया है। वक्र OCX कृषि क्षेत्र की ओर कुल भौतिक उत्पादकता का वक्र (TPP) है। CX वक्र का सामान्तर भाग यह दर्शाता है कि इस क्षेत्र में कुल उत्पादकता स्थिर है, अतः MN श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य है। इस प्रकार MN अतिरेक श्रम है तथा इसे औद्योगिक क्षेत्र मे लाने पर पर कृषि उत्पादन पर कोई प्रभाव नही पड़ेगा। यद्यपि यह मान लिया जाता है कि सम्पूर्ण श्रम–शक्ति ON कृषि क्षेत्र में लगी हुई है तो यह कृषि उत्पादन उत्पादित करती है। यह मानते हुए कि समस्त उत्पादन NX कुल श्रम शक्ति ON द्वारा उपभोग कर लिया जाता है, वास्तविक मजदूरी NX/ON अथवा किरण OX की ढ़ाल है। यह संस्थानिक मजदूरी है। इस संस्थानिक मजदूरी को चित्र B में दिखाया गया है।

जहाँ कुल श्रम शक्ति को दाई ओर से बाई ओर अनुलम्ब अक्ष ON पर तथा औसत उत्पादन को क्षैतिज अक्ष NV पर मापा गया है। वक्र NMRU श्रम की सीमान्त भौतिक उत्पादकता (MPP) को दर्शाता है। NW संस्थनिक मजदूरी है जिस पर कि मजदूरों को इस क्षेत्र में लगाया जाता है।

चित्र (B) की पहली अवस्था में NM श्रमिक अदृश्य बेरोजगार है। उनकी सीमान्त उत्पादकता शून्य है जिसे चित्र (B) में NMRU वक्र के अंश NM अथवा TPP वक्र के अंश CX द्वारा चित्र (C) में दर्शाया गया है। अतिरिक्त श्रम शक्ति NM जिसे चित्र (A) के OM द्वारा दर्शाया गया है, उसी संस्थानिक मजदूरी OW (=NW) पर स्थानान्तरित की गयी है।

दूसरी अवस्था में NMRU पर MK कृषि मजदूरों की सीमान्त भौतिक उत्पादकता MR रेंज में धनात्मक है लेकिन यह संस्थानिक मजदूर KR (=NW) जो वे प्राप्त करते है जैसा कि चित्र B में दिखाया गया है। इसलिए वे कुछ सीमा तक अदृश्य बेरोजगार है जिनको औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरित किया जा सकता है, किन्तु इस अवस्था में सामान्य मजदूरी औद्योगिक क्षेत्र में संस्थानिक मजदूरी के बराबर नहीं होती। ऐसा इसलिए है क्योंकि श्रम के औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरण से कृषि उत्पादन कम होता है। परिणामस्वरूप, कृषि वस्तुओं की कमी हो जाती है जिससे औद्योगिक वस्तुओं की सापेक्षता में उनकी कीमतें बढ़ जाती है। उससे औद्योगिक क्षेत्र में व्यापार की शर्तें खराब हो जाती हैं, इससे औद्योगिक क्षेत्र की सामान्य मजदूरी में वृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। सामान्य

मजदूरी OW से LH तथा KQ तक संस्थानिक मजदूरी से अधिक बढ़ जाती है। यह श्रम के पूर्ति वक्र WT से H तथा Q से ऊपर W_1 तक जाते हुए चित्र (A) में दर्शाया गया है, जब ML तथा LK मजदूरी धीरे–धीरे औद्योगिक क्षेत्र मे स्थानान्तरित हो जाते है। T से ऊपर की ओर श्रम की पूर्ति वक्र WTW_1 पर ही लुइस का मोड़ बिन्दु है।

जब तीसरी अवस्था प्रारम्भ होती है, तो कृषि मजदूर कृषि उत्पादन को संस्थानिक मजदूरी के बराबर उत्पादित करना शुरू कर देते हैं, और अन्ततः संस्थानिक मजदूरी से अधिक प्राप्त करते हैं। यह उत्कृष का अन्त है तथा आत्मजनक वृद्धि का प्रारम्भ है। वह भाग (B) में वक्र MPP के बढ़ रहे भाग RU से दर्शाया गया है, जो कि संस्थानिक मजदूरी KR (=NW) से ऊंचा है। परिणामस्वरूप KO श्रम को चित्र (A) में KQ से ऊपर बढ़ती हुई सामान्य मजदूरी पर कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र में भेज दिया जायेगा। यह कृषि क्षेत्र में अतिरिक्त श्रम को समाप्त करता है जिसका पूरी तरह व्यापारिककरण हो जाता है। इस अतिरेक श्रम की समाप्ति को श्रम शक्ति की भौतिक कमी की अपेक्षा मुख्य तौर से बाजार का तत्त्व माना जाना चाहिए। यह पूर्ति के स्रोत पर वास्तविक मजदूरी में वृद्धि द्वारा व्यक्त किया जाता है।

फाई तथा रेनिस का मत है कि जब कृषि श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र में भेज दिया जाता है तो कृषि वस्तुओं का अतिरेक प्रारम्भ हो जाता है। इससे कृषि क्षेत्र मे कुल कृषि अतिरेक हो जाता है। संस्थानिक मजदूरी पर कृषि शक्ति की उपभोग आवश्यकता से अधिक कुल कृषि उत्पादन का अतिभाग कुल कृषि अतिरेक कहा जाता है। कुल कृषि अतिरेक की मात्रा विकास प्रक्रिया की प्रत्येक अवस्था में औद्योगिक क्षेत्र में भेजे गये श्रमिकों की संख्या पर निर्भर करती है। कुल कृषि अतिरेक को चित्र (C) में रेखा OX तथा TPP वक्र OCX के बीच अनुलम्ब दूरी से मापा गया है। पहली अवस्था मे जब NM श्रम को स्थानान्तरित किया जाता है जो कुल कृषि अतिरेक है, BC दूसरी अवस्था में जब ML तथा LK श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरित किया जाता है तो कुल कृषि अतिरेक की DE तथा FG राशियां उत्पन्न होती है। कुल कृषि अतिरेक को कृषि मजदूरों के पुनः आवंटन द्वारा बाजार में छोड़े गए कृषि संसाधनों के रूप में देखना चाहिए। ऐसे संसाधनों को भूमिपति वर्ग की निवेश क्रियाओं अथवा और सरकारी कर नीति द्वारा निकालकर नई औद्योगिक वस्तुओं के लिए उपयोग किया जा सकता है।

इसके अलावा औसत कृषि अतिरेक भी होता है। औद्योगिक क्षेत्र को आवंटित प्रति श्रमिक को उपलब्ध कुल कृषि अतिरेक ही औसत कृषि अतिरेक है। औसत कृषि अतिरेक वक्र को WASO वक्र के रूप में चित्र (B) में दर्शाया गया है। पहली अवस्था में औसत कृषि अतिरेक वक्र संस्थानिक मजदूरी के वक्र (WA) के साथ समरूप है। दूसरी अवस्था में जब (MK) श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र में भेज दिया जाता है। तब औसत कृषि अतिरेक चित्र के भाग (B) में A से S तक गिरनें लगता है, जबकि कुल कृषि अतिरेक चित्र (C) में BC से DE से FG तक बढता जाता है।

तीसरी अवस्था में औसत कृषि अतिरेक अधिक तेजी से चित्र (B) में S से O तक कम होता है तथा चित्र (C) में क्षेत्र FG से O तक सुकड़ने से कुल कृषि अतिरेक भी कम हो जाता है। औसत कृषि अतिरेक तथा कुल कृषि अतिरेक दोनों में कमी कृषि श्रमिकों की MPP संस्थानिक मजदूरी से अधिक बढ़ने के कारण है जो कि अन्ततः बचे हुए अतिरिक्त श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र में ले जाती है।

फाई तथा रेनिस पहली अवस्था तथा दूसरी अवस्था के बीच की सीमा को 'दुलर्भता बिन्दु'' कहते है, जब कृषि वस्तुओं की कमियॉ प्रारम्भ होती है जो कि औसत कृषि अतिरेक (WASO वक्र का AS भाग) के न्यूनतम संस्थानिक मजदूरी (NW) से नीचे गिरने द्वारा दिखाया गया है। द्वितीय अवस्था तथा तीसरी अवस्था के बीच की सीमा व्यापारिककरण बिन्दु है जो कि कृषि में संस्थानिक मजदूरी तथा MPP के बीच समानता के प्रारम्भ को प्रकट करता है। इस प्रकार लुइस का मोड़ बिन्दु फाई तथा रेनिस के दुर्लभता बिन्दु के समान होता है तथा व्यापारिककरण बिन्दु पर औद्योगिक मजदूरी की वृद्धि तीव्र होती है।

फाई तथा रेनिस प्रदर्शित करते है कि यदि कृषि उत्पादकता बढ़ती है तो दुलर्भता बिन्दु तथा व्यापारिककरण बिन्दु मिल जाते है। यह इसलिए होता है कि कृषि की उत्पादकता की वृद्धि के कारण MPP में वृद्धि उत्पादन को संस्थानिक मजदूरी के स्तर तक अधिक शीघ्रता से बढ़ने के योग्य बनाती है। चित्र (B) में वक्र MRU वक्र के ऊपर बाई तरफ स्थानान्तरित होते समझा जा सकता है। दूसरी ओर कुल भौतिक उत्पादकता में वृद्धि के साथ औसत कृषि अतिरेक में भी वृद्धि होती है। इसका अभिप्राय यह है कि चित्र (B) में वक्र ASO दाई ओर ऊपर स्थानान्तरित हो जाता है यदि उत्पादकता में वृद्धि पर्याप्त है तो चित्र (B) में MRU तथा ASO वक्र ऊपर की ओर इस प्रकार से स्थानान्तरित हो जायेंगे कि दुर्लभता बिन्दु A तथा व्यापारिककरण बिन्दु R मिल जाएंगे तथा दूसरी अवस्था समाप्त हो जायेगी। जहाँ तक औद्योगिक क्षेत्र का प्रश्न है, कृषि उत्पादकता की वृद्धि का प्रभाव यह होता है कि मोड़ बिन्दु के बाद औद्योगिक पूर्ति वक्र को ऊपर उठा देगी। चित्र (A) में इसे WTW_1 के नीचे दाई ओर बिन्दु T के नीचे दिखाया गया है।

फाई तथा रेनिस के अनुसार, द्वितीय अवस्था के समाप्त होने का आर्थिक महत्व यह है कि यह अर्थव्यवस्था को आत्मजनक वृद्धि में सरलता से चलने की योग्यता प्रदान करती है।

14.3.3. सन्तुलित विकास

फाई तथा रेनिस ने बताया है कि उनका कृषि विकास प्रारूप उत्कर्ष प्रक्रिया के दौरान की शर्तों को पूरा करता है। सन्तुलित वृद्धि में व्यवस्था में कृषि तथा औद्योगिक दोनों क्षेत्रों में एक साथ निवेश आवश्यक है। यदि कोष का एक भाग कृषि क्षेत्र को आवंटित किया जाता है तो कृषि उत्पादकता मे वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार जब निवेश कोष का बचा हुआ भाग औद्योगिक क्षेत्र को आवंटित किया जाता है। तो औद्योगिक माँग भी बढ जाती है। सन्तुलित वृद्धि पथ के कारण कृषि क्षेत्र की अतिरेक श्रम शक्ति औद्योगिक क्षेत्र

द्वारा काम मे लगा ली जाती है। इस प्रकार, जब काल पर्यन्त निवेश कोष दोनों क्षेत्रों को लगातार आवंटित किये जाते हैं, तो अर्थव्यवस्था सन्तुलित वृद्धि पथ पर चलेगी, किन्तु प्रायः यह संभावना रहती है कि समय–समय पर वास्तविक वृद्धि पथ सन्तुलित पथ से विचलित हो जाता है। फिर भी इस प्रकार का विचलन बराबर करने वाली सन्तुलन शक्तियां इसे सन्तुलित वृद्धि पर लाने की प्रवृत्ति रखती है। वास्तव में, यह पथ सन्तुलित वृद्धि पथ के इर्द–गिर्द घूमने की सम्भावना रखता है। यदि औद्योगिक क्षेत्र में अति निवेश के फलस्वरूप श्रम की माँग बढ जाती है। जिसके परिणामस्वरूप कृषि वस्तुओं मे कमी आएगी तथा औद्योगिक क्षेत्र की व्यापार शर्तों में गिरावट आएगी तथा इस क्षेत्र मे मजदूरी की दर मे बढ़ोत्तरी होगी। इससे औद्योगिक क्षेत्र में निवेश हतोत्साहित होगा तथा कृषि क्षेत्र में निवेश प्रोत्साहित होगा। इसके द्वारा वास्तविक पथ सन्तुलित वृद्धि पथ के स्तर पर आ जायेगा।

14.3.4. फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप की आलोचनाएं

फाई तथा रेनिस का कृषि विकास प्रारूप लेविस के कृषि विकास प्रारूप का एक सुधरा हुआ रूप हैं लेविस का कृषि विकास प्रारूप कृषि क्षेत्र के विकास को ध्यान में न रखते हुए केवल औद्योगिक क्षेत्र पर ही केन्द्रित रहता है। जबकि फाई तथा रेनिस का कृषि विकास प्रारूप आर्थिक विकास को प्रारम्भ तथा तीव्र करने में दोनों क्षेत्रों के परस्पर प्रभाव को दर्शाता है। फिर लेविस के मोड़ बिन्दु को समझाने का फाई–रेनिस का ढंग अधिक वास्तविक है। इस सिद्धान्त की मुख्य श्रेष्ठता यह है कि यह अल्पविकसित देशों में पूँजी संचय के लिए कृषि वस्तुओं के महत्व को प्रकट करता है।

इन श्रेष्ठता के बावजूद यह फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप भी आलोचना से अछूता नहीं है, जिनकी नीचे विवेचना की गई है–

1. **भूमि की पूर्ति पर स्थिर न होना**– फाई तथा रेनिस यह धारणा लेकर चलते हैं कि विकास प्रक्रिया के दौरान भूमि की पूर्ति स्थिर रहती है। परन्तु विभिन्न अध्ययनों यह पाया गया है कि भूमि की पूर्ति स्थिर नहीं रहती है।
2. **संस्थानिक मजदूरी सीमान्त भौतिक उत्पादकता से अधिक नही होती हैं** – इस सिद्धान्त के अनुसार संस्थानिक मजदूरी स्थिर रहती है और वह सीमान्त भौतिक उत्पादकता से अधिक होती है। फाई–रेनिस की पहली एवं दूसरी अवस्था में संस्थानिक मजदूरी स्थिर होती है तथा MPP से ऊँची होती है। इस मान्यता के पक्ष में कोई आनुभाविक प्रमाण नहीं है। वास्तविकता यह है कि श्रम अतिरेक अल्पविकसित देशों में कृषि श्रमिकों को दी जाने वाली मजदूरी सीमान्त भौतिक उत्पादकता से काफी कम होती है।
3. **कृषि क्षेत्र में संस्थानिक मजदूरी का स्थिर न होना**– इस सिद्धान्त की धारणा है कि कृषि उत्पादकता मे वृद्धि होने के बावजूद पहली दो अवस्थाओं में संस्थानिक मजदूरी स्थिर रहती है। यह अत्यधिक अवास्तविक स्थिति है क्योंकि कृषि उत्पादकता में सामान्य वृद्धि के कारण फार्म मजदूरी का बढ़ना सुनिश्चित है। उदाहरणार्थ, पंजाब में हरित–क्रान्ति (1967–72) के दौरान किये गय फार्म सर्वेक्षण से यह प्रमाणित होता है

कि विभिन्न कृषि वर्गों के लिए श्रमिकों की दैनिक वास्तविक मजदूरी में परिवर्तन हो गया था तथा यह बढ़ गयी थी।

4. **बन्द मॉडल**–यह विश्लेषण बंद अर्थव्यवस्था की धारणा पर आधारित है जहाँ विदेशी व्यापार नही होता। यह मान्यता इस कारण से अयथार्थ है क्योंकि अल्पविकसित देश बन्द अर्थव्यवस्थायें न होकर खुली अर्थव्यवस्थायें है जहाँ कमी आने पर कृषि वस्तुओं को आयतित किया जाता है।
5. **कृषि का व्यापारिककरण स्फीति को उत्पन्न करता है**– इस सिद्धान्त के अनुसार, जब कृषि क्षेत्र तृतीय अवस्था में प्रवेश करता है तो कृषि का व्यापारिकरण हो जाता है किन्तु अर्थव्यवस्था की सरल आत्मजनक वृद्धि की ओर जाने की संभावनायें नही रहती क्योंकि स्फीतिकारी दबाव प्रारम्भ हो जाते है। जब अनेक श्रमिक औद्योगिक क्षेत्र में स्थानान्तरित हो जाते है तो कृषि क्षेत्र श्रमिकों की कमी महसूस करता है। इसी दौरान संस्थानिक मजदूरी श्रमिकों की सीमान्त भौतिक उत्पादकता के बराबर होती है तथा इस प्रकार कृषि वस्तुओं की कमी हो जाती है। ये सभी तथ्य अर्थव्यवस्था मे स्फीतिकारी दबाव पैदा करते है।
6. **सीमान्त भौतिक उत्पादकता शून्य नही होती है**– फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप में कुछ श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है परन्तु श्रमिकों की सीमान्त उत्पादकता कभी शून्य नही होती है।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप श्रम अतिरेक देशों के आर्थिक विकास के लिए महत्वपूर्ण प्रारूप तैयार करता है। यह सिद्धान्त अल्पविकसित देशों के कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्रों के परस्पर प्रभावों की विकास प्रक्रिया का उत्कर्ष से आत्मजनक वृद्धि तक व्यवस्थित ढंग से विश्लेषण भी करता है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. फाई–रेनिस का सिद्धान्त कितने क्षेत्रें सम्बन्धित है?
   (i) दो क्षेत्र (ii) तीन क्षेत्र
   (iii) चार क्षेत्र (iv) उपर्युक्त में से कोई नही
4. फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप कितनी अवस्थाओं का सिद्धान्त है?
   (i) एक (ii) दो
   (iii) तीन (iv) चार
5. अदृश्य बेरोजगार किसे माना जाता है?
   (i) जिसकी सीमान्त उत्पादकता एक के बराबर होती है।
   (ii) जिसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है।
   (iii) जिसकी सीमान्त उत्पादकता ऋणात्मक होती है।
   (iv) जिसकी सीमान्त उत्पादकता धनात्मक होती है।
6. फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप किसका फलन है?
   (i) पूँजी एवं श्रम का (ii) ब्याज एवं लाभ का

(iii) भूमि एवं पूंजी का (iv) भूमि एवं श्रम का

7. संस्थानिक मजदूरी किस क्षेत्र की मजदूरी से सम्बन्धित है?

(i) कृषि क्षेत्र (ii) उद्योग क्षेत्र

(iii) सेवा क्षेत्र (iv) उपर्युक्त में से कोई नही

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संस्थानिक मजदूरी का अर्थ लिखिये।
2. फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप की मान्यतायें बताइए।
3. औसत कृषि अतिरेक एवं कुल कृषि अतिरेक में अन्तर समझाइए।
4. बन्द अर्थव्यवस्था से आप क्या समझते है?
5. वास्तविक मजदूरी का अर्थ बताइए।

14.4. सारांश

आप इस इकाई के अध्ययन के बाद समझ गये होंगे कि फाई–रेनिस का सिद्धान्त वास्तव में लेविस के श्रम अतिरेक सिद्धान्त के ऊपर एक सुधार है। फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप तीन अवस्थाओं में वर्गीकृत है। प्रथम चरण में कृषि क्षेत्र के ऐसे श्रमिकों को औद्योगिक क्षेत्र की ओर स्थानान्तरित करता है जिनकी सीमान्त उत्पादकता शून्य है जो कृषि क्षेत्र में अदृश्य बेरोजगार है। इससे कुल उत्पादन में कोई परिवर्तन नही होगा। दूसरे चरण में फाई–रेनिस ऐसे श्रमिकों को कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र की ओर स्थानान्तरित करने की बात करते है। जो उद्योग क्षेत्र की संस्थानिक मजदूरी से भी कम प्राप्त कर रहे है। इसका प्रमुख प्रभाव यह होता हैं कि कृषि क्षेत्र में उत्पादन कम होने से तथा औद्योगिक क्षेत्र की व्यापार की शर्तें प्रतिकूल होने के कारण औद्योगिक मजदूरी में वृद्धि हो जायेगी जो संस्थानिक मजदूरी से अधिक होगी।

फाई–रेनिस के तीसरे चरण में कृषि श्रमिक धीरे–धीरे प्रगति करते हुए न सिर्फ संस्थानिक मजदूरी के बराबर उत्पादन करना शुरू कर देते है बल्कि संस्थानिक मजदूरी से भी अधिक प्राप्त करने लगते है। इसे ही फाई–रेनिस ने आत्म जनक वृद्वि की शुरूआत कहा हैं।

आप समझ गये होगें कि फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप किस प्रकार संक्रमण प्रक्रिया से गुजरते हुए अपने क्षेत्र की स्वयं वृद्धि हेतु अपना मार्ग स्वयं प्रशस्त करता है।

14.5. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

उत्तर– (i) दो क्षेत्र (ii) तीन (iii) जिसकी सीमान्त उत्पादकता शून्य होती है (iv) भूमि एवं श्रम (v) उद्योग क्षेत्र

14.6 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झिंगन एम0एल, विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. लाल एस0एन0 एवं एस0के0 लाल, आर्थिक विकास तथा आयोजन, शिव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।

3. गुप्ता पी0के0, कृषि अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।

14.7 निबन्धात्मक प्रश्न

1. फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप सिद्धान्त का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।
2. फाई–रेनिस का कृषि विकास प्रारूप, लेविस के कृषि विकास प्रारूप से किस प्रकार श्रेष्ठ है?
3. फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप की प्रमुख मान्यतायें क्या है? इस सिद्धान्त के मोड़ बिन्दु को भी समझाइये।

इकाई 15 मिलर का कृषि विकास प्रारूप

इकाई संरचना

15.1 प्रस्तावना

15.2 उद्देश्य

15.3 मिलर का कृषि विकास प्रारूप

15.4 विकास के सोपान

15.4.1. पारंपरिक खेती

15.4.2. प्रौद्योगिक रूप से गतिशील खेती व कम पूँजी पर आधारित प्रौद्योगिकी

15.4.3.प्रौद्योगिक रूप से गतिशील खेती व अधिक पूँजी पर आधारित प्रौद्योगिकी

15.5 मिलर के कृषि विकास प्रारूप सिद्वांत का आलोचनाएं

15.6 सारांश

15.7 शब्दावली

15.8 अभ्यास प्रश्न

15.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

15.10. निबन्धात्मकप्रश्न

15.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई में फाई–रेनिस के कृषि विकास प्रारूप का विस्तार से अध्ययन किया। इस इकाई में हम मिलर के कृषि विकास प्रारूप का अध्ययन करेंगे। मिलर ने कृषि क्षेत्र को अर्थव्यवस्था की रीढ़ बताया है। आप जानते है कि प्रकृतिवादियों ने कृषि एवं भूमि को सर्वाधिक महत्व दिया था। इसी प्रकार मिलर भी इसी तथ्य को स्वीकारते है कि सभी अल्पविकसित अर्थव्यवस्थओं में सम्पूर्ण विकास की प्रक्रिया कृषि के विकास से ही प्रारम्भ होती है। वह तो यहाँ तक मानते है कि विकास के लिए संसाधनों का प्रवाह कृषि क्षेत्र से गैर कृषि क्षेत्र की ओर होना चाहिए। गैर कृषि क्षेत्र के विस्तार के लिए कृषि क्षेत्र से पूँजी, श्रम और विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। इसके अलावा गैर कृषि क्षेत्र में लगे श्रमिकों के लिए खाद्यान्न और कच्चा माल भी कृषि से ही मिलता है। इसलिए कृषि क्षेत्र का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

इस प्रकार मिलर का कृषि विकास प्रारूप तीन चरणों से होकर गुजरता हुआ पारंपरिक खेती से प्रौद्योगिकीय परिवर्तन की ओर जाता है। इस सिद्धान्त के अध्ययन के बाद आप यह समझ सकेंगे कि मिलर ने किन विधियों का वर्णन किया है जिसके द्वारा परम्परागत कृषि को आधुनिक कृषि में हस्तांतरित किया जाता है।

15.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल होंगे कि

- कृषि ही अर्थव्यवस्था का प्रमुख आधार है।
- पारंपरिक खेती की अवधारणा से परिचित होंगे।
- यह अध्ययन करेंगे कि किस प्रकार संसाधनों का प्रवाह कृषि क्षेत्र से गैर कृषि की ओर होता है।
- कृषि विकास प्रारूप के तीन चरणों का अध्ययन करेंगे।
- परम्परागत कृषि आधुनिक कृषि में हस्तान्तरण की प्रक्रिया की समीक्षा कर सकेंगे।

15.3 मिलर का कृषि विकास प्रारूप

मिलर की पुस्तक ''कृषि विकास का अर्थशास्त्र'' (The Economics of Agricultural Development) 1966 मे प्रकाशित हुई जबकि शुल्ज की पुस्तक परम्परागत कृषि का रूपान्तरण दो साल पहले प्रकाशित हुई थी। अपनी पुस्तक में मिलर ने उन तौर तरीकों का वर्णन किया जिनके द्वारा परम्परागत कृषि को आधुनिक खेती में हस्तांतरित किया जाता है। इस प्रकार कुछ हद तक वह शुल्ज के विचारों से सहमत है। फिर भी मिलर का सिद्धांत अधिक विस्तृत एवं उचित है।

कृषि के विकास में मिलर का महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक योगदान है। मिलर की मान्यता है कि सभी अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में सम्पूर्ण विकास की प्रक्रिया कृषि के विकास से ही प्रारम्भ होती है। उसके अनुसार आर्थिक विकास के लिए संसाधनों का प्रवाह कृषि के विकास से प्रारम्भ होता है। जब कृषि क्षेत्र विकास के सोपान पर चढ जाता है तो आर्थिक

विकास के लिए संसाधनों का प्रवाह कृषि क्षेत्र से गैर कृषि क्षेत्र की ओर होना लगता हैं। गैर कृषि क्षेत्र के विस्तार के लिए कृषि क्षेत्र से पूंजी, श्रम और विदेशी मुद्रा प्राप्त होती है। इसके अलावा गैर–कृषि क्षेत्र में लगे श्रमिक के लिए खाद्यान्न और कच्चा माल भी कृषि से मिलता है। इसके लिए कृषि क्षेत्र का विकास अत्यन्त आवश्यक है।

15.4. विकास के सोपान

मिलर ने कृषि के विकास के लिए खेती की तीन चरणों में विभाजित किया–

15.4.1. पारंपरिक खेती

15.4.2. प्रौद्योगिक रूप से गतिशील खेती व कम पूंजी पर आधारित प्रौद्योगिकी

15.4.3. प्रौद्योगिक रूप से गतिशील खेती व अधिक पूंजी पर आधारित प्रौद्योगिकी

15..4.1. पारंपरिक खेती– पारंपरिक खेती की मिलर की परिभाषा शुल्ज द्वारा दी गयी परिभाषा से भिन्न है। उनके अनुसार पारंपरिक कृषि पिछड़ी और श्रम पर आधारित होती है जिसमें पूंजी कच्चे तौर पर इस्तेमाल होती है। मिलर के अनुसार पारंपरिक खेती में अलग–अलग देशों में सामाजिक, आर्थिक और भौतिक कारणों की विभिन्नता के बावजूद कुछ समानताएं पायी जाती है। ज्यादातर खेतों में किसान अपने परिवार के श्रमिकों द्वारा आनाज पैदा करते है। पूंजी भी किसान अपने स्रोतों से लगाते है। खेतों का आकार छोटा होता है। उच्च आय वाले देशों की तुलना में इन देशों में खेतों की उत्पादकता और आय कम होती है।

मिलर के अनुसार भूमि और श्रम इस खेती के प्रमुख कारक होते है। पूंजी कच्चे रूप में उपस्थित रहती है। चूंकि भूमि और पूंजी सीमित होते हैं, इसलिए अतिरिक्त श्रम ही आय में वृद्धि का साधन होता है। श्रम के घटते प्रतिफल नियम के अनुसार प्रति व्यक्ति आय और उत्पादकता में गिरावट आती है क्योंकि ज्यादा उपज के लिए अधिक से अधिक श्रम की खपत होती है। मिलर मानते हैं कि पारंपरिक खेती में कुछ गैर–पारंपरिक साधन जैसे उर्वरक का इस्तेमाल किया गया है। लेकिन उनका मानना है कि इनके इस्तेमाल से कुल उत्पादन पर ज्यादा प्रभाव नही पड़ा है क्योंकि अन्य पूरक साधन उर्वरक के साथ इस्तेमाल नहीं किए जाते। मिलर का मानना है कि पारंपरिक खेती में अल्परोजगार अधिक मात्रा में पाया जाता है लेकिन यह जरूरी नहीं कि ऐसा शून्य श्रम के कारण हो। मुख्यतः यह पारंपरिक खेती वाले समाज में भूमि के असमान वितरण के कारण होता है। छोटे खेतों में अल्प रोजगार शून्य श्रम के कारण हो सकता है जबकि बड़े खेतों पर इसका कारण अलग होता है। मिलर के अनुसार पारंपरिक कृषि में उपभोग का तरीका काफी कट्टर होता है।

मिलर ने ऊपरलिखित वर्णन की व्याख्या निम्न विश्लेषण के द्वारा की जा सकती है–

(i) उत्पादन सभावना वक्र : मिलर ने इस उत्पादन संभावना वक्र का प्रयोग आगतों और निर्गतों के संबंध में किया है। कुल उत्पादन को कृषि तथा गैर कृषि उत्पाद के मूल्यों के रूप में व्यक्त किया गया है। जैसे घटते सीमान्त प्रतिफल का नियम कृषि में प्रारम्भ से ही लागू हो जाता है तो कुल उत्पादन घटती हुई दर से बढ़ता है और अपनी उच्चतन सीमा पर पहुंच

जाता है। जहाँ श्रम की सीमान्त उपयोगिता शून्य हो जाती है। यह सर्वभौमिक सत्य है चाहे खेत का आकार छोटा हो या बड़ा। केवल मात्र अन्तर यह है कि खेत का आकार बड़ा होने से उत्पादन संभावना वक्र भी ऊंचा होगा। सब खेतों के संभावना वक्रों को नीचे रेखाचित्र में दर्शाया गया है। सभी उत्पादन वक्र A से लेकर G तक, C बिन्दु से आरम्भ होते है और मूल बिन्दु O की ओर अवतल होते हैं। निम्न चित्र में A उत्पादन संभावना वक्र सबसे नीचे है जो यह बताता है कि खेत का आकार छोटा है जबकि G उत्पादन संभावना वक्र सबसे ऊपर है जो यह बताता है कि खेत का आकार भी बडा है। A वक्र पारंपरिक कृषि का द्योतक है क्योंकि इसमें निम्न स्तरीय तकनीकी का प्रयोग हो रहा है। इसके विपरीत G उत्पादन संभावना वक्र उच्च स्तरीय तकनीक को बताता है।

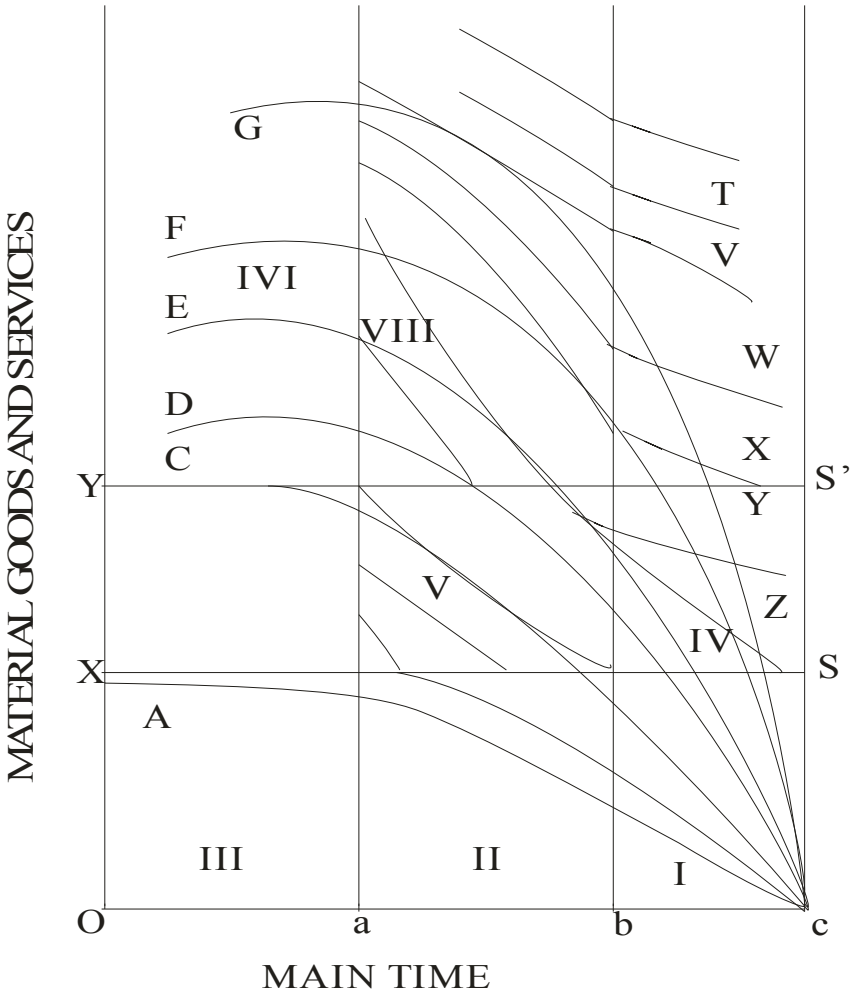

चित्र में X –अक्ष पर कार्य दिवस को तथा Y –अक्ष पर भौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं को प्रदर्शित किया गया हैं। OX अक्ष पर O बिन्दु का अभिप्राय है पूर्ण कार्य तथा शून्य आराम जबकि C बिन्दु सम्पूर्ण आराम तथा शून्य कार्य को दर्शाते है अर्थात् कार्य की तुलना मे आवकाश पर रहना अधिक पसन्द करते है।

(ii) समसन्तुष्टि वक्र – समसन्तुष्टि वक्र कार्य दिवस सन्तुष्टि वक्र भौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं एवं कार्य दिवस के उन विभिन्न संयोगों को दर्शातें है जो किसान को एक समान सन्तुष्टि प्रदान करते हैं। वस्तुओं तथा सेवाओं की अतिरिक्त इकाईयां पारंपरिक खेती में कम सन्तुष्टि प्रदान करती हैं तथा काम की अतिरिक्त इकाई को भी भौतिक वस्तुओं तथा सेवाओं के साथ जोड़ना होगा यदि सन्तुष्टि के स्तर को समान रखना है। T से Z तक समसन्तुष्टि वक्र है जो मूल बिन्दु की ओर उत्तल होते है। प्रत्येक सम सन्तुष्टि वक्र कार्य दिवस एवं वस्तुओं तथा सेवाओं के समान अनुपात को दिखाता है। अनेक समसन्तुष्टि वक्र के होने का प्रमुख कारण यह है कि प्रत्येक समसन्तुष्टि वक्र खेत के आकार अलग–अलग तकनीकी स्तर द्वारा कार्य दिवस एवं सेवाओं के प्रयोग से प्राप्त होने वाले अलग–अलग उत्पादन स्तर को बताता है। T से लेकर Z तक सभी वक्रों को मिलाकर समसन्तुष्टि रेखा मानचित्र बनता है।

चित्र की व्याख्या : A तथा B उत्पादन संभावना वक्र पारंपरिक खेती के संभावना वक्र है। मिलर के अनुसार पारंपरिक खेत में खेतों को मुख्यतः दो भागों में बांटा जाता है। एक वे खेत जो केवल जीवन निर्वाह आय प्रदान करते है तथा दूसरे वे खेत जो जीवन निर्वाह से अधिक आय प्रदान करते है। जीवन निर्वाह आय के अन्तर्गत पारिवारिक श्रम का प्रयोग तब तक किया जाता रहेगा जब तक श्रम की सीमान्त उत्पादकता शून्य न हो जाए। इस स्थिति में रोजगार अधिक मात्रा में पाया जाता है जबकि बड़े खेतों में सन्तुलन का स्तर वहाँ पर निर्धारित होता है जहाँ पर उत्पादन संभावना वक्र समसंतुष्टि रेखा मानचित्र के किसी एक वक्र को छूता हो। प्रत्येक किसान का यह उद्देश्य होता है कि वह ऊँचे से ऊँचे संतुष्टि वक्र पर पहुँचने की कोशिश करता है।

मिलर ने OX तक उन उत्पादन संभावना वक्रों को रखा है जो केवल जीवन–निर्वाह आय प्रदान करते है जबकि XY में उन उत्पादन संभावना वक्रों को रखा है जो जीवन निर्वाह से अधिक आय प्रदान करते है।

मिलर के इस चित्र में हमें तीन प्रकार के आय–स्तर देखने को मिलते है–

(अ) आय का वह स्तर जो केवल जीवन–निर्वाह की वस्तुएं प्रदान करता है जैसे– रोटी, कपड़ा और मकान और अन्य आवश्यक वस्तुएं। रेखाचित्र में OX आय–स्तर जीवन निर्वाह आय का स्तर है। इसमें पारिवारिक श्रम का उपयोग होता है।

(ब) दूसरा सांस्कृतिक जीवन निर्वाह स्तर है। चित्र में Y अक्ष पर XY स्तर इस आय स्तर की उच्चतम सीमा है। मिलर के अनुसार पारंपरिक खेती में Y स्तर इस ऊंचे आय स्तर को व्यक्त करता है जिसमें पारंपरिक आवश्यकताओं को आसानी से पूरा किया जा सकता है।

(स) तीसरा गत्यात्मक समाज के लिए आय स्तर Y से अधिक आय स्तर का संबंध गत्यात्मक समाज के साथ है जिसमें रहन–सहन के स्तर में निरंतर परिवर्तन आता रहता है। इस आधार पर मिलर ने यह सुझाव दिया है कि पारंपरिक खेती में श्रम का उपयोग आय के Y स्तर तक ही ठीक होगा।

यहाँ उल्लेखनीय है कि मिलर के सिद्धान्त में कृषि पदार्थों का पूर्ति वक्र पीछे की ओर मुड़ी हुयी रेखा होती है। यह इसलिए होता है कि आय प्रभाव तथा प्रतिस्थापन प्रभाव विपरीत दिशाओं में कार्य करते हैं। कृषि कीमतों में वृद्धि से किसान अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित होता है और वह अधिक मेहनत करता है। यह धनात्मक प्रतिस्थापन प्रभाव है।

15.4.2. प्रौद्योगिक रूप से गतिशील खेती व कम पूंजी पर आधारित प्रौद्योगिकी : मिलर के अनुसार जब कृषि इस चरण में पहुंच जाती है तब वह गैर कृषि क्षेत्र के विकास के लिए संसाधन उपलब्ध करवा सकती है। इस चरण में नए साधनों का प्रयोग होता है, जिनकी सीमान्त उत्पादकता अधिक हो। नए साधनों में पूंजी का अधिक प्रयोग नहीं होता है और श्रम से प्रतियोगिता करने की बजाय ये उसके पूरक की तरह कार्य करते हैं। इस अवस्था में भी कृषि आय का प्रमुख स्रोत बनी रहती है और साथ–साथ जनसंख्या वृद्धि के कारण कृषि उत्पादों की मांग लगातार बढती जाती हैं। गैर कृषि क्षेत्र की धीमी प्रगति के कारण खेतो का आकार छोटा ही रहता है जबकि सस्ता श्रम उपलब्ध होने के कारण कृषि क्षेत्र में मशीनरी का प्रयोग न के बराबर होता है। मिलर के अनुसार, पारंपरिक कृषि के विकास के इस दौरे में आने के लिए कुछ आधारभूत परिवर्तन आवश्यक हैं। विकास के लिए जरूरी प्रोत्साहन सृजित करने के लिए संस्थागत परिवर्तन अनिवार्य हैं। मिलर का दृढ़विश्वास है कि भूमि सुधारों जैसे संस्थागत परिवर्तनों से किसान को अधिक उत्पादन के लिए प्रोत्साहन मिलेगा। इसके अतिरिक्त, संस्थागत सुधारों के बाद ही प्रौद्योगिकीय परिवर्तन प्रभावी होंगे।

इस चरण में शोध कार्यों को बढ़ावा देकर कृषि की अवस्था को सुधारा जा सकता है। इसके अतिरिक्त नये और संशोधित भौतिक साधनों की आपूर्ति से भी खेती की प्रकृति सुधारी जा सकती है। उदाहरण के तौर पर बीजों और फसलों की उन्नत किस्में, बेहतर पशु चारा, उर्वरकों, कीटनाशकों आदि की मदद से कृषि को उन्नत बनाया जा सकता है। मिलर का विश्वास है कि इनमें से कुछ बीजों को बाहर से आयात करना पड़ता है क्योंकि उनके देश में उत्पादन और विकास के लिए पूरा तंत्र विकसित करना होगा। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कई कदम उठाए जा सकते हैं जैसे– प्रेरणा प्रदान करने के लिए संस्थानों को बढ़ावा देना, शोधकार्यों को बढ़ाना, नई तथा सुधरी हुई भौतिक आगतों की पूर्ति, कृषि उत्पादन को बढ़ाने के लिए संस्थानों की स्थापना, किसानों की मदद के लिए संचार के साधनों का विकास आदि।

15.4.3. प्रौद्योगिक रूप से गतिशील खेती व अधिक पूंजी पर आधारित प्रौद्योगिकी : मिलर का मानना है कि जब कृषि का विकास दूसरे चरण में पहुंच जाता है तो गैर–कृषि क्षेत्र को भी विकसित होने का मौका मिलेगा। कुछ समय पश्चात् दोनों क्षेत्र परस्पर सहयोग से विकसित होने लगेंगे और कृषि स्वतः अपने विकास के तीसरे दौर में पहुंच जाएगी। यानि

उसमें उच्च पूँजी वाली प्रौद्योगिकी का प्रयोग होने लगेगा। कृषि क्षेत्र में मशीनरी का अधिक प्रयोग होने से खेतिहरी श्रमिकों को गैर–कृषि क्षेत्र में स्थानांतरित किया जा सकेगा। उन्नत कृषि क्षेत्र में खपने वाली मशीनरी गैर–कृषि क्षेत्र में बनने से उसका भी विकास होगा। विकसित कृषि क्षेत्र में पूंजी निर्माण निरंतर बढ़ता रहेगा। इसके साथ गैर–कृषि क्षेत्र अपनी बचत को निवेश के लिए इस्तेमाल करेगा तो उसे कृषि क्षेत्र से पूँजी की आवश्यकता नहीं होगी।

मिलर के अनुसार कृषि क्षेत्र के विकास की यें तीनों अवस्थाएं उपरोक्त क्रम में ही अमल में लाई जानी चाहिए। इससे संसाधनों का लम्बे समय तक ठीक प्रयोग होता रहेगा। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यह अधिक उचित है। केवल संयुक्त–अमेरिका में तीसरी अवस्था पहले आ गई थी क्योंकि औद्योगिक विकास के कारण मशीनें आसानी से प्राप्त हुयी थीं लेकिन बाकी चीजें शीघ्र प्राप्त नहीं हो सकीं।

15..5. मिलर के कृषि विकास प्रारूप सिद्वांत का आलोचनाएं

अन्य सिद्वांतों की भांति मिलर का कृषि विकास प्रारूप आलोचना रहित नहीं है। इस मॉडल की प्रमुख आलोचनाएं निम्नलिखित है :

1. **साधारण परिभाषा** : मिलर की पारंपरिक खेती की परिभाषा अत्याधिक साधारण है। मिलर के अनुसार पारंपरिक खेती का संबंध पिछड़ी खेती से होता है जहां श्रम पर उत्पादन का एक मुख्य साधन होता है।
2. **साधनों का पूर्ण आवंटन** : शुल्ज की भांति मिलर कृषि क्षेत्र में संसाधनों का आबंटन पूर्ण मानते है। वह यह भी मानते हैं कि यदि इस क्षेत्र से श्रम को निकाल लिया जाये तो निःसंदेह कृषि उत्पादन में भारी गिरावट आयेगी। परन्तु साथ–साथ वह इस बात से भी इन्कार नही करते कि कृषि क्षेत्र में छिपी हुई बेरोजगारी विद्यमान होती है। तथ्य यह है छिपी हुई बेरोजगारी जनसंख्या आधिक्य वाले देशों की एक सामान्य विशेषता है।
3. **संस्थागत परिवर्तनों पर अधिक बल** : मिलर का यह सुझाव है कि पारंपरिक खेती का रूपांतर करने के लिए संस्थागत परिवर्तन जैसे : कृषि सुधार, साख सुविधाएं, सेवाओं का विस्तार, विपणन सुधार आदि अनिवार्य हैं। हालांकि मिलर ने सरकारी हस्तक्षेप की अवहेलना की परन्तु सरकार का सहयोग धनात्मक होना चाहिए।
4. **श्रम की भूमिका** : मिलर के अनुसार विकास की प्रक्रिया में श्रमिकों तथा अन्य उपकरणों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। उदाहरण के लिए पारंपरिक खेती में उत्पादन में वृद्धि तब तक होती है जब तक श्रमिकों की सीमांत उत्पादकता शून्य से अधिक होती है। परन्तु गत्यात्मक कृषि में श्रमिकों का प्रतिस्थापन्न आगतों से किया जाता है।

मिलर का सिद्धांत ज्यादा व्यावहारिक और सही लगता है। कुछ विषयों पर वह शुल्ज से सहमति अवश्य दर्शातें हैं लेकिन शून्य श्रम के मामले में उनकी राय भिन्न है। सभी अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के बारे में उपलब्ध ऐतिहासिक जानकारी से मिलर के तीन चरणीय विकास सिद्धांत की पुष्टि होती है।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. मिलर की पुस्तक 'कृषि विकास का अर्थशास्त्र' किस वर्ष प्रकाशित हुई थी?
   (i) 1965 (ii) 1966
   (iii) 1967 (iv) 1968
2. मिलर के कृषि विकास प्रारूप को कितने चरणों में बांटा गया है–
   (i) तीन (ii) चार
   (iii) पाँच (iv) इनमें से कोई नही
3. मिलर ने अपने सिद्धान्त में सर्वाधिक महत्व निम्न में से किसको दिया है–
   (i) उद्योग क्षेत्र (ii) सेवा क्षेत्र
   (iii) कृषि क्षेत्र (iv) सभी क्षेत्रों को
4. निम्न में से कौन–सा चरण मिलर के सिद्धान्त में नहीं है–
   (i) पारंपरिक कृषि
   (ii) प्रौद्योगिक रूप से गतिशील कृषि एवं कम पूंजी पर आधारित प्रौद्योगिकी
   (iii) प्रौद्योगिक रूप से गतिशील कृषि एवं अधिक पूंजी पर आधारित प्रौद्योगिकी
   (iv) सेवा क्षेत्र
5. क्या भारत कृषि क्षेत्र के विकास की तृतीय अवस्था में पहुँच चुका है–
   (i) हाँ (ii) नही
   (iii) कुछ निश्चित नही

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पारंपरिक खेती की अवधारणा को समझाइए।
2. कृषि के अन्तर्गत किये जाने वाले संस्थागत सुधार कौन–कौन से है?
3. 'प्रौद्योगिकी कृषि पर निर्भर है' मिलर के दृष्टिकोण को स्पष्ट कीजिए।
4. 'शोध कार्यों से कृषि अवस्था को सुधारा जा सकता है' स्पष्ट कीजिए।

15.6. सारांश

इस इकाई के अध्ययन से आप समझ गये होंगे कि मिलर ने अपने सिद्धान्त कृषि विकास प्रारूप में अर्थव्यवस्था के विकास की कहानी कृषि के विकास से ही प्रारम्भ की है। मिलर दृढता से स्वीकार करते हैं कि कृषि विकास के प्रथम चरण के बाद कृषि क्षेत्र इतना सक्षम हो जाता है कि वह गैर कृषि क्षेत्र के विकास के लिए संसाधन उपलब्ध करवा सकता है। जिसके परिणामस्वरूप संस्थागत सुधार, शोध कार्य, प्रौद्योगिकीय परिवर्तन आदि होने लगते है। कृषि के साथ–साथ उद्योग क्षेत्र भी विकसित होने लगता है। अर्थव्यवस्था दूसरे चरण से तीसरे चरण में पहुँच जाती है। विकसित कृषि क्षेत्र में पूँजी–निर्माण निरन्तर बढ़ता जाता है। अंततः दोनों क्षेत्र विकास के नये पायदान पर पहुँच जाते है। इस सिद्धान्त के अध्ययन के बाद आप मिलर के कृषि विकास प्रारूप का विश्लेषण तीन चरणों के अन्तर्गत आसानी से कर सकेंगे।

15.7 शब्दावली

उत्पादन सभावना वक्र–दो वस्तुओं के विभिन्न संयोगों को दिखाने वाला वक्र
समसंतुष्टि– समान संतुष्टि
संस्थागत परिवर्तन– पुरातन प्रवृत्तियों में होने वाला परिवर्तन
पारम्परिक खेती–पुरानी विधियों पर आधारित कृषि
निर्वाह आय स्तर–न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्राप्त होने वाली आय

15.8 अभ्यास प्रश्न

उत्तर– (i) 1966 (ii) तीन (iii)कृषि क्षेत्र (iv) सेवा क्षेत्र (v) नहीं

15.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झिंगन एम0एल, विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. लाल एस0एन0 एवं एस0के0 लाल, आर्थिक विकास तथा आयोजन, शिव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।
3. गुप्ता पी0के0, कृषि अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।

15.10. निबन्धात्मक प्रश्न

1. मिलर के कृषि विकास प्राप्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. मिलर द्वारा बतायी गयी कृषि की विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन कीजिए। इसकी प्रमुख सीमायें क्या है?
3. मिलर द्वारा कृषि विकास प्रारूप की दूसरी अवस्था में पायी जाने वाली कीमत अनिश्चितता का वर्णन कीजिए।

इकाई 16 : शुल्ज और बोसरप का कृषि विकास प्रारूप

इकाई संरचना

16.1 प्रस्तवना

16.2. उद्देश्य

16.3. शुल्ज का कृषि विकास प्रारूप

16.3.1. पारंपरिक कृषि की अवधारणा

16.3.2. पारंपरिक कृषि की विशेषतायें

16.3.3. पारंपरिक कृषि एवं आर्थिक विकास

16.4. रूपान्तरण की प्रक्रिया

16.4.1 नये साधनों की पूर्ति

16.4.2 नये साधनों की मांग

16..5. शुल्ज के कृषि विकास प्रारूप की आलोचनायें

16.6 बोसरप का कृषि विकास प्रारूप

16.6.1 बोसरप का दृष्टिकोण एवं माल्थस

16.6.2 कृषि विकास प्रारूप की अवस्थाएं

16.6.3 जनसंख्या वृद्धि एवं अन्य परिवर्तन

16.6.4 बोसरप के कृषि विकास प्रारूप सिद्वांत की आलोचनायें

16.7 सारांश

16.8 शब्दावली

16.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

16.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

16.11 निबन्धात्मक प्रश्न

16.1 प्रस्तवना

पिछली इकाई में मिलर के कृषि विकास प्रारूप का विस्तार से अध्ययन किया। इस इकाई में हम शुल्ज एवं बोसरप के कृषि विकास प्रारूप का विस्तार से अध्ययन करेंगे। शुल्ज के अनुसार परम्परावादी अर्थव्यवस्था के रूपान्तरण हेतु कृषि का रूपान्तरण आवश्यक है। शुल्ज का मत हैं कि यदि किसान परम्परागत तरीके से खेती करता है तो वह पैदावाद में अधिक वृद्धि नही कर पायेगा, इसके विपरीत यदि आधुनिक तरीके से खेती करता है तो वह अधिक उपज पैदा करता है। परम्परागत तरीके से की गयी कृषि से किसानों की आर्थिक स्थिति निम्न स्तर की ही बनी रहती है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि परम्परावादी कृषि का रूपान्तरण कर कृषि को लाभदायक क्षेत्र बनाया जाये। कृषि भी आर्थिक विकास का एक शक्तिशाली स्रोत बन सकती है बशर्ते इसमें सुनियोजित ढ़ंग से निवेश किया जाये जिससे कृषक इस क्षेत्र में विकास के प्रति आकर्षित हो।

परम्परागत कृषि पद्धति के बदलाव में कृषि फार्म का आकार, कुशल कृषि कार्य, कृषकों को प्रोत्साहन आदि क्षेत्र में निवेश किया जाये। कृषि संसाधनों के विकास के साथ–साथ विक्रय व्यवस्था को प्रभावी बनाया जाये। कृषकों को नयी जानकारी एवं प्रशिक्षण दिया जाये। ये सभी कदम आधुनिक कृषि के विकास में योगदान देंगे।

इस प्रकार आप समझ गये होंगे कि शुल्ज का कृषि विकास प्रारूप परम्परावादी कृषि से आधुनिक कृषि की ओर रूपान्तरण है।अब हम इस इकाई के दूसरे भाग में बोसरप के कृषि विकास का अध्ययन करेंगे।

बोसरप का मत है कि बढ़ती जनसंख्या के दबाव के कारण कृषि का विकास भी होने लगता है। समय के साथ–साथ बढ़ती जनसंख्या के कारण कृषि विकास भी होता हैं जो पांच अवस्थाओं से होकर गुजरता है। बोसरप ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि जनसंख्या के बढ़नें के साथ–साथ कृषि का ही विकास नही होता बल्कि तकनीकी का भी विकास होने लगता है जिसके परिणामस्वरूप कृषि के स्वरूप में ही परिवर्तन आने लगता है जिससे बाद में सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आने लगते हैं जो अन्ततः निवेश को भी बढ़ाते है। अब हम बोसरप के कृषि विकास प्रारूप की व्याख्या करेंगे।

16.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति में सफल होंगे कि–

- कृषि विकास का इंजन है।
- कृषि में निवेश कर उसकी लाभदायकता कैसे बढ़ायी जा सकती है।
- पारंपरिक खेती की अवधारणा से परिचित होंगे।
- शून्य श्रम के अर्थ को समझेंगे।
- अद्रृश्य बेरोजगारी की परिभाषा जानेंगे।
- कृषि के रूपान्तरण की प्रक्रिया की समीक्षा कर सकेंगे।

- कृषि विकास की प्रमुख अवस्थायें कौन–कौन सी है।
- बढ़ती जनसंख्या से कृषि विकास किस प्रकार प्रभावित होता है।
- विभिन्न अवस्थाओं का अर्थ तथा उनमें आपस के अन्तर को भी जानेंगे।
- कृषि समुदाय का सामाजिक ढांचा, जनसंख्या वृद्धि से कैसे प्रभावित होता है।

16.3 शुल्ज का कृषि विकास प्रारूप

प्रो. शुल्ज ने पारम्परिक खेती के सन्दर्भ में एक विस्तृत विचारधारा प्रस्तुत की है जिसका वर्णन उन्होंने अपनी पुस्तक 'ट्रांसफॉर्मेशन ट्रेडीशनल एग्रीकल्चर' में (Transformation of Traditinal of Agriculture) (1964 में प्रकाशित) वर्णन किया है जिसमें कृषि का रूपान्तरण है। रूपान्तरण से अभिप्राय है सामन्वाद से पूंजीवाद की ओर रूपान्तरण। इस पुस्तक में उन्होंने खेती की आधुनिकरण के कई तरीके सुझाए हैं। इस पुस्तक में पिछड़ी खेती की उन्नत बनाने पर चर्चा की गई थी।

किसी भी अर्थव्यवस्था के आर्थिक विकास के लिए कृषि का विकास एक अनिवार्य पूर्व निर्धारित शर्त है। यदि किसान अपने पूर्वजों की भांति कृषि करेंगे तो वे अधिक उत्पादन करने में सक्षम नहीं होंगे चाहे उनकी भूमि अधिक उपजाऊ क्यों न हो और उस पर कृषक कितनी ही मेहनत क्यों न करें। केवल वही किसान जिनकों आधुनिक तकनीकी का ज्ञान है और जो खेती में विज्ञान तथा नई तकनीक का प्रयोग करते हैं अधिक उत्पादन करने मे सफल होंगे, चाहे उनकी भूमि घटिया ही क्यों न हो और किसान द्वारा भी कम मेहनत की जाती हो। कृषक सदियों से चली आ रही जिस तकनीक का प्रयोग पीढ़ी दर पीढ़ी करते आ रहे हैं, उस कृषि को पारंपरिक कृषि कहा जाता है। जो देश पारंपरिक कृषि पर निर्भर करता है वह अवश्यमेव निर्धन देश होता है। अब प्रश्न यह उठता है कि किस प्रकार पारंपरिक खेती का उच्च उत्पादक आधुनिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तन किया जाए। शुल्ज के अनुसार कृषि में निवेश कर के स्वरूप को बदला जा सकता है। यदि कृषि में निवेश किया जाए तो इस क्षेत्र की क्रिया प्रणाली में सुधार होगा तथा कृषि को लाभदायक बनाया जा सकता हैं। शुल्ज का सिद्धान्त कृषि को आर्थिक विकास का एक स्रोत मानता है। कृषि को विकास का एक इंजन बनाने के लिए यह अनिवार्य है कि इस क्षेत्र में निवेश किया जाए जो किसानों को दिशा–निर्देश के लिए प्रेरणा प्रदान करता है। जब एक बार कृषि में निवेश के अवसर तथा किसनों को कुशल प्रेरणा दी जाए तो किसान मिट्टी को सोने में बदल देंगे। शुल्ज के सिद्धान्त को समझने हेतु हमें पहले पारम्परिक खेती की अवधारणा को समझना होगा।

16.3.1. पारंपरिक कृषि की अवधारणा

पारंपरिक खेती को परिभाषित करने से पूर्व शुल्ज ने इस बारे में प्रचलित कुछ भ्रान्तियों का निराकरण करने की कोशिश की है। उसके अनुसार–

(अ) पारंपरिक खेती की उस समाज की परंम्परओं से कुछ लेना देना नही होता। खेती किसी भी समाज की परम्पराओं और रीतियों से प्रभावित हुए बगैर पारंपरिक हो सकती है। यह आवश्यक नहीं कि केवल एक संकीर्ण, अन्धविश्वासी समाज ही

पारंपरिक ढ़ंग की खेती पर अमल करे। एक उन्नत समाज में भी खेती का ढ़ंग पारंपरिक हो सकता है। शुल्ज का मानना है कि पूंजी का संचालन या अधिक श्रम का प्रयोग आर्थिक कारकों द्वारा निर्धारित होता है न कि सांस्कृतिक कारणों से।

(ब) पारंपरिक खेती का उस देश की संस्थागत व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नही होता। किसी भी तरह की संस्थागत व्यवस्था के बावजूद खेती पारंपरिक हो सकती है। अधिकतर लोग यह मानते है कि पारंपरिक खेती का संबंध छोटी जोतों से होता है। जबकि शुल्ज के अनुसार वास्तविकता यह नही है। जापान में जोतों का आकार छोटा होने के बावजूद वहां की खेती की पारंपरिक नहीं कहा जा सकता। हालैंड में खेती को काश्तकारों द्वारा करवाने का प्रचलन आम है लेकिन वहां की खेती पारंपरिक नहीं है।

शुल्ज के अनुसार पारंपरिक खेती एक आर्थिक अवधारणा है। यह एक किस्म का सन्तुलन है जिसके लिए आवश्यक कारक निम्न है:

1. कलाओं की स्थिति स्थिर रहती है।
2. आय के स्रोतों की प्राप्ति और संचयन के उद्देश्य और प्राथमिकताओं की स्थिति भी स्थिर रहती है।
3. ये दोनों स्थितियां तब तक स्थिर रहती हैं जब तक कृषि कारकों का आय का स्रोत मानने वाली सीमान्त प्राथमिकताएं इनकी सीमान्त उत्पादकता के सन्तुलन में नही आ जाती।

शुल्ज का मानना है कि जब कृषि क्षेत्र में प्रयोग की जाने वाली प्रौद्योगिकी में लम्बे समय तक परिवर्तन नहीं होता और जब इसके सब घटकों का प्रयोग वह कर लेते है तो एक समय ऐसा आ सकता है जब इन अवयवों की सीमान्त उत्पादकताएं और उनकी लागतें एक–दूसरे के बराबर हो जाएं। यह सन्तुलन की स्थिति है। ऐसी हालत में इन अवयवों में निवेश समाप्त हो जाएगा। अलबत्ता इनके इस्तेमाल का स्तर नही बदलेगा। इस स्थिति में बचत भी समाप्त हो जायेगी। यहीं वह अवस्था है जब खेती का चरित्र पारंपरिक हो जाता है। ऐसी स्थिति में खेती गतिशील नहीं होगी। उसमें तब तक ठहराव बना रहेगा जब तक उत्पादन के तरीके नही बदलते। यह बात स्मरणीय है कि शुल्ज की परिभाषा के अनुसर प्रौद्योगिकी वाली खेती भी पारंपरिक हो सकती है जबकि अधिकांश लोगों का मानना है कि केवल पिछड़ी और श्रम आधारित कृषि ही पारंपरिक कृषि होती है।

16.3.2. पारंपरिक खेती की विशेषताएं

पारंपरिक खेती की मुख्य विशेषताएं निम्न है

(1) आबंटनात्मक कुशलता : एक सामान्य अवधारणा यह है कि पारंपरिक खेती में संसाधनों का आवंटन ठीक नही होता है। शुल्ज ने इस कथन का खंडन किया है। शुल्ज की परिभाषा से यह निष्कर्ष निकलता है कि पारंपरिक खेती में संसाधनों का आवंटन उचित होता है। इसका कारण यह है कि फसलों को पैदा करने का तरीका और तदनानुसार उत्पादन के तमाम कारकों के प्रति प्राथमिकताएं अपरिवर्तित रहती हैं। जब किसानों को इन हालातों के अन्तर्गत साल–दर–साल एक जैसी प्राप्ति होती है तो वे अपने निवेश का प्रत्येक कारक में इस प्रकार सामयोजित करते है कि हर

कारक की सीमान्त उत्पादकता उसके मूल्य के साथ सन्तुलन में हो। यह सन्तुलन तब तक जारी रहेगा जब तक उपजाने की कला में परिवर्तन न हो। शुल्ज के अनुसार ''पारंपरिक खेती में उत्पादन के कारकों के आबंटन में अपेक्षाकृत कम सार्थक अकुशलताएं है।'' पारंपरिक खेती में सन्तुलन बनाये रखने के लिए शुल्ज ने कुछ मान्यताएं स्थापित की जों कि निम्न हैः

(i) पहली मान्यता उत्पादन के कारकों की प्रकृति के बारे में है। इनको लम्बे समय तक बिना परिवर्तन के इस्तेमाल किया जाता रहा है। यदि ये कारक बदलते रहे तो उनकी प्राप्तियां भी बदलती रहेंगी और एक स्थायी सन्तुलन नहीं बन सकता। शुल्ज के अनुसार खेती की तो पारंपरिक कहा ही नहीं जा सकता अगर उत्पादन के कारकों की प्रकृति निरन्तर बदलती रहे।

(ii) सड़क निर्माण या नहर खोदने जैसा कोई काम नहीं होना चाहिए। इन गतिविधियों से सन्तुलन बिगड़ने का खतरा बना रहता है।

(iii) युद्ध विभाजन और क्षेत्र में श्रमिकों की भर्ती से भी खेती का सन्तुलन अस्थायी तौर पर गड़बड़ा जाता है।

(iv) उत्पादन के सभी कारकों और कृषि उत्पादों की कीमतें स्थिर रहनी चाहिए।

(v) चूंकि कलाओं की स्थिति में बदलाव नहीं होता इसलिए किसी दौर में प्रौद्योगिकी परिवर्तन की पारंपरिक खेती में कोई जगह नहीं होती।

(2) निर्धन किन्तु योग्य परिकल्पना : संसाधन के आबंटन सम्बन्धी मान्यताओं से शुल्ज ने एक और परिकल्पना स्थापित की है। उनका मानना था कि पारंपरिक खेती में संलग्न लोग संसाधनों के आबंटन के दृष्टिकोण से योग्य होने के बावजूद निर्धन होते है। संसाधनों के संतोषजनक आबंटन से किसानों को ज्यादा आय नहीं होती है। इसका कारण यह है कि उपलब्ध संसाधनों से प्राप्तियां काफी कम होती हैं और वे सीमित संसाधनों से अधिकतम प्रतिफल ले रहे होते है। पारंपरिक खती में कोई भी संसाधन बेरोजगार नही है। इस शुल्ज अदृश्य बेरोजगारी की अवधारणा का खंडन करते है। शुल्ज इस तथ्य का भी समर्थन करते है कि पारंपरिक कृषि में भी योग्य उद्यमियों की कोई कमी नहीं है। शुल्ज के अनुसार संसाधनों का समुचित आवंटन तभी होगा जब पारंपरिक खेती में भी किसान मूल्यों के प्रति क्रियाशील होते है।

3. शून्य श्रम की अनुपस्थिति–नर्कसे जैसे अर्थशास्त्रियों के अनुसार कृषि क्षेत्र में अदृश्य बेरोजगारी विद्यमान होती है जिसे अल्पविकसित देशों में औद्योगिक विकास और पूंजी निर्माण में लगाया जा सकता है। जबकि शुल्ज अदृश्य बेरोजगारी की अवधारणा को स्वीकार नहीं करते है। उनका मत है कि पारंपरिक कृषि में काम के इच्छुक हर व्यक्ति को अपने श्रम का मूल्य मिल जाता है जिससे उसकी सीमान्त उत्पादकता कभी भी शून्य नहीं होती है। अदृश्य बेरोजगारी की अनुपस्थिति को ही शुल्ज ने शून्य श्रम कहा है। अतः पारंपरिक कृषि में कोई शून्य श्रम नहीं होता है।

16.3.3. पारंपरिक खेती एवं आर्थिक विकास

प्रो0 शुल्ज के अनुसार पारंपरिक खेती आर्थिक विकास का एक महत्वपूर्ण स्रोत है। यह दो धारणाओं पर निर्भर करता है :

(क) आज्ञा प्रस्ताव– आज्ञा प्रस्ताव राजनैतिक शक्ति पर आधारित है जिसमें कृषि उत्पादन को नहीं पहचाना जाता परन्तु खेती की क्रियाओं को प्रशासित किया जाता है।

(ख) बाजार प्रस्ताव– बाजार प्रस्ताव आर्थिक प्रेरणाओं पर आधारित है जो किसान का मार्गदर्शन करता है कि वह उत्पादन संबंधी निर्णय ले और उनकों उनकी आबंटित कुशलता के आधार पर पारितोषिक दे।

शुल्ज ने इन दोनों प्रस्तावों में अन्तर को स्पष्ट किया है– वे हैं कुशलता की अनुपस्थिति और कृषकों की खेती से संबंधित निर्णय लेने की योग्यता।

ऐतिहासिक अनुभव का वर्णन करते हुए यह कहा जा सकता है कि बार–बार लोगों ने विशेष पारंपरिक खेती का रूपान्तरण नए साधनों को अपनाकर तथा उसका प्रयोग करके किया है। अन्य शब्दों में तकनीक परिवर्तन पारंपरिक किसानों को आसानी से उपलब्ध कराया जाना चाहिए तथा आसानी से स्वीकार भी किया जाना चाहिए। तभी पारंपरिक कृषि को आर्थिक विकास का स्रोत बनाया जा सकता है। इसके लिए कृषि का रूपान्तरण किया जाना चाहिए। रूपान्तरण का अभिप्राय है पारंपरिक कृषि उत्पादन में वृद्धि। इस सन्दर्भ में आपकों यह अवगत कराना आवश्यक है कि शुल्ज अल्पविकसित देशों की इस परिकल्पना की आलोचना करतें हैं कि अल्पविकसित देशों में साधनों का उचित ढग से इस्तेमाल न होने के कारण कृषि अकुशल होती हैं। शुल्ज का मत हैं कि भूमि के.....

.भूमि के अन्तर का महत्व कम होता है और खेतों में काम कर रहे लोगों की योग्यता का अन्तर महत्वपूर्ण होता है। आज इस आधार पर भूमि के अन्तर का महत्व कम होता है और खेत में काम कर रहे लोगों की योग्यता का अन्तर महत्वपूर्ण होता है आज इस आधार पर कृषि उत्पादन में अन्तर पाया जाता है। भारत की अपेक्षा मैक्सिकों और जापान की कृषि सौ गुणा अच्छी है। यह इसलिए नहीं है कि मैक्सिको और जापान की जमीन अच्छी है बल्कि सुधरी हुई तकनीकी निपुणता, अच्छे बीज, अच्छी साख सुविधाओं के कारण हुआ है।

प्रो0 शुल्ज ने असन्तुलन के तीन मुख्य कारण बताए हैं जो इस प्रकार हैं :

(क) परम्परागत– कृषि क्षेत्र में कला, रुचियां और उद्देश्य दीर्घकाल तक लगभग स्थिर रहते हैं। साधनों के मांग एवं पूर्तिकर्त्ता दीर्घकाल के पश्चात् सन्तुलन में आते है। इस विधि की मुख्य विशेषता यह है कि कृषि से प्राप्त होने वाली स्थायी आय का स्रोत उच्च कीमते है।

(ख) आधुनिक– इस अवस्था में किसान प्रायः खेती करने के लिए आधुनिक साधनों का प्रयोग करते हैं। उत्पादन के नए साधन खोजने तथा उन्हें लाभदायक बनाने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जाते है। ताकि कृषि उत्पादकता मे वृद्धि हो। इस अवस्था में रुचियां और उद्देश्य स्थिर आय को प्राप्त करने वाले स्रोत दीर्घकालीन सन्तुलन से प्राप्त नहीं होते हैं। जैसा कि बहुत से देशों के सन्दर्भ में देखा गया है कि जब वे

अपने रूपान्तरण की स्थिति में थे तो स्रोतों की कीमतें कम थी तथा कृषि उत्पादन कम था।

(ग) **परिवर्तिता**– इन दोनों परिस्थितियों को आर्थिक सन्तुलन की अवस्था कहा जाता है। यह परिस्थिति उत्पादन के साधनों की कीमतों में विषमता, जो उत्पादन की कीमत से अधिक होती है। यह असन्तुलन न तो कृषि पदार्थों की कीमत असमानताओं के कारण और न ही पारंपरिक और आधुनिक समय के अन्तर के कारण पैदा होता है परन्तु परिवर्तन की अवस्था तब प्राप्त होती है जब एक और अधिक साधनों की पूर्ति लाभदायक होती है।

16.4. रूपान्तरण की प्रक्रिया

एक बार जब यह पता चल जाता है कि वे कौन–कौन से तत्व है जिनके द्वारा तकनीकी परिवर्तन लाकर पारंपरिक कृषि को हस्तांतरित किया जाता है तब भी हमारें सामने मुख्य समस्या यह आती है कि इन तकनीकी परिवर्तनों को किस प्रकार ग्रहण कर किसानों को इसके अनुरूप ढ़ाला जाए और कैसे किसानों को इनका प्रयोग करने तथा स्वीकार करने के लिए तैया किया जाए। शुल्ज के अनुसार रूपान्तरण की इस सारी प्रक्रिया का वर्णन साधनों की मांग और पूर्ति की शक्तियों द्वारा किया जाता है। यह बात सुनिश्चित की जानी चाहिए कि नए उत्पादन के साधन पारंपरिक उत्पादन के साधनों की उपेक्षा अधिक लाभदायक है और किसान भी इन उत्पादन को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, तभी कृषि उत्पादन में इन साधनों का प्रयोग किया जाएगा। सबसे पहले हम उन तत्वों का उल्लेख करेंगे जिनका संबंध पूर्ति की समस्या से है तथा इन समस्याओं को दूर करने के लिए क्या–क्या सुझाव दिए जा सकते हैं।

16.4.1. नए साधनों की पूर्ति– पूर्ति पक्ष की ओर से यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि नए साधनों की पूर्ति पर्याप्त मात्रा में हो और उनकी कीमते भी उचित होनी चाहिए। यह दोनों परिस्थितियां प्रभावशाली लाभ के लिए अनिवार्य है।

शुल्ज के अनुसार उत्पादन के साधनों की पूर्ति एवं उनकी पूर्ति संबंधी प्रक्रिया में तीन मुख्य कदम अनिवार्य रूप से उठाये जाने चाहिएं जो इस प्रकार है :

(अ) अनुसंधान एवं विकास

(ब) कृषकों को आगतों का वितरण

(स) नए ज्ञान का विस्तार

इनका वर्णन नीचे किया जा रहा है।

(अ) अनुसंधान एवं विकास– शुल्ज के अनुसार पारंपरिक खेती को आधुनिक बनाने में विज्ञान तकनीक का महत्वपूर्ण योगदान होता है। शुल्ज का यह भी मानना है कि पारंपरिक खेती में उत्पादन की विधियां लम्बे समय तक स्थिर रहती हैं और इस अवस्था में नए साधन का विकास इसके अन्दर से नहीं हो सकता है। इस प्रकार यह अनिवार्य हो जात है कि नए साधनों तथा तकनीक का आयात उन देशों से किया जाए जिन्होंने अपने कृषि क्षेत्र का आधुनिकीकरण किया है। यह उत्पादन के साधनों को प्राप्त करने की सस्ती विधि है।

इन साधनों को प्राप्त करने के बाद इन साधनों को आयात किए जाने वाले देश की परिस्थितियों के अनुकूल ढ़ाला जाना चाहिए। क्योंकि भौतिक तत्व जैसे मिट्टी, जलवायु इत्यादि अलग–अलग देशों में अलग–अलग होते हैं। अन्य शब्दों में इन साधनों का एकदम सीधा प्रयोग न तो उत्पादक होता है और न ही लाभदायक। अनुसंधान तथा विकास की सुविधाएं विस्तृत स्तर तक दी जानी चाहिए ताकि आयात की गई आगतों का ठीक ढ़ंग से उपयोग हो सके।

(ब) कृषकों को नई आगतों का वितरण– यदि यह मान भी लिया जाये कि नई आगतों को कृषि की भौतिक परिस्थितियों के अनुकूल बना दिया गया है तो अगला कदम इनके वितरण के लिए अधोसंरचना की स्थापना है। यहां शुल्ज फिर गंभीर है कि इन आगतों के वितरण का दायित्व किसको दिया जाना चाहिए। यह प्रश्न तब पैदा नहीं होता जब उत्पादकों को इन आगतों के प्रयोग की जानकारी पहले से ही प्राप्त होती है। इस अवस्था में कोई भी संस्था वितरण कार्य अपने हाथ में ले सकती हैं। नई आगतों का वितरण करते समय कई प्रकार की कठिनाइयां आ सकती हैं। शुरू में आगतों की मांग बहुत सीमित हो सकती है और बाजार में प्रवेश की लागत बहुत ऊंची हो सकती है। बाजार लागत सीमित हो सकती है और बाजार में प्रवेश की लागत बहुत ऊंची हो सकती है। बाजार लागत में निम्नलिखित लागतें शामिल हो सकती है–

(1) आगतों को परिस्थितियों के अनुकूल ढ़ालने की लागतें।
(2) इन आगतों की सूचना पहुंचाने की लागत।
(3) प्रवेश की अन्य लागते जैसे सामाजिक तथा राजनैतिक विरोध आदि।

(स) नये ज्ञान का विस्तार– भौतिक आगतों की उपलब्धिता का तब तक किसानों को कोई लाभ नहीं होगा जब तक उत्पादकों को उन उपकरणों के प्रयोग की विधि और प्रभावशालिता का ज्ञान न हो। जब नई आगत कृषि में व्यावाहरिक रूप धारण कर लेती है तब किसी एक एजेंसी की आवश्यकता होती है जो इसकी सूचना को कृषकों तक पहुंचाए। इस अवस्था में एक विकसित विस्तार सेवा एजेंसी होनी चाहिए जो इस नई वैज्ञानिक विधि का प्रसार उत्पादकों तक पहुंचाए।

16.4.2. नए साधनों की मांग– राज्य का कर्तव्य न केवल नए उत्पादन के साधनों की पूर्ति करना और उनको उत्पादकों को उपलब्ध कराना होता है बल्कि यह भी सुनिश्चित करना होता है कि उत्पादक इस नए साधन को अपनाने के लिए तैयार हैं। अन्य शब्दों में राज्यों को इन आगतों के प्रति मांग पैदा करनी होगी।

शुल्ज के अनुसार यह कहना गलत है कि पारंपरिक कृषि में किसान नई आगतों का विरोध करते हैं और उसे नहीं अपनाना चाहते हैं। शुल्ज के अनुसार इन आगतों के प्रयोग के लिए केवल प्रेरणाओं (incentive) की जरूरत होती है। दूसरा कारण जिसकी वजह से कृषक नए उत्पादन के साधनों को अपनाते है वह शुद्ध रूप से आर्थिक कारण है जिसे लाभ की दर भी कहा जाता है। गैरपरम्परागत साधन की लाभ दर दो बातों पर निर्भर करती है–

(अ) नई आगत की पूर्ति कीमत

(ब) प्रत्याशित आय

इनका वर्णन इस प्रकार है–

(अ) नई आगत की पूर्ति कीमत– नई आगत की लाभ दर इस आगत की कीमत और उससे प्राप्त होने वाली आय के ऊपर निर्भर करती है। शुल्ज के अनुसार नई आगत विकसित देशों के अनुकूल हो सकती है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि वह अल्पविकसित देश के अनुकूल हो। आरम्भ में अल्पविकसित देशों में नई आगत की पूर्ति कीमत अधिक होती है क्योंकि आरम्भ में इसके प्रयोग के लिए कौशल प्रयोग करने के ज्ञान की लागत भी इसमें शामिल होती है। इसलिए सरकार को प्रारम्भ में इन उपकरणों पर वित्तीय सहायता देनी चाहिए।

(ब) प्रत्याशित आय– नई आगत को प्रयोग करने से पहले उत्पादक न केवल उसकी पूर्ति कीमत को जानता है बल्कि उसकी प्रत्याशित आय को जानने में भी दिलचस्पी रखता है। कृषक नई आगतों का प्रयोग तभी करेगा जब आगत से प्रत्याशित आय उसकी पूर्ति कीमत से अधिक हो।

नई आगतों की उपलब्धिता तथा उनकी किसानों द्वारा स्वीकारता का वांछित परिणाम प्राप्त हो क्योंकि इसके लिए किसानों को अतिरिक्त ज्ञान और कौशल की आवश्यकता होगी। यदि किसान को इस आगत का ज्ञान न हो और न ही वह इसे अपनी इच्छानुसार प्रयोग करना चाहता हो तब इस नई आगत का कृषक को कोई लाभ नहीं होगा। इसीलिए शुल्ज ने इस बात पर विशेष बल दिया है कि पारंपरिक खेती का रूपान्तरण करने के लिए कृषकों को नए उत्पादन के साधनों का कौशल और ज्ञान प्रदान किया जाए।

16.5. शुल्ज के कृषि विकास प्रारूप की आलोचनायें

अन्य मॉडलो की भांति शुल्ज का कृषि विकास प्रारूप भी द्वारा आलोचना रहित नही है। इस सिद्वांत की मुख्य आलोचनाएं निम्न है–

1. **सामान्य धारण**ा– शुल्ज का सिद्धांत बहुत सामान्य है जो केवल विशेष परिस्थितियों में ही लागू होता है। शुल्ज ने आर्थिक तत्वों को बहुत अधिक महत्व दिया है जबकि सांस्कृतिक तत्वों की पूर्ण रूप से अवहेलना की है। वास्तव में ये तत्व पारंपरिक खेती के रूपान्तरण में बहुत अधिक महत्व रखते है।
2. **साधन आबंटन की अकुशलता**– बहुत से अल्पविकसित देशों में संसाधनों क आवंटन से स्पष्ट है कि पारंपरिक कृषि में संसाधनों का आवंटन कुशल नही होता है जबकि शुल्ज का मानना है कि पारंपरिक कृषि में संसाधनों का आबंटन कुशल होता है।
3. **शिक्षा एवं जागरूकता का अभाव**– शिक्षा एवं जागरूकता के अभाव के कारण किसानों को आर्थिक प्रोत्साहन दिये भी जाये तो भी वह नयी आगतों को स्वीकार करने में तैयार नही होते हैं।

4. **छिपी बेरोजगारी की विद्यमानता**– बहुत से अल्पविकसित देशों में छिपी हुई बेरोजगारी विद्यमान होती है, इसके कारण पारंपरिक कृषि में रूपांतरण करना कठिन होता है। शुल्ज ने इस पहलू का ठीक ढ़ंग से विश्लेषण नहीं किया है।
5. **आज्ञा विधि**– शुल्ज के अनुसार बाजार विधि आज्ञा विधि की अपेक्षा अधिक कुशल है। परन्तु रूपांतरण की प्रक्रिया में विकासशील देशों में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक तत्वों का बहुत अधिक महत्व है।
6. **आत्म–विरोधी**– पारंपरिक और आधुनिक कृषि में भूमि तथा उत्पादन का वितरण करने के लिए शुल्ज ने किसी वैज्ञानिक विधि एवं नीति का उल्लेख नही किया है। अपने पूरे विश्लेषण में शुल्ज ने केवल अधोसंरचना में सुधार एवं विस्तार पर बल दिया है।

निष्कर्ष में हम यह कह सकते है कि शुल्ज द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत द्वारा पारंपरिक खेती के आधुनिक खेती में रूपांतरण और हरित क्रान्ति लाने में काफी सहायता मिली है। इस विश्लेषण को और भी उचित ढ़ंग से स्वीकार किया जा सकता है, क्योंकि इसमें कृषि को विकास का इंजन और आधुनिक आगतों को स्वीकार्य करने के लिए कहा गया है।

1.अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'ट्रांसफार्मेसन ऑफ ट्रेडिशनल एग्रीकल्चर' पुस्तक के लेखक कौन है?
   (i) आर्थर लुईस (ii) शुल्ज
   (iii) शुम्पीटर (iv) फाई–रेनिस
2. शून्य श्रम में अदृश्य बेरोजगारी की स्थिति क्या होती है?
   (i) नहीं होती है (ii) होती है
   (iii) उपर्युक्त दोनो (iv) उपर्युक्त में से कोई नही
3. बाजार प्रस्ताव किन प्रेरणाओं से निर्धारित होता है?
   (i) राजनैतिक प्रेरणाओं से (ii) सांस्कृतिक प्रेरणाओं से
   (iii) आर्थिक प्रेरणाओं से (iv) उपर्युक्त सभी
4. शुल्ज के अनुसार अल्पविकसित देशों में संसाधनों का आवंटन किस प्रकार का होता है?
   (i) कुशल (ii) अकुशल
   (iii) दोनों (iv) उपर्युक्त सभी
5. शुल्ज का कृषि विकास प्रारूप किसके रूपान्तरण की बात करता है–
   (i) परंपरागत कृषि (ii) आधुनिक कृषि
   (iii) समाजवादी कृषि (iv) उपर्युक्त सभी

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. परंपरागत कृषि अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. पारंपरिक कृषि की प्रमुख विशेषतायें बताइये।
3. शून्य श्रम को परिभाषित कीजिए।

4. परंपरागत कृषि एवं आधुनिक कृषि में अन्तर बताइयें।
5. शुल्ज के कृषि विकास प्रारूप में रूपान्तरण की प्रक्रिया को समझाइयें।

16.6 बोसरप का कृषि विकास प्रारूप

बहुत से अर्थशास्त्री जिन्होंने कृषि विकास की प्रक्रिया मे आने वाली समस्याओं की चर्चा की है उनमें बोसरप का स्थान प्रमुख है। बोसरप कृषि विकास के कारणों का विश्लेषण करते हुए कहते है कि कृषि का विकास एक प्रकार से दबाव के कारण होता है और यह दबाव है बढ़ती हुई जनसंख्या। उसके विचारानुसार जनसंख्या का दबाव ही कृषि विकास में परिवर्तन लाता है। कृषि ढांचे का तकनीकी विकास और कृषि समुदाय का समाजिक ढांचा जनसंख्या वृद्धि द्वारा प्रभावित होता है। इस कथन का समर्थन बोसरप ने दक्षिण अफ्रीका और लैटिन अमेरिका जैसे देशों में कृषि विकास का परीक्षण करके किया है।

आपको बोसरप के कृषि प्रारूप को समझने से पहले माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त को समझना होगा। इस सिद्धांत के अनुसार राजनीतिक तथा तकनीकी परिवर्तनों के कारण जब खाद्यान्न की पूर्ति में वृद्धि होगी तो जनसंख्या में भी वृद्धि होगी और जनसंख्या तथा पूर्ति में एक नया सन्तुलन स्थापित हो जायेगा। अन्य शब्दों में यदि जनसंख्या खाद्यान्न की मात्रा से कम है तो जनसंख्या में वृद्धि होगी तथा खाद्य पूर्ति की अधिकता समाप्त हो जायेगी। अन्य शब्दों में यदि जनसंख्या जीवन निर्वाह से अधिक है तो धनात्मक नियंत्रण के कारण जनसंख्या कम हो जाएगी और सन्तुलन कायम हो जाएगा।

16.6.1 बोसरप का दृष्टिकोण एवं माल्थस

बोसरप ने अपने कृषि विकास प्रारूप में माल्थस के जनसंख्या सिद्धान्त के दो दृष्टिकोणों से अलग मत दिये है–

i. माल्थस के साथ–साथ अन्य आर्थिक विश्लेषकों का मानना है कि अल्पविकसित देशों में दो विश्वयुद्धों के बाद जनसंख्या में जो वृद्धि हुई है, वह खाद्यान्न उत्पादन में परिवर्तन के कारण हुई है। परन्तु बोसरप का यह मानना है कि जनसंख्या में वृद्धि खाद्यान्न के उत्पादन में वृद्धि के कारण नहीं हुई है बल्कि चिकित्सा क्षेत्र में अविष्कार की वजह से हुई है जिसे एक स्वतन्त्र चर माना जाता है।

ii. माल्थस के अनुसार यदि जनसंख्या जीवन–निर्वाह से अधिक है तो धनात्मक नियन्त्रण के कारण जनसंख्या कम हो जायेगी और खाद्यान्न तथा जनसंख्या का सन्तुलन स्थापित हो जायेगा, सत्य है परन्तु बोसरप ने इसे अन्य ढंग से प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार जब कभी जनसंख्या का दबाव बढ़ता है तो जनसंख्या कम नहीं होती। परन्तु यह जनसंख्या का दबाव बहुत से तकनीकी तथा अन्य परिवर्तनों को जन्म देता है जिसकी वजह से कृषि का विकास होता है और खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाने के लिए अधिक आगतों का प्रयोग किया जाता है तो खाद्यान्न के उत्पादन को बढ़ाने के लिए अधिक आगतों का प्रयोग किया जाता है तो खाद्यान्न की पूर्ति बढ़ जाती है। विकास की

प्रारम्भिक अवस्था में यह में यह सत्य होता है कि जब कृषि उत्पादन को बढ़ाने में तीव्र वृद्धि होती है।

16.6.2. कृषि विकास प्रारूप की अवस्थाएं

भूमि प्रयोग के आधार पर बोसरप के कृषि विकास प्रारूप को पांच भागों में बांटा गया है–

i. जंगल ऊसर

ii. झाड़ी ऊसर

iii. अल्प अवधि ऊसर

iv. वार्षिक फसल खेती

v. बहुफललय खेती

i. जंगल ऊसर– बोसरप के अनुसार कृषि को अपनी प्रारम्भिक अवस्था में बहुत ही सरल प्रक्रिया की आवश्यकता होती है। केवल बीज और कुल्हाड़ी ही पूंजी के रूप में प्रयोग की जाती थी। इसको बोसरप ने जंगल ऊसर का नाम दिया है।

इस अवस्था में कृषि उत्पादन करने के लिए कम से कम श्रम तथा पूंजी की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में परिपक्व वनों को जला दिया जाता है, मिट्टी ढीली हो जाती है और राख से ढक जाती है। इसको छड़ी से भी खोदा जा सकता है। इस भूमि पर यदि किसी फसल को उगाना है तो खुरपी और हल की आवश्यकता नहीं होती। यह प्रक्रिया भूमि के विभिन्न हिस्सों पर बार–बार दोहराई जाती है। स्पष्ट है कि इस प्रकार की खेती के लिए और प्रति इकाई उत्पादन के लिए कम श्रम और पूंजी की जरूरत होती है।

इस अवस्था को जंगल ऊसर इसलिए कहा जाता है। क्योंकि इसके ऊपर जो परिपक्व जंगल थे उन्हे जला दिया जाता है और फिर उस भूमि पर एक दो वर्ष के लिए खेती करके छोड़ दिया जाता है और तब तक भूमि को खाली रखा जाता है जब तक दुबारा उसी भूमि पर परिपक्व वन तैयार न हो जाए और फिर उन वनों को जलाया जाए। इस प्रकार भूमि को दीर्घकाल तक खाली रखा जा सकता है जब तक किसी देश में जनसंख्या कम होती है और यह अवधि 25 वर्ष तक की हो सकती है।

ii. झाड़ी ऊसर– बोसरप के अनुसार अब हमें यह देखना है कि जब जनसंख्या बढ़ रही होती है और इसकी खाद्यान्नों के प्रति मांग परिपक्व जंगलों को जलाकर पूरी नहीं हो सकती तब क्या किया जाना चाहिए? जंगलों को परिपक्व अवस्था में पहुंचाने के लिए दीर्घकालीन समय की आवश्यकता होती है। स्पष्ट है कि इस अवस्था में समुदाय उन जंगलों को जलाने के लिए विवश हो जाता है जो कम परिपक्व है। जब कम परिपक्व जंगलों को बार–बार जलाया जाता है तो इस अवस्था को झाड़ी बंजर अवस्था कहा जाता है। यह वह अवस्था है जब वनों के बजाय झाड़ियों तथा छोटे पेड़ों को जलाया जाता है। जब झाड़ियों को जलाया जाता है तो कई प्रकार की जंगली घास जीवित रह जाती हैं। भूमि कठोर हो जाती है बजाय इसके वे ढ़ीली पड़े जैसे कि जंगल ऊसर के दौरान होता है। अब इस प्रकार की भूमि पर खेती करने के लिए छड़ी की अपेक्षा एक मजबूत यन्त्र जैसे कि खुरपी और अधिक श्रम की आवश्यकता होगी। यह इसलिए कि

घास को जलाना आसान नहीं होता। खुरपी से सारा घास नहीं निकाला जा सकता है इसीलिए अधिक श्रम की जरूरत पड़ती है। इस अवस्था में बंजर भूमि की अवधि 25 वर्ष से कम होकर 6 वर्ष रह जाती है।

बढ़ती हुयी जनसंख्या को अधिक खाद्यान्न की आवश्यकता होती है इसीलिए जंगलों की बजाय झाड़ियों को जलाना पड़ता है। इस प्रकार कृषि को जंगल ऊसर की अवस्था से झाड़ी ऊसर अवस्था में धकेलता है।

iii. अल्प अवधि ऊसर– जनसंख्या में और अधिक वृद्धि तथा खाद्यान्न के प्रति बढ़ती हुई मांग कृषि को अल्प अवधि ऊसर में धकेलती है। अब वह भूमि जो घास अन्तर्गत होती है उसका प्रयोग उसी रूप में करना पड़ता है। झाड़ी बंजर अवस्था में खुरपी एक महत्वपूर्ण यन्त्र था। यह सभी प्रकार की घास को नहीं हटा सकती। इस अवस्था में भूमि पर राख वाली खाद भी उपलब्ध नहीं होती क्योंकि जंगल में आग लगाने वाली प्रक्रिया भी धीमी पड़ चुकी होती है। गोबर, तालाब का कीचड़, कचरा आदि को खाद के रूप में प्रयोग किया जाता है। इसके लिए अधिक पूंजी और श्रम की जरूरत होती है। इस अवस्था को अल्पकालीन ऊसर अवस्था कहा जाता है। इस अवस्था में भूमि एक या दो वर्ष के लिए ऊसर रहती है। कुछ समय के पश्चात् कृषक दुबारा उस खेत पर कृषि करना आरम्भ कर देते हैं।

iv. वार्षिक फसल खेती– वास्तव मे इस अवस्था में भूमि ऊसर नहीं होती है। फिर भी एक फसल की कटाई एक साल और दूसरी फसल की बुआई अगले साल होती है इसमें कुछ महीनों का अन्तराल होता है। वास्तव में यह अन्तर वाली अवधि जो दो फसलों के बीच होती है इसका उपयोग घास और चारा उगाने के लिए किया जाता है।

v. बहुफसलीय खेती– यह भूमि प्रयोग की सबसे अधिक गहन विधि है। प्रत्येक वर्ष दो या दो से अधिक फसलें उगाई जाती है। इस प्रकार ऊसर अवधि नगण्य होती है। जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप चौथी और पांचवी अवस्था फिर अस्तित्व में आती है। इसमें न केवल अधिक पूंजी की आवश्यकता होती है बल्कि अधिक मात्रा में श्रम की खपत भी होती है। साधारण खाद के अतिरिक्त हरी खाद, कचरा तथा घरों का कूड़ा, नहरों का कीचड़ आदि अनिवार्य हो जाते हैं। बहुफसली खेती के लिए अधिक सिंचाई की आवश्यकता होती है।

ऊपर वर्णित अवस्थाओं में प्रति एकड़ खाद्यान्न उत्पन्न करने के लिए अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होती है। जैसे खाद्यान्न की आवश्यकता बढ़ती है और कृषि अल्प अवस्था में पहुंचती है तो बोझ उठाने वाले पशुओं जैसे बैल की जोड़ी की आवश्यकता पड़ती है। जब भूमि पर्याप्त मात्रा में होती है और खाद्यान्न के प्रति मांग कम होती है तो समुदाय इस प्रकार के पशुओं की अनदेखी करता है। परन्तु जब जनसंख्या का घनत्व बढ़ता है, कृषि क्रियाओं का आकार भी बढ़ जाता है और बोझ वाले पशुओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। अब उनको अच्छे घास और चारे की जरूरत होती है। इस प्रकार अब न केवल खाद्यान्न बल्कि चारें के लिए मांग बढ़ जाती है। अब और अधिक श्रमिकों की जरूरत होती है।

बोसरप के अनुसार कृषि का विकास जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप हुआ है और इस बात को सिद्ध करने के लिए उसने बहुत से देशों जैसे उत्तरी तथा दक्षिण अमेरिका, अफ्रीका तथा यूरोप के देशों के उदाहरण प्रस्तुत किए। कई और देशों के उदाहरण भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं, जहाँ पर जनसंख्या की कमी रोकने के लिए प्रवास बन्द किया गया और कई बार लोगों को शहरों से दुबारा गांव की ओर भेजा गया।

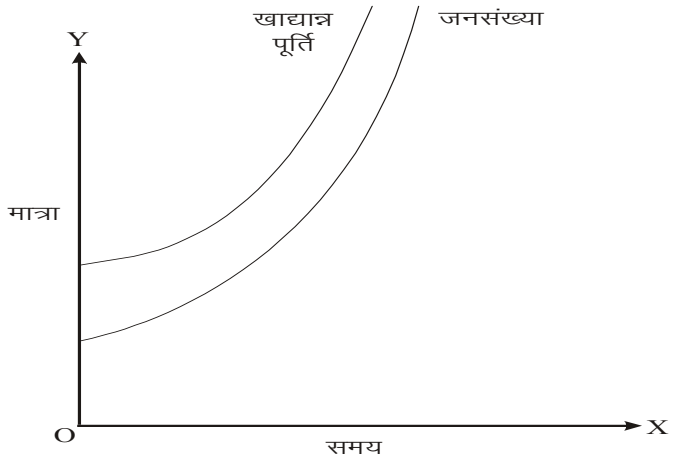

चित्र में X अक्ष पर समय तथा Y अक्ष पर मात्रा को दर्शाया गया है। बोसरप के अनुसार समय के साथ–साथ जैसे–जैसे जनसंख्या का आकार बढ़ता है वैसे–वैसे खाद्यान्न पूर्ति में वृद्धि हेतु कृषि क्रियाओं का आकार भी बढ़ता जाता है।

16.6.3. जनसंख्या वृद्धि एवं अन्य परिवर्तन

बोसरप ने जनसंख्या वृद्धि के फलस्वरूप कृषि विकास प्रारूप में परिवर्तनों के साथ–साथ अन्य परविर्तनों का भी उल्लेख किया है। यह परिवर्तन यन्त्रों से संबंधित है और उनके स्रोतों में भी परिवर्तन आता है। पहले जो कृषि यन्त्र घरों में बनाए जाते ये वे अब कारखानों में बनना प्रारम्भ हो जाते है।

दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन गांवों और शहरों को एक दूसरे के साथ जोड़ने से है। इसके लिए एक सुदृढ़ यातायात की सुविधा का प्रबन्ध करना होता है ताकि गांवों से शहरों को अनाज की पूर्ति हो सके। बोसरप का यह भी मानना है कि कृषि के विकास के लिए तकनीकी परिवर्तन अनिवार्य है और जनसंख्या वृद्धि खेती करने के ढंग में भी परिवर्तन करती है। खेती में परिवर्तन की वजह से सामाजिक जीवन में भी परिवर्तन आता है। अन्ततः यह भी कहा जा सकता है कि बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण निवेश में भी वृद्धि होती है और निवेश की मांग में जनसंख्या वृद्धि किसी भी प्रकार की बाधा नहीं डालती है।

16.6.4. बोसरप के कृषि विकास प्रारूप सिद्वांत की आलोचना

अन्य सिद्वांतो की भांति बोसरप का कृषि विकास प्रारूप सिद्वांत की भी कड़ी आलोचना की गई है। शुल्ज के अनुसार बोसरप का सिद्धांत सामान्यतः गलत है। यह तभी ठीक होसकता है यदि हम इसका परीक्षण आधुनिक अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं के संदर्भ में करें।

इसकी आलोचनायें निम्न प्रकार है–

(क) बोसरप के सिद्धांत का यह दोष है कि यह उन देशों की अर्थव्यवस्थाओं पर लागू नही होता जिन देशों की अर्थव्यवस्थाओं में शहरी औद्योगिक क्षेत्र कम विकसित होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा की अर्थव्यवस्था कम आबादी वाली होते हुए भी यह सिद्धांत लागू नही हो सकता।

(ख) बोसरप ने यह भी कहा है कि आधुनिक अल्पविकसित अर्थव्यवस्थाओं में बढ़ती हुई जनसंख्या कृषि क्षेत्र में ही समा जाती है परन्तु यह विचार संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी अर्थव्यवस्था में लागू होता है जहां जनसंख्या कम होती है। परन्तु अधिक जनसंख्या वाले एवं औद्योगिक दृष्टि से अविकसित देशों में यह सिद्धांत लागू नहीं होता है।

(ग) बोसरप के अनुसार जनसंख्या के बढ़ने से गहन कृषि की जाती है और जनसंख्या के कम होने से विस्तृत खेती की जाती है। दक्षिण पूर्व एशिया में जनसंख्या वृद्धि को कृषि क्षेत्र में नहीं खपाया जा सका है अर्थात् छिपी हुई बेरोजगारी की समस्या एक गंभीर समस्या बन गई है।

(घ) बोसरप ने बढ़ती हुई जनसंख्या के प्रतिकूल प्रभावों जैसे विखण्डन एवं उपविभाजन जैसी समस्याओं का उल्लेख नहीं किया है। छोटे खेतों पर मशीनों आदि का प्रयोग नहीं हो सका है अतः पूंजी निर्माण की दर भी कम ही रही है।

(ड.) बोसरप का सिद्धांत सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक है परन्तु इसकी व्यवाहारिक उपयोगिता बहुत ही कम है।

2. अभ्यास प्रश्न बहुविकल्पीय प्रश्न

1. बोसरप का कृषि विकास प्रारूप मे कृषि उत्पादन किससे प्रभावित है?
   (i) सेवाओं से (ii) जनसंख्या से
   (iii) शिक्षा से (iv) इनमें से कोई नही
2. जनसंख्या सिद्धान्त हेतु कौन–सा अर्थशास्त्री प्रसिद्ध है?
   (i) मार्शल (ii) कीन्स
   (iii) माल्थस (iv) रिकार्डो
3. बोसरप के कृषि विकास प्रारूप सिद्धान्त की कितनी अवस्थायें है?
   (i) दो (ii) तीन
   (iii) चार (iv) पाँच
4. बोसरप ने जंगल ऊसर अवस्था की समयावधि कितनी बतायी है?
   (i) 5 वर्ष (ii) 10 वर्ष
   (iii) 25 वर्ष (iv) इनमें से कोई नही
5. बहुफसलीय कृषि में एक वर्ष में कितनी फसलें उगायी जाती है?
   (i) एक (ii) दो से अधिक
   (iii) एक भी नही (iv) इनमें से कोई नही

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. बोसरप के कृषि विकास प्रारूप सिद्धान्त की अवस्थायें कौन–कौन सी है?
2. जंगल ऊसर तथा झाड़ी ऊसर अवस्थाओं में अन्तर बताइये।
3. बोसरप का दृष्टिकोण माल्थस के दृष्टिकोण से किस प्रकार भिन्न है?
4. वार्षिक फसल खेती तथा बहुफसलीय खेती में अन्तर बताइये।
5. अल्प अवधि ऊसर को समझाइए।

16.7 सारांश

इस इकाई में आपने शुल्ज के कृषि विकास प्रारूप के बारे में जानकारी प्राप्त की। शुल्ज ने परम्परागत कृषि पद्धति में बदलाव हेतु कृषि फार्म का आकार, कुशल कृषि कार्य, कृषकों को प्रोत्साहन आदि कारकों को महत्वपूर्ण माना है। परम्परागत साधनों के स्थान पर नवीन कृषि यन्त्रों के प्रयोग का समर्थन करते हुए शुल्ज कहते है कि इसका प्रयोग अल्पविकसित देशों की आवश्यकताओं के अनुरूप होना चाहिए। शुल्ज के अनुसार अल्पविकसित देशों के कृषक रूढ़िवादी परम्पराओं बंधे होते है जिसके कारण वह आधुनिक साधनों के प्रति संकोची प्रवृत्ति के होते है अतः कृषकों को नवीन साधनों के प्रयोग के लिए प्रशिक्षण की व्यवस्था, शिक्षा की व्यवस्था तथा नये साधनों के प्रयोग के सम्बन्ध में जागरूकता पैदा की जानी चाहिए।

आप शुल्ज के कृषि विकास प्रारूप को समझ गये होंगे कि यदि किसान परम्परागत तरीके से खेती करता है तो वह उत्पादन में अधिक वृद्धि नहीं कर पायेगा। इसके विपरीत यदि वह आधुनिक तरीकों से कृषि करता हैं तो वह अधिक उत्पादन प्राप्त करता है।

बोसरप ने अपने कृषि विकास प्रारूप में इस तथ्य का विश्लेषण किया हैं कि जनसंख्या के कम होने पर बिना तकनीकी वाली विस्तृत खेती की जाती हैं।क्योंकि खाद्यान्न की मांग की तुलना में भूमि की उपलब्धता अधिक है। जनसंख्या के बढने के साथ ही खाद्यान्न की मांग भी बढती जाती हैं। कृषि का स्वरूप बदलने लगता हैं। जनसंख्या के लगातार बढने से विस्तृत खेती की जगह गहन खेती ले लेती हैं जिसके साथ–साथ तकनीकी के स्तर में भी सुधार होता जाता हैं। कृषि की प्रगति औद्योगिक क्षेत्र की प्रगति का मार्ग भी प्रशस्त करती हैं जो सामाजिक परिवर्तनों का वाहक भी बनती हैं।

16.7 शब्दावली

दोहरी अर्थव्यवस्था–दो क्षेत्रों वाली अर्थव्यवस्था
अतिरेक–अतिरिक्त
पूँजी निर्माण–पूँजी का सृजन
निर्वाह मजदूरी–न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु प्राप्त होने आय
पूँजीवादी देश– पूँजी की अधिकता वाले देश
परम्परावादी कृषि– पुरानी विधियों पर आधारित कृषि
साधनों का आबंटन– संसाधनों को बांटना

शून्य श्रम– अदृश्य बेरोजगारी का अभाव
प्रत्याशित आय– आय प्राप्ति की संभावना

16.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

उत्तर– (i) शुल्ज (ii) नही होती है (iii) आर्थिक प्रेरणाओं से (iv) कुशल (v) परंपरागत कृषि

उत्तर– (i) शुल्ज (ii) नही होती है (iii) आर्थिक प्रेरणाओं से (iv) कुशल (v) परंपरागत कृषि

2. अभ्यास प्रश्न

बहुविकल्पीय प्रश्न

उत्तर– (i) जनसंख्या से (ii) माल्थस (iii) पाँच (iv) 25 वर्ष (v) दो से अधिक

16.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. झिंगन एम0एल, विकास का अर्थशास्त्र एवं आयोजन, कोणार्क पब्लिशर्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।
2. लाल एस0एन0 एवं एस0के0 लाल, आर्थिक विकास तथा आयोजन, शिव पब्लिशिंग हाऊस, इलाहाबाद।
3. गुप्ता पी0के0, कृषि अर्थशास्त्र, वृंदा पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, नई दिल्ली।

16.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. शुल्ज के कृषि विकास प्रारूप के सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
2. कृषि में श्रम की शून्य सीमान्त उत्पादकता पर शुल्ज के विचारों का उल्लेख कीजिए।
3. परंपरागत कृषि के रूपान्तरण में प्रमुख बाधायें कौन–कौन सी है? संक्षेप में समझाइए।
4. बोसरप के कृषि विकास प्रारूप सिद्धान्त की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
5. बोसरप के कृषि विकास प्रारूप सिद्धान्त की विभिन्न अवस्थाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
6. बोसरप के कृषि विकास प्रारूप सिद्धान्त की विभिन्न अवस्थाओं में अन्तर बताइये।

इकाई 17. कृषि मूल्य लागत और मूल्य में सम्बन्ध

इकाई संरचना

17.1 प्रस्तावना

17.2 उद्देश्य

17.3 कृषि मूल्य

17.4 कृषि मूल्य स्थिरीकरण

17.5 लागत और मूल्य में सम्बन्ध

17.6 सारांश

17.7 शब्दावली

17.8 अभ्यास प्रश्न

17.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

17.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

17.11 निबन्धात्मक प्रश्न

17.1 प्रस्तावना

कृषि मूल्य नीति और विपणन की यह 17वीं इकाई है। इससे पहले की इकाई में आप कृषि विकास के प्रारुप की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर चुके हैं।

प्रस्तुत इकाई में कृषि मूल्य, कृषि मूल्य में उतार–चढ़ाव तथा स्थिरीकरण की विस्तृत जानकारी के साथ कृषि लागत तथा मूल्य में सम्बन्ध की व्यवस्था की जायेगी।

इसके अध्ययन से आपको कृषि मूल्य के विभिन्न पहलुओं की जानकारी हो जायेंगी।

17.2 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- कृषि मूल्य के अर्थ को जान सकेगें।
- कृषि मूल्य में होने वाली उतार–चढ़ाव से परिचित हो जायेगें।
- कृषि मूल्य स्थिरीकरण को समझ सकेगें।
- कृषि लागत तथा मूल्य में सम्बन्ध को जान जायेगें।

17.3 कृषि मूल्य

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, कृषि मुख्य व्यवसाय है। कृषि की सफलता इससे प्राप्त होने वाले लाभ की मात्रा पर निर्भर करती है। कृषि व्यवसाय से प्राप्त लाभ की मात्रा कृषि उत्पादों की मात्रा तथा उनके बाजार मूल्य पर निर्भर करती है। कृषि मूल्य का प्रत्यक्ष प्रभाव उत्पादकों एवं उपभोकताओं दोनों पर पड़ता है। क्योंकि उत्पादन की मात्रा एवं उपभोग का स्तर कृषि पदार्थो की मूल्य स्थिति पर ही निर्भर करता है। अतः कृषि मूल्यों में थोड़ा सा भी परिवर्तन सम्पूर्ण आर्थिक संरचना को प्रभावित करता है।कृषि भूमि से जो भी कृषि उत्पाद पैदा होते हैं, उन सभी का कुछ न कुछ मूल्य होता है। यह मूल्य कृषि उत्पादों के पैदा किये जाने में व्यय की गई लागत के आधार पर निर्धारित किये जाते हैं। अतः लागत के अनुसार प्रत्येक कृषि उत्पाद का जो मूल्य निर्धारित किया जाता है, उसे ही 'कृषि मूल्य' कहते हैं। सामान्यतः कृषि उत्पादन में प्रयोग किये गये समस्त मानवीय एवं प्राकृतिक संसाधनों तथा उत्पादन लागत के बदले में बाजार में कृषि उत्पाद के स्तरानुकुल जो कीमत निर्धारित की जाती है, उसे 'कृषि मूल्य' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, कृषि उत्पादन में जितनी अधिक या कम मात्रा में बीज, उर्वरक व रासायनिक खादें, सिंचाई, कृषि यन्त्र, श्रम आदि लागतों का प्रयोग किया जाता है तथा तैयार फसल को बाजार में विक्रय हेतु लाने पर वह फसल स्तर, पैदावार एवं गुणवत्ता के आधार पर जिस मूल्य पर बाजार में बेची जाती है, उसे 'कृषि मूल्य' कहते हैं।

17.3.1 कृषि मूल्य को प्रभावित करने वाले कारक– वर्षा के बाद मूल्य परिवर्तन ही कृषक के सबसे बड़े शत्रु हैं। कृषि मूल्य में बार–बार परिवर्तन किसानों की आय को प्रभावित कर कृषि की सहज प्रगति में बाधा पहुंचाता है। कृषि मूल्य सदा स्थिर नहीं रहते, बल्कि कृषि मूल्य में समय–समय पर परिवर्तन होते रहते हैं। कृषि मूल्यों में कभी स्थायित्व नहीं रहता। कृषि मूल्यों के इस परिवर्तन अर्थात् उतार–चढ़ाव को कृषि मूल्य में उच्चावचन कह कर सम्बोधित किया जाता है। कृषि मूल्य में उच्चावचन अर्थात् परिवर्तन के कारण निम्न हैं–

(1) कृषि उत्पादन में कम बढ़ना – किसी कारणवश कृषि उत्पादन का कम होना अथवा बढ़ना कृषि मूल्यों को प्रभावित करता है। प्राकृतिक स्थितियाँ अनुकूल होने पर सामान्यतः कृषि उत्पादन में वृद्धि हो जाती है तो कृषि पदार्थो के मूल्यों में स्वतः ही गिरावट आ जाती है, किन्तु प्राकृतिक स्थितियाँ प्रतिकूल होने की स्थिति में कृषि पदार्थों के मूल्य अक्सर बढ़ जाते हैं, क्योंकि उत्पादन में गिरावट आ जाती है।

(2)माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन– कृषिगत उत्पादन की माँग एवं पूर्ति में परिवर्तन होने के कारण कृषि मूल्यों में भी परिवर्तन होना स्वभाविक है। कृषि उपज की माँग बढ़ने के दो कारण हो सकते है– (1) जनसंख्या में वृद्धि, (2) जनता की आय में वृद्धि। जनसंख्या में वृद्धि होने से खाद्यान्नों एवं खाद्य पदार्थो की माँग बढ़ जाती है तथा जनता की आय में वृद्धि होने से इन पदार्थो की माँग का प्रारुप बदल जाता है जबकि उपभोकताओं की रुचि, आदतें, भविष्य में मूल्य वृद्धि की सम्भावना का भय आदि माँग को बढ़ा देती है तथा प्राकृतिक प्रकोप, जमाखोरी उपज की पूर्ति घटा देती है। जिनका प्रभाव मूल्य पर पड़ता है।

(3). नयी फसल बाजार में आने का प्रभाव– जब देश में किसानों के पास नई फसल आने पर उसके भण्डारण की समुचित व्यवस्था नही होती तो समस्त प्रक्रियाओं से गुजरने के बाद नई फसल बिक्री के लिये बाजार में त्वरित आ जाती है। परिणामस्वरुप बाजार में कृषि पदार्थ की पूर्ति में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और मूल्य गिर जाते हैं। किन्तु जैसे ही कृषि पदार्थो का आना बाजार में कम होता जाता है, मूल्य पुनः बढ़ने लगते हैं।

(4). सरकार की साख–नीति– सरकार की साख नीति का भी कृषि मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। जब सरकार की साख नीति में स्थायित्व और कठोर नियन्त्रण रहता है तो कृषि पदार्थो के मूल्यों में स्वतः गिरावट आने लगती है। किन्तु इसके विपरीत स्थितियों में यदि सरकार साख नीति में किसी प्रकार की शिथिलता बरतती है अथवा साख नीति के विस्तार का अनुसरण करती है तो कृषि मूल्यों में वृद्धि होने लगती है। यदि सरकार द्वारा घाटे की वित्त व्यवस्था का अनुसरण किया जाता है तो इसका प्रभाव भी कृषि मूल्यों पर पड़ता है। मुद्रा पूर्ति की स्थिति भी कृषि मूल्यों को प्रभावित करती है।

(5). सामान्य मूल्य स्तर– जब देश में कृषि पदार्थो को छोड़कर जीवन के उपयोग में आने वाली अन्य उपभोक्ता वस्तुओं का मूल्य स्थिर रहता है, तो कृषि पदार्थो में भी वृद्धि नही होती। किन्तु जब सामान्य वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होने लगती है तो कृषि पदार्थो के मूल्यों में स्वतः वृद्धि की स्थिति बन जाती है। यदि सामान्य मूल्य स्तर में गिरावट की प्रवृत्ति होती है तो कृषि पदार्थो के मूल्य भी गिरने लगते हैं।

(6). भण्डारण का प्रभाव– जब देश के व्यापारी और किसान अपने पास कृषि भण्डारण की समुचित व्यवस्था रखते हैं तो उसका प्रभाव कृषि पदार्थो के मूल्यों पर स्वभाविक रुप से पड़ता है। सामान्यतः देश का व्यापारी और सम्पन्न किसान कृषि पदार्थो का भण्डारण इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये करते हैं कि देश में कृत्रिम अभाव की स्थिति बनते ही ऊँचे मूल्यों पर वे अपना माल बेचकर अधिकतम लाभ अर्जित कर सकें किन्तु सरकार द्वारा

छापा आदि मारने की क्रियाओं से भण्डारण की इस प्रवृत्ति पर अंकुश तो लगता ही है, किन्तु साथ ही कृषि पदार्थो के मूल्य भी गिरने लगते हैं।

(7). आयात निर्यात– आयात निर्यात की प्रवृत्तियाँ भी कृषि मूल्यों पर अपना प्रभाव डालती हैं। जब सरकार द्वारा किसी कृषि पदार्थ को निर्यात करने की पूर्ण स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाती है तो उस कृषि पदार्थ के मूल्य में स्वतः वृद्धि हो जाती है, क्योंकि उस कृषि पदार्थ की उपलब्धि देश में उपभोग के लिये अत्यधिक कम हो जाती है, किन्तु जब सरकार द्वारा किसी पर्दाथ का आयात करने का निर्णय ले लिया जाता है, तो कृषि पदार्थो के मूल्य स्वतः गिरने लगते हैं।

(8). सरकारी खर्च– सरकार द्वारा किए जाने वाले विभिन्न व्यय भी कृषि पदार्थो के मूल्यों को प्रभावित करते हैं। यदि सरकार द्वारा किए जाने वाले व्यय बढ़ते हैं तो उसका प्रभाव सामान्य मूल्य स्तर पर वृद्धि के रुप में पड़ता है और जब सामान्य मूल्य स्तर में वृद्धि होती है तो उसका प्रभाव कृषि पदार्थो के मूल्यों पर भी पड़ता है और उनमें वृद्धि होने लगती है। जब स्थिति इसके विपरीत होती है तो मूल्यों में गिरावट की प्रवृत्ति देखी जाती है।

(9). यातायात के साधन– यातायात एवं परिवहन के साधन भी कृषि पदार्थो के मूल्य को प्रभावित करते हैं। यदि देश के विभिन्न भागों में आवश्यक कृषि पदार्थो के भेजने की समूचित और सुविधाजनक स्थितियाँ बनी रहती हैं। तो कृषि पदार्थो के मूल्य में स्थिरता बनी रहती है, किन्तु यदि देश के किसी भाग में कृषि पदार्थ की उपलब्धता आवश्यकता अनुसार पर्याप्त मात्रा में नहीं हो पाती और परिवहन के साधनों द्वारा उस क्षेत्र में कृषि पदार्थ पहुँचाने में बाधा उपस्थित होती है तो कृषि पदार्थो के मूल्य बढ़ जाते हैं।

(10). प्राकृतिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारण– हमारे देश में कृषि आज भी प्रकृति पर ही निर्भर है। मौसम की दशाएँ कृषि उत्पादन को प्रतिवर्ष प्रभावित करती रहती हैं जिसका प्रभाव कृषि मूल्य पर पड़ना स्वभाविक है। इसी तरह मुद्रा प्रणाली के अवमूल्यन आदि से भी कृषि मूल्य प्रभावित होते हैं। किसी देश द्वारा दी जाने वाली सहारता, शत्रु देशों द्वारा किया जाने वाला आक्रमण आदि का प्रभाव भी कृषि वस्तुओं की कीमतों पर पड़ता है।

(11). अन्य कारण– कृषि वस्तुओं की कीमतों मे परिवर्तन लाने वाले उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त अन्य कारण जैसे– व्यापार चक्रों के प्रभाव, कृषि आगतों पर परिवहन साधनों के किराये में वृद्धि, पूँजीगत वस्तुओं में भारी विनियोग, औद्योगिक अशान्ति, खाद्यान्नों में सट्टेबाजी, जमाखोरी तथा काला–बाजारी की प्रवृत्ति, प्रशासनिक ढिलाई तथा भ्रष्टाचार भी कृषि पदार्थो के मूल्यों में परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं।

17.3.2 कृषि मूल्यों में उच्चावचन के परिणाम– कुषि पदार्थो के मूल्यों में होने वाले निरन्तर उतार–चढ़ाव का प्रभाव समाज के सभी वर्गो पर समान रुप से पड़ता है। अतः इन मूल्यों में स्थिरता बनाए रखने की अत्यिधिक आवश्यकता है। कृषि मूल्यों के बढ़ने का प्रभाव अग्रांकित रुप से पड़ता है–

(1). किसानों पर– कृषि पदार्थों के मूल्य बढ़ने का सर्वाधिक प्रभाव किसान पर पड़ता है। जब किसी पदार्थ के मूल्य में वृद्धि होती है, यदि कृषक आगामी फसल में भी उसी पदार्थ के उत्पादन को महत्व देता है तो उसका प्रभाव कृषक पर विपरीत रुप से पड़ता है, क्योंकि

उस उत्पादन वर्ष में पदार्थ की पूर्ति बढ़ जाने से मूल्यों में गिरावट आ जाती है। एक अन्य परिस्थिति में कृषक उन वस्तुओं का उत्पादन नहीं करता जिनकें मूल्यों में वह गिरावट की प्रवृत्ति देखता है, वरन् उन पदार्थों को पैदा करता है जिनका मूल्य उसे अधिक मिलना है, क्योंकि आगामी वर्ष उस पदार्थ की पूर्ति कम होने से उसका मूल्य बढ़ना स्वभाविक है। इस प्रकार कृषक एक फुटबाल की भांति उत्पादन के लिए लुढ़कता रहता है। कभी वह एक वस्तु का उत्पादन करता है तो कभी दूसरी वस्तु का उत्पादन करता है। इस प्रकार कृषक उत्पादन की दृष्टि से एक अनिश्चितता के वातावरण में बना रहता है।

(2). उपभोक्ता पर– कृषि पदार्थों के बढ़े मूल्य उपभोक्ता को भी अत्यधिक प्रभावित करते हैं। जब कृषि पदार्थों के मूल्यों में निरन्तर वृद्धि होती जाती है तो उपभोक्ता सर्वाधिक कठिनाई अनुभव करते हैं। कृषि पदार्थों के मूल्यों में होने वाले परिवर्तनों के फलस्वरुप उपभोक्ता अपने उपभोग व्यय को संतुलित नहीं रख पाता है।

(3). ऋणदात्री संस्थाओं पर प्रभाव– मूल्यों में गिरावट आने से किसानों की मोद्रिक आय में कमी होने लगती है, वे ऋण देने वाली संस्थाओं से लिये गये ऋण का भुगतान नहीं कर पाते हैं। खाद्यान्नों की विक्रय से जो आय उन्हें प्राप्त होती है वह उनके जीवन–यापन के लिए ही पर्याप्त नहीं हो पाती है। ऋणों की वसूली न होने से ऋण देने वाली संस्थाओं पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(4). औद्योगिक उत्पादन पर– देश के औद्योगिक उत्पादन को भी पदार्थों के मूल्यों में वृद्धि प्रभावित करती है। जब कृषि पदार्थों के मूल्य बढ़ते हैं तो उद्योगपतियों को अपने उत्पादों में वृद्धि करनी पड़ती है, परिणामस्वरुप इस मूल्य वृद्धि का प्रभाव औद्योगिक उत्पादन की माँग पर पड़ता है।

(5). विकास कार्यक्रमों पर प्रभाव– कृषि मूल्यों में परिवर्तन से देश के विकास कार्यक्रम भी प्रभावित होते हैं। कृषि–मूल्यों में अनिश्चितता होने के कारण सरकार की आय भी अनिश्चित बनी रहती है। परिणामस्वरुप सरकार निर्धारित योजना के अनुसार धन व्यय करने में सक्षम नही हो पाती जिससे योजना के निर्धारित लक्ष्य प्राप्ति में कठिनाई आती है।

(6). कृषि आय, बचत तथा विनियोग में अस्थिरता– कृषि मूल्यों में अधिक उतार–चढ़ाव का प्रभाव किसान वर्ग की आय पर पड़ता है, जिसके परिणामस्वरुप किसानों के उपयोग एवं जीवन–स्तर में स्थिरता आ जाती है, आय में कमी होने से बचत कम होती है और उसके परिणामस्वरुप विनियोग कम होता है।

(7). सरकार का प्रभाव– कृषि मूल्यों में गिरावट के कारण लोगों की आय में कमी आती है परिणामस्वरुप सरकार की करों के रुप में प्राप्त होने वाली आय अपेक्षाकृत कम मिलती है। ऐसी स्थिति में सरकार के सामने विकट परिस्थितियाँ जन्म लेती हैं क्योंकि आय के साधन कम हो जाने पर भी शासकीय कार्य चलाना पड़ता है।

(8). आयात–निर्यात नीति पर प्रभाव– कृषि पदार्थों के मूल्य में वृद्धि का प्रभाव देश की आयात–निर्यात व्यवस्था पर पड़ता है। जब कृषि पदार्थों के मूल्यों में अन्धाधुन्ध वृद्धि होने लगती है तो सरकार को मूल्यों पर नियन्त्रण करने के लिए कृषि पदार्थ विदेश से आयात करने पड़ते हैं। इसके विपरीत, जब उनके मूल्यों में गिरावट आ जाती है तो उनका निर्यात

किया जाने लगता है। इस प्रकार कृषि पदार्थों के मूल्यों में होने वाले उतार–चढ़ाव का प्रभाव देश की आयात–निर्यात नीति पर भी पड़ता है।

(9). जमाखोरी एवं कालाबाजारी को बढ़ावा– कृषि वस्तुओं के मूल्यों में होने वाले उतार–चढ़ाव से कालाबाजारी एवं जमाखोरी जैसे अपनाधों को बढ़ावा मिलता है। धनी व्यापारी मन्दी होने पर वस्तुओं का भण्डारण कर लेते हैं जिससे बाजार में उस खाद्य सामग्री एवं वस्तु की कमी हो जाती है। जब पुनः कीमतें बढ़ती हैं, तो बढ़े मूल्यों पर खाद्य सामग्री निकालकर बेचते हैं। इस तरह से जमाखोरी करने वाले व्यापारी अधिक लाभ कमाते हैं। इस कारण जब उनमें अधिक लाभ कमाने की प्रवृत्ति बढ़ जाती है तो वे कालाबाजारी तक को बढ़ावा देने से चूक नहीं करते हैं।

(10). अनैतिकता एवं अशान्ति को बढ़ावा– दैनिक जीवन में प्रयुक्त होने वाली आवश्यक वस्तुओं की कीमत बढ़ जाने से सीमित आय वाले नागरिकों का जीवन–यापन कठिन हो जाता है। जिससे देश में भुखमरी, चौरी–डकैती, लूट, भ्रष्टाचार, अशान्ति एवं अनैतिकता को बढ़ावा मिलता है। कृषि मूल्यों के अधिक बढ़ने एवं घटने से समाज में लोगों को अनैतिकता का शिकार होना पड़ता है जो कि अनेक कष्टों को जन्म देता है। इस प्रकार देश की सरकार एवं नागरिकों सभी के लिए यह मूल्य चिन्ता का एक व्यापक प्रश्न पैदा कर देती है जो कि हानिप्रद है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत में कृषि उत्पादों के मूल्यों में धीमी गति से होने वाली वृद्धि से उत्पादक कृषकों को तो लाभ होता है परन्तु कीमतों में हाने वाली तीव्र वृद्धि से देश की अर्थव्यवस्था विपरीत रुप से प्रभावित होती है।

17.4. कृषि मूल्य स्थिरीकरण

कृषि मूल्य स्थिरीकरण से आशय कृषि मूल्यों में अधिक परिवर्तन होने की प्रवृत्ति को कम करके या एक निश्चित सीमा के अन्दर नियन्त्रित करने से है। दूसरे शब्दों में, मूल्यों में होने वाली कमी अथवा वृद्धि का एक सीमा के अन्दर रखने की क्रिया को **'मूल्य स्थिरीकरण '** कहते हैं। **श्री आशोक मेहता** की अध्यक्षता में नियुक्त **'खाद्यान्न जाँच समीति'** ने मूल्य स्थिरीकरण की परिभाषा इस प्रकार दी है– "एक विकासशील देश की अर्थव्यवस्था की कठिनाइयाँ विभिन्न प्रकार की मूल्य असामताओं में प्रतिबिम्बित होती है। इन मूल्य असमानताओं को एक सीमा के भीतर रखना ही मूल्य स्थिरीकरण कहलाता है।" अतः कृषि की मूल्य स्थिरीकरण से अर्थ कृषि मूल्यों में होने वाले अत्यधिक उतार–चढ़ाव को कम अथवा मूल्यों को निर्धारित सीमा के अन्तर्गत नियमित करने से है, जिससे समाज के विभिन्न वर्गों के व्यक्तियों की मूल्यों के उतार–चढ़ाव से होने वाली हानि से रक्षा की जा सकें।

कृषि उपजों के मूल्यों में निरन्तर परिवर्तन से किसानों को सदैव हानि का भय बना रहता है। मूल्यों में अनिश्चितता के कारण अक्सर किसान भूमि के स्थायी विकास और कृषि सुधार पर दीर्घकालिक पूँजी लगाने से डरते हैं क्योंकि उस पूँजी का उचित प्रतिफल मिलने की कोई निश्चितता नहीं होती। इससे कृषि मूल्यों में स्थिरता कायम करने से किसान कृषि कार्यक्रमों पर अधिक पूँजी लगा सकेंगे और उन्हें कृषि उत्पादन बढ़ाने में प्रोत्साहन मिलता

है। कृषि पर नीति निर्धारण समिति की मूल्य उपसमिति के एक प्रतिवेदन के अनुसार, "न्यूनतम मूल्य की गारण्टी देने से कृषि में न केवल स्थायित्व की भावना का विकास होगा, बल्कि इससे जीवन के अन्य क्षेत्रों में स्थायित्व बढ़ेगा।"

17.4.1. कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण अथ्वा स्थायीकरण के उद्देश्य–

मूल्य स्थिरीकरण अथवा स्थायीकरण के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

(1). किसानों के हितों की रक्षा– कृषि मूल्यों के स्थिरीकरण का प्रमुख उद्देश्य किसानों के हितो की रक्षा करना है। मूल्यों में परिवर्तन के कारण सर्वाधिक क्षति कृषकों को होती है। स्थिरिकरण से किसान को उसकी उपज का उचित मूल्य प्राप्त होता है तथा भविष्य के लिए कृषि उत्पादन योजना बनाने में सुविधा मिलती है।

(2). उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा– मूल्य परिवर्तन का प्रभाव किसानों के बाद उपभोक्ताओं पर अधिक पड़ता है। मूल्य वृद्धि होने से उपभोक्ताओं के बजट असन्तुलित हो जाते हैं। अतः मूल्य स्थायीकरण से उपभोक्ताओं को सन्तुलित बजट बनाने में सहयोग प्राप्त होता है, साथ ही उन्हें उचित मूल्य पर खाद्यान्नों की उपलब्धि भी हो जाती है।

(3). कृषि मूल्यों के मौसमी परिवर्तन को कम करना–फसल काटने के तुरन्त बाद किसान को अपना उत्पादन न्यूनतम मूल्य पर बेचना पड़ता है तथा शेष महीनों में उपभोक्ता को अधिक मूल्य पर कृषि उपजों को खरीदना पड़ता है। परिणामस्वरुप दोनों का शोषण हाता है। कृषि मूल्य के सामयिक परिवर्तन में कमी होने से उपभोक्ता एवं उत्पादक दोनों को लाभ मिल सकता है।

(4). औद्योगिक उत्पादन के मूल्यों में स्थिरता– कृषि मूल्यों के स्थायीकरण से औद्योगिक उत्पादन के मूल्यों में स्थिरता बनाए रखने में सहयोग मिलता है। इससे औद्योगिक शान्ति बनी रहती है एवं उत्पादन पूर्व योजना के अनुसार निरन्तर चलता रहता है।

(5). उत्पादक एवं उपभोक्ता के हितों में सन्तुलन बनाये रखना–उत्पादक का हित अधिक मूल्य पर वस्तु की बिक्री करना तथा उपभोक्ता का हित कम–से–कम मूल्य पर वस्तु को खरीदने में है। इन पारस्परिक विरोधी हितों में सन्तुलन स्थापित करना आवश्यक है जिससे कि दोनों पक्षों को उचित लाभ मिल सके। यह मूल्य स्थिरीकरण से ही सम्भव है।

(6). सरकार को लाभ– मूल्य स्थायीकरण द्वारा सरकार की अनेक समस्याओं का समाधान हो जाता है। मूल्यों में परिवर्तन के कारण सरकार को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, जैसे– आयात–निर्यात, मूल्य नियन्त्रण, राशनिंग, ओद्योगिक अशान्ति आदि। इन कठिनाइयों के हल के लिए सरकार को मूल्य स्थायीकरण से लाभ होता है।

(7).कृषि के आय–व्यय कारकों में मूल्य सन्तुलन बनाये रखना– कृषि में प्रयुक्त कारकों की लागत का प्रभाव किसानों की आय पर पड़ता है। व्यय कारकों के मूल्य में वृद्धि कृषि उत्पादन के मूल्य में वृद्धि की अपेक्षा अधिक है तो कृषक की कृषि को हानि होगी। अतः कृषि में नियोजित वृद्धि के लिए कृषि के साथ–साथ आय–व्यय कारकों के मूल्य में सन्तुलन आवश्यक है।

(8). खाद्यान्न एवं गैर–खद्यान्न तथा कृषि एवं औद्योगिक वस्तुओं के मूल्यों में समन्वय स्थापित करना– कृषि क्षेत्र के समन्वित विकास के लिए खाद्य, अखाद्य एवं औद्योगिक उत्पादनों के मूल्यों में सम्बन्ध स्थापित होना आवश्यक है।

(9). उत्पादन को कायम करना– उत्पादन स्तर को बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि मूल्य स्तर उत्पादन मूलक हो। उत्पादन वृद्धि से ही मुद्रा स्फीति को न्यूनतम रखा जा सकता है। इसके लिए कृषि उत्पादन मूल्यों को कृषकों के हित में होना चाहिये जिससे कृषकों के जीवन–स्तर में सुधार हो सकें।

17.4.2. कृषि मूल्य स्थिरीकरण के लाभ–भारत एक विकासशील देश है। इसलिए देश की सम्पन्नता किसानों की सम्पन्नता पर निर्भर करती है और किसानों की सम्पन्नता बहुत कुछ कृषि उत्पादन पर निर्भर करती है। इस कारण कृषि मूल्यों में स्थितिकरण आवश्यक है। **सहकारी योजना समिति के अनूसार,** "सरकार को मूल्यों को एक ऐसी सीमा के भीतर स्थिर रखने की नीति अपनानी चाहिए जो उत्पादकों और उपभोक्ताओं दोनों के लिए उचित हो।" यदि ऐसा किया जाये तो मन्दी का आगमन रुक सकेगा एवं अर्थव्यवस्था में स्थिरता आयेगी।

कृषि मूल्य स्थिरीकरण से होने वाले लाभ निम्नलिखित हैं:

(1). किसानों को लाभ– कृषक को उचित मूल्य मिलने की गारण्टी होने से वह कृषि में सुधार की अपनी योजना बनाकर उसे सही ढंग से लागू कर सकता है जिससे वह अपनी आय अथवा जीवन–स्तर को ऊँचा उठा सकता है। मूल्य स्थायित्व से किसान अपनी खेती में बोई जाने वाली विभिन्न फसलों का उचित ढंग से नियोजन कर सकता है। तथा नई एवं बंजर भूमि को प्रयोग में लाया जा सकता है। साथ ही इसके द्वारा कृषकों की आय को स्थायी रखने में कृषि कार्य में कृषकों का उत्साह बढ़ेगा। इससे कृषि उत्पादन में वृद्धि होगी।

(2). उपभोक्ता को लाभ– मूल्य स्थिरीकरण से उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ प्राप्त हो सकेंगे जिससे वे अपना पारिवारिक बजट सन्तुलित कर जीवन–स्तर को ऊँचा उठा सकते हैं और आधिकांश जनसंख्या की औद्योगिक उत्पादन सम्बन्धी माँग सुनिश्चित होने के कारण मन्दी एवं तेजी के आगमन पर रोक लग जाती है।

(3). राष्ट्र को लाभ– कृषि विकास से राष्ट्रीय आय मे वृद्धि होगी तथा देश को अधिक विकास का सुदृढ़ आधार मिल सकेगा। कृषि मूल्यों में स्थिरता रहने से निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है।

17.4.3. कृषि मूल्य स्थिरीकरण के सरकार द्वारा किये गये उपाय– कृषि मूल्यों में स्थिरीकरण के लिए सरकार द्वारा बराबर प्रयास जारी है। इस सम्बन्ध में सरकार की नीति के दो उद्देश्य रहें हैं:

(1) किसानों को अधिक उत्पादन के लिए प्रेरित करना ।

(2) उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर कृषि पदार्थ उपलब्ध कराना।

कृषि मूल्य स्थिरीकरण के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयासों का विवरण निम्नवत् है:

(1). कृषि उत्पादन में वृद्धि– भारत सरकार ने कृषि मूल्यों में स्थिरता लाने के लिए कृषि उत्पादन मे वृद्धि के लिए बहुत प्रयत्न किया है। पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान भूमि सुधार कार्यक्रम को प्रभावशाली ढंग से लागू किया गया है, सरकारी फार्मो में आधुनिक बीजों का उत्पादन कर कृषकों को वैज्ञानिक तरीके से खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया गया है, सिंचाई सुविधाओं में पर्याप्त वृद्धि की गई है। इसी का परिणाम है कि स्वतन्त्रता के बाद खाद्यान्न उत्पादन की वृद्धि में सरकार को पर्याप्त सफलता मिली है।

(2) सरकारी खरीद – मूल्यों को स्थिर रखने के उद्देश्य से सरकार ने खाद्यान्नों की सरकारी खरीद प्रारम्भ की है। इसके द्वारा देश में बफर स्टाक बनाया गया है। एवं राशनिंग के माध्यम से उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध कराया जाता है ।

(3)खाद्यान्न वस्तुओं पर नियन्त्रण – सरकार कुछ विशेष परिस्थितियों में कुछ वस्तुओं को अपने हाथ में लेकर, कीमतों को लागू कर उनके वितरण की व्यवस्था करती है। कृषि के व्यापार का सरकारीकरण, राशन द्वारा वस्तुओं का वितरण, निर्धारित मात्रा के ऊपर वस्तुओं के रखने पर रोक, पूर्व निर्धारित कीमतों पर किसानों से वसूली आदि उपर्युक्त कार्यक्रम के अन्तर्गत आते है।

(4) उचित मूल्य की दुकानें –शासन ने उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर खाद्यान्न उपलब्ध कराने के उद्देश्य से बड़ी मात्रा में उचित मूल्य की दुकानों की व्यवस्था की है। इन दुकानों की संख्या लगभग 3 लाख है जो 47 करोड़ जनसंख्या के क्षेत्र की पूर्ति करती है।

(5) अधिकतम व न्यूनतम कीमतों का निर्धारण – अधिकतम और न्यूतम कीमतें निर्धारित करने का आशय यह है कि कीमतें को न निर्धारित ऊपर सीमा से आगे बढ़ने दिया जाये और न न्यूनतम सीमा से नीचे गिरने दिया जाये । इस प्रकार कीमतों की ऊपरी सीमा से उपभोक्ताओं के हितों का रक्षा होगी तथा न्यूनतम सीमा से उत्पादकों के हितों के अधिकतम व न्यूनतम सीमा का निर्धारण सरकार द्वारा किया जाता है।

(6) साख – नियन्त्रण – मूल्यों के उतार – चढाव को रोकने के लिए सरकार ने साख का विस्तार एवंम संकुचन करके मूल्य स्थायीकरण के लिए महत्वपूर्ण कदम उठाया है। रिजर्व बैंक मूल्य बढ़ने पर साख नियन्त्रण करती हैं एवं मूल्य गिरने पर साख का विस्तार करती है। जिससे मूल्यों में स्थायित्व बना रहता है।

(7) भारतीय खाद्य निगम की स्थापना – केन्द्रीय सरकार ने जनवरी , 1965 में , भारतीय खाद्य निगम को स्थापना की है। यह निगम खाद्यान्नों की खरीद करके उचित मूल्य की दुकानों के माध्यम से खाद्यान्नों का वितरण करता , है। जिससे कृषि मूल्यों में स्थिति बनी रहती है।

(8) कृषि मूल्य आयोग का गठन – सरकारक को खाद्यान्नों की खरीद के लिए मूल्य निर्धारित करने एवं विक्रय मूल्य से सम्बन्धित परामर्श देने के लिए 1 जनवरी , 1965 को ' **कृषि मूल्य आयोग'** का गठन किया गया है। प्रतिवर्ष आयोग विभिन्न कृषि उपजों के

न्यूनतम एवं अधिकतम मूल्यों के सम्बन्ध में सरकार को परार्मश देता है। जिसके आधार पर ही सरकार समर्थन मूल्यों की घोषण करती है।

(9) न्यूनतम एवं अधिकतम मूल्यों की घोषण – सरकार कृषि उपजों मूल्यों में गिरावट को रोकने के उद्देश्य से प्रत्येक वर्ष न्यूनतम मूल्यों की घोषण करती है। इस समर्थन मूल्य से भी उपज का मूल्य नीचे गिरता है तो सरकार समर्थन मूल्य पर खरीद प्रारम्भ कर देती हें जिससे कि कृषकों को हानि न उठाना पड़े। इसी प्रकार यादि उपज की मूल्य बाजार मैं अधिक बढ़ने लगता है तो सरकार उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से अधिकतम मूल्य निर्धारित कर देती है। इस मूल्य से अधिक मूल्य कोई व्यापारी वसूल करता है तो उसके विरूद्ध वैधानिक कार्यवाही की जाती है।

(10) खाद्यान्नों का आयात – सरकार ने खाद्यान्नों की कमी को आयात करके पूरा किया है। ताकि उसके मूल्यों में अत्यधिक वृद्धि को रोका जा सके।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि कृषि मूल्यों में स्थायीकरण के लिए सरकार ने अनेक कदम उठाए है। इन्हीं के फलस्वरूप खाद्यान्नों के मूल्यों में सामान्य स्तर की तुलना में अधिक वृद्धि नहीं हो सकी है।

17.5. कृषि लागत और मूल्य में सम्बन्ध

आर्थिक विकास के प्रारम्भिक चरणों में पहले–पहल कृषि मूल्यों के प्रति नकारात्मक नीति अपनाई गयी थी। उस समय इन नीति के अन्तर्गत कृषि उत्पादों के मूल्यों को निर्धारित करने के लिये , कोई विशेष आधार नहीं बनाया गया था। जब कृषि से सम्बन्धित सकारात्मक मूल्य नीति ने नकारात्मक मूल्य नीति का स्थान लिया, तो सरकार के लिए यह सुनिश्चित करना आवश्यक हो गया कि मूल्यों को किस स्तर पर निर्धारित किया जाये, कि वे किसानों को अधिकतम् उत्पादन करने के लिए प्रोत्साहित करे । न्यूनतम समर्थन मूल्यों को निर्धारित करने के लिए कई प्रकार के सिद्धन्त सुझाए गये।

प्रत्येक विधि की अपनी सीमाएँ होती है, साथ ही इनके गुण भी अलग–अलग होते है। इन विधियों का चयन मुख्य रूप से मूल्य निर्धारण करने के उद्देश्य तथा आवश्यक ऑकड़ो की उपलब्धता एवं इन पर होने वाले खर्च आदि बातों पर निर्भर करता है। कृषि मूल्य निर्धारण में मूलतः तीन विधियों का प्रयोग किया जाता है।

17.5.1 समानता मूल्य विधि (Parce Formula),

17.5.2 अग्रिम मूल्य विधि (Forward Price Formula),

17.5.3 उत्पादन लागत विधि (Cost of Production Method)

17.5. 1 समानता मूल्य विधि– समानता मूल्य का अर्थ उस मूल्य से लगया जाता है जो किसी वस्तु की एक इकाई को वही क्रय शक्ति प्रदान करता है जो कि आधार वर्ष में प्रात की जाती थी। कृषि मूल्य निर्धारण की यह विधि उपयुक्त मानी जाती हैं क्योंकि इसमें खाद्य तथा अखाद्य दोंनों प्रकार को वस्तुओं के सापेक्षिक मूल्यों को प्रयोग में लाया जाता है। इस विधि में मूल रूप तीन बातों पर विशेष ध्यान देना पड़ता हैः

(1) प्रत्येक वस्तु का अलग – अलग आधार वर्ग,

(2) प्रत्येक वस्तु का मूल्य सूचकांक, तथा

(3) प्रत्येक वस्तु का समानता मूल्य।

इस विधि की गणना में आधार वर्ष के विक्रय मूल्य को वर्तमान क्रय मूल्य सूचकांक से गुण करते है। तथा गुणनफल को आधार वर्ष के क्रय मूल्य से भाग दे देते है। जो भगफल आता है वही समानता मूल्य होता है। इसे निम्नांकित सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

समता मूल्य = आधार का विक्रय/आधार वर्ष का क्रय मूल्य

इस विधि का प्रयोग अमेरिका में प्रचलित है। भारत में यह विधि प्रयोग में नहीं लायी जाती है।

17.5.2 अग्रिम मूल्य विधि– इस विधि में कृषिगत उत्पादन का मूल्य फसल बोने से पूर्व घोषित कर दिया जाता है। जिससे किसान अपनी उत्पादन योजना कृषि मूल्य के आधारं पर निश्चित कर सके। इस विधि का प्रयोग अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में अधिकतर किया जाता हैं । भारत में इस विधि को लागू करने में निम्नालिखित कठिनायों का सामना करना पड़ता हैः

(1) इस विधि में मूल्य निर्धारित करते समय देश एवं विदेशों की मॉग एवं पूर्ति तथा भविष्य की सम्भावनाओं का ध्यान में रखना पड़ता है।

(2) इन सम्भावित ऑकड़ों की अनुपलब्धता तथा योग्य व्यक्तियों की कमी के कारण यह विधि हमारे देश के लिए अव्यवहारिक हैं

17.5.3 उत्पादन लागत विधि – इस विधि में कृषि में कृषि मूल्य का निर्धारण उत्पान लागत के आधार पर किया जाता हैं फसल की कुल उत्पादन लागत में मानव, श्रम, उपकरण, पशु श्रम, बीज का खर्च, खाद एवं उर्वरक, सिंचाई पर व्यय, फसल सुरक्षा व्यय, भूमि रेनटल वैल्यू तथा उपरिव्यय आदि व्यय, कारकों को सम्मिलित किया जाता है। प्रति कुन्तल उत्पादन व्यय निकालने के लिए अग्रांकित सूत्र का प्रयोग किया जाता है।

प्रति कुन्तल उत्पादन व्यय = (फसल पर कुल व्यय X वस्तु का विक्रय मूल्य प्रति कुन्तल)/फसल से कुल आय

कृषि उत्पादों के न्यूनतम मूल्यों को निर्धारित करने के लिए या तो वास्तविक औसत उत्पादन लागत को आधार बनाया जा सकता हैं और या फिर ऐच्छित पूर्ति के लिए उत्पादित , अन्तिय इकाई की उत्पादन लागत कों, कई बार उत्पादन लागत वास्तविक खर्च की बजाय कृषि वैज्ञानिकों द्वारा साधनों की सुझाई गई मात्रा तथा उनसे होने वाले फसल के अपेक्षित उत्पादन की मात्रा के आधार पर निश्चित की जाती है।

इस सिद्धान्त के अनुसार मूल्यों को निर्धारित करने का मुख्य लाभ यह है। कि मूल्यों में असाधरण गिरावट की अवस्था में एक उत्पादक प्रत्येक प्रकार की हानि से बच जाता है। परन्तु उत्पादन लागत की गणना में कई प्रकार की बाधायें आती है। पारिवारिक श्रम का कैसे मूल्यांकन किया जाये, घरेलू स्त्रोत से लगाये उत्पादन साधनों का कैसे मूल्य लगया जाये तथा एक विशेष फसल के लिए प्रबन्धकीय लागत कितनी होनी चाहिए, इन प्रश्नों के

उत्तर देनें आसान नहीं हैं, उत्पादन लागत के सिद्धान्त को अपनाने में एक बड़ी कठिनाई है, भूमि के योगदान की लागत। इसका अनुमान लगाना काफी कठिन है। फिर उत्पादन प्रक्रिया में कुछ लागतें ऐसी होती हैं जो कि सभी फसलों के उत्पादन के लिए संयुक्त रुप से लगाई जाती है। उनका प्रत्येक फसल के लिए अलग–अलग से बांटने का कोई सन्तोषजनक ढंग नहीं है।

इसके अतिरिक्त औसत लागत की धारणा, स्वयं भी एक प्रकार से भ्रान्तिपूर्ण है। भूमि की गुणवत्ता तथा जलवायु की दृष्टि से देश कई खण्डों में बटा होता है तथा एक ही खण्ड में भिन्न–भिन्न खेतों पर, खेती की विभिन्न प्रक्रियाएं अपनाई जाती हैं। इस अवस्था में उत्पादों की प्रति इकाई औसत लागत, उत्पादों के न्यूनतम समर्थन मूल्यों के निर्धारण का ठीक मापदण्ड नहीं बन सकती। ये मूल्य, प्रत्येक खण्ड के प्रत्येक खेत पर लगने वाली लागत को पूरा नहीं कर सकते।

फिर उत्पादन बढ़ाने के लिए अपनाई मूल्य नीति औसत लागत पर आधारित नहीं की जा सकती है। ऐसी अवस्था में एक उत्पादक औपचारिक औसत लागत के स्थान पर सीमान्त लागत तथा सीमान्त प्रतिफल की धारणओं के प्रयोग को अधिक महत्व देगा। उत्पादन की वास्तविक लागत कृषि उत्पादों के मूल्यों के निर्धारित करने में कोई भी भूमिका नहीं निभा सकती, क्योंकि उत्पादन की वास्तविक कुल लागत का पता तो केवल उत्पादों के बिक्री के लिए बाजार में पहुंचने पर ही लगेगा, परन्तु फसलों के न्यून्तम मूल्य तो फसल की बुआई से पहले घोषित कर दिये जाते हैं। इसलिए उत्पादन लागत जिसके आधार पर मूल्य निर्धारित किये जाते हैं वह वास्तव में अनुमानित उत्पादन लागत होती है न कि वास्तविक उत्पादन लागत।

भारत में मूल्य निर्धारित करने में अनुमानित उत्पादन लागत विधि का प्रयोग किया जाता है। भारत के कृषि मूल्य आयोग ने भी इस विधि को स्वीकार किया है। इस विधि में फसलों का मूल्य उसके उत्पादन व्यय के आधार पर ज्ञात किया जाता है जिससे किसानों को उत्पादन में प्रोत्साहन मिलता है। यदि वस्तु की उत्पादन लागत में बढ़ोतरी होती है तो उसी अनुपात में वस्तु का मूल्य भी निर्धारित किया जाता है जिससे कि किसानों को कृषि अनिश्चितता तथा जोखिम का लाभ भी मिल सके।

कृषि उपज का मूल्य निर्धारित करते समय विभिन्न क्षेत्रों की परिस्थितियों को भी ध्यान में रखा जाता है क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में फसलों का उत्पादन स्तर, विपणन एवं यातायात व्यय आदि भिन्न–भिन्न होते हैं।

भारत में कृषि लागत तथा मूल्य आयोग भी अनुमानित लागतों कें आधार पर ही न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारित करता है। भारत की दो मुख्य फसलों गेंहू तथा चावल के लिए अनुमानित C_2 लागत प्रति क्विंटल तथा न्यूनतम समर्थन मूल्य का प्रदर्शन तालिका (17.1) में किया गया है।

तलिका (17.1) 1999–2000 से 2009–10 तक के लिए गेंहूँ तथा चावल की अनुमानित लागत तथा न्यूनतम समर्थन मूल्य

वर्ष	चावल			गेहूँ		
	अनुमानित C_2लागत /क्विंटल (रुपये में)	न्यूनतम समर्थन मूल्य (रुपये)	लागत के ऊपर न्यूनतम समर्थन मूल्य(प्रतिशत में)	अनुमानित C_2 लागत/ क्विंटल (रुपये में	न्यूनतम समर्थन मूल्य (रुपये में)	लगत के ऊपर न्यूनतम समर्थन मूल्य(प्रतिशत में)
1999–2000	400.6	520	29.8	415.9	550	32.2
2000–2001	429.3	540	25.8	448.7	580	29.3
2001–2002	471.7	560	18.7	478.9	610	27.3
2002–2003	505.2	560	10.9	483.3	620	28.2
2004–2005	530.9	590	11.1	515.6	640	24.1
2006–2007	569.5	650	14.1	573.6	850	48.2
2007–2008	595.0	775	30.3	624.5	1000	60.1
2008–2009	619.0	930	50.2	648.6	1080	66.5
2009–2010	644.9	1030	59.2	741.0	1100	48.4

स्रोत – CACP की विभिन्न रिपोर्ट

जिसमें लागत के ऊपर न्यूनतम समर्थन मूल्य का प्रतिशत भी दर्शाया गया है जिससे पता चलता है कि चावल का समर्थन मूल्य लागत की तुलना में ज्यादा तो रहा परन्तु उसमें उतार–चढ़ाव देखा गया है। जबकि गेहूँ में यह उतार–चढ़ाव चावल की तुलना में कम था। 1999–2000 में चावल का न्यूनतम समर्थन मूल्य लागत से 30 प्रतिशत तथा गेहूँ का 32 प्रतिशत था जबकि यह 2002–03 में कम हो गया परन्तु 2009–10 में यह बढ़कर चावल के लिए 60 प्रतिशत के लगभग हो गया जबकि गेहूँ का न्यूनतम समर्थन मूल्य 2007–08 में लागत से 60 प्रतिशत तथा 2008–09 में 66.5 प्रतिशत अधिक था। लेकिन 2009–10 में वर्ष गेहूँ का न्यूनतम समर्थक मूल्य लागत की मात्र 48 प्रतिशत अधिक रहा जबकि चावल का 60 प्रतिशत अधिक रहा।

वर्ष 1981–82 से 2007–08 के लिए धान तथा गेहूँ की C_2 खेती की लागत प्रति हेक्टेयर तथा C_2 उत्पादन की लागत प्रति क्विंटल की जांच की गई। जिससे बाद यह बहस का मूद्दा बन गया कि चावल के लिए भी गेहूँ के बराबर न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारित किया जाना चाहिए क्योंकि दोनों फसलों की लागत में समानता है। इस मूद्दे को चावल तथा गेहूँ के लागत अनुपान द्वारा देखा जा सकता है। गेहूँ तथा चावल के प्रति इकाई कुल लागत (जिसमें भूमि, श्रम तथा पूँजी रोपित लागत) को तालिका (17.2) में दर्शाया गया है कि 1994–05 के बाद स्थिति बदल गई जब चावल की प्रति इकाई उत्पादन लागत गेहूँ से

अधिक हो गई। वर्ष 1999–2000 के बाद भी चावल की प्रति इकाई उत्पादन लागत गेहूँ से अधिक थी।

प्रारम्भ में चावल की उत्पादन लागत गेहूँ से कम है क्योंकि चावल के लिए श्रम तथा पूँजी की रोपित लागत गेहँ की तुलना में कम है। तालिका (17.2) से पता चलता है कि 1981–82 में चावल की उत्पादन लागत गेहूँ से कम थी जबकि 1994–95 में यह स्थिति बदल गई और चावल की लागत गेहूँ से अधिक हो गई, इसके बाद चावल तथा गेहूँ की उत्पादन तथा खेती की लागत लगभग बराबर हो गई।

तालिका (17.2)भारत में विभिन्न वर्षो में गेहूँ तथा चावल की विभिन्न लागतें

वर्ष	चावल		गेहूँ		चावल की लागत का गेहूँ की लागत में अनुपात	
	COP	**COC**	**COP**	**COC**	**COP**	**COC**
1981–82	99	2892	122	3260	81	89
1990–91	185	6526	197	6872	94	95
1994–95	279	11212	294	10990	95	102
1996–97	338	12651	361	13760	94	92
1998–99	398	15495	383	14316	104	108
1999–00	442	16978	415	16459	106	103
2000–01	448	17365	450	1713	99	101
2001–02	469	18665	466	17279	101	108
2004–05	529	20670	537	19810	98	104
2005–06	529	21182	592	21847	89	97
2006–07	546	22059	586	23847	93	93

COP– उत्पादन की लागत प्रति हेक्टेयर COC–खेती की लागत प्रति क्विंटल

स्वतन्त्रता के पश्चात् नियोजन काल में भी कृषि मूल्य स्थिर नहीं रहे। इस काल में कृषि कीमतें सतत् रुप में बढ़ती रही हैं, केवल अपवाद रुप में पहली पंयवर्षीय योजना है जब कृषि कीमतों में कृछ गिरावट आईं। **प्रथम योजना** के समय यद्यपि मूल्य काफी ऊँचें थे कृषि उत्पादन बढ़ने से कृषि मूल्यों में लगभग 20 प्रतिशत की गिरावट आई। सूचकांक 1951–52 में 110 से कम होकर 1955–56 में 88 हो गया। **द्वितीय योजना** में आशा के अनुरुप कृषि उत्पादन न बढ़ने और मूद्रा स्फीति के कारण कृषि मूल्यों में 27 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस समय से कृषि कीमतें लगातार बढ़ रहीं हैं केवल वर्ष 1961–62 को छोड़कर। **तृतीय योजना** के प्रथम दो वर्षो में कृषि मूल्य न्यूनाधिक स्थिर रहे। शेष वर्षो में कृषि मूल्य पुनः बढ़ने लगे। 1966–67 में देशव्यापी सूखा के कारण कृषि मूल्य बहुत ऊँचे चले गये थे। 1967–68 में खाद्य पदार्थो के मूल्यों में 21.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। **चौथी योजना** में 1970–71 में कृषि कीमतें 1961–62 की तुलना में दुगुनी बढ़ी थीं। इस प्रकार 1980–81 में

1970–71 की दो गुना से भी अधिक थी। आपातकाल के समय को छोड़कर कृषि मूल्य में वृद्धि की प्रवृत्ति अब भी जारी है। मूल्य सूचकांक समस्त खाद्य वस्तुओं के जो वर्ष 1981–82 में 100 था, 1990–91 में 201 तथा 1992–93 में 241 हो गया। यह सुचकांक आधार वर्ष 1993–94 में 100 पर, वर्ष 1994–95 में 113, 1999–2000 में 165, 2003–04 में 182 तथा 2004–05 में 178 पर हो गया। जैसा तालिका (17.3) प्रदर्शन में किया गया है।

तालिका (17.3) प्रमुख कृषि उत्पादों के थोक मूल्य सूचकांक(आधार वर्ष– 1993–94=100)

वर्ष	चावल	गेहूँ	दालें	खाद्य तेल	चीनी एवं गुड़	समस्त खाद्य वस्तुएँ
1997–98	134	138	146	114	134	141
1998–99	146	152	160	139	154	159
1999–2000	171	175	166	122	156	165
2000–01	168	177	180	103	153	170
2003–04	169	181	177	158	139	182
2004–05	168	184	174	156	163	178

स्त्रोत–आर्थिक समीक्षा, 2005–06

केवल पाँच वर्षों 1962–63, 1968–69, 1975–76, 1978–79 तथा 1999–2000 को छोड़कर अन्य सभी वर्षो में कृषि कीमतें अपने पहले के वर्षों की तुलना में अधिक रही है। केवल यही पाँच वर्ष ऐसे हैं जबकि प्रतिशत वृद्धि ऋणात्मक है। स्वतन्त्रता के पश्चात् आज 58 वर्षों में से 53 वर्ष ऐसे हैं जिसमें लगातार कृषि मूल्य बढ़ा है। कृषि कीमतों में वृद्धि की प्रवृत्ति के कारण देश में स्फीतिकारी शक्तियाँ ओर मजबूत हुई हैं और सब वस्तुओं का थोक कीमत सूचकांक बढ़ा है। बढ़ी कीमतों का कुप्रभाव जनसंख्या के निम्न आय वर्ग के लोगों पर पड़ा है जिनकी क्रय शक्ति में तेजी से गिरावट आने से उनका जीवन–निर्वाह मुश्किल हो गया है। कीमतों की वृद्धि से जमाखोरी कालाबाजारी तथा अस्थिरता की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला है।

17.6.सारांश

कृषि उत्पाद का कृषि लागतों के अनुसार जो मूल्य निर्धारित किया जाता है उसे कृषि मूल्य कहते हैं। कृषि मूल्य अनेक तत्वों से प्रभावित होता है जैसे कृषि उत्पादन में उतार–चढ़ाव, सरकार की खाद्य नीति, सामान्य मूल्य स्तर, भण्डार व्यवस्था, सरकारी खर्च, यातायात के साधन आदि। जिससे कृषि मूल्य में उतार–चढ़ाव होता रहता है। जिससे किसानों, उपभोक्ता, उत्पादक तथा सरकार के हित प्रभावित होते हैं। इसलिए कृषि मूल्य में स्थिरीकरण आवश्यक है। जिससे सभी के हितों की रक्षा हो। इसलिए सरकार द्वारा समय–समय पर अनेक उपाय किये गये जैसे– सरकारी खाद्यान्न खरीद, आयात–निर्यात, अधकितम व न्यूनतम मूल्य निर्धारण, सार्वजनिक वितरण प्रणाली की व्यवस्था, भारतीय खाद्य निगम की स्थापना, कृषि लागत तथा मूल्य आयोग की स्थापना। लेकिन कृषि मूल्य निर्धारण

में कृषि लागतों का विशेष महत्व है। इसलिए सरकार अनुमानित लागत के अनूसार कृषि उत्पाद के मूल्यों की घोषणा करती है।

17.7. शब्दावली

- **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।
- **वैश्वीकरण** – ऐसी व्यवस्था जहाँ विश्व के सभी देशों में वस्तुएँ लाने ले जाने की स्वतंत्रता हो।
- **विपणन** – बाजार व्यवस्था जिससे माल को बेचा जा सकें।
- **वरीयता** – प्राथमिकता या प्रमुखता
- **कृषि साख**– वह ऋण (साख) जो कृषि कार्य हेतु लिया जाता है।
- **उर्वरक**– रासायनिक खाद जैसे–यूरिया, पोटाश, फास्फेट आदि।

17.8.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

1. मूल्यों में होने वाली कमी अथवा वृद्धि का एक सीमा के अन्दर रखने की क्रिया को ..... कहते हैं।
2. केन्द्रीय सरकार ने ..... में भारतीय खाद्य निगम को स्थापना की है।
3. .....को ' कृषि मूल्य आयोग ' का गठन किया गया है।
4. समता मूल्य को ..... सूत्र द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है।

उत्तर –(1) मूल्य स्थितिकरण' (2) जनवरी 1965 (3) 1 जनवरी , 1965 (4) आधार का विक्रय/आधार वर्ष का क्रय मूल्य ।

एक वाक्य में उत्तर दो –

1. कृषि मूल्य को प्रभावित करने वाले कारक क्या है ?
2. कृषि मूल्यों में उच्चावचन का किसानों पर क्या परिणाम होता है ?
3. कृषि मूल्य स्थितिकरण के लाभ क्या है ?
4. कृषि मूल्य स्थिरीकरण के सरकार द्वारा किये गये मूल उपाय क्या है ?
5. उत्पादन लागत विधि का सूत्र क्या है ?

17.9.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सोनी आर0 एन0; ''*कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय* '' ; 2007; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।
2. मिश्र एस0के0 पुरी, वी0के0; (2008) ''*भारतीय अर्थशास्त्र* ''; हिमालया पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली।
3. दत्त रुद्र एवं सुन्दरम के0पी0 एम0; (2007) ''*भारतीय अर्थव्यवस्थाए*'';एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।

4. माथुर बी0 एल0; (2011) ''*कृषि अर्थशास्त्र*''; अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
5. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) '' *कृषि अर्थशास्त्र* ''; साहित्य भवन आगरा।
6. मामेरिया डॉ0 चतुर्भज एवं जैन डॉ0 एस0सी0; (1995) ''*भारतीय अर्थशास्त्र* '; प्रकाशक साहित्य भवन आगरा।
7. Bilgrami, S.A.R. *'An Introduction to Agricultural Economics*;' (2006) Himalaya Publishing House Delhi

17.10.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'Outlines of Agricultural Economic's, MacMillan
2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), 'Agriculture and Economic Development'; Select books,New Delhi.
3. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh (2009),'Fundamentals Agricultural Economics', Himalaya Publishing House.
4. Desai,R.G. (2009), 'Agricultural Economics', Himalaya Publishing House.
5. Dantawala, M.L. et al. (1991): 'Indian Agricultural Development since Independence',Oxford& IBH, New Delhi.

17.11.निबन्धात्मक प्रश्न

(1)– कृषि मूल्य से आप क्या समझते हैं ? कृषि मूल्य को प्रभावित करने वाले कारक का वर्णन करो।

(2)– कृषि मूल्य में उतार–चढ़ाव का क्या प्रभाव पड़ता है ? कृषि मूल्य स्थिरीकरण का महत्व बताओ।

(3)– कृषि मूल्य स्थिरीकरण का क्या अर्थ है ? कृषि मूल्य स्थिरीकरण के लिए सरकार द्वारा किये गये उपायों की व्याख्या करें।

(4)– कृषि लागत तथा मूल्य सम्बन्ध की व्याख्या करो।

इकाई 18. कृषि मूल्य नीति, मूल्य और लागत आयोग का स्वरुप एवं भूमिका

इकाई संरचना

18.1 प्रस्तावना

18.2 उद्देश्य

18.3 कृषि मूल्य नीति

18.4 कृषि लागत और मूल्य आयोग

18.5 कृषि मूल्य नीति का मूल्यांकन

18.6 भारत की कृषि नीति में सुधार के सुझाव

18.7 सारांश

18.8 शब्दावली

18.9 अभ्यास प्रश्न

18.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

18.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

18.12 निबन्धात्मक प्रश्न

18.1. प्रस्तावना

खण्ड पॉच की यह 18वीं इकाई के इससे पूर्व की इकाई में आप कृषि मूल्य के अर्थ , उतार–चढाव तथा स्थिरीकरण की जानकारी प्राप्त कर चुके हैं।

प्रस्तुत इकाई में कृषि मूल्य नीति तथा कृषि लागत तथा मूल्य आयोग के स्वरुप तथा भूमिका का मूल्यांकन प्रस्तुत किया जायेगा।

इसके अध्ययन से आप कृषि मूल्य निति मे कृषि लागत व मूल्य आयोग की भूमिका को जान जायेंगे।

18.2.उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- कृषि मूल्य नीति के विभिन्न पहलुओं को जान जायेंगे।
- कृषि लागत तथा मूल्य आयोग की कृषि मूल्य निर्धारण में भूमिका को समझ सकेंगे।
- भारत की कृषि मूल्य नीति को जान जायेंगे।

18.3. कृषि मूल्य नीति

कृषि उत्पादन की कीमतों में अत्यधिक उतार–चढ़ाव से किसानों तथा समाज पर बुरा प्रभाव पडता है। इसलिए एक कृषि मूल्य नीति का होना अत्यन्त आवश्यक है। कृषि मूल्य नीति, कृषि उत्पादन को बढाने के लिए, खाद्यानों की पूर्ति सुनिश्चित करने के लिए तथा औद्योगिक क्षेत्र की कच्चेमाल की आवश्यकता की नियमित पूर्ति के लिये आवश्यक है। क्योंकि कृषि उत्पादन की कीमत में तेज गिरावट आने से उसके उत्पादक किसान पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। उनकी आय में तेजी से कमी होती है। जिससे वह अगले वर्ष उसी फसल को दोबारा उत्पादित करने से हिचकिचाता है। यदि वह फसल सामान्य जनता के उपभोग की वस्तु है तो अगले वर्ष पूर्ति मांग की अपेक्षा कम रहने की सम्भावना रहेगी और इस अन्तर को आयात द्वारा पूरा करना पडता है।

कृषि मूल्य नीति इस प्रकार की होनी चाहिए, जो किसानों और उपभोक्ताओं दोनों के ही हितो की रक्षा कर सकें। अतिरिक्त उत्पादन वाले वर्षों में सरकार उचित दामों पर किसानों का उत्पादन खरीद लेती है ताकि उन्हें हानि न हो। ये दाम ऐसे होने चाहिए कि किसानों की उत्पादन लागत तो पूरा करने के बाद कुछ न्यूनतम लाभ भी दे। सरकारी खरीद से जो प्रतिरोधक भण्डार (बफर स्टॉफ) इकट्ठा होता है। उसका प्रयोग कम उत्पादन वाले वर्षों में पूर्ति की कमी को पूरा करने में किया जाता है। इससे सरकार खाद्यान्नों के आयातों से बच जाती है और कीमत स्तर को भी एक उचित स्तर पर बनाया रखा जा सकता है। इस प्रकार सरकार कृषि मूल्य नीति के दो मुख्य उद्देश्य होने चाहिए– किमतों को बहुत ज्यादा न बढ़ने देना और किमतों को एक न्यूनतम स्तर के निचे न गिरने देना ।इसके लिये सरकार न्यूनतम (MSP) तथा वसूली कीमतों का निर्धारण करती है। जिससे किसानों के उत्पादन करने की प्रेरणा बनी रहे अर्थात् कीमतें ऐसे स्तर पर निर्धारित की जाये जो किसानों को और अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित कर सकें।

18.3.1 कृषि मुल्य नीति के उद्देश्य– किसानों के हित के लिए एक विकासशील अर्थव्यवस्था में कृषि मूल्य नीति के मूख्य उद्देश्य निम्न होने चाहिए–

(1) किसानों को एक निश्चित न्यूनतम समर्थन कीमत की गारण्टी देना ताकि उनके हितों की रक्षा हो सके, उत्पादन में जोखिम न रहे, और वे लोग उत्पादन को ओर ज्यादा बढाने के लिये निवेश करने को तत्पर रहें।

(2) निर्धारित लक्ष्यों के अनुरुप विभिन्न फसलों के उत्पादन को निर्देशित किया जा सके।

(3) अधिक आगातों के प्रयोग द्वारा तथा उन्नत किस्म के बिजों , उर्वरकों व अन्य आगातों का प्रयोग करने नई कृषि तकनीक के अधिक प्रसार द्वारा कुल कृषि उत्पादन में वृद्धि लाई जा सकें।

(4) किसानों को इस बात के लिये प्रेरित किया जा सके, कि वे खाद्यान्नों का बढ़ता हुआ हिस्सा बाजार में बेचने के लिए तैयार हो।

(5) अत्यधिक कीमत वृद्धि से उपभोक्ताओं की रक्षा करना, विशेष रुप से निम्न आय वर्ग के उपभोक्ताओं की उन वर्षों में जब आपूर्ति मांग से काफी कम हो और बाजार कीमतों में लगातार वृद्धि हो रही हो।

(6) कृषि मूल्य नीति का राजनीतिक उद्देश्यों के लिए कभी प्रयोग नहीं होना चाहिए।

कोई देश किस प्रकार की कृषि मूल्य नीति को अपनाये यह विचार का विषय है मैलर (Mellar) के अनुसार विकासशील देशों में कृषि विकास की मुख्य दो अवस्थाएं होती हैं । जिनके अनुसार कृषि मूल्य नीति निर्धारित की जाती है। प्रथम अवस्था परम्परागत अवस्था होती है। जिसमें कृषि मूल्य नीति अधिक प्रभावशाली नहीं होती । क्योंकि परम्परागत तकनीक से कृषि कार्य करने के कारण मूल्य वृद्धि करने के साथ उत्पादन में वृद्धि नहीं होती है। क्योंकि परम्परागत अवस्था में कृषि उत्पादन हेतु भूमि तथा श्रम को ही अधिक महत्व दिया जाता है। द्वितीय अवस्था गैर–परम्परागत अवस्था अर्थात तकनीकी अवस्था है। इसमें कृषि उत्पादन हेतु कृषि आगतें औद्योगिक क्षेत्र से खरीदी जाती है। किसानों में औद्योगिक क्षेत्र की वस्तुओं का उपभोग बढना आरम्भ हो जाता है, इसके साथ ही अब कृषि उत्पादों की बढती हुई मात्रा को गैर कृषि क्षेत्रों में आसानी से बेचा जा सकता है। ऐसी अवस्था में कृषि उत्पादों के मूल्यों में परिवर्तन का कृषि उत्पादन तथा कृषि उत्पादों की बिक्री पर प्रभाव पडेगा।

18.3.2 कृषि मूल्य नीति के मुख्य अंश – एक प्रभावी कृषि मूल्य नीति न केवल किसानों को प्रभावित करती हैं बल्कि इससे उपभोक्तओं तथा औद्योगिक क्षेत्र भी प्रभावित होता है। इस प्रकार एक कृषि मूल्य नीति किसी देश की सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को प्रभावित करती है। इसलीए कृषि मूल्य नीति बनाने समय निम्न मुख्य अंश को ध्यान में रखना चाहिए।

(1) कृषि उत्पादों का मूल्य निर्धारण– जब सरकार कृषि उत्पादों के मूल्यों में किसानों को लाभ पहुॅचाने के लिए, परिवर्तन करती है तो ऐसा परिवर्तन, उपभोक्ताओं के हितों के विरुद्ध काम करता है। इसी प्रकार यदि सरकार उपभोक्ताओं को लाभ पहुॅचाना चाहती है तो यह नीति किसानों के हितों को ठेस पहुॅचायेगी। भिन्न–भिन्न देशों की सरकारें सदा इस दुविधा में रही है कि किस पक्ष के हित अधिक महत्वपूर्ण है।

आर्थिक विकास की गति को बढाने के लिए बहुत से देशों ने विकास के प्रारम्भिग चरणों में नकारात्मक कृषि मूल्य नीति को अपनाया है। इस नीति में खाद्यान तथा कच्चे माल के मूल्यों को कम रखा जाता है, जिससे औद्योगिक क्षेत्र का लाभ बढने से विकास को प्रोत्साहन मिलें।

आजकल कई देश कृषि मूल्यों की सकारात्मक नीति का पालन करते हैं। जिससे किसानों को उनके उत्पाद का उचित और लाभप्रद मूल्य प्राप्त हो। इस नीति के पीछे मुख्य तर्क हैं कि जब तक कृषि क्षेत्र एक निर्णायक न्यूनतम विकास दर को प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों का विकास होना कठिन है।

(2) कृषि साधनों के मूल्यों के बारे में नीति– कृषि मूल्य नीति केवल कृषि उत्पादों के मूल्यों के निर्धारण तक ही सीमित नहीं है। इसका दूसरा पहलू , कृषि उत्पादन के साधनों (आगातों) के मूल्यों से सम्बन्धित है। कई अर्थशास्त्रियों का मानना है कि सकारात्मक मूल्य नीति के उद्देश्य को कृषि साधनों के मूल्यों में परिवर्तन लाकर प्राप्त किया जा सकता है। इस नीति में किसानों को कृषि आगातों पर अनुदान देकर उत्पादन बढाने हेतु प्रेरित करना है। जिससे उत्पादन लागत में कमी आयेगी। किसान नवीन कृषि तकनीक को अपनाये, और उत्पादन में वृद्धि होगी। जिससे उपभोक्ता को भी खाद्यान्न की पूर्ति सुनिश्चित होगी और आधुनिक कृषि तकनीक अपनाने से औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादित कृषि आगतों की मांग बढेगी।

(3) उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा तथा कृषि मूल्य नीति– कृषि मूल्य नीति का सबसे जटिल अंश है। क्योंकि इसका उद्देश्य किसानों तथा लाखों उपभोक्ताओं के परस्पर विरोधी हितों को सन्तुलित करना है। कृषि मूल्य मे कमी से किसानों का अहित होता है। जिससे भावी कृषि उत्पादन भी प्रभावित होता है जबकि मूल्य वृद्धि से निम्न व मध्यम आय वर्ग सहित मजदूर वर्ग भी प्रभावीत होता है। इसलिए ऐसी स्थिति में सरकार एक निश्चित मूल्य पर किसानों से उनका उत्पाद खरीद कर उचित मूल्य की दुकानों द्वारा कम मूल्य पर निम्न आय वाले उपभोक्ताओं तक पहुँचाती है। जिससे दोनों के हितों की रक्षा हो।

18.3.3 भारत में कृषि मूल्य नीति– भारत में स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद कृषि मूल्य नीति का आधार दूसरे विश्व युद्ध मे लागू किए गये अनेक प्रतिबन्ध एवं नियन्त्रण थे। जिसमे एक राज्य से अन्य राज्यों की ओर कृषि उत्पादन लें जाने पर कडे नियन्त्रण थे। उत्पादको और मिल मालिकों से अनिवार्य उगाही की जाती थी, तथा लगभग सभी राज्यों में राइनिंग व्यवस्था थी।

खाद्यान्न नीति समिति के 1947 में यह सुझाव देने के बाद कि विनियंत्रण होना चाहिए, सरकार ने प्रतिबन्धों और नियन्त्रण को कम कर दिया। परन्तु 1948 में खाद्य संकट पैदा हो गया और खाद्यान्नों की कीमतों में तेज वृद्धि हुई। इसलिए नियन्त्रणों को एक बार फिर लागू किया गया। 1953–54 में खाद्य स्थिति सुधरी और नियन्त्रणों को लगभग खत्म कर दिया गया। 1955 के मध्य से खाद्य कीमतें फिर बढ़ने लगीं इसलिए अधिकांश नियन्त्रण

फिर से लगाये गये। इस प्रकार 1951 से 1957 के बीच नीति सम्पूर्ण नियन्त्रण से सम्पूर्ण विनियन्त्रण और फिर आंशिक नियन्त्रण के बीच डोलती रही।

खाद्यान्न जाँच समीति 1957 के इस सुझाव पर कि 'खाद्यान्नों के थोक व्यापार पर सामाजिक नियन्त्रण' होना चाहिए। भारत सरकार ने अप्रैल 1959 में खाद्यान्नों के राज्य व्यापार का प्रयोग किया। इस प्रयोग से राज्य व्यापार दो मुख्य खाद्यान्नों–गेहूँ और चावल तक सीमित था। क्योंकि यह प्रयोग आर्थिक शक्तियों की पूरी जानकारी के बिना शुरु किया था। इसलिए विफल हो गया। उदाहरण के लिए गेहूँ की वसूली कीमतों का निर्धारण बहुत कम स्तर पर किया गया। इसलिए काफी उत्पादन के बावजूद बाजार में बहुत कम खाद्यान्न बिकने के लिए आये। कुछ राज्यों ने थोक व्यापारियों से अत्यधिक अनिवार्य उगाही करने की कोशिश की, इसलिए थोक व्यापारी जहाँ एक और हतोत्साहित हुए वहीं दूसरी और उन्होंने कई अनुचित और भ्रष्ट उपाय करने का प्रयास किया।

कृषि मूल्य में स्थायित्व लाने के प्रयास में मार्च 1964 में खाद्य क्षेंत्रों का गठन किया गया। देश को आठ गेहूँ क्षेत्रों में विभाजित किया गया। दक्षिण भारत में चावल क्षेत्र बनाये गये। इस प्रयोग के विफल होने के बाद, प्रत्येक राज्य को एक अलग क्षेत्र बना दिया गया। एक क्षेत्र के बीच खाद्यान्नों के चलन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था, परन्तु एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में खाद्यान्न के व्यापार पर नियन्त्रण लगाये गये। अतिरिक्त उत्पादन वाले राज्यों में खाद्यान्नों की उगाही करके उन्हें कमी वाले राज्यों में बांटने का काम सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से स्वयं अपने हाथ में लिया।

लेकिन पहली बार, तीसरी पंचवर्षीय योजना के प्रलेख में यह माना गया कि कृषि उत्पादन बढ़ाने के लिए किसानों को कृषि उत्पादों के लाभकारी मूल्यों द्वारा प्रोतसाहन देने की आवश्यकता है। इसलिए सरकार को कृषि मूल्यों की नकारात्मक नीति को छोड़कर एक सकारात्मक नीति अपनाने के लिए कहा गया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सरकार ने कृषि उत्पादों के मूल्यों पर आंशिक नियन्त्रण की नीति को छोड़ दिया तथा वर्ष 1964 में खाद्यान्न मूल्य समिति (झा समिति) का गठन किया गया। झा समिति ने सरकार द्वारा कृषि उत्पादों के लाभकारी मूल्यों को निर्धारित किये जाने की बात कही तथा इन मूल्यों के निर्धारण के लिए सुझााव दिये–

(1) मूल्यों के स्तर ऐसे होने चाहिए, जोकि कृषि में उन्नत टैक्नोलोजी अपनाने तथा उत्पादन को अधिकतम करने के लिए प्रोत्साहन देते हों।

(2) निर्धारित किये गये मूल्य ऐसे हों, जोकि भूमि के अनुकूलतम् प्रयोग को सुनिश्चित करते हों।

(3) निर्धारित मूल्य का स्तर, जहाँ तक हो सके, ऐसा होना चाहिए कि यह भिन्न–भिन्न फसलों की पूर्ति तथा मात्रा के बीच संतुलन लाता हो।

(4) किसी एक मूल्य को निर्धारित करते समय, इससे संबंधित फसल के आयात तथा निर्यात पर पड़ने वाले प्रभाव को सामने रखना चाहिए।

(5) समूची मूल्य नीति के अन्य क्षेत्रों पर प्रभाव, विशेंषतया उन क्षेत्रों के वेतन, रहन–सहन के खर्च, उत्पादन लागत आदि पर प्रभाव को भी सामने रखा जाना चाहिए।

समीति ने सुझाव दिया कि फसलों की अधिकतम् संख्या को कृषि सम्बन्धी मूल्य नीति के अधीन लाना चाहिए। ऐसा करने से अधिक से अधिक मूल्यों का परस्पर सन्तुलन तथा समन्वय हो सकेगा। समीति ने कृषि उत्पादन के साधनों के लिए अनुदान के भी सुझाव दिये।

18.4. कृषि लागत तथा मूल्य आयोग

सरकार ने **झा समीति** की सिफारिशों को मानते हुए 1965 में **'कृषि मूल्य आयोग'** का गठन किया। 1980 में इस आयोग का नाम बदलकर **'कृषि लागत तथा मूल्य आयोग (CACP)'** रख दिया गया। आयोग में एक अध्यक्ष, एक सदस्य सचिव, दो सरकारी सदस्यों सहित तीन गैर सरकारी सदस्य होते हैं गैर सरकारी सदस्यों में कृषक समुदाय के प्रतिनिधि होते हैं। जिन्हें लम्बा कृषि अनुभव हो और जो कृषक समुदाय का सक्रीय सहयोग करते हैं।

18.4.1– कृषि लागत और मूल्य आयोग के कार्य– आयोग किसानों, उपभोक्ता और सरकार के लिए निम्न कार्य सम्पादित करता है–

(1)– सरकार को कृषि उत्पादों के मून्यों के बारे में विशेषतया गेहूँ, चावल, ज्वार, मक्की, चना दालें, गन्ना, तिलहन, पटसन तथा कपास के न्यूनतम समर्थन मूल्यों के बारे में सुझाव देना। आयोग को ये सुझाव देते समय, न केवल उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के हितो को ध्यान में रखना था, अपितु इन मूल्यों के समूची अर्थव्यवस्था के विकास पर पड़ने वाले प्रभाव को भी सामने रखना था। इसके साथ ही आयेग को यह भी सुनिश्चित करना था, कि सुझाये गये मूल्यों का आपस में परिस्थिति के अनुसार पूरा सन्तुलन तथा समन्वय है।

(2)– देश के विभिन्न खण्डों में, विभिन्न कृषि उत्पादों को बाजार में बेचने के तरीकों तथा बेचने में आने वाली लागतों का अध्ययन करना। आयोग को इन उत्पादों की बिक्री पर आने वाली लागत को कम करने के सुझाव देने थे। साथ ही, इसने बिक्री की प्रक्रिया के विभिन्न चरणों के लिए उपयुक्त लाभों के बारे में भी बताना था।

(3)– कृषि मूल्य नीति के सम्बन्ध में हो रहे अध्ययनों पर निगाह रखनी, कृषि मूल्यों तथा अन्य सम्बन्धित आंकड़ो के बारे में सूचना एकत्रित करने के तरीकों पर ध्यान रखना तथा इनमें सुधार के बारे में सुझाव देना।

(4)– अर्थव्यवस्था में बदलती हुई परिस्थितियों का ध्यान रखना तथा इनके अनुसार समूची मूल्य नीति के लिए आवश्यक सुझााव देना।

(5)– उन उत्पादों के बारे में मूल्य नीति को, प्रभावशाली ढंग से लागू करने के लिए सुझाव देने।

(6)– सरकार को कृषि उत्पादन तथा कृषि मूल्यों से जुड़ी हुई प्रत्येक उस समस्या के बारे में परामर्श देना, जो कि सरकार समय–समय पर इसके सामने लाये।

आयोग लगातार ऐसी संस्थाओं से सम्पर्क बनाए रखता है, जो कृषि मूल्यों और कृषि उत्पादन से जुड़े हुए विषयों के बारे में जानकारी रखती है।

18.4.2– आयोग के कृषि मूल्य नीति के उद्देश्य–

कृषि लागत और मूल्य आयोग ने कृषि मूल्य नीति बनाते समय निम्न उद्देश्यों को सामने रखा है–

(1)– विभिन्न कृषि उत्पादों के मूल्यों में मौसमी उतार–चढ़ाव को कम करना।
(2)– कृषि उत्पादकों को उनके उत्पादों के उचित दाम दिलवाना।
(3)– कृषि उत्पादकों को कृषि उत्पादन में वृद्धि करने के लिए प्रोत्साहित करना।
(4)– उपभोक्ताओं के लिए खाद्यान्न की आपूर्ति उचित मूल्य व मात्रा में सुनिश्चित करना।
(5)– औद्योगिक क्षेत्र के लिए कच्चेमाल को उचित मात्रा में उपलब्ध कराना।
(6)– विभिन्न कृषि उत्पादों के मूल्य इस प्रकार निर्धारित किये जाये कि सभी कृषि उत्पादों को ऐच्छिक दिशा में परिवर्तित किया जा सके।
(7)– मूल्यों को ऐसा निर्धारित करना कि ये समूची अर्थव्यवस्था के व्यवस्थित विकास में सहायता करें।
(8)– विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के बाद, आयोग के लिए यह अनिवार्य हो गया है कि कृषि उत्पादों के मूल्य इस प्रकार निर्धारित कियो जायें, कि वह अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगिता करने में समर्थ हो।

18.4.3– आयोग की कृषि मूल्य नीति में भूमिका– कृषि लागत और मूल्य आयोग अपनी स्थापना के समय से ही विभिन्न कृषि उत्पादों के लिए न्यूनतम समर्थन कीमतें, वसूली कीमतें और जारी कीमतों की घोषणा करता आ रहा है। समर्थन कीमतों उत्पादकों को यह गारण्टी देता है कि यदि अत्यधिक उत्पादन हुआ तो भी सरकार कीमतों को इनसे नीचें नहीं गिरने देगी। इस उद्देश्य के लिए सरकार न्यूनतम समर्थन कीमतों पर बड़े पैमानों पर खाद्यान्नों की खरीददारी करने के लिए वचनबद्ध है। वसूली कीमतें वे कीमतें हैं जिन पर सरकार आम वर्षो में खाद्यान्नों को मण्डियों से खरीदती है। जारी कीमत वह कीमत है, जिस पर उचित दर दुकानों के माध्यम से सरकार उपभोक्ताओं को खाद्यान्न बेचती है।

कृषि लागत और मूल्य आयोग को फसलों के न्यूनतम् समर्थन मूल्य को निर्धारित करते समय निम्न तत्वों को ध्यान में यखना पड़ता है–
(1)– फसल की उत्पादन लागत।
(2)– फसल की उत्पादकता में अनिश्चितता के कारण होने वाली सम्भावित हानि।
(3)– उत्पादन साधनों के मूल्यों में सम्भावित परिवर्तन।
(4)– फसल का चालू बाजार मूल्य।
(5)– फसल की मांग तथा पूर्ति की अवस्था या स्थिति।
(6)– निर्धारित मूल्य का, औद्योगिक क्षेत्र की उत्पादन लागतों पर प्रभाव।
(7)– निर्धारित मूल्य का रहन–सहन के खर्च पर प्रभाव।
(8)– निर्धारित मूल्यों का देश के सामान्य मूल्य स्तर पर प्रभाव।
(9)– अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में मूल्य स्थिति।
(10)– मूल्यों में समता की नीति, जिसमें– (अ) विभिन्न फसलों के मूल्यों में समता, (ब) उत्पादन के साधनों के मूल्यों तथा कृषि उत्पादों के मूल्यों में समता (स) कृषि क्षेत्र द्वारा उपलब्ध करवाये गये कच्चेमाल के मूल्यों तथा इनसे तैयार किये गये औद्योगिक उत्पादों के मूल्यों में समता और (द) किसानों द्वारा प्राप्त किये गये मूल्यों तथा उनके द्वारा दिये गये मूल्यों में समता के उद्देश्यों की प्राप्ति सम्मलित है।

(11)– पिछले वर्षो में फसल की मांग, पूर्ति तथा मूल्यों में हुए परिवर्तन के आधार पर इनके बारे में भविष्य में हाने वाले अनुमानित परिवर्तन।

आयोग उत्पादन की लागतों के बारे मे आवश्यक आंकड़ो के लिए आर्थिक व सांख्यिकीय निदेशालय, कृषि मंत्रालय, भारत सरकार तथा कई संस्थाओं द्वारा की गई फर्म प्रबन्धन अध्ययन पर निर्भर करता है। इसके साथ, यह राज्य सरकारों तथा अन्य मान्यता प्राप्त संस्थाओं द्वारा उत्पादन लागत के बारे में एकत्रित किये गये अनुमानों पर भी विचार करता है।

1989 तक आयोग ने उत्पादन लागत C_2 को न्यूनतम समर्थन मूल्य के लिए आधार बनाया जाता रहा है। C_2 उत्पादन लागत में पूरी उत्पादन लागतों, पट्टे पर ली गई भूमि पर लगान, परिवार श्रम का अनुमानित मूल्य तथा अपनी पूंजी पर ब्याज शामिल किया जाता है। 1989 में राष्ट्रीय मोर्चे की समर्थन मूल्यों के निर्धारण के तरीकों में कुछ संशोधन किये। कि C_2 उत्पादन लागत में अब कुल उत्पादन लागत का 10 प्रतिशत भाग किसानों के प्रबन्धक के रुप में कार्य करने के लिए जोड़ दिया जायेगा। इस उत्पादन लागत की धारणा को C_2 के बजाय C_3 कहा जाता है। अब फसल की उत्पादन लागत जानने के लिए श्रमिकों को दी गई वास्तविक मजदूरी या विधेयक द्वारा निश्चित की गई न्यूनतम मजदूरी जो अधिक होगी उसे माना जायेगा। न्यूनतम समर्थन मूल्य में मूद्रा स्फिति की दर में हुई वृद्धि के अनुसार परिवर्तन किया जायेगा। फसल की औसत उत्पादन लागत जानने के लिए देश के केवल उन क्षेत्रों का चयन करता है जहाँ पर यह विशेष फसल मूख्य रुप से बोई जाती है।

प्रत्येक वर्ष आयोग न केवल भिन्न–भिन्न फसलों के लिए न्युनतम समर्थन मूल्यों की घोषणा करता है अपितु कुछ फसलों के लिए, सरकारी खरीद के मूल्यों की घोषणा करता है। 1974–75 तक सरकार कुछ फसलों जैसे– चावल, गेहूँ, मक्का तथा मोटे अनाज के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य तथा सरकारी खरीद के मूल्य घोषित किया करती थी। परन्तु उसके बाद केवल सरकारी खरीद के ही मूल्य घोषित किये जाते रहें हैं। सरकारी खरीद के मूल्य ही न्यूनतम् समर्थन मूल्य बन जाते हैं।

1980 से पहले कृषि मूल्य नीति का उद्देश्य कृषि उत्पादन को अधिकतम करना था। अब इसका उद्देश्य, कृषि उत्पादों के मिश्रण में ऐसे परिवर्तन करना था जो देश की अर्थव्यवस्था के विकास में सहायक हों। कृषि लागत तथा मूल्य आयोग को यह भी कहा गया, कि वह कृषि क्षेत्र तथा ओद्योगिक क्षेत्र के व्यापारिक दर में होने वाले परिवर्तन पर भी निगाह रखें। यह तथ्य इस बात का संकेत देता है, कि सरकार अब कृषि से अपनाई गई नई तकनीक के लाभों की, किसानों तथा उपभोक्ताओं के बीच एक उचित बांट के लिए उत्सुक थी।

14 नवम्बर 1986 को सरकार ने कृषि मूल्य नीति में एक लम्बे समय को सामने रखकर कुछ परिवर्तन किये। इस नई नीति का उद्देश्य, केवल किसानों को, कृषि में आधुनिक तकनीक अपनाने के लिए प्रोत्साहित करना तथा उपभोक्ताओं को सुरक्षा प्रदान करना ही नही था, अब सरकार ने इस बात की भी घोषणा की कि मूल्यों में परिवर्तनों के द्वारा

तिलहन, दालें, गन्ना तथा मोटे अनाज के उत्पादन में ऐसे परिवर्तन लायें जायेगें जो कि देश की आवश्यक्ताओं के अनुकूल हो।

नई मूल्य नीति का उद्देश्य यह था, कि उत्पादन की लागत को जितना हो सकें, कम किया जाये। इस बात का भी संकेत दिया कि मूल्य इस प्रकार नियत किये जायेगें, कि जिससे निर्यात किये जाने वाले कृषि उत्पादों के उत्पादन को प्रोत्साहन मिले। इसके अतिरिक्त, कृषि मूल्य नीति को भली प्रकार अमल में लाने के लिए आवश्यक आधारिक संरचना की भी व्यवस्था की जाने की घोषणा की गई। कृषि लागत और मूल्य आयोग की मूल्यों के बारे में सिफारिशों तथा निर्धारित मूल्यों की घोषणा की समय–सारिणी की भी बात कही गई।

1991 में आर्थिक सुधारों के लागू हाने के पश्चात् देश की कृषि मूल्य नीति में कुछ और परिवर्तन देखने में आये। सर्वप्रथम, सरकार ने आर्थिक सुधारों के एक मुख्य उद्देश्य अर्थात् राजकोषीय घाटे को कम करने के उद्देश्य की प्राप्ति के लिए, कृषि उत्पादन के साधनों के लिए दिये वाले अनुदान में कटौती करने की चेष्टा की। यह भी देखा गया, कि सरकार ने इस अनुदान को कम करने के कारण उत्पादन लागत में आने वाली वृद्धि को देखते हुए, कृषि उत्पादों के न्यूनतम् समर्थन मूल्यों में भी वृद्धि कर दी। विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के पश्चात, सरकार ने कृषि लागत और मूल्य आयोग को, कृषि उत्पादों के मूल्यों को निर्धारित करने समय, इनके अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रचलित मूल्यों पर विशेष ध्यान देने को कहा। ऐसा इसलिए किया गया ताकि घरेलू उत्पादों की अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में प्रतियोगिता की क्षमता बनी रहे।

तालिका (18.1) में कृषि लागत और मूल्य आयोग द्वारा विभिन्न वर्षो में विभिन्न कृषि उत्पाद के लिए निर्धारित न्यूनतम् समर्थन मूल्य/सरकारी खरीद के मूल्य दिये गये हैं–

तालिका (18.1) न्यूनतम् समर्थन मूल्य/सरकारी खरीद के मूल्य (रुपये प्रति क्विंटल)

कृषि उत्पाद	1997-98	1998-99	1999-2000	2000-01	2001-02	2002-03	2003-04	2004-05
सामान्य धान	415	440	490	510	530	530	550	560
गेहूँ	510	550	580	610	620	620	630	640
ज्वार, बाजरा, रागी	360	390	415	445	485	485	505	515
चना	815	895	1015	1100	1200	1220	1400	1425
टरहर	900	960	1105	1200	1320	1320	1360	1390
मूंग	900	960	1105	1200	1320	1330	1370	1410
उड़द	900	960	1105	1200	1320	1330	1370	1410
गन्ना	48.45	52.70	56.10	59.50	62.05	69.5	73	74.5
क्पास **(H-4)**	1530	1650	1775	1825	1875	1875	1925	1960
जूट	570	650	750	785	810	850	860	890
सूरजमूखी बीज	1000	1060	1155	1170	1185	1195	1250	1340
सोयाबीन (पीला)	750	795	845	865	885	885	930	1000
सोयाबीन (काला)	670	705	755	755	795	795	840	900

Source --- CACP Reports

जिससे पता चलता है, कि 2001–02 तथा 2002–03 में अधिकांश उत्पादों के मूल्यों में कोई वृद्धि नहीं की गई। तालिका (18.2) में गेहूँ तथा धान के न्यूनतम् समर्थन मूल्य/सरकारी खरीद के मूल्य तथा पिछले वर्ष की तुलना में किये गये प्रतिशत परिवर्तन को प्रदर्शित किया गया है–

तालिका (18.2) न्यूनतम् समर्थन मूल्य (MSP) तथा वार्षिक प्रतिशत परिवर्तन

वर्ष	न्यूनतम् समर्थन मूल्य (रुपये/ क्विंटल)			**MSP** में वार्षिक प्रतिशत परिवर्तन		
	सामान्य धान	।ग्रेड धान	गेहूँ	सामान्य धान	।ग्रेड धान	गेहूँ
2000-01	510	540	580	4.85	3.85	5.45
2001-02	530	560	610	3.92	3.70	5.17
2002-03	530	580	620	0.00	3075	1.64
2003-04	550	580	620	3.77	0.00	0.00
2004-05	560	590	630	1.82	1.72	1.61
2005-06	570	600	640	1.79	1.69	1.59
206-07	620	650	700	8.77	8.33	9.38
2007-08	745	775	850	20.16	19.23	21.43
2008-09	900	930	1000	20.81	20.00	17.65
2009-10	1000	1030	1080	11.10	10.80	8.00

Source --- CACP Reports

तालिका (18.2) के विश्लेषण से पता चलता है कि वर्ष 2000–01 सें 2005–06 तक न्यूनतम् समर्थन कीमतों में लगभग 1 से 5 प्रतिशत की वृद्धितक ही वृद्धि की गई। जबकि 2007–08 तथा 2008–09 में 17 से 20 प्रतिशत तक कीमतों में वृद्धि की गई।

18.5. कृषि मूल्य नीति का मूल्यांकन

भारत में साकारात्मक कृषि मूल्य नीति के मुख्य अंश न्यूनतम समर्थन मूल्य तथा सरकारी खरीदे के लिए मूल्य निर्धारित करना, सार्वजनिक वितरण प्रणाली, बफर स्टाक की व्यवस्था तथा उत्पादन साधनों के लिए अनुदान व्यवस्था करना है। कृषि मूल्य नीति का मुख्य उद्देश्य किसानों के उनकी फसल का उचित मूल्य प्रदान करना है तथा उनमें निश्चितता व विश्वास जगाना है। यद्यपि भारत में कृषि मूल्य नीति इस उद्देश्य का प्राप्त करने में कुछ हद तक सफल रही तथापि उसने अर्थव्यवस्था में स्फीतिकारी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन दिया है और उसके कुछ अन्य दुष्परिणाम भी रहे है। जिनमें से कुछ निम्न प्रकार है।

18.5.1 न्यूनतम समर्थन मूल्य ज्ञात करने की दोषपूर्ण नीति– कृषि लागत तथा मूल्य आयोग न्यूनतम् समर्थन मूल्य को ज्ञात करने के लिए उत्पादन लागतों का सहारा लेता है रमेश चन्द्र ने कहा, कि यह रीति उस समय उचित है जब खाद्यान्नों का अभाव पाया जाता है और मुख्य उद्देश्य पूर्ति अर्थात् उत्पादन में वृद्धि करना है। परन्तु जब अतिरेक्त की स्थिति हो तब कीमत निर्धारण हेतु मांग को भी ध्यान में रखना चाहिए। परन्तु इस तरफ ध्यान नही दिया जाता, जिस कारण चावल तथा गेहूँ के भण्डार जमा होते जा रहे है।

जिससे राजकोणीय भार बहुत बढ़ गया है, क्योंकि इनके संग्रहण पर सरकार को बहुत धन व्यय करना पड़ रहा है।

न्यूनतम समर्थन कीमतों का निर्धारण उत्पादन लागत के आधार पर करने को एक दोष यह भी है कि किसान बिना यह जाने कि उनकी भूमि किस फसल के लिए उपयुक्त है अधिक कीमत वाली फसल उगाते है। जिसके अन्य दुष्प्रभाव पैदा होते है। इस सन्दर्भ मे रमेश चन्द्र ने पंजाब तथा हरियाणा के अध्ययन में यह पाया कि इन राज्यों में रेतीले तथा कम वर्षा वाले क्षेत्रों में चावल की खेती को अन्धाधुन्ध बढ़ावा मिला,जिससे लागतें बढी तथा प्राकृतिक संसाघनों तथा पर्यावरण पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। केवल उत्पादन लागतो पर ध्यान देने से समाज की प्राथमिकताओं की भी अनदेखी होती है।

18.5.2 स्फीतिकारी प्रवृत्तियों में योगदान– कृषि लागत तथा मूल्य आयोग प्रति वर्ष वसूली कीमतों को बढाने का सुझाव देता रहा है। इस प्रकार वसूली कीमतो न्यूनतम समर्थन कीमतें में साल में दो बार (रवी की फसल तथा खरीफ की फसल हेतु) वृद्वि की घोषणा एक आम घटना हो गई है। पिछले कुछ वर्षों से धनी किसानों का वर्ग बहुत मजबूत हो गया है तथा राजनैतिक दबाव के द्वारा वसूली कीमतों मे अत्यधिक वृद्वि करवाने में सफल रहा है। यह वृद्वि कृषि लागत तथा मूल्य आयोग द्वारा प्रस्तावित वृद्वि से कही अधिक रही है। 1990 के दशक में इस प्रवृत्ति को बल मिला। जैसा कि तालिका (18.3) में दर्शाया गया है कि 1981–82 से 1990–91 तक धान तथा

तालिका (18.3) न्यूनतम समर्थन मूल्य अनुपात में प्रतिशत परिवर्तन

अवधि	धान	गेहूं
1981–82 से 1990–91 तक	–0.95	–2.22
1990–91 से 2000–01 तक	0.99	2.23
2000–01 से 2009–10 तक	1.81	1.30

Source --- CACP Reports

गेंहू के मूल्य में ऋणात्मक वृद्वि हुई जबकि 1990–91 से 2000–01 में धान के मूल्य मे 0.99 प्रतिशत तथा गेंहू के मूल्य मे 2.23 प्रतिशत वृद्वि हुई वही 2000–01 से 2009–10 तक धान में 1.81 प्रतिशत तथा गेंहू मे 1.30 प्रतिशत कीमत वृद्वि हुई। अगर वर्ष वार कीमत वृद्वि देखी जाये तो तालिका (18.1) तथा (18.2) के अनुसार 2006–07 के बाद न्यूनतम कीमतों में तेजी से वृद्वि हुई है जिससे सामान्य कीमत स्तर में भी वृद्वि हुई है।

18.5.3 बडे किसानों की ओर झुकाव –न्यूनतम समर्थन तथा वसूली कीमतों में होने वाली निरन्तर वृद्वि ने किसानों को उत्पादन बढानें हेतु प्रेरित किया है लेकिन इसका अधिकांश लाभ बडे किसानों को हुआ है क्योकि बडे किसानो ने नई कृषि तकनीक अपनाने की क्षमता थी तथा उन्हें कृषि साख तथा अन्य कृषि आगतें भी आसानी से उपलब्ध थी। एक अनुमान के अनुसार बडे किसानों को सीमान्त किसानों की तुलना में औसत आय अन्तरण 10 गुणा या उससे भी अधिक हुआ। C_2 उत्पादन लागत के आधार पर पंजाब में सीमान्त किसानों

को औसतन 3000 रूपये प्रति वर्ष और बडे किसानों को 34000 रूपये प्रतिवर्ष का प्रति परिवार कुल आय अन्तरण हुआ।

18.5.4 निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव – न्यूनतम समर्थन तथा वसूली कीमतों में वृद्वि से सरकार पर अतिरिक्त व्यय का भार पडता है। जिससे अन्य क्षेत्रों में निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। भण्डार संग्रहण के परिणामस्वरूप केवल गेंहू व चावल उत्पादको को इतना लाभ नहीं होता। अपने अर्थमितीय माडल के आधार पर कीरित पारिरव, ए गणेश कुमार तथा गंगाधर डारबा इस निष्कर्ष पर पहुचे कि गेहू व चावल के न्यूनतम समर्थन मूल्य में 10 प्रतिशत की वृद्वि होने पर निवेश में 1.3 प्रतिशत तथा सकल घरेलू उत्पाद मे 0.33 प्रतिशत की गिरावट आती है।

18.5.5 फसले ढांचे में परिवर्तन– 2001–02 की वित्त तथा करेन्सी की रिपोर्ट के अनुसार सरकार की मूल्य वृद्वि नीति से फसलों के ढांचे में परिवर्तन की स्थिति आई है। इसका कारण यह है कि जहां गेहू और चावल की वसूली कीमत उत्पादन लागत से अधिक रही हैं वहां मोटे अनाजों और दालों की वसूली कीमत आमतौर पर उत्पादन लागत से कम रही है। उदाहरण के लिए 1997–98 में गेंहू कह न्यूनतम समर्थन कीमत 510 रूपयें प्रति क्विंटल थी। चावल की 415 रूपये प्रति क्विटल जबकि लागत लागत 411 रूपये प्रति क्विंटल थी। इसके विपरीत मोटे अनाजों की वसूली कीमत मात्र 360 रूपये प्रति क्विंटल थी। जबकि उत्पादन लागत 499 रूपये प्रति क्विटल थी। अरहर की उत्पादन लागत 1221 रूपये प्रति क्विटल थी, जबकि वसूली कीमत मात्र 900 रूपये थी। स्वाभाविक है कि मोटे अनाजों तथा दालों के स्थान पर गेंहू व चावल की खेती ज्यादा लाभप्रद थी, इसलिए मोटे अनाज व दालो के अधीन क्षेत्रो पर चावल और गेंहू का उत्पादन किया जाने लगा।

18.5.6 अतिरेक्त वाले राज्यों की ओर झुकाव – आयोग की न्यूनतम समर्थन कीमत से केवल कुछ राज्यों को लाभ मिला है। भारत में लगभग सभी राज्यों में चावल की तथा लगभग 20 राज्यों में गेंहू की खेती होती है। परन्तु भारतीय खाद्य निगम गेंहू की 95 प्रतिशत वसूली पांच राज्यों–पंजाब, आन्ध्र प्रदेश, हरियाणा ,उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडू से की जाती है। न्यूनतम समर्थन कीमत और उत्पादन लागत में व्यापक अन्तर होने के कारण इन पांच राज्यों के किसान अत्यधिक लाभान्बित हुए हैं।

18.5.7 ग्रामीण गरीबों पर प्रभाव – बढती हुई न्यूनतम समर्थन कीमत या वसूली कीमतों से खाद्यानों की कीमतो में लगातार वृद्वि हुई है जिससे खेतिहर मजदूरों, छोटे किसानों तथा सीमान्त किसानों पर बुरा प्रभाव पडता है। उची कीमतों से इन लोंगों को कोई लाभ नहीं होता क्योकि इनके पास विपणन अधिशेष नहीं होता और ये लोग अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बाजार पर निर्भर रहते है। इस प्रकार न्यूनतम समर्थन मूल्यों में वृद्वि का लगभग 80 प्रतिशत ग्रामीण जनता पर तथा सम्पूर्ण शहरी जनता पर बुरा प्रभाव पडता है।

18.5.8 कीमत प्रोत्साहन के राजकोषीय दुष्प्रभाव– जे0 मोहन राव और स्टोर्स के अनुसार जब कीमत प्रोत्साहन के परिणाम स्वरूप कृषि कीमतों मे वृद्वि होती है, जो सार्वजनिक निवेश पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। इसका कारण राजकोषीय संसाधनो में होने वाली कमी है। क्योंकि कृषि कीमतो में वृद्वि की भरपई खाद्य सहायता द्वारा की जाती है। इससे सीधे

सरकार की आय हानि होगी। कीमत वृद्वि के कारण सरकार को सरकारी कर्मचारियों को मंहगाई भत्ता देना पडता है, जिससे राजस्व पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है।

18.5.9 अधिकतम् मूल्य का निर्धारण नहीं– एक अच्छी मूल्य नीति के अन्तर्गत कृषि उत्पाद के मूल्यों के न्यूनतम तथा अधिकतम स्तर दोनेा का ही निर्धारण होना चाहिए। भारत में कृषि मूल्य नीति अब तक सरकार ने मूल्यों को बढने से रोकने के लिए बाजार में हस्तक्षेप की नीति अपनाई है परन्तु अभी उसने कृषि उत्पादों के अधिकतम मूल्य निर्धारण करने के लिए कोई तरीका ढूढने की चेष्टा नहीं की।

18.5.10 अधिक अनुदान– सरकार न केवल कृषि आगतो के लिए अनुदान देती है, बल्कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली के द्वारा देश के गरीबी रेखा के नीचे के लोगो तथा अन्त्योदय परिवारो को रियासती दरों पर खाद्यान्न उपलब्ध कराती है। राय तथा गुलाटी ने यह अनुमान लगाया था कि 1990 के दशक के आरम्भ में उर्वरक, बिजली, सिंचाई तथा साख पर, प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से दिये जाने वाले अनुदान की राशि अत्यन्त बढ गई। जिससे राजकोषीय घाटे में बढोतरी होती जा रही है।

18.5.11 मूल्य नीति को राजनीतिक रंग देना– सरकारी खरीद के लिए फसलों की घोषित गुणवत्ता के मानदण्ड में अनुचित ढील देनी, कृषि मूल्य नीति पर राजनीतिक दबाव का एक उदाहरण हैं। इस प्रकार की ढील का परिणाम यह हुआ है, कि सरकार के पास ऐसी निम्न गुणवत्ता का अनाज इकट्टा हो गया है। जो कि खाने के योग्य नहीं हैं।जनता दल की सरकार का मूल्य निर्धारण के लिए उत्पादन लागत में अतिरिक्त राशि को जोड़ना, इस राजनीतिक दबाव का एक और मूख्य उदाहरण है। राजनीतिक दबाव के अन्तर्गत, प्रत्येक वर्ष खाद्यान्न के मूल्यों को बढ़ाने के कारण देश में स्फीतिकारी दबाव बढ़े हैं। इससे भूमिहीन कृषि से जुड़े श्रमिकों, सीमान्त किसानों, कारीगरों तथा समाज के अन्य कमजोर वर्गों की दशा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। वास्तव में अनाज के बढ़ते दामों ने सरकार की देश में गरीबी को कम करने की चेष्टा में काफी रुकावट डाली है।

18.5.12– फलों तथा सब्जियों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्यों का निर्धारण न होना– इस समय अत्यन्त नश्वर वस्तुओं, जैसे कि दूध, मछली, फल, सब्जियों के न्यूनतम समर्थन मूल्यों को निर्धारित करने की कोई प्रथा नहीं है। इस कारण इन वस्तुओं के मूल्य इनके उत्पादन के असीम वृद्धि की अवस्था में काफी गिर जाते हैं तथा कई बार यह उत्पादन लागत से भी कम हो जाते हैं और इस कारण, इनके उत्पादकों को हानि का सामना करना पड़ता है।पिछले वर्षों में प्याज के मूल्यों में असाधारण वृद्धि, एक प्रकार की परिसीमा की ओर संकेत करती है। इनके अधिकतम मूल्यों को निर्धारित करना बहुत कठिन है। क्योंकि इन वस्तुओं को लम्बे समय के लिए गोदामों में नही रखा जा सकता, इनके लिए बाजार में हस्तक्षेप की नीति भी नहीं लागू की जा सकती। इस कारण इनके मूल्यों को एक सीमा से ऊपर जाने से रोकने के लिए कुछ ओर उपाय करने पड़ेगें।

18.6. भारत की कृषि नीति में सुधार के सुझाव

केवल कीमतों पर अन्यधिक ध्यान देने से लाभ की अपेक्षा हानि हो सकती है। इसका कारण यह है कि इस नीति के परिणमस्वरुप गैर– कीमत क्षेत्र की अवहेलना हो सकती है,

जैसे कि तकनीकि खोजों की अवहेलना तथा उत्पादन मे आने वाली वास्तविक अडचनों की अवहेलना। भारत की कृषि नीति को ओर अधिक प्रभावी बनाने के लिए कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं, जो इस प्रकार हैं–

(1)– न्यूनतम समर्थन मूल्य केवल कुशल किसानों द्वारा खर्च की गई उत्पादन लागत के आधार पर निर्धारित किये जाने चाहिए।

(2)– जहां तक एक फसल के अधिकतम मूल्य का सम्बन्ध है, अभी तक इसके लिए कोई सर्व–स्वीकार्य तरीका नही अपनाया जा सका।

(3)– मूल्य निर्धारण के अतिरिक्त अन्य उपायों जैसे– कृषि तकनीक का विकास, कुशल विपणन व्यवस्था, गोदामों की व्यवस्था, आधारिक संरचना का निर्माण, उत्पादन के साधनों तथा साख की उपलब्धता आदि कदम उठाने चाहिए। तभी मूल्य नीति सफल हो सकेगी।

(4)– कृषि उत्पादनों पर दिये जाने वाले अनुदान को धीरे–धीरे तथा विवेकपूर्ण ढंग से कम किया जाना चाहिए। परन्तु छोटे व सीमान्त किसानों के लिए अनुदान जारी रखे जाने चाहिए।

(5)– कृषि मूल्य नीति का उद्देश्य किसानों के हितों की रक्षा करना है तथा उनको कृषि विकास के लिए प्रोत्साहन देना है परन्तु इससे गैर–कृषि क्षेत्र में कार्यरत लोगों के हितो की हानि नहीं होनी चाहिए।

(6)– किसी फसल के मूल्य को निर्धारण करने के लिए कृषि लागत तथा मूल्य आयोग के कई बातों को ध्यान में रखना पड़ता है। इनकी सूची बहुत लम्बी है तथा इनमें से कई एक–दूसरे से मेल नहीं खाती। इस सूची में संशोधन करने की आवश्यकता है।

(7)– फसलों के न्यूनतम समर्थन मूल्य/ सरकारी खरीद के मूल्य विभिन्न फसलों की बुवाई से पहले ही घोषत कर दी जाने चाहिए। इस प्रकार की अग्रिम घोषणा किसानों को फसलों के उत्पादन के बारे में ठीक निर्णय लेने में सहायता करेगी।

(8)– नश्वर वस्तुओं जैसे– फल, सब्जियों दूध आदि के उत्पादकों के हितों की रक्षा करना आवश्यक है। इसमें तो कोई सन्देह नही, कि सरकार इन सब वस्तुओं के न्यूनतम समर्थन मूल्य निर्धारित नही कर सकती। फिर भी इन वस्तुओं के उत्पादकों को बिचौलियों के शोषण से बचना आवश्यक है।

18.7. सारांश

कृषि मूल्य नीति किसानों के हितों की रक्षा के साथ, उत्पादन बढ़ाने तथा उद्योग के लिए कच्चे माल की नियमित पूर्ति में सहायक है। कृषि मूल्य नीति में मूल्य निर्धारण के साथ कृषि आगतों के मूल्य तथा उपभोक्ता के हितों को ध्यान में रखा जाता है। भारत में स्वतन्त्रता के समय नकारात्मक मूल्य नीति प्रचलित थी परन्तु पिछले कुछ समय से सकारात्मक मूल्य नीति को अपनाया गया है। इसके अन्तर्गत कृषि लागत तथा मूल्य आयोग का गठन किया गया, जो विभिन्न फसलों के लिए न्यून्तम समर्थन मूल्य की घोषणा करता है, जिस पर सरकार किसानों से फसल खरीदती है। आयोग किसानों के हित में कार्य कर रहा है। परन्तु इसमें कुछ कमियां है, जिससे छोटे व सीमान्त किसान इसके लाभो से वंचित है। अतः आयोग को अपने कार्यों का मूल्यांकन करना चाहिए।

18.8. शब्दावली

- ❖ **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।
- ❖ **C_2 उत्पादन लागत**– इसमें उत्पादन लागतों, पट्टे पर ली गई भूमि पर लगान, परिवार श्रम का अनुमानित मूल्य तथा अपनी पूंजी पर ब्याज शामिल किया जाता है।
- ❖ **C_3 उत्पादन लागत**– इसमें C_2 उत्पादन लागत में कुल उत्पादन लागत का 10 प्रतिशत भाग किसानों के प्रबन्धक के रुप में कार्य करने के लिए जोड़ दिया जाया।
- ❖ **वैश्वीकरण** – ऐसी व्यवस्था जहाँ विश्व के सभी देशों में वस्तुएँ लाने ले जाने की स्वतंत्रता हो।
- ❖ **विपणन** – बाजार व्यवस्था जिससे माल को बेचा जा सकें।
- ❖ **वरीयता** – प्राथमिकता या प्रमुखता

18.9.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

5. भारत सरकार ने ..... में खाद्यान्नों के राज्य व्यापार का प्रयोग किया।
6. राज्य व्यापार का प्रयोग से राज्य व्यापार दो मुख्य खाद्यान्नों–..... तक सीमित था।
7. कृषि मूल्य में स्थायित्व लाने के प्रयास में मार्च 1964 में ..... क्षेंत्रों का गठन किया गया।
8. देश को.....गेहूँ क्षेत्रों में विभाजित किया गया। दक्षिण भारत में ..... क्षेत्र बनाये गये।
9. .....में खाद्यान्न मूल्य समिति (झा समिति) का गठन किया गया।
10. सरकार ने झा समीति की सिफारिशों को मानत हुए ..... में 'कृषि मूल्य आयोग' का गठन किया।
11. .....में इस आयोग का नाम बदलकर 'कृषि लागत तथा मूल्य आयोग ' रख दिया गया।
12. भारतीय खाद्य निगम गेंहू की 95 प्रतिशत वसूली पांच राज्यों..... से की जाती है।

<u>उत्तर</u> –(1) अप्रैल 1959 (2) गेहूँ और चावल (3) खाद्य क्षेंत्रों (4) आठ, चावल (5) 1964(6)1965 (7)1980 (8) पंजाब आन्ध्र प्रदेश हरियाणा उत्तर प्रदेश तथा तमिलनाडू ।

18.10.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सोनी आर0 एन0; ''*कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय* '' ; 2007; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।

2. माथुर बी0 एल0; (2011) ''*कृषि अर्थशास्त्र*''; अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
3. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) '' *कृषि अर्थशास्त्र* ''; साहित्य भवन आगरा।
4. TENTH FIVE YEAR PLAN 2002-07 CHAPTER 3.4
5. Mitra Sudipand Jagjeet Singh Sareen, IISD–TERI–IDRC Adaptive Policies Project, CHAPTER 5 "Adaptive policy case study:agricultural price policy in India" .
6. http://cacp.dacnet.nic.in
7. Bilgrami, S.A.R. 'An Introduction to Agricultural Economics;' (2006) Himalaya Publishing House Delhi
8. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh 'Fundamentals of Agricultural Economics',(2006) Himalaya Publishing House Delhi.

18.11.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'Outlines of Agricultural Economic's, MacMillan
2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), 'Agriculture and Economic Development'; Select books,New Delhi.
3. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh(2009),'Fundamentals Agricultural Economics', Himalaya Publishing House.
4. Desai,R.G. (2009), 'Agricultural Economics', Himalaya Publishing House.
5. Dantawala, M.L. et al. (1991): 'Indian Agricultural Development since Independence',Oxford& IBH, New Delhi.

18.12.निबन्धात्मक प्रश्न

(1) कृषि मूल्य नीति से क्या अभिप्रायः है ? मूल्य नीति के उद्देश्यों तथा मुख्य अंश पर प्रकाश डालिये।

(2) कृषि लागत तथा मूल्य आयोग के कार्यो का वर्णन करते हुए कृषि मूल्य नीति में इसकी भूमिका की व्याख्या कीजिए।

(3) भारत की कृषि मूल्य नीति का मूल्यांकन करो तथा उसमें सुधार के सुझाव दो।

इकाई 19. कृषि लाभ अधिकतमकरण तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली

इकाई संरचना

19.1 प्रस्तावना

19.2 उद्देश्य

19.3 कृषि लाभ अधिकतमकरण

19.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली

19.5 लक्षित सार्वजनिक वितनण योजना

19.6 सारांश

19.7 शब्दावली

19.8 अभ्यास प्रश्न

19.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

19.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

19.11 निबन्धात्मक प्रश्न

19.1. प्रस्तावना

यह कृषि मूल्य नीति और विपणन खण्ड की 19वीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आप कृषि मूल्य नीति, मूल्य और लागत आयोग का स्वरुप एवं भूमिका की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर चुकें है।

प्रस्तुत इकाई में कृषि लाभ अधिकतमकरण पर प्रकाश डाला गया है, तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की भी जानकारी प्रस्तुत की जायेगी।

इसके अध्ययन से आप कृषि लाभ अधिकतमकरण तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की सम्पूर्ण प्रणाली से अवगत हो जायेगें।

19.2.उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप

- कृषि लाभ अधिकतमकरण को समझ सकेगें।
- सार्वजनिक वितरण प्रणाली पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेगें।
- लक्षित सार्वजनिक वितनण योजना की स्थिति को जान जायेंगें।

19.3. कृषि लाभ अधिकतमकरण

जिस प्रकार प्रत्येक उत्पादक का उद्देश्य अपने लाभ को अधिकतम् करना होता है, उसी प्रकार किसान का उद्देश्य भी अपने लाभ को अधिकतम् करना होता है जिससे वह अपनी कृषि को आधुनिक तकनीकी द्वारा उन्नत कर सकें और अधिकाधिक लाभ प्राप्त कर देश के विकास में योगदान करें। किसान उस बिन्दु पर अधिकतम् लाभ प्राप्त करेगा, जिस पर उसकी उपज से प्राप्त सीमान्त आगम (आय) उसे उत्पादन हेतु प्रयुक्त की गई सीमान्त लागत के बराबर हो आर्थात् सीमान्त आगम = सीमान्त लागत (MR = MC) हो। क्योंकि सीमान्त आगम और सीमान्त लागत, कुल आगम और कुल लागत में परिवर्तन को प्रदर्शित करती है। अगर किसान के सीमान्त उत्पाद की लागत उसे बच कर प्राप्त होने वाली सीमान्त आय से अधिक अर्थात् (MC > MR) हो तो प्रत्येक अगली अतिरिक्त इकाई के उत्पादन में किसान को हानि होगी, इसलिए किसान उस बिन्दु पर उत्पादन करेगा जहाँ MR = MC होगा । लाभ अधिकतमकरण के दो महत्वपूर्ण नियम है।

(1) किसान उसी बिन्दु तक उत्पादन करेगा जहाँ कुल आगम कुल परिवर्तनशील लागत के बराबर (TC = TR) होगा अर्थात किसान तब तक उत्पादन बढ़ायेगा जब तक सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर (MR = MC) न हो जायें

(2) MR = MC बिन्दु के बाद सीमान्त लागत सीमान्त आगम से अधिक अर्थात् MC > MR होगा। इस स्थिति को चित्र (19.1) द्वारा दर्शया गया है। चित्र में B बिन्दु सन्तुलन बिन्दु है क्योंकि इस बिन्दु पर MC = MR है और इस बिन्दु के बाद MC > MR है।

चित्र (19.1) कृषि लाभ अधिकतमकरण

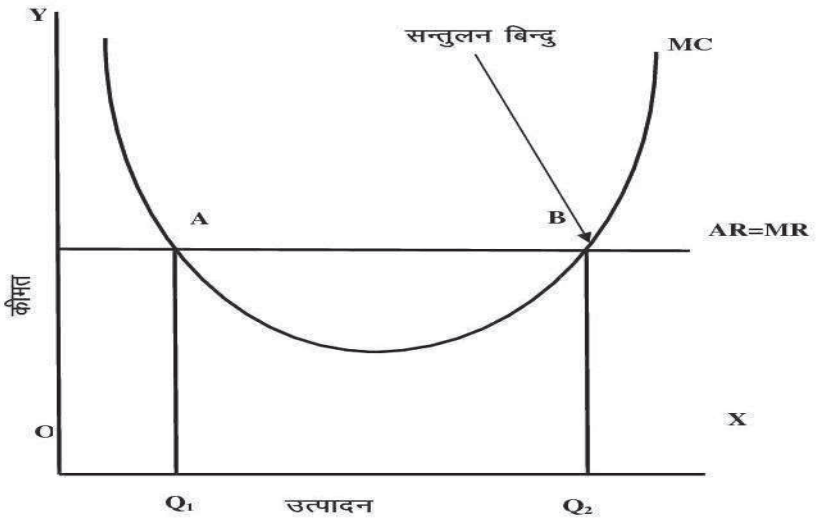

A बिन्दु पर भी MC= MR है, लेकिन इस स्थिति में किसान केवल OQ_1 अर्थात् कम मात्रा का ही उत्पादन करता है जबकि B बिन्दु पर OQ_2 अर्थात् अधिक मात्रा का उत्पादन करके किसान अधिकतम् उत्पादन प्राप्त करेगा।

तालिका (19.1) विभिन्न वर्षो में उत्पादित उत्पादन की मात्रा तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा अन्य योजनाओं के लिए वितरित व आबंटित अनाज की मात्रा का प्रदर्शित

वर्ष	अनाजो का उत्पादन (लाख टन)	सार्वजनिक प्रणाली व अन्य योजनाओं के लिए अनाज(लाख टन)
1999–2000	1964	184
2000–01	1857	152
2001–02	1995	210
2002–03	1636	317
2003–04	1985	377
2004–05	1912	310
2005–06	1603	402

स्रोतः– भारतीय सरकार आर्थिक समीक्षा 2005–06 तथा वार्षिक रिपोर्ट रिजर्व बैंक

लाभ अधिकतम् की स्थिति पर पहुँचने के लिए भारत में किसानों को अधिकतम उत्पादन हेतु प्रेरित किया जाता है, ताकि प्रति हेक्टेयर भूमि उत्पादन लाभदायक हो और किसानों को अधिकतम् लाभ प्राप्त हो। इस अधिक उत्पादन का बाजार में उचित मूल्य मिले। इसके लिये सरकार न्यूनतम् समर्थन मूल्य पर भारतीय खाद्य निगम के माध्यम से किसानों से बड़ी

मात्रा में खाद्यान्न खरीदती है जिसे सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से गरीबी रेखा के नीचे तथा ऊपर रहने वाले लोगों को अलग्–2 मूल्य तथा मात्रा में वितरित किया जाता है। जिससे एक तरफ तो किसानों को अधिकतम् लाभ प्राप्त हो और दूसरी तरफ देश की गरीब जनता को खाद्य सुरक्षा प्राप्त हो।

तालिका (19.1) में किसानों द्वारा विभिन्न वर्षो में उत्पादित उत्पादन की मात्रा तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा अन्य योजनाओं के लिए वितरित व आबंटित अनाज की मात्रा को प्रदर्शित किया जाता है। जिसके विश्लेषण से पता चलता है कि 1999–2000 में सरकार ने कुल अनाज उत्पादन 1964 लाख टन में से 184 लाख टन सार्वजनिक वितरण व अन्य योजना हेतु आबंटित किया। जबकि 2005–06 में कुल अनाज उत्पादन 1603 लाख टन था। जबकि सरकार ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली तथा अन्य योजनाओं के लिए कुल 402 लाख टन अनाज आबंटित किया।

19.4. सार्वजनिक वितरण प्रणाली

द्वितीय विश्वयुद्ध के आरम्भ होते समय तक उपभोकता वस्तुओं का वितरण भारत में साधारण व्यापारिक स्रोतो द्वारा सन्तोषजनक रुप से हो रहा था। युद्ध के प्रारम्भिक वर्षो में कोई विशेष कठिनाई नहीं हुई, किन्तु 1942 से उपभोक्ता वस्तुओं की कमी का काल आरम्भ हो गया क्योंकि मित्रराष्ट्रो की सेनाओं का भारत में जमाव हो गया।इसलिए विशेष रुप से खद्यान्न, वस्त्र, चीनी तथा कागज आदि की कमी अनुभव हुई। इन्हीं परिस्थितियों में राशन व्यवस्था प्रारम्भ हुई। गेहूँ, चावल, चीनी आदि एक सीमित मात्रा में सरकार द्वारा स्थापित की गई राशन की दुकानों पर राशन कार्डो पर मिलने लगे। खाने की वस्तुओं की कमी के साथ–साथ कपड़े की कमी भी हो गयी। इसके लिए भी कपड़े की दुकानें मोहल्ले के हिसाब से निश्चित कर दी गयी जहाँ निश्चित मूल्य पर एक निश्चित मात्रा में कपड़ा मिल सकता था। ऊनी कपड़े के वितरण की व्यवस्था भी इसी प्रकार की गयी।युद्ध समाप्त होने के बाद भारत में स्वतन्त्र राज्य की स्थापना हुई। वास्तव में यहीं से मूल्यों की वृद्धि और मुद्रा स्फीति का इतिहास आरम्भ होता है। ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयी जिनमें निर्धन वर्ग के लोगों को उनके जीवन–निर्वाह की वस्तुओं का मिलना कठिन हो गया। इन परिस्थितियों में राशन–प्रणाली स्थायी सी बन गयी। इस राशन–प्रणाली को ही सार्वजनिक वितरण प्रणाली कहा जाता है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अभिप्रायः उस प्रणाली से है जिसका उद्देश्य उपभोकताओं को सस्ती कीमतों पर आवश्यक उपभोग वस्तुएँ उपलब्ध कराना है, ताकि उन्हें इनकी बढ़ती कीमतों के प्रभाव से बचाया जा सके तथा जनसंख्या को न्यूनतम आवश्यक उपभोग स्तर प्राप्त करने में सहायता दी जा सकें। दूसरे शब्दों में "सार्वजनिक वितरण प्रणाली से तात्पर्य उपभोक्ताओं को उचित मूल्यों पर अनिवार्य वस्तुओं की पूर्ति हेतु सार्वजनिक व्यवस्था से है।" इस प्रणाली का सर्वोच्च लक्ष्य गरीबों की मद्द करना है। भारत में सार्वजनिक वितरण प्रणाली को चलाने के लिए सरकार व्यापारियों तथा उत्पादकों से वसूली कीमतों पर वस्तुएँ खरीदती है। जिनका वितरण राशन की दुकानों और उचित दर दुकानों द्वारा किया जाता है। खाद्यानों के अतिरिक्त इस प्रणाली का प्रयोग खाद्य तेल, चीनी, कोयला, मिट्टी का तेल

तथा कपड़े के वितरण के लिए भी किया जाता है। इसे किसी वर्ग विशेष तक सीमित नहीं रखा गया, जिन परिवारों के पास निश्चित घरेलु पता है, उन सबको राशन कार्ड दिये गये हैं। प्रत्येक 2000 या इससे अधिक आबादी वाले गाव समूह के लिए एक उचित मूल्य की दुकान होगी, लेकिन आदिवासी या पहाड़ी क्षेत्र में प्रत्येक 1000 की आबादी वाले गाँव समूह के लिए एक दुकान होगी। सम्भवतः विश्व में यह अपनी तरह की सबसे बड़ी वितरण प्रणाली है।

19.4.1– सार्वजनिक वितरण प्रणाली के मुख्य अंग– मुख्य रूप से सार्वजनिक वितरण प्रणाली के छः अंग है। जिनके माध्यम से उपभोकताओं को वस्तुएं उपलब्ध करयी जाती है–

(1) उचित मूल्य या राशन की दुकानें– सारे देश में खाद्यान्नों की उचित मूल्य पर बेचने वाली राशन की दुकानें है, जिनकी संख्या 1960 के अन्त में 47 हजार थी जो 1984 में 3. 12 लाख तक पहुँच गई, 31 मार्च 2005 तक लगभग 4.85 लाख से अधिक की दुकानें थी। जिनकी संख्या अब लगभग 5 लाख है। जिसमें से अधिकांश ग्रामीण क्षेत्रो में थी। इन दुकानों पर गेंहु, चावल तथा चीनी सरकार द्वारा निर्धारित मूल्यों पर राशन कार्डों के आधार पर उपभोकता को बेचा जाता है। इन दुकानों पर आवश्यकतानुसार कभी–2 वनस्पति व सरसों का तेल, कोयला, मिट्टी का तेल तथा कपड़ा भी उपलब्ध करा दिया जाता है।

(2) सरकारी उपभोकता भण्डार– सहकारी उपभोक्ता भण्डार भी सार्वजनिक वितरण प्रणाली का अंग है। इन भण्डारों में उपभोक्ताओं की आवश्यकता की वस्तुओं के साथ– साथ कण्ट्रोल की वस्तुओं की बिक्री की व्यवस्था होती है। 1999 को एक राष्ट्रीय सहकारी उपभोक्ता संघ, 35 राज्य सहकारी उपभोक्ता संघ, जिला स्तर पर 965 केन्द्रीय/थोक उपभोक्ता समितियाँ और आधार स्तर पर 26732 प्राथमिक उपभोक्ता समितियाँ कार्य कर रहीं थी।

(3) नियन्त्रित कपड़े की बिक्री की दुकानें– सस्ते कपड़े की बिक्री की दुकानों की संख्या उतनी अधिक नहीं है, किन्तु फिर भी यह दुकानें देश के सभी भागों में है और इन दुकानों पर सरकार को सस्ते कपड़े की योजना के अन्तर्गत बना हुआ कपड़ा राशन कार्डो के आधार पर बेचा जाता है। इस समय इस प्रकार की दुकानों की संख्या 66,300 के लगभग है।

(4) सोफ्ट कोक डिपो– उपभोक्ता को उचित मूल्य पर सोफ्ट कोक बेचने के लिए सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त कोयले के डिपो सब बेड नगरों में काम कर रहें है। जिनकी संख्या 245 हजार है।

(5) सुपर बाजार– सुपर बाजारों की स्थापना बड़े–बड़े नगरों में हो गयी है। इन भण्डारों में तो साधारण उपभोग की सभी वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं। इस समय इन भण्डारों की संख्या 100 के लगभग है।

(6) मिट्टी के तेल के विक्रेता– इस समय मिट्टी का तेल नियन्त्रित वस्तुओं के अन्तर्गत आता है, जिसकी बिक्री के लिए 245 हजार विक्रेता है जो सरकार द्वारा निर्धारित मूल्य पर मिट्टी के तेल का विक्रय करते है।

19.4.2 सार्वजनिक वितरण प्रणाली और भारतीय खाद्य निगम – सार्वजनिक वितरण प्रणाली के लिए खाद्यान्न उपलब्धता की व्यवस्था भारतीय खाद्य निगम द्वारा की जाती है। 1965 में स्थापित भारतीय खाद्य निगम खाद्यन्नों व अन्य खाद्य सामग्री की खरीदारी, भण्डारण, संग्रहण, स्थानान्तरण, वितरण तथा बिक्री का काम करता है। निगम की ओर तो यह निश्चित करता है कि किसानों उनके उत्पादन की उचित कीमत मिलें तथा दूसरी ओर यह निशिचित करता है कि उपभोक्ताओं को भण्डार से एक सी कीमतों पर खाद्यान्न उत्पन्न हो। निगम को यह भी जिम्मेदारी सौपीं गई है कि वह सरकार की ओर से खाद्यान्नों के प्रतिरोधक भण्डार (बफर स्टॉक) बना कर रखे। भारत में मौसमी प्रभाव के कारण कृषि उत्पादन में उतार चढ़ाव होते रहते हैं इसलिए निगम एक प्रतिरोधक भण्डार रखता है। इन्दिरा गांधी विकास और अनुसंधान संस्थान के **डा0 किरीट पारिख** के अध्ययन में यह सिफारिश की गई कि खाद्य सुरक्षा हेतु गेहूं का 100 लाख टन तथा चावल का 60 लाख टन प्रतिरोधक भण्डार पर्याप्त होगा।

जुलाई 1995 में केन्द्र का प्रतिरोधक भण्डार 356 लाख टन के स्तर पर पहुॅच गया, जबकि इसको 223 लाख टन तक रखने की सिफरिश की गयी थी। चूॅकि 1994–95 में एक टन खाद्यान्न को रखने की कीमत 1447 रुपये थी। इसलिये अतिरिक्त भण्डार को रखने की लगभग लागत 969 करोड़ रुपये थी। जनवरी 1997 में प्रतिरोधक भण्डार न्यूनतम मानदण्ड से 30 प्रतिशत अधिक था। परन्तु जनवरी 1998 में यह पुनः 45 प्रतिशत अधिक हो गया। 1991–192 में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के माध्यम से 190 लाख टन खाद्यान्ननों (88 लाख गेहूॅ तथा 102 लाख टन चावल) का वितरण हुआ, परन्तु बाद के वर्षों में इसमें गिरावट आई है। 1991–92 में चावल और गेहूॅ का कुल आबंटन 219.20 लाख टन था जबकि उठाव 190 लाख टन था। इस प्रकार उठाव आबंटन का 86.7 प्रतिशत था। 2001–02 में खाद्यान्न आबंटन 303.70 लाख टन था जबकि उठाव केवल 138.40 लाख टन था इस प्रकार उठाव आबंटन का मात्र 45.6 प्रतिशत था। यह कम उठाव चिन्ता का कारण बन गया है क्योंकि इस कारण निगम के पास अनाज का भण्डार बढ़ता जा रहा है। जिसके कारण भण्डारण, तथा रखरखाव पर भारी राशि खर्च हो रही है जबकि गरीब जनता महंगाई की मार झेल रही है।

19.4.3 सार्वजनिक वितरण प्रणाली और खाद्य अनुदान – सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत सस्ती दर की लगभग 5 लाख दुकानों द्वारा प्रतिवर्ष 30,000 करोड़ रुपयें की वस्तुओं को लगभग 160 परिवारों को वितरित किया जाता है। जिसे हेतु सरकार को बडी मात्रा में प्रतिरोधक भण्डारों हेतु खाद्यान्न खरीदने पड़ते है और उसे राशन की दुकानों के माध्यम से सब्सिडी मूल्य पर वितरित किया जाता है। जिस कारण सरकार बडी राशि सब्सिडी (अनुदान) के रुप में व्यय करती है। इस व्यय राशि में लगातार वृद्धि देखी गई है। जिसे तालिका (19.2) में दर्शाया गया है। 1980–81 में अनुदान राशि 650 करोड़ रुपये थी जो 1985–86 में 1650 करोड रुपये , 1990–91 में 2450 करोड रुपये , 1995–96 में 5377 करोड रुपये , 2001–02 में 17612 करोड रुपये और 2003–04 में बढ़कर 25800 करोड रुपये हो गई। जो 1980–81 में कुल सरकारी व्यय का प्रतिशत थी जो 1985–86 में कुल

सरकारी व्यय का 2.89 प्रतिशत, 1990–91 में कुल सरकारी व्यय का 2.33 प्रतिशत, 1995–96 में कुल सरकारी व्यय का 2.90 प्रतिशत, 2001–02 में कुल सरकारी व्यय का 4. 83 प्रतिशत और 2003–04 में बढ़कर कुल सरकारी व्यय का 5.20 प्रतिशत हो गई।

तालिका 19.2 खाद्य अनुदानपर केन्द्र सरकार का व्यय

वर्ष	व्यय (करोड रुपये) चालू कीमतो पर	कुल सरकारी व्यय का प्रतिशत
1980–81	650	2.89
1985–86	1650	3.11
1990–91	2450	2.33
1995–96	5377	2.90
2000–01	12125	3.61
2001–02	17612	4.83
2003–04	25800	5.20

स्रोत–भारत सरकार, आर्थिक समीक्षा (2004–05) और पहले के अंक

पिछले वर्षों में इसमें और भी अधिक वृद्धि हुई है। जिससे केन्द्र सरकार पर अनुदानों का बोझ बढ़ती जा रहा है। जिसका विवरण तालिका (91.3) में दिया। गया है कि 2005–06 में कुल अनुदान राशि 23,071 करोड रुपये थी जो 2006–07 में 23828 करोड रुपये, 2007–08 में 31260 करोड रुपये, 2008–09 में 43668 करोड रुपये और 2009–10 में बढ़कर 58,242 करोड रुपये हो गई, जिसने सरकार को यह सोचने पर मजबुर कर दिया है कि सार्वजनिक वितरण प्रणाली को गरीबो तक सीमित किया जाय।

तालिका (19.3) खाद्य अनुदान हेतु जारी राशि (करोड़ रुपये में)

वर्ष	भारतीय खाद्य निगम	राज्यों	कुल
2005–06	19871	320	23071
2005–06	20786	3042	23828
2005–06	27760	3500	31260
2005–06	36744	6924	43668
2005–06	46867	11375	58242

Source-Annual Report-2010-11 Department of Food and Public Distribution

19.4.4 सार्वजनिक वितरण प्रणाली गरीबों के लिए खाद्य सुरक्षा– खाद्य सुरक्षा का अर्थ है सभी लोगों को सभी समयों पर पर्याप्त प्राप्त मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध कराना ताकि वे सक्रिय व स्वास्थ्य जीवन व्यतीत कर सकें। **पी0वी0 श्री निवासन** का कहना है कि इसके लिए न केवल उचित मात्रा में खाद्यान्न उपलब्ध हो बल्कि लोगों के पास इसे क्रय करने की उपयुक्त शक्ति भी हो ताकि वह आवश्यकतानुसार खाद्यसन्न क्रय कर सकें। खाद्य सुरक्षा समस्या के समाधान के लिये भारत सरकार ने तीन खाद्य आधारित सुरक्षा जाल अपनाये है। सार्वजनिक वितरण प्रणाली, समेकित बाल विकास सेवायें तथा दोपहर भोजन

कार्यक्रम। सार्वजनिक वितरण प्रणाली का मुख्य उद्देश्य राशन की दुकानों के माध्यम से गरीबों को खाद्य सुरक्षा उपलब्ध कराना है।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सरकार गेहुँ , चावल, चीनी, खाद्य तेल, साफ्ट कोक और मिट्टी का तेल बेचने की व्यवस्था करती है। किन्तु इनमें से चार मदो चावल, गेहूँ, चीनी तथा मिट्टी के तेल का कुल विक्रय में हिस्सा 86 प्रतिशत था। तथा अन्य वस्तुओं तैसे बाजरा, ज्वार, दालें व अन्य अनाज कोयला व कपड़े का हिस्सा नाम मात्र का था जिसका विवरण तालिका (19.4) में दिया गया है।

श्री राधाकृष्ण और उनके सहकर्मियों ने राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण के 42 वें रौंद कि आधार पर 1986–87 के लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली के गरीबों के लिए खाद्य सुरक्षा पर प्रभाव का अध्ययन किया। जिसमें बिहार और उत्तर प्रदेश में इस प्रणाली का प्रर्दशन निराशाजनक था जबकि केरल और आन्ध्र प्रदेश में यह प्रणाली प्रभावी रुप से लागू थी और लोग इसका लाभ उठा रहे थे।

तालिका (19.4) सार्वजनिक वितरण प्रणाली में वितरित मदों का विवरण

क्रय0 सं0	वस्तु	कुल क्रय में प्रतिशत
1	चावल	26.70
2	गेंहू	10.08
3	बाजरा	0.09
4	ज्वार	0.27
5	अन्य अनाज	0.44
6	दालें	0.20
7	चीनी	34.84
8	खाद्य तेल	8.54
9	मिट्टी का तेल	14.58
10	कोयला	0.31
11	मानक कपड़ा	3.94

Source-PDS Reform and Scope for Commodity Targetting

अखिल भारतीय स्तर पर इस प्रणाली में अनाज के क्रय में एक तरफ समृद्ध राज्य जैसे पंजाब व हरियाणा बहुत कम आनाज की खरीद कर रहे थे वहीं दूसरी तरफ गरीबी के उच्च स्तर वालें राज्य जैसे बिहार, उड़ीसा, मध्य प्रदेश व उत्तर प्रदेश में अनाज की खरीद कम थी। इसलिए **श्री राधाकृष्ण** इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि " प्रभावी फैलाव और अनुदान के रुप में किया गया अतिरिक्त राज्य स्तर पर व्यय इस बात की गारन्टी नहीं देता कि गरीब वर्गो की मदद की जा रही है। यह प्रणाली खर्चीली और अधिकतर अलक्षित हो रही है।"

श्री राधाकृष्ण ने सार्वजनिक वितरण प्रणाली का गरीबी को कम करने के रुप में प्रभाव का भी अध्ययन किया है। समस्त भारत पर विचार करें तों सभी उपभोक्ता अनुदान का निर्धनता पर प्रभाव मर्यादित था, अनुदान ने निर्धनता को ग्राम क्षेत्र में 1.66 प्रतिशत और

शहरी क्षेत्रों में 1.71 प्रतिशत ही कम किया। जिसका विवरण तालिका (19.5) में दिया गया है। जिससे पता चलता है कि केरल, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, गुजरात, महाराष्ट्र आदि राज्यों में गरीबी की कमी का प्रतिशत अन्य राज्यों की तुलना में अधिक या जबकि उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, पंजाब, हरियाणा व राजस्थान में गरीबी निवारण में इसकी भूमिका सोचनीय थी।

तालिका (19.5) 1986–87 में सार्वजनिक वितरण प्रणाली के प्रभावधीन गरीबी में प्रतिशत गिरावट

क्रम संख्या	राज्य	गरीबी में प्रतिशत कमी	
		ग्रामीण क्षेत्र	शहरी क्षेत्र
1.	केरल	5.49	3.62
2.	आन्ध्र प्रदेश	4.64	3.24
3.	कर्नाटक	4.33	1.88
4.	गुजरात	3.85	2.67
5.	महाराष्ट्र	2.05	1.75
6.	पश्चिम बंगाल	1.67	2.36
7.	असम	1.50	1.03
8.	मध्य प्रदेश	1.43	0.92
9.	राजस्थान	0.91	0.40
10.	हरियाणा	0.50	0.64
11.	पंजाब	0.55	0.44
12.	बिहार	0.30	0.37
13.	उड़ीसा	0.30	0.69
14.	उत्तर प्रदेश	0.22	0.82
	अखिल भारत	1.66	1.71

Source-Annual Report-2010-11 Department of Food and Public Distribution

19.4.5– सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार की नीति– सार्वजनिक वितरण प्रणाली का सर्वोच्च उद्देश्य गरीबों की मदद करना है। इसके लिए गरीबों की पहचान बुनियादी समस्या है। इसके लिए सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सुधार के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए निम्न सुझाव दिये–

(1) गरीबों की पहचान के कार्य को नौकरशाही की अपेक्षा पंचायती राज संस्थाओं को सौंप देना चाहिए।

(2) विस्तृत उपभोक्ता सर्वेक्षणों द्वारा ऐसी वस्तुओं की पहचान की जानी चाहिए, जो सार्वजनिक वितरण में गरीबों की अधिक आर्थिक सुरक्षा में सहायक हो सकें और अन्य वस्तुएँ जो गैर–निर्धनों द्वारा इस्तेमाल की जाती है, धीरे–धीरे खुले बाजार में हस्तान्तरित कर देनी चाहिए।

(3) गरीबों को प्रभावी रुप में सुरक्षा के लिए अनिवार्य वस्तुओं की जारी कीमत और बाजार कीमत में काफी अन्तर होना चाहिए ताकि सार्वजनिक वितरण प्रणाली की वस्तुओं को खरीदने के लिए गरीब आकर्षित हो सकें।

(4) सार्वजनिक वितरण प्रणाली को रोजगार कार्यक्रमों जैसे जवाहर रोजगार योजना व रोजगार आश्वासन योजना के माध्यम से लागू करना चाहिए, क्योंकि इन कार्यक्रमों के गरीबों को दोहरे लाभ प्राप्त होते हैं।

(5) राज्य सरकार को खाद्य स्टाम्प या प्रमाण पत्र पंचायती राज्य संस्थाओं को जारी कर देने चाहिए, ताकि वे इनको जवाहर रोजगार आश्वासन कार्यक्रम के चालकों को श्रमिकों में बाटने के लिए सौंप दें।

(6) ग्रामीण क्षेत्र में बच्चों के साथ अकेली माताएं या बेसहारा विधवाओं को शामिल किया जायें।

(7) सभी भूमिहीन किसान, श्रमिक, छोटे दस्तकार इसमें शामिल किए जाने चाहिए।

(8) शहरी क्षेत्रों का चुनाव ध्यानपूर्वक करना चाहिए, गन्दी–बस्तियाँ ऐसे क्षेत्र जा परम्परा से गरीब सम्प्रदायों के निवास है।

19.5. लक्षित सार्वजनिक वितनण योजना

खाद्य अनुदान के बढ़ते हुए भार को कम करने के उद्देश्य से तथा उसे उन लोगों तक बेहतर तरीके से पहुँचाने के लिए जिन्हें उसकी अधिक आवश्यकता है। भारत सरकार ने 1 जून 1997 से लक्षित सार्वजनिक वितरण योजना लागू की। इस योजना के अधीन राज्य सरकारों से गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले लोगों का पता लगाने को कहा गया। इस गरीबी रेखा से नीचे उन परिवारों का रखने की व्यवस्था थी जिनकी वार्षिक आय 15000 रुपयें से कम है। शुरु में प्रति परिवार 10 किलोग्राम खाद्यान्न प्रति मास देने की व्यवसथा की गई जिसे बाद में बढ़ाकर 25 किलोग्राम कर दिया गया। 1 अप्रैल 2002 को राशन की मात्रा और बढ़ाकर 35 किलोग्राम प्रति मास प्रति परिवार कर दी गई।

लक्षित सार्वजनिक वितरण योजना में 6 करोड़ गरीब परिवारों को लाभ पहुचाने के उद्देश्य से 72 लाख टन अनाज की मात्रा निर्धारित की गई। गरीबों की पहचान का काम राज्य सरकारों को योजना आयोग के 1993–94 के गरीबी आकलन के विशेषज्ञ समूह के आधार पर करनी थी। विशेषज्ञ समूह की अध्यक्षता **प्रोफेसर लकडावाला** ने की थी जहाँ तक गरीबी रेखा के नीचे (बीपीएल) तथा ऊपर रहने वाले (एपीएल) परिवारों के लिए निर्गमन कीमतों का सम्बन्ध है,उनमें काफी अन्तर रखा गया है। मार्च 2000 में सरकार ने निगर्मित कीमत को गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों के लिए भारतीय खाद्य निगम की आर्थिक लागत का 50 प्रतिशत तथा गरीबी रेखा के ऊपर रहने वाले परिवारों के लिए आर्थिक लागत के बराबर निश्चित कर दिया। उदाहरण के लिए, गेंहू के लिए भारतीय खाद्य निगम की 2000–01 में आर्थिक लागत 830 रुपये प्रति क्विंटल थी, इसलिए बीपीएल परिवारों के लिए निर्गमन कीमत 415 रुपये प्रति क्विंटल (अर्थात 4.15 रुपये प्रति किलो) निर्धानित की गई चावल के लिए भारतीय खाद्य निगम की 2000–01 में आर्थिक लागत 1130 रुपये प्रति क्विंटल थी, इसलिए बीपीएल परिवारों के लिए चावल की निर्गमन कीमन

565 रुपये प्रति क्विंटल (अर्थात 5.65 रुपये प्रति किलो) तथा एपीएल परिवारों के लिए 1130 रुपये प्रति क्विंटल (अर्थात 11.30 रुपये प्रति किलो) निर्धारित की गई।

गरीबी रेखा के ऊपर रहने वाले परिवारों के लिए इन ऊंची कीमतों का निर्धारण करने से इन परिवारों ने सार्वजनिक विवरण प्रणाली से खरीदारी बहुत कम कर दी। इसके परिणामस्वरुप भारतीय खाद्य निगम के पास अनाज के भारी भण्डार जमा हो गये। इसलिए जुलाई 2001 में एपीएल परिवारों के लिए निर्गमन कीमत को कम करके आर्थिक लागत का 70 प्रतिशत कर दिया गया। 2010–11 में बीपीएल और अन्त्योदय परिवारों के लिए गेहूं की निगर्मन कीमत 8.45 रुपये प्रति किलोग्राम तथा चावल की निर्गमन कीमत 11.85 रुपये प्रति किलो थी।

19.5.1 अन्तोदय अन्न योजना– अन्तोदय अन्न योजना दिसम्बर 2000 में शुरु की गयी थी, इस योजना का उद्देश्य 652 लाख की कुल गरीबी की रेखा के नीचे की आबादी में से 100 लाख सबसे गरीब परिवारों का पता लगाकर उन्हें गेहूं 2 रुपये प्रति किलो तथा चावल 3 रुपये प्रति किलो की निम्न दर से प्रत्येक महीने प्रत्येक परिवार को 25 किलो खाद्यान्न उपलब्ध कराना है। इसे 1 अप्रैल 2002 को बढ़ाकर 35 किलो प्रति माह प्रति परिवार कर दी गई। इस प्रकार अन्त्योदय के अन्तर्गत 1 करोड़ बीपीएल परिवारों को योजना का लाभ दिया गया।

2003–04 में अन्त्योदय याजना में पहला विस्तार करते है। जब जून 2003 को जारी आदेश द्वारा 50 लाख बीपीएल परिवारों, जो विधवाओं, बीमार, 60 साल व अधिक आयु वर्ग के लोगों को इनमें जोड़ा गया। इसके साथ 1.5 करोड़ (अर्थात 23 प्रतिशत बीपीएल) परिवार इसमें शामिल हो गयं। वर्ष 2004–05 बजट में इस योजना में दूसरा विस्तार करते हुए 3 अगस्त 2004 को जारी आदेश द्वारा और 50 लाख बीपीएल परिवारों को इसमें सम्मिलित किया गया । जिसमें भूमिहीन किसान, कृषि श्रमिक, सीमान्त किसान, कुम्हार, चर्मकार, बुनकर, लौहार, बढ़ई, कुली, रिक्शाचालक, सपेरे, मोची, बेसहारा, फल–फूल विक्रेता आदि को शामिल किया गया। इस प्रकार अन्त्योदय योजना के अन्तर्गत 2 करोड़ (30.66 बीपीएल) परिवार सम्मिलित हो गये। 2005–06 के बजट में पुनः 50 लाख और परिवार को इस योजना में शामिल करने की बात कही गई। इस प्रकार इस योजना में 2. 50 करेड़ परिवारों को शामिल कर लिया गया।

19.5.2– लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के तहत खाद्यान्न आवंटन– अन्त्योदय योजना तथा बीपीएल श्रेणी के लिए 35 किलोग्राम खाद्यान्न आवंटन प्रतिमाह निर्धारित किया गया। जिससे 6.52 करोड़ परिवारों पर लागू है जहाँ तक गरीबी रेखा के ऊपर (एपीएल) को खाद्यान्न वितरण की बात है तो यह खाद्यान्न उपलब्धता के आधार पर 10 किलो से 35 किलोग्राम तक हो सकता है। वर्ष 2010–11 में सरकार लक्षित सार्वजनिक वितरण के तहत अन्त्योदय, बीपीएल तथा एपीएल परिवारों के लिए 470.80 लाख टन खाद्यान्न जारी कर चुकी है। इसके अलावा

5.90 लाख टन खाद्यान्न आपदा राहत के तहत राज्यों को जारी कर चुकी है। आबंटित खाद्यान्न की कीमत गेंहू के लिए 8.45 रुपये प्रति किलो तथा 11.85 रुपये प्रति किलो क

दर पर जारी की गई। 2010–11 (दिसम्बर 2010 तक) खाद्यान्न को उठाव का विवरण तालिका (19.6) में दिया गया है।

तालिका(19.6) 2010–11 (दिसम्बर 2010 तक) खाद्यान्न को उठाव का विवरण

क्र सं	लक्षित सार्वजनिक वितरण योजना	गेंहू	चावल	कुल
1	अन्त्योदय खाद्य योजना	23.69	49.06	72.74
2	गरीबी रेखा के नीचे	43.99	84.50	128.49
3	गरीबी रेखा के ऊपर	74. 49	52.50	126.99
कुल		**186.05**	**142.17**	**126.99**

Source-Annual Report-2010-11 Department of Food and Public Distribution

जून 1999 में जारी दिशा निर्देशों में लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के क्रियान्वयन व निरीक्षण में पंचायती राज संस्थाओं को साथ लेने की बात कही गई साथ ही पंचायत, वार्ड, तहसील, तथा जिला और राज्य स्तर सतर्कता समीतियों के गठन पर जोर दिया गया जिससे समय समय पर ये राशन की दुकानों में वस्तु मूल्य व आबंटित राशन कार्ड उपलब्ध खाद्यान्न, बीपीएल परिवारों की सूची तथा राशन कार्डो के सत्यापन सम्बन्धि जानकारी प्राप्त कर सकें।

19.5.3– सार्वजनिक वितरण प्रणाली (नियन्त्रण) आदेश 2001–सार्वजनिक वितरण प्रणाली में आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति तथा उपलब्धता बनाये रखने के लिए 31 अगस्त 2001 को सार्वजनिक वितरण प्रणाली (नियन्त्रण) आदेश 2001 अधिसूचित किया गया। आदेश में निम्न मुद्दों पर मुख्य रुप से प्रावधान है–

1–गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों की पहचान

2–राशन कार्ड

3–पैमाना तथा जारी मूल्य

4– खाद्यान्नों का वितरण

5–लाइसेंसिग

6–मॉनिटरिंग

आदेश में सभी राज्य सरकारों, केन्द्र शासित राज्यों से यह सुनिश्चित करने के लिए कहा गया कि अन्त्योदय तथा बीपीएल के रुप में पहचाने गये परिवार वास्तव में गरीब है। राज्य सरकारें व केन्द्र शासित राज्यों की सरकारें राशन कार्डो की जांच कर अपात्र और फर्जी राशन कार्डो पर रोक लगाये। यह भी सुनिश्चित कर के लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली का लाभ उचित लाभार्थियों को ही प्राप्त हो रहा है। ऐसा न होने पर आवश्यक वास्तु अधिनियम 1955 के तहत आपराधिक मामला माना जायेगा।

19.5.4– लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत करने के उपाय– सरकार पर सब्सिडी के बोझ को कम करने तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली की लागत को नियन्त्रित करने के लिए कदम उठाया गया और **नौ बिन्दुओं की कार्यान्वयन योजना** लागू की गई। 2005 में योजना आयोग और ओआरजी मार्ग द्वारा प्रस्तुत मूल्यांकन रिपोर्ट में अन्त्योदय तथा बीपीएल परिवारों की पहचान में भारी त्रुटियाँ सामने आयी। जिस कारण खाद्य

मंत्रियों के राष्ट्रीय सम्मेलन में नौ बिन्दुओं की कार्यान्वयन योजना विकसित की गई, जिसके नौ कार्यान्वयन बिन्दु निम्न प्रकार हैं–

i. अन्त्योदय व बीपीएल सूची की समय–2 पर समीक्षा की जाये, जिससे सही लोगों को योजना का लाभ प्राप्त हो।

ii. योजना में निरन्तर व सुनिश्चित वस्तु वितरण की व्यवस्था की जाये तथा रिसाव की स्थिति में दोषियों के विरुद्ध कार्यवाही की जायें।

iii. पंचायती राज संस्थान तथा सलाहकार समीतियों को भागीदार बनाया जायें।

iv. प्रणाली में पारदर्शिता हेतु अन्त्योदय तथा बीपीएल परिवारों की सूचि, वस्तुओं की कीमत आदि की सूचना, सूचना पट पर प्रदर्शित की जाये।

v. प्रोद्योगिकी (कम्पयूटरीकरण) के प्रयोग द्वारा जिलेवार आवंटन खाद्यान्न की सूचना वेबसाइटो पर डाली जायें।

vi. सार्वजनिक वितरण प्रणाली के विवरण की वस्तुओं को राशन की दुकानों तक पहुँचाने की व्यवस्था हो।

vii. समय पर खाद्यान्न की उपलब्धता सुनिश्चित की जायें।

viii. जनता में जागरुकता लाई जाये जिससे वह प्रणाली के संचालन पर सतर्क दुष्टि रखें।

ix. आर्थिक रुप से व्यवहारिक बनाने के लिए राशन की दुकानों पर गैर सार्वजनिक वितरण प्रणाली की वस्तुएँ बेचने की अनुमति दी जायें।

राज्य तथा केन्द्र शासित सरकारों से दिसम्बर 2010 में प्राप्त रिर्पोट के अनुसार निम्न तथ्य सामने आये–

(क) 26 राज्यों/केन्द्रशासित राज्यों में अनुमानित 208.57 लाख अपात्र व फर्जी राशन कार्ड है।

(ख) खाद्यान्न की राशन की दुकान पर ही पहुंचाने की व्यवस्था मात्र 17 राज्यों/केन्द्रशासित राज्यों में है।

(ग) सर्तकता समितियों व पंचायती राज संस्थाओं की भागीदारी 27 राज्यों/केन्द्रशासित राज्यों में थी।

(घ) 30 राज्यों/केन्द्रशासित राज्यों के राशन दुकानों पर बीपीएल सूची प्रदर्शित थी।

(ङ) लक्षित सार्वजनिक वितरण के कम्प्यूटरीकरण की शुरूवात 10 राज्यों में हो गई।

(च) 33 राज्यों/केन्द्रशासित राज्यों ने अन्त्योदय व बीपीएल सूची की समीक्षा की।

(छ) 20 राज्यों/केन्द्रशासित राज्यों में जिलेवार राशन की दुकानों पर आवंटित खाद्यान्न का विवरण का प्रदर्शन था।

(ज) 27 राज्यों/केन्द्रशासित राज्यों में सर्तकता समितियों के प्रशिक्षण व्यवस्था की गई।

19.5.5 लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली का मूल्यांकन– वर्तमान समय में लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली का मूल्यांकन 26 राज्यों और केन्द्रशासित प्रदेशों में राष्ट्रीय अनुप्रयुक्त आर्थिक अनुसंधान परिषद द्वारा किया गया है। अध्ययन में पाया गया की तीन राज्यों में ग्लोबल पोजिशनिंग व्यवस्था (GPS) के कार्यान्वयन के प्रयास किये जा रहे हैं

तथा तमिलनाडू ने इसके लिए 2009–10 में 64000 रूपये जारी किये है। इस प्रणाली में प्रयोग किये जा रहे परिवहनों पर पहचान प्रदर्शित करने की व्यवस्था की जा रही है। ग्राम पंचायतों, सर्तकता समितियों, शहरी स्थानीय निकायों तथा स्वयं सहायता समूह द्वारा राशन की दुकानों का मासिक प्रमाणीकरण किया जा रहा है। देश की कुल 5.05 लाख राशन दुकानों में से 1,25,743 सहकारिता, महिला स्वयं सहायता समूह, ग्राम पंचायत, शहरी स्थानीय निकाय तथा अन्य स्वयं सहायता समूहों को आवंटित थी।

लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली संचालन का कम्प्यूटरीकरण करने के लिए 11 वीं पंचवर्षीय योजना में 376 करोड़ रूपये के आवंटन को मंजूरी दे दी है। स्मार्ट सरकार के लिए राष्ट्रीय संस्थान, हैदराबाद, मार्च 2008 से विभाग के साथ इसमें लगा हुआ है। योजना को 4 पायलट राज्यों (आन्ध्र प्रदेश, असम, छत्तीसगढ़ तथा दिल्ली) के 3–3 जिलों में लागू किया जा रहा है। आन्ध्र प्रदेश, छत्तीसगढ़, केरल, मेघालय, सिक्किम तथा उड़ीसा में बारकोड कूपन वाले राशन कार्ड की व्यवस्था कर दी गई है। हरियाणा व चण्ड़ीगढ में लक्षित सार्वजनिक प्रणाली के तहत स्मार्ट कार्ड जारी किये गये। गेहूं के स्थान पर गेहूं का आटे के वितरण की व्यवस्था जनवरी 2008 से आठ राज्यों में शुरू हो गई है।

19.6.सारांश

किसानों के अधिकतम लाभ देने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी भूमि पर अधिकतम उत्पादन करें। अधिकतम् उत्पादन की स्थिति में भूमि का सीमान्त उत्पादन अर्थात् उत्पादन से प्राप्त सीमान्त आय उस उत्पादन हेतु की गई सीमान्त लागत के बराबर होनी चाहिए। अधिकतम् उत्पादन की स्थिति में सरकार द्वारा बड़ी मात्रा में किसानों से उनका उत्पाद खरीदा जाता है जिससे किसानों को उनके उत्पाद का उचित मूल्य मिल सकें और सरकार की विभिन्न कल्याण योजनाओं और सार्वजनिक वितरण प्रणाली हेतु खाद्यान्न की व्यवस्था हो जायें।

सार्वजनिक वितरण प्रणाली वह व्यवस्था है जिसमें उपभोक्ताओं को आवश्यक वस्तुएं उचित मूल्य पर सीमित मात्रा में निरन्तर प्राप्त होती रहती है। इसके लिए प्रत्येक 2000 या अधिक आबादी वाले गांव समूह या आदिवासी या पहाड़ी क्षेत्र में प्रत्येक 1000 की आबादी वाले गांव समूह के लिए एक राशन की दुकान होगी। इस समय भारत में इनकी संख्या लगभग 5 लाख है। जिनसे गेहूं चावल, चीनी, मिट्टी का तेल, कोयला आदि वितरित किया जाता है। इस प्रणाली हेतु खाद्यान्न की व्यवस्था भारतीय खाद्य निगम करता है। जिसके लिए सरकार सब्सिड़ी देती है। इस प्रणाली द्वारा गरीबों को खाद्य सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया जाता है। राधाकृष्ण के अध्ययन से इसकी अनेक कमियों का पता चला इसलिए सरकार ने जून 1997 और लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली की शुरूवात की।

लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा अन्त्योदय और बीपीएल परिवारों को 35 किलो खाद्यान्न प्रतिमाह प्रदान करती है। अन्त्योय अन्न योजना 2000 में शुरू की गई अब इसके अन्तर्गत 2.50 करोड़ परिवार शामिल है। इस प्रकार लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली में 6.52 करोड़ परिवारों पर लागू है। 2001 के सार्वजनिक वितरण प्रणाली (नियंत्रण)

आदेश द्वारा इसमें प्रावधान करेंगें। प्रणाली में पारदर्शिता हेतु बीपीएल परिवारों की सूची की समीक्षा, व्यवस्था का कम्प्यूटरीकरण, पंचायती शहरी निकाय, ग्राम समितियों की भागीदारी आदि व्यवस्था लागू की गई।

19.7. शब्दावली

- ❖ **लक्षित** —लक्ष्य के अनुसार या निश्चित लक्ष्य पर आधारित।
- ❖ **सहकारी** —वह व्यवस्था जिसमें कुछ लोग एक उद्देश्य के लिए साथ मिल कर कार्य करते हैं।
- ❖ **अन्त्योदय** —सामाजिक रूप से अन्तिम पायदान के लोगों का उदय अर्थात् गरीबों में से भी सबसे गरीबों का विकास
- ❖ **अनुदान/रियायत** — सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।

19.8.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :—

13. किसान तब तक उत्पादन बढ़ायेगा जब तक सीमान्त .... न हो जायें
14. सन्तुलन बिन्दु के बाद सीमान्त ..... होगा।
15. प्रत्येक ..... या इससे अधिक आबादी वाले गाव समूह के लिए एक उचित मूल्य की दुकान होगी, लेकिन आदिवासी या पहाड़ी क्षेत्र में प्रत्येक ..... की आबादी वाले गाँव समूह के लिए एक दुकान होगी।
16. उचित मूल्य या राशन की दुकानों की संख्या अब लगभग..... ..... है।
17. ..... में स्थापित भारतीय खाद्य निगम खाद्यन्नों व अन्य खाद्य सामग्री की खरीदारी, भण्डारण, संग्रहण, स्थानान्तरण, वितरण तथा बिक्री का काम करता है।
18. डा0 किरीट पारिख के अध्ययन में यह सिफारिश की गई कि खाद्य सुरक्षा हेतु गेहूं का ..... तथा चावल का .... प्रतिरोधक भण्डार पर्याप्त होगा।
19. सार्वजनिक वितरण प्रणाली में सरकार गेहुँ , चावल, चीनी, खाद्य तेल, साफ्ट कोक और मिट्टी का तेल बेचने की व्यवस्था करती है। किन्तु इनमें से चार मदो .... का कुल विक्रय में हिस्सा 86 प्रतिशत था।
20. भारत सरकार ने .....से लक्षित सार्वजनिक वितरण योजना लागू की।
21. 1 अप्रैल 2002 को राशन की मात्रा और बढ़ाकर ..... . प्रति मास प्रति परिवार खाद्यान्न की व्यवसथा कर दी गई।

22. मार्च 2000 में सरकार ने निगर्मित कीमत को गरीबी रेखा से नीचे रहने वाले परिवारों के लिए भारतीय खाद्य निगम की आर्थिक लागत का..... ..... तथा गरीबी रेखा के ऊपर रहने वाले परिवारों के लिए आर्थिक लागत का ..... निश्चित कर दिया।
23. अन्तोदय अन्न योजना ..... में शुरु की गयी थी।
24. अन्त्योदय योजना तथा बीपीएल श्रेणी .....परिवारों पर लागू है।

उत्तर –(1) सीमान्त आगम सीमान्त लागत के बराबर (MR = MC) (2) सीमान्त लागत सीमान्त आगम से अधिक अर्थात MC > MR (3) 2000 ; 1000 (4) 5 लाख (5)1965 (6) 100 लाख टन ;60 लाख टन (7) चावल, गेहूँ, चीनी तथा मिट्टी के तेल (8) 1 जून 1997 (9) 35 किलोग्राम (10)50 प्रतिशत ; 70 प्रतिशत (11) दिसम्बर 2000 (12) 6.52 करोड़ परिवारों ।

19.9.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सोनी आर0 एन0; *''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय ''* ; 2007; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।
2. मिश्र एस0के0 पुरी, वी0के0; (2008) *''भारतीय अर्थशास्त्र ''*; हिमालया पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली।
3. दत्त रुद्र एवं सुन्दरम के0पी0 एम0; (2007) *''भारतीय अर्थव्यवस्थाए''*;एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।
4. माथुर बी0 एल0; (2011) *''कृषि अर्थशास्त्र'';* अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
5. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) *'' कृषि अर्थशास्त्र ''*; साहित्य भवन आगरा।
6. मामेरिया डॉ0 चतुर्भज एवं जैन डॉ0 एस0सी0; (1995) *''भारतीय अर्थशास्त्र '*; प्रकाशक साहित्य भवन आगरा।
7. Annual Report 2010-11 Department of Food and Public Distribution (Ministry of Consumer Affairs,Food and Public Distribution)Govt. of India,New Delhi

19.10.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'*Outlines of Agricultural Economic's*, MacMillan
2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Development*'; Select books,New Delhi.
3. Sandh A.N. and Amarjit Singh (2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House, New Delhi.
4. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House New Delhi.

5. Dantawala,M.L.etal. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford & IBH, New Delhi.

19.11.निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक वितरण प्रणाली से आप क्या समझते हैं? भारत की सार्वजनिक वितरण व्यवथा का वर्णन करो।
2. लक्षित सार्वजनिक वितरण प्रणाली की समीक्षा करो।
3. क्या लक्षित सार्वजनिक वितरण व्यवस्था पूरानी सार्वजनिक वितरण प्रणाली पर सुधार है? व्याख्या करें।

इकाई 20. कृषि अतिरेक्त एवं कृषि विपणन व्यवस्था

इकाई संरचना

20.1 प्रस्तावना

20.2 उद्देश्य

20.3 कृषि अतिरेक्त

20.4 कृषि विपणन व्यवस्था

20.5 भारत में कृषि विपणन व्यवस्था

20.6 सहकारी विपणन व्यवस्था

20.6 सारांश

20.7 शब्दावली

20.8 अभ्यास प्रश्न

20.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

20.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

20.11 निबन्धात्मक प्रश्न

20.1. प्रस्तावना

यह कृषि मूल्य नीति और विपणन खण्ड की 20वीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आप सार्वजनिक वितरण प्रणाली की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर चुकें है।

प्रस्तुत इकाई में कृषि अतिरेक्त की जानकारी के साथ कृषि विपणन व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है, तथा सहकारी विपणन व्यवस्था की भी जानकारी प्रस्तुत की जायेगी।

इसके अध्ययन से आप कृषि विपणन व्यवस्था की सम्पूर्ण प्रणाली से अवगत हो जायेगें।

20.2.उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त के महत्व को समझ सकेगें।
- भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था की सम्पूर्ण कार्य प्रणाली को समझ सकेगें।
- सहकारी विपणन व्यवस्था की कृषि विपणन में भूमिका से अवगत हो जायेगें।

20.3. कृषि अतिरेक्त

कृषि प्रधान देश प्रभावपूर्ण रूप से काफी हद तक विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त पर निर्भर करते है। किसी देश के विकास में बढता हुआ कृषि उत्पादन ही नही बल्कि वास्तव में बढता हुआ विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। किसी देश की तीव्र तथा स्थिर विकास दर के लिए कृषि उत्पादन में वृद्धि ही काफी नही है। इसके लिए आवश्यक है कि विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त मे निरन्तर व समानरूप से वृद्धि हो। विपणन योग्य अतिरेक्त कृषि उपज का वह भाग है जिसे किसान विपणन के लिए बाजार में प्रस्तुत करता है, अर्थात कृषि उपज का वह भाग जिसे कृषक वर्ग समाज के अन्य उपभोक्ताओं के लिए बाजार में प्रस्तुत करता है, विक्रय योग्य अतिरेक्त कहलाता है। किसान जो भी कृषि उत्पाद पैदा करता है, उनमें से वह अपने उपभोग के लिए रखी गई, उपज वस्तु में मजदूरी भुगतान हेतु, बीज तथा पशुओं के उपभोग हेतु कुछ अंश आदि को निकालकर जो शेष बचता है, उसे कृषि अतिरेक्त कहतें है। इस कृषि अतिरेक्त को ही किसान बाजार में बेचता है। इसे विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त को बेचकर वह जो धन प्राप्त करता है, उससे गैर–कृषि क्षेत्र की उत्पादित वस्तुओं का क्रय कर लेता है।

20.3.1 विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त का आर्थिक महत्व – विकासशील देशों में विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त में निरन्तर वृद्धि तीव्र औद्योगिकरण की पूर्व शर्त है। एम0 कॉन0, डब्लू0 एच0 निकोल्स तथा डब्लू0 डब्लू रोस्टोव जैसे अर्थशास्त्रियों भी इस तथ्य से सहमती रखतें है कि अगर विपणन योग्य अतिरेक्त में उत्पादन के साथ वृद्धि नहीं हुई तो तीव्र विकास सम्भव नही है। विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त का किसी भी देश के आर्थिक विकास निम्न महत्व होता है।

(1) कच्चे माल की पूर्ति – अनेक उद्योग जैसे – वस्त्र, जूट, तथा चीनी आदि कच्चे माल के लिए कृषि पर निर्भर करते है। यदि किसानों के पास कपास, जूट तथा गन्ने की अतिरेवत्त मात्रा नही हो तो इन उद्योगों के लिए कच्चे माज की कमी हो जायेगी और

इनका विकास रूक जायेगा। इसलिए देश के तीव्र तथा निरन्तर औद्योगिक विकास के लिए कृषि क्षेत्र के विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त का होना आवश्यक है।

(2) पूजीं निर्माण का आधार – विकासशील देशों में विकास हेतु पूंजी निर्माण की कमी एक प्रमुख समस्या है। ये देश मुख्य रूप से कृषि प्रधान होते है। जिस कारण कृषि क्षेत्र में विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त अधिक होने पर ही किसानों की आय अधिक होने से बचत अधिक जिसके परिणाम स्वरूप पूंजी निर्माण की दर भी अधिक होगी। और अधिक पूंजी निर्माण द्वारा ही देश का तीव्र आर्थिक विकास सम्भव होगा।

(3) देश की जनसंख्या के लिए खाद्यान्न उपलब्धता – विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त द्वारा ही देश की गैर कृषि क्षेत्र की जनसंख्या के लिए खाद्यान्न की उपलब्धता सुनिश्चित होती है। यदि विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त पर्याप्त नही होता, तो ऐसी स्थिति मे विदेशों से खाद्यान्न आयात करन पडता है। जिससे विदेशी मुद्रा का प्रयोग देश के आर्थिक विकास में न होकर उपभोग के लिए करना पडता है।

(4) पूंजीगत वस्तुओं के आयात की पूर्ति – विकासशील देशों द्वारा विकसित देशों को मुख्य रूप से कृषि उत्पाद का निर्यात किया जाता है। यदि कृषि क्षेत्र में विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त अधिक हो, तो कृषि उत्पाद के निर्यात में वृद्धि करके विदेशी मुद्रा अर्जित की जा सकती है। जिसे पूंजीगत वस्तुओं के आयात से देश विकास को गति मिलती है।

(5) आन्तरिक बाजार का विस्तार – विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त की मात्रा पर ही विकासशील देशों में आन्तरिक बाजार का विस्तार निर्भर करता है। विपणन अतिरेक्त अधिक होने पर किसानों की आय में वृद्धि होती है, जिससे उनका रहन–सहन का स्तर बढाता है और नये–नये क्षेत्रों में नवीन वस्तुओं की मांग बढती है जिससे देश का आर्थिक विकास होता है।

(6) उचित कीमत नीति निर्धारण में सहायक – विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त की निरन्तरता के कारण ही नियमित मण्डियों की स्थापना को प्रोत्साहन मिलता है। साथ ही विपणन अतिरेक्त उचित कीमत नीति निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जिससे किसानों को अधिकाधिक उत्पादन हेतु प्रोत्साहन मिलता है।

इस प्रकार विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त देश की अर्थव्यवस्था के विकास को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करता है। इसलिए कृषि उत्पादन वृद्धि के साथ विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त में निरन्तर वृद्धि करना अत्यन्त आवश्यक है। प्रो0 लेविस ने विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त के महत्व को व्यक्त करते हुए कहा है कि "आर्थिक एवं औद्योगिक विकास के लिए कृषि उपजों के विपणन योग्य अतिरेक्त का होना आवश्यक है। यदि कृषि अतिरेक्त को विपणन हेतु बाजार मे प्रस्तुत नही किया जाएगा, तो शहरी जनसंख्या के लिए खाद्यान्न उपलब्ध नही हो सकेगें। जिस विदेशी मुद्रा का उपयोग देश के आर्थिक विकास के लिए होता है, वह विदेशों से खाद्य आयात पर व्यय करना पडेगा। "

20.3.2. विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त को निर्धारित करने वाले तत्व– सामान्यतया यह अनुभव किया गया है, कि विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न होता

है। जबकि एक क्षेत्र और एक फसल मे भी भिन्न–2 हो सकता है। किसी अर्थव्यवस्था में विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त को निम्न तत्व निर्धारित करते हैं–

(1) उत्पादन का स्तर– विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त मुख्य रुप से उत्पादन के स्तर उत्पादकता पर निर्भर करता है। जिस फसल की उत्पादकता अधिक होती है उसका उत्पादन क्षेत्र बढ़ता है और विपणन योग्य अतिरेक्त भी बढ़ता है। कृषि विकास के साथ उत्पादन का स्तर बढ़ता है और विपणन अतिरेक्त में भी वृद्धि होती है।

(2) उत्पाद का मूल्य– कृषि उत्पाद का मूल्य महत्वपूर्ण ढंग से विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त को प्रभावित करता है। उत्पाद का उचित मूल्य प्राप्त होने पर कृषक वर्ग अधिक उत्पादन करने का ऊँचा मूल्य प्राप्त होता है, तो वह निर्धारित विपणन अतिरेक्त में ज्यादा मात्रा विपणन हेतु बाजार में लाने का प्रयास करता है।

(3) खेत का आकार– यह विपणन योग्य अतिरेक्त को प्रभावित करने वाला महत्वपूर्ण कारक है क्योंकि अधिकतर विपणन योग्य अतिरेक्त अधिक मात्रा में पूर्ति मध्यम और बड़े किसानों द्वारा ही की जाती है। छोटे व सीमान्त किसान अपने खेत के छोटे आकार के कारण खर्चीली पड़ती है जो उत्पादन बढाने में बाधा उत्पन्न करती है। भारत में खेत के आकार तथा विपणन अतिरेक्त के विभिन्न अध्ययनों से प्राप्त आकलनों को तालिका (20.1) दर्शाया गया है। जिसमें धर्म नारायण का आंकलन 1950–51 का पाटनिक का आकलन 1960–61 तथा अशोक गुलाटी के आकलन 1971–72 से सम्बन्धित है और काफी सार्थक एवं प्रसंगिक है। तालिका में प्रदर्शित विभिन्न आकलनों से ज्ञात होता है कि खेत के आकार में वृद्धि के साथ विपणन अतिरेक्त बढ़ता जाता है साथ ही कृषि विकास अर्थात समय के साथ भी अतिरेक्त बढ़ता जाता है।

तालिका (20.1) कुल कृषि उत्पादन में विपणन योग्य अतिरेक्त का प्रतिशत तथा खेत के आकार में सम्बन्ध

खेत का आकार (एकड़ में)	कुल कृषि उत्पाद में विपणन योग्य अतिरेक्त का प्रतिशत		
	धर्म नारायण का आंकलन	पाटनिक का आंकलन	गुलाटी का आंकलन
0–5	34	23	26
5–10	27	27	45
10–15	23	31	52
15–20	30	36	55
20–25	32	45	60
25–30	40	49	64
30 से अधिक	47	58	78

(4) किसानों की नकद की आवश्यकता– किसानों की आर्थिक स्थिति भी विपणन अतिरेक्त को प्रभावित करती है। फसल उत्पादन के बाद किसान की बहुत सी नकद देनदारी होती

है। जैसे– राजस्व, ऋणों की अदायगी, आवश्यक वस्तुओं का क्रय, कृषि अदायें आदि। मध्यम तथा बड़े किसानों की आवश्यकता अधिक होती है जिस कारण वह बड़ी मात्रा मे विपणन अतिरेक्त बाजार में बेचते हैं।

(5) उपभोग की आदत– विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त को निर्धारित करने वाला अन्य महत्वपूर्ण कारक किसानों की उपभोग की आदत है। जब तक वह समस्त उत्पाद बाजार में बेच देते थे। इसके साथ ही जीवन स्तर में वृद्धि के साथ गैर कृषि उत्पाद तथा पूंजीगत आरामदायक व विलाासिता की वस्तुओं के उपभोग में वृद्धि हुई है जिस कारण इनकी खरीदारी हेतु बड़ी मात्रा में नकद पैसों की आवश्यकता होती है जिसे अधिक विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त को बाजार में बेच कर ही पूरा किया जा सकता है।

(6) फसल की प्रकृति – फसल मुख्य रूप से दो प्रकार की होती है। खाद्य फसल तथा व्यापारिक फसल। खाद्य फसलों की विपणन योग्य अतिरेक्त की मात्रा कम होती है। जबकि व्यापारिक फसलों का उत्पादन बाजार में बेचने के उद्देश्य से ही किया जाता है। जेसें – गन्ने, जूट, तिलहन, तम्बाकू, कपास, आदि का लगभग सम्पूर्ण उत्पाद विपणन हेतु बाजार में ही लाया जाता है। इसलिए इन फसलों को नकद फसल भी कहा जाता है।

20.3.3 भारत में विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त – प्राचीनकाल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में कृषि उत्पादन कार्य किसानों द्वारा मुख्य रूप से अपनी और अपने परिवार की उदरपूर्ति के लिए किया जाता था। अपनी नकद आवश्यकता पूर्ति के लिए किसान अपने उत्पादन का कुछ भाग बेच देता था, किन्तु कृषि उत्पादन को बाजार में बेचने की यह प्रक्रिया सन्तोषजनक नही था। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जूट और सूती वस्त्र उद्योग के विकास के कारण तथा बीसवीं शताब्दी में चीनी उद्योग के विकास से कृषि क्षेत्र में व्यापारिक फसलों के महत्व में वृद्धि हुई। इसी दौरान नगरीकरण के विकास के साथ जनसंख्या में वृद्धि की गति में तेजी आयी। जिस कारण उनकी खाद्यान्न आवश्यकता की पूर्ति हेतु अधिक उत्पादन के साथ विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त का महत्व बढ़ गया।

स्वंतत्रता के बाद देश में भूमि सुधारो तथा अन्य कृषि विकास योजनाओं के परिणाम स्वरूप गाँवों में आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न किसानों का एक ऐसा वर्ग बन गया जिसने कृषि को एक व्यवसाय के रूप में ग्रहण किया। इस व्यवस्था में विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त में तेजी से वृद्धि हुई। भारत में कृषि अतिरेक्त के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी उपलब्ध नही है। 1950–51 में धर्म नारायण द्वारा किये गये अध्ययन के अनुसार भारत में कुछ कृषि उत्पाद का 33.4 प्रतिशत ही उत्पादकों द्वारा बाजार में बेचा जाता है। निरीक्षण व विपणन निदेशालय के अनुसार औसतन कृषि अतिरेक्त का 25 प्रतिशत भाग ही विपणन हेतु बाजार में आता है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के अनुसार यह आकंड़ा का 30 प्रतिशत तक है।

खाद्य संस्थान की रिपोर्ट के अनुसार ''कुल खाद्यान्न उत्पादन का 75 प्रतिशत कभी भी बाजार में नहीं बेचा गया। इस प्रकार विपणन अतिरेक्त कुल खाद्यान्न उत्पादन का 25 प्रतिशत तक ही रहा।'' एक स्वतंत्र अनुमान के अनुसार भारत में कुल खाद्य उत्पादन में से

1/3 ही विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त के रूप में होता है, जिसमें 32 प्रतिशत धान, 35 प्रतिशत गेहूँ, 25 प्रतिशत ज्वार बाजरा है। लेकिन नकद या व्यापारिक फसलों की स्थिति में यह 90 से 95 तक होता है। भारत में वस्तु विनिमय प्रणाली की उपलब्धता, कम उत्पादन, यातायात के साधनों का अभाव मध्यस्थों की कपटपूर्ण नीति, किसानों की अशिक्षा, बाजार मूल्य की जानकारी का अभाव आवश्यक सुविधाओं का अभाव तथा उचित विपणन व्यवस्था की कमी के कारण ही विपणन योग्य कृषि अतिरेक्त में कमी रही है।

20.4. कृषि विपणन व्यवस्था

विपणन उत्पादन का एक अभिन्न अंग है, क्योंकि किसी भी उत्पादन क्रिया को पूरा करने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पादित वस्तु की बिक्री की जाये। इसके बिना उत्पादन कार्य अधूरा ही रहेगा। उचित कृषि विपणन व्यवस्था से किसानों की आय में वृद्धि होती है। जिसके परिणामस्वरूप कृषक उत्पादन बढ़ाने का यथासम्भव प्रयास करता है। उत्पादन बढ़ने से एक तरफ तो खाद्यान्न समस्या का हल होता है। दूसरी तरफ किसानों की आय व वृद्धि से उनके जीवन स्तर में सुधार आता है। जिससे देश के आर्थिक विकास को गति मिलती है। विपणन एक आर्थिक क्रिया है, जिसमें वस्तुओं व सेवाओं को अदला–बदला जाता है तथा उनका मूल्य मुद्रा में आंका जाता है। इसका अभिप्राय विनिमय सम्बन्धी क्रियाओं से है जिनके द्वारा वस्तु को उत्पादन केन्द्र से उपभोक्ता तक हस्तान्तरित किया जाता है। विस्तृत अर्थ में कृषि विपणन से तात्पर्य उन सभी क्रियाओं से लगाया जाता है, जिनका सम्बन्ध कृषि उत्पादन का किसान के यहां से अन्तिम उपभोक्ता तक पहुंचाने में किया जाता है।

प्रो0 अबॉट के अनुसार '' कृषि विपणन के अंतर्गत उन समस्त कार्यों को सम्मिलित किया जाता है जिनके द्वारा खाद्य पदार्थ एवं कच्चा माल फार्म से उपभोक्ता तक पहुंचता है।'' **ए0 पी0 गुप्ता** के शब्दों में ''विपणन कार्य से तात्पर्य उन कार्यों क्रियाओं और सेवाओं को करने से हैं। जिनके द्वारा मूल उत्पादक तथा अन्तिम उपभोक्ता के मध्य वस्तुओं के लेन–देन का सम्बन्ध स्थापित हेाता है।'' **प्रो0 कोल्स एवं उल** के अनुसार '' विपणन कार्यों से तात्पर्य उन प्रमुख विशिष्ट क्रियाओं को करने से हैं, जो विपणन कार्य, वस्तुओं की विपणन प्रक्रिया की प्रमुख आर्थिक क्रिया है। कृषि उपज के विपणन में निम्न महत्वपूर्ण क्रियाएं सम्मिलित की जा सकती हैं–

1. कृषि उपज का एकत्रीकरण
2. कृषि उपज का प्रमाणीकरण तथा श्रेणी विभाजन
3. कृषि उपज का प्रसंस्करण
4. उपज को गोदामों में रखना
5. उपज का उत्पाद केन्द्र (खेत) से उपभोग केन्द्र तक परिवहन
6. उपज का थोक व्यापार
7. उपज का फुटकर व्यापार
8. उपर्युक्त कार्यों के लिए वित्त व्यवस्था
9. सभी कार्यों में निहित जोखिम उठाना

20.4.1 अच्छी विपणन व्यवस्था की विशेषताएं– विपणन व्यवस्था उत्पादन क्रिया का महत्वपूर्ण अंग है। और किसानों के विकास के साथ देश का आर्थिक विकास भी इस पर निर्भर करता है। इसलिए एक विपणन व्यवस्था में निम्न विशेषताओं का होना आवश्यक हैं–

1. मध्यस्थ विक्रेताओं की संख्या कम से कम होनी चाहिए।
2. कृषि उत्पाद को संग्रह करने के लिए भण्ड़ारगृहों का उचित प्रबन्ध होना चाहिए।
3. विपणन प्रणाली में किसानों के हित के साथ उपभोक्ताओं के हितों की भी सुरक्षा होनी चाहिए।
4. उचित और सस्ती परिवहन व्यवस्था होनी चाहिए ताकि किसान नियमित मण्डियों या शहरी मण्डियों में अपना उत्पाद बेच सकें।
5. किसानों को अपनी उपज को विलम्ब से बेचने की क्षमता अर्जित करनी चाहिए, जिससे उचित मूल्य पर वस्तु को बेचने जा सकें।
6. किसानों को बाजार मूल्य के बारे में पूर्ण सूचना प्रदान की जानी चाहिए ताकि वे आढ़तियों, दलालों तथा बिचौलियों के चक्र में न फसें।
7. विपणन का कार्य ऐसी संस्थाओं, एवं एजेन्सियों को सौंप दिया जाना चाहिए, जो किसानों को उचित मूल्य दिला सके।
8. सरकार को समय–समय पर किसान गोष्ठियां, सम्मेलनों, सेमिनारों का आयोजन करना चाहिए, जिससे किसान अपनी समस्या सरकार के समक्ष रख सकें।
9. बाजार भाव को स्थानीय समाचार पत्रों में छपवाना चाहिए। साथ ही दूरदर्शन केन्द्रों, कृषि समाचार व रेड़ियों द्वारा भी बाजार भाव का प्रचार व प्रसार करना चाहिए।

20.4.2 कृषि विपणन के उद्देश्य – कृषि विपणन का मुख्य उद्देश्य तो किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाना है। लेकिन इसके साथ ही इससे उपभोक्ताओं सहित देश के विकास भी प्रभावित होते है मुख्य रूप से कृषि विपणन के निम्न उद्देश्य है –

(1) किसानों का विपणन उद्देश्य – कृषि विपणन व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य किसानों को उजप का अधिकाधिक मूल्य दिलाकर उनके लाभ को अधिकतम् करना है। क्योंकि किसानों की आय उनकी उत्पादन नीति तथा उत्पादन क्षमता को प्रभावित करती है। अपने उत्पादन का लाभकारी मूल्य प्राप्त करने पर वह अपने उत्पादन की मात्रा में वृद्वि करने के लिए प्रोत्साहित होता है। जो देश को खाद्यान्न की दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने में सहायक हैं।

(2) उपभोक्ता का विपणन उद्देश्य – एक अच्छी विपणन व्यवस्था से उपभोक्ता के हितों की रक्षा ही जा सकती है क्योंकि उन्हे इससे आवश्यक खाद्यान्न व अन्य वस्तुएं अच्छी किस्म एक उचित मूल्य में मिल जाती है। जिससे उपभोक्ता अपनी सीमित आय से अधिकतम् सन्तुष्टि प्राप्त कर लेता है।

(3) सरकार का विपणन उद्देश्य – एक उचित वितरण व्यवस्था के द्वारा जब किसान अपनी उपज का अधिकाधिक मूल्य प्राप्त करते है तो वह अधिक उत्पादन करने के लिए प्रेरित होते है। जिससे देश खाद्यान्न उत्पादन में आत्म निर्भरता प्राप्त करने के मार्ग पर

अग्रसर होता है। उचित विपणन व्यवस्था के कारण किसानों तथा उपभोकताओं को तो लाभ होता है साथ ही विपणन क्रिया से जुझे सभी पथ पर ले जाकर सरकार के विपणन उद्देश्य की पूर्ति करण है।

(4) मध्यस्थों का विपणन उद्देश्य – मध्यस्थों तथा बिचेलियों की दृष्टि से भी विपणन व्यवस्था उद्देश्य महत्वपूर्ण है। इससे उन्हें उनकी सेवाओं के लिए अधिकतम् आय उपलब्ध कराती है। कुछ विपणन – मध्यस्थ अल्पकाल में अधिकतम् लाभ की अपेक्षा नहीं रखते, परन्तु वे दीर्घकाल में निरन्तर एक निश्चित लाभ की प्राप्ति ही इच्छा रखते है।

20.4.3. आर्थिक विकास में कृषि विपणन का महत्व – किसी भी अल्प विकसित एवं विकासशील देश की अर्थव्यवस्था में कृषि विपणन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। आर्थिक विकास के लिए विपणन व्यवस्था द्वारा ही किसान अधिक उत्पादन हेतु प्रोत्सहित होते है जो देश की राष्ट्रीय आय बढ़ाने के साथ –साथ अन्य उद्योगों के विकास में भी सहयक होती है। आर्थिक विकास में कृषि विपणन की निम्न भूमिका है –

(1) आर्थिक विकास के लिए पूँजी – उत्पादन वृद्धि के साथ किसाानों के पास विपणन अतिरेक्त बढ़ता है। जिस कारण आर्थिक विकास के लिए आवश्यक पूँजी एवं संसाधन सुलभ होते है। यही कारण है कि जापान , जर्मनी , अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया जैसे देशों में पहले कृषि का विकास किया गया, फिर उससे प्राप्त आय का उपयोग औद्योगीकरण हेतु किया । कृषि उत्पादन की वृद्धि राष्ट्रीय आय में बढोत्तरी कर आर्थिक विकास को गाति प्रदान करती है।

(2) देश में खाद्यान्न पूर्ति में सहायक – औद्योगीकरण के कारण गॉवों की जनसंख्या नगरों की ओर पलायन करती है। इस कारण अच्छी विपणन व्यवस्था के द्वारा ही नगरों में खाद्यान्न की आपूर्ति की जाती हैं। यदि किसान अपनी उपज बाजार में न बेचे, तो शहरों की जनसंख्या का जीवन–निर्वाह संकट में पड़ जायेगा , देश में उतिच विपण्न व्यवस्था द्वारा ही उचित कीमत पर प्रचुर मात्रा में खाद्यान्नों को जनता तक पहुॅचाया जाता है।

(3) उद्योगों के लिए कच्चे माल की पूर्ति में सहायक – कृषि से ही उद्योगों को कच्चा माल प्राप्त होता है यदि कृषि विपणन व्यवस्था न होती तो किसानों द्वारा उत्पादित कच्चा माल उद्योगों तक नहीं पहुच पाता । सूती वस्त्र, पटसन , जूट ,चानी , वनस्पत्ति तेल आदि , उद्योग अपने उत्पाद के लिए कच्चा माल कृषि क्षेत्र से प्राप्त करते है। उचित विपणन व्यवस्था द्वारा ही उद्योग को कम कीमत पर उचित मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध होता है।

(4) जीवन–स्तर सुधारने में सहायक – कृषि विपणन व्यवस्था से न केवल किसान और उपभोक्ता सम्बन्धित है , बल्कि बड़ी मात्रा में विपणन व्यवस्था से जुड़े कर्मचारी भी सम्मिलित है। उचित विपणन व्यवस्था के कारण इनके जीवन स्तर में सुधार होता है। और उनकी आय में वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप आर्थिक विकास में गति आती है।

(5) योजनागत विकास में सहायक – हमारे देश की योजनागत विकास की सफलता कृषि , विपण्न व्यवस्था पर ही निर्भर करती है। ग्रामीण क्षेत्रों की गरीबी को कम करने , आवश्यक वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुॅचाने बढ़ाती कीमतों को रोकने कृषि उत्पादों के

निर्यात से विदेशी मुदा आर्जित करने आदि के लिए देश में कृषि वस्तुओं के लिए उपयुक्त एवं कुशल विपणन व्यवस्था का होना आवश्यक होता है।

(6) **निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक** – कृषि उत्पादन के लिए निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए किसानों को आवश्यक कृषि आगतों कृषि यन्त्रों तथा उपयुक्त तकनीकी की आवश्यकता होती है जिसके लिए उन्हें बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। इस धन व्यवस्था विपणन व्यवस्था की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।

20.5. भारत में कृषि विपणन व्यवस्था

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्था की रीढ़ है। जिसमें देश की कुल जनता का 65 प्रतिशत संलंग्न है। इसलिए देश की जनता के कल्याण व विकास के लिए कृषि का विकास आवश्यक है। कृषि का विकास तभी होगा जब किसान को अपने उत्पाद का सही मूल्य प्राप्त होगा प्राचीन काल से भारत में कृषि जीवन निर्वाह हेतु की जाती रहीं। परन्तु स्वतंत्रता के बाद तीव्र आर्थिक विकास में कृषि व्यवस्था में अनेक बदलाव आये और हरित क्रान्ति के बाद तो तीव्र कृषि विकास ने कृषि को जीवन – निर्वाह की श्रेणी से निकाल कर व्यवयायिक रूप प्रदान कर दिया ऐसे में किसान लाभ कमानें के उद्देश्य से कृषि उत्पादन कार्य करने लगें । इस व्यवस्था के साथ ही कृषि विपणन व्यवस्था में भी समय के साथ अनेक बदलाव आयें है। भारत में कृषि विपणन की व्यवस्था इस प्रकार है –

(1) **गॉवों में महाजन एवं व्यापारी को फसल की बिक्री** – भारत के अधिकांश किसान अपने उत्पादन का बड़ा भाग गॉव में ही साहूकारो, महाजनों तथा व्यापारियों को बेच देते है। साहूकार , महाजन तथा कमीशन किसानों की ऋणग्रस्तता का लाभ उठाते हुए, किसानों की फसल मनमाने मूल्य पर क्रय कर लेते है। ऐसी स्थिति में कमीशन ऐजेन्ट और व्यापारी बड़ी मात्रा में उत्पादन का एक हिस्सा कमीशन के रूप में वसूल लेतें है।

(2) **गाँव की हाट में बिक्री** – भारत के प्रत्येक गांव में सप्ताह में एक या दो बार हाट अर्थात् स्थानीय बाजार लगता है। जहाँ से ग्रामीण निवासी अपनी आवश्यकता की वस्तुऍ खरीदतें है। छोटे व सीमान्त किसान अपनी फसल का तथा मध्यम किसान अपनी फसल के कुछ भाग को इसी प्रकार के बाजारों में बेचते है। शहरी क्षेत्र के थोक व्यापारी इन हाट से किसानों का उत्पाद खरीद कर उन्हे ऊँची कीमतों पर शहरों की मण्डियों में बेच देते है।

(3) **मण्डियों में बिक्री** – कई गावों, कस्बे अथवा शहरों में एक मण्डी होती है। इन मण्डियों में थोक व्यापारी होते है, जिन्हें आढतिया कहते है। किसान दलालों की सहायता से अपना उत्पादित मात्र आढतियों को बेचते है। अक्सर दलाल आढतियों से मिले रहते है और किसानों को उपज का ठीक मूल्य नही मिल पाता। यातायात सम्बन्धी कठिनाइयों, मण्डियों के दलालों और आढतियों के कपटपूर्व व्यवहार आदि से आंशकित होकर छोटे किसान मण्डी से अपना माल बेचने में संकोच करते है।

(4) **मेलों में बिक्री** – भारत देश संसार में मेलों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ लगभग 1700 से अधिक कृषि पदार्थों के एवं जानवरो के लगतें है, जिनमें लगभग 40 प्रतिशत मेले कृषि वस्तुओं के होते है जो मुख्य रूप से बिहार, उड़िसा में पाये जातें है। मेला स्थानों के आसपास किसान इन्हें मेलों मे अपनी फसल बेच देतें है।

(5) सरकारी खरीद – पिछले कुछ वर्षों से सरकार द्वारा भी किसानों की उपज को क्रय किया जा रहा है। इसके लिए सरकार ने स्थान–स्थान पर कुछ क्रय केन्द्र स्थापित किये है। जहाँ पर कृषक अपनी उत्पादित वस्तुऐं लाकर निर्धारित मूल्य पर बेच सकते हैं। सरकार द्वारा यह खरीद स्वयं अपने कर्मचारीयों के माध्यम से, सहाकारी समितियों के माध्यम से अथवा भारतीय खाद्य निगम के माध्यम से करती है।

(6) सहकारी विपणन – विपणन प्रणाली की कार्य कुशलता का स्तर ऊँचा करने और किसानों को मध्यस्थों के कपटपूर्ण व्यवहार से बचाकर उन्हें अपनी फसल का उचित मूल्य दिलाने के लिए सहकारी विपणन पर जोर दिया गया है। सहकारी विपणन समितियाँ और बहु उद्देशीय समितियों सदस्यों के थोड़े–थोड़े विपणन अतिरेक्त को एकत्रित कर मण्डियों में थोक व्यापारियों के साथ प्रतियोगिता करते हुये बेचती है। इस प्रकार कृषकों को अपने उपज का उचित मूल्य मिल जाता है।

20.5.1 – भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था के दोष – यद्यपि भारत एक कृषि प्रधान देश है तब भी यह कृषि विपणन व्यवस्था की दशा सन्तोष जनक नही है। कृषक बहुत निर्धन एवं अशिक्षित है। उसे अपनी उपज क्रय विक्रय के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी उपलब्ध नही है, परिणामस्वरूप उसे अपने कृषि उत्पादन का उचित मूल्य नही मिल पाता, विपणन व्यवस्था के प्रमुख दोष इस प्रकार है।

(1) मध्यस्थों की लंबी श्रृखलां – भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था में बिचोलियों की एक लंबी श्रृखला है। जिस कारण प्रायः किसानों को उपभोक्ताओं द्वारा दिये गये मृल्य का लगभग 50 प्रतिशत भाग ही मिल पाता है। प्रो0 डी0 एस0 सिन्धु के एक शोध से पता चलता है। कि किसानों की चावल की कीमत का मात्र 53 प्रतिशत प्राप्त हो पाता है जिसमें शेष 31 प्रतिशत बिचौलियों का हिस्सा है तथा 16 प्रतिशत विपणन लागत है। सब्जियों मे तो किसानों का हिस्सा मात्र 39 प्रतिशत और फलों में 34 प्रतिशत है। कृषि उपज की विपणन व्यवस्था में गाँव का साहूकार, महाजन, घूमता–फिरता व्यापारी, कच्चा आढतिया, पक्का आढतिया, थोक व्यापारी मिल वाला, दलाल, निर्यातकर्ता, फुटकर व्यापारी आदि शामिल है। इतने सारे मध्यस्थ विपणन व्यवस्था के लिए आवश्यक नही है।

(2) दोषपूर्ण संग्रह व्यवस्था – ग्रामीण कृषकों के पास अपनी उपजों को संग्रह करने के लिए उचित एवं वैज्ञानिक संग्रहण व्यवस्था का अभाव है। ग्रामीण कृषक अपनी उपज को खत्तियों, कच्चे कोठों, बोरों या मिट्टी के बड़े–बड़े बर्तनों में रखते हैं जिससे उनके सड़ने–गलने और चूहों तथा कीड़े–मकोड़ों द्वारा बर्बाद होने की आशंका रहती है। खाद्यान्न जाँच समिति के अनुसार उपज की इस तरह होने वाली हानि 1.5 प्रतिशत थी। संग्रहण की अपर्याप्त और अवैज्ञानिक व्यवस्था के कारण किसानों का विवश होकर शीघ्र ही वस्तुएँ बेचनी पड़ती है। जिससे उन्हें कम मूल्य मिलता है।

(3) अनियमित मण्डियों में प्रचलित धोखेबाजियॉ – हमारे देश की अभी अनियन्त्रित मण्डियों की संख्या बहुत अधिक है। मण्डियों में निम्नालिखित धोखेबाजियॉ प्रचलित हैं जिनका किसान को शिकार बनना पड़ता है। मण्डियों में कृषि उपजों को तौलने या मापने के प्रमाणित बॉट और माप नहीं होते। कृषि उत्पादन का वह भाग जो नमूने के तौर पर

लिया जाता है। कृषकों को वापस नहीं किया जाता है। दलाल कपड़े के नीचे गुप्त मूल्य निश्चित करते हैं। जिसमें वास्तविक विक्रेता कृषक निश्चित किये गये मूल्य से बिलकुल अनभिज्ञ रहता है। दलाल कृषकों की अपेक्षा आढ़तिया का अधिक पक्ष लेता है। तौल अथवा मूल्य समबन्धी विवाद होने पर कृषक के हित की कोई भी रक्षा नहीं करता और उसे खरीदार की बात मानने के लिए विवश होना पड़ता है। प्रायः मण्डियों में कृषकों से बहुत सी कटौतियॉ जैसे – रामलील , पाठशाला, गौशाला ,प्याऊ, अनाथालय , विधवाश्रम आदि उसके भुगतान देना पड़ता है।

(4) श्रेणी विभाजन का अभाव – भारत में ग्रामीण किसानों की अज्ञानता और कृषि उत्पादन कम होने के कारण उपजों के श्रेणी विभाजन पर ध्यान नहीं दिया जाता है समस्त उपज एक ही ढेरी के रूप में बेची जाती है। जिसे दडा प्रणाली (Dara system) भी कहते हैं। इस प्रकार कृषकों की उत्तम उपज का भी उन्हें कम मूल्य ही मिलता है।

(5) विपणन हेतु वित्त का अभाव – विपणन व्यवस्था को सुचारू रूप से से चलाने के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। सहकारी समितियों से उपलब्ध वित्त का लाभ प्रायः बड़े किसानों को ही हो सकता है। छोटी किसान अभी भी वित्त के लिए साहूकार या महाजन तथा व्यापारियों पर निर्भर रहता हैं। साहूकार तथा महाजन किसान को मण्डी में अपना बेचने के लिए हतोत्साहित करते है। स्वयं ही उसे खरीद लेते है। जिससे इन कृषकों को अपनी उपज का उचित मूल्य नहीं मिल पाता ।

(6) अल्प विकास परिवहन व्यवस्था – भारतीय गॉवों की मण्डियों को शहर से जोड़ने के लिए परिवहन सुविधाऍ पर्याप्त नही है। बहुत थोड़े गॉव रेल और पक्की सड़कों ,द्वारा पण्डियों से जुड़ है। कच्ची सड़कों पर मोटर परिवहन प्रायः सम्भव नहीं है। बरसात में में पुल–पुलियों के अभाव में बन्द हो जाती है। और उन पर केवल बैलगाड़िया ही आ जा सकती है। अनुमानतः परिवहन साधनों के पिछड़ेपन के फलस्वरूप विपणन लागतों में 20 प्रतिशत वृद्धि हो जाती है । ऐसी परिस्थितियों में किसान गॉवों में ही फसल बेचने की बाध्य होते है।

(7) मूल्य सम्बन्धी सूचना का अभाव – ग्रामीण किसानों के लिए दूर –दराज की विभिन्न मण्डियों में समय –समय पर प्रचलित मूल्यों के विषय में सही सूचना प्राप्त कर पाना सम्भव नहीं हाो पाता। अधिकांश कृषक तो मण्डी के साथ कोई भी सम्पर्क नहीं रख पाते। इस कारण व्यापारी उन्हें जो मूल्य देता है। उसे वे ले लेते है।

(8) विपरीत परिस्थितियों में विपणन – भारत में जमींदारी उन्मूलन से पूर्व सामान्यतः सभी कृषकों को लगान का भुगतान करने के लिए उपज का एक भाग फसल काटने के तुरन्त बाद ही बेचना पड़ता था। जमींदारी उन्मूलन के बाद कृषि सम्बन्धों में परिवर्तन हुआ जिसके परिणामस्वरूप एक सम्पन्न किसान वर्ग पैदा हो गया है। यह वर्ग भूमि का स्वामी हेाता है।

(9) उत्पादकों में संगठन का अभाव – भारत में विपणन प्रणाली का सबसे बड़ा दोष उत्पादकों में अच्छे सामूहिक संगठन का अभाव हैं कुछ व्यापरिक फसलों यथा–कपास, तिलहन , पटसन, और गने के खरीददार बहुत अच्छी तरह संगठित रहते है, जबकि इनके

वास्तविक उत्पादक छोटे– छोटे कृषक है जो कि बहुत बड़ी संख्या में एक बहुत बड़े क्षेत्र में फैले हुए है। ऐसे स्थान पर जहॉ उत्पादक असंगठित हों तथा उनका पथ–प्रदर्शन करने वाला और उनके हितों की रक्षा करने वाला कोई न हो क्रेता संगठित रूप से हों और राज्य तटस्थ हो तो वहॉ के उत्पादनकर्ताओं का बुरी तरह शोषण होता है। हमारे देश में ऐसी ही स्थिति बनी हुई है।

(10) **अन्य देश कृषि विपणन व्यवस्था** में उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त कुछ अन्य दोष भी है जो विपणन व्यवस्था के विकास के मार्ग में अवरोधात्मक है , जैसे – कम उजप और निम्न कोटि की उजप , किसानों की ऋणग्रस्तता और निर्धनता , किसानों की अज्ञानता और निरक्षरता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारत की वर्तमान कृषि उपज की विपणन व्यवस्था को भूमि सम्बन्धो से स्वतन्त्र रूप में देख सकना सम्भव नहीं है। बाजारों के नियन्त्रण आकाशवाणी ,द्वारा भावों के प्रसारण, यातायात व्यवस्था में सुधार आदि से पूॅजीवादी ढंग से खेती करने वाले किसानों को तो लाभ हुआ है। और वे अपने विपणन आधिक्य ' की उचित मूल्य पाने में सफल हुए हैं किन्तु इन सब सुविधाओं को लाभ लघु एंव सीमान्त कृषकों को बहुत कम मिल पाया है।

20.5.2. दोषपूर्ण विपणन के परिणाम – कृषि उत्पादन का विपणन बहुत महत्वपूर्ण है लेकिन विपणन के दोषपूर्ण तरीकों का परिमाण भी अत्याधिक दुखदायी है जो कि कृषि विकास एवं कृषकों के उत्थान के लिए एक अवरोध है। इसके कुपरिणामों की व्याख्या निम्नालिंखित प्रकार से की जा सकती है।

(1) अल्प लाभ – कृषि उपजों की बिक्री से कम मूल्य प्राप्त होना नाप – तौल में गड़बडी होना या निम्न कोटि की उपजों का मिश्रण और विभिन्न प्रकार की अनुचित कटौतियॉ आदि कृषकों को मिलने वाले लाभों में अत्यधिक कमी कर देते है। आय की मात्रा इतनी कम हो जाती हैं कि किसानों की आवश्यकताएॅ पूरी नहीं हो पाती है और अन्ततः उनकी आर्थिक दशा कमजोर हो जाती है।

(2) उत्पादन के प्रति अरूचि – जब कृषकों को उनके श्रम एंव विनियोग का उचित प्रतिफल नहीं मिल पाता तो वे निराश हो जाते है और अधिक उत्पादन करने के प्रति उनके अन्दर कोई उत्साह नही रह जाता है। इस प्रकार एक दोषपूर्ण विपणन व्यवस्था कृषकों के अधिक उत्पादन के मार्ग में अवरोध बन जाती है।

(3) देश के लिए उचित न होना –कृषि पदार्थो के बिक्री सम्बन्धी दोषों के कारण आर्थिक नियोजन के कार्य में बाधा पहुॅचती है। कृषि देश की आय में एक बहुत बड़ी सक्रिय भूमिका निभाती है। जिसकी की पूॅजी निर्माण की मात्रा को भी कम कर देती है। तथा कृषि पदार्थो एवं इससे सम्बन्धित निर्यात की वस्तुओं के कमी आती है। जिसके परिणामस्वरूप विदेशी मुद्रा की मात्रा की कमी हो जाती है। और भुगतान सन्तुलन में हो जाता हो जो भारत देश के लिए वांछनीय नहीं है।

(4) बिक्री –योग्य बचत पर कुप्रभाव – इस प्रकार की दोषपूर्ण विपणन पद्धति के कारण कृषकों को बाजार में जो मूल्य प्राप्त होते है , वे उनकी आशाओं के अनुकूल नहीं होते ,

अर्थात् अलाभकारी होते है। इसके अतिरिक्त कृषक विभिन्न बाधाओं एवं अनाचारों के कारण अपनी बचत को अपने गॉवों में ही बेचना उचित समझता है यद्यपि वहॉ भी कठिनाईयों का ही सामना करना पड़ता है इन सबका अन्ततः परिणाम बिक्री योग्य बचत है कमी करना होता है जो कि उचित नहीं है।

20.5.3 – कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार हेतु किये गये सरकारी उपाय–

कृषि विपणन व्यवस्था को सुधारने के लक्ष्य से नियोजनकाल में सरकार ने कई महत्त्वपूर्ण कदम उठाये है जिसे सरकार न किसानों को मध्यस्थों के शोषण से मुक्ति दिलाने तथा किसानों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने के विचाार से आरम्भ किया। पंचवर्षीय योजनाओं में ग्रामीण क्षेत्र को शहरों से जोड़ा जो सके। कृषि विपणन व्यवस्था के दोषों को दूर करने के लिए सरकार द्वारा समय – समय पर अनेक आयोग एवं समितियों का गठन किया गया। शाही कृषि आयोग (1928) केन्द्रीय बैंकिग जॉच समिति (1931) प्रान्तीय आर्थिक सम्मेलन (1934) राष्ट्रीय नियोजन समिति (1946) कांग्रेस भूमि सुधार समिति (1949) अखिल भारतीय विपणन अधिकारी समिति आदि के सर्वेक्षणों के आधार पर कृषि वस्तुओं के विपणन में सुधार लाने के लिए सरकार में निम्न उपाय किये–

(1) नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना– मण्डियों में दलालों व आढतियों भी कपटपूर्ण नीति किसनों बचाने के लिए नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना की गई। इन मण्डियों का संगठन एक विधान अनुसार होता है जिसके लिए एक समिति का गठन किया जाता है जिसमें राज्य सरकार ,स्थानीय संस्थाओं के प्रतिनिधि, आढतिए, दलाल ओर किसानों को सम्मलित किया जाता हैं। जिससे सभी के हितों का प्रतिनिधित्व होता है। ये समितियाँ मण्डियों में श्रेणी विभाजन, खुली नीलामी पद्धति तथा प्रमाणिक कार्य के प्रयोग को प्रोत्साहन देती है तथा कपड़े के नीचे के भाव निर्धारण, अनुचित कटोतियें पर प्रतिबन्ध लगाती लगाती है।

नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना की दिशा में पहला प्रयास 1897 में बरार में किया गया था। इस प्रयोग की सफलता के बावजूद भी नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना में सरकार न विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई। इसलिए देश में नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना की गति धीमी रही। 1950– 51 में नियंत्रित मण्डियों की संख्या 286 थी जो बढकर 31 मार्च 2005 तक 7521 तक पहुँच चुकी है।

(2) श्रेणी विभाजन एवं मानकीकरण – कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार की दृष्टि से श्रेणी विभाजन तथा मानकीकरण के द्वारा नमूना दिखाकर माल की बिक्री की आवश्यकता नहीं रह जाती। इसलिए सरकार ने 1937 में कृषि उत्पादन (श्रेणी विभाजन एवं अंकन) कानून पास किया जिसके द्वारा विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय को अधिकार दिया गया, कि वह स्वीकृत मानको के अनुसार श्रेणी विभाजन तथा अंकन करने की अनुमति किसी भी संस्था को दे सकता है। निदेशालय ने अब तक 182 कृषि वस्तुओं के लिए मानक निर्धारित किये हैं। निर्यात के लिए कृषि वस्तुओं का श्रेणी विभाजन अनिवार्य है। कृषि विपणन विभाग द्वारा ही श्रेणी विभाजित वस्तुओं पर 'AGMARK' की मोहर लगाई जाती है। इस समय देश में केन्द्रीय श्रेणी नियंत्रण प्रयोगशाला नाागपुर में है। इसके अतिरिक्त 22 क्षेत्रीय श्रेणी नियंत्रण प्रयोगशालाएँ है।

(3) मानक बाट और नाप–तौल की अनिवार्यता– अनियंत्रित मण्डियों तथा ग्रामीण हाट, में किसानों के साथ कपट करने के लक्ष्य से मानक बाटों और नाप– तौल का प्रयोग नहीं किया जाता। सरकार ने 1939 में मानक बाट तथा नाप तौल अधिनियम पास कर उनका प्रचार किया है। 1958 में नाप तौल की मीट्रिक प्रणाली को अपनाया गया और 1 अप्रैल 1962 से मीट्रिक बाटों का प्रयोग भी अनिवार्य कर दिया गया। अब किसान भी इन बाटों को समझने लगे है ओर उनके साथ कपट सम्भव नहीं है।

(4) फसल संग्रह हेतु गोदामों का निर्माण – विपणन व्यवस्था में सुधार की दृष्टि से गोदामों के निर्माण का बहुत महत्त्व है। इससे किसानों की कृषि उपज को रोक कर बेचने की सामर्थ्य बढ़ जाती है, किसान नकदी की आवश्यकता होने पर भी उपज बेचने के लिए विवश नहीं होते, क्योंकि उन्हें प्रमाणित गोदामों से प्राप्त रसीदों की प्रतिभूति पर सहकारी समितियों और वाणिज्य बैंकों से ऋण प्राप्त हो सकते है। इसलिए अखिल भारतीय खाद्य सर्वेक्षण समिति (1954) ने तीन स्तरों, राष्ट्रीय स्तर तथा ग्रामीण स्तर पर गोदामों के निर्माण की सिफारिश की। इन सुझावों के आधार पर सरकार ने 1957 में केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना की और कई राज्यों में राज्य गोदाम निगमों की स्थापना की गई। इसके अलावा भारतीय खाद्य निगम की स्थापना हुई। मार्च 2001 से सरकार ग्रामीण गोदामों के निर्माण की एक केन्द्रीय क्षेत्र योजना को कार्यान्वित कर रही है। इस योजना के अधीन 31 मई 2006 तक 11,583 भण्डारण परियोजनाओं को स्वीकृत दी जा चुकी है। जिनकी क्षमता 166.42 लाख टन है।

(5) विशेष बोर्डो की स्थापना – सरकार ने समय समय पर कॉफी, चाय, तम्बाकू, रबड़, गर्म मसाले, नारियल, तिलहन, तथा वनस्पति तेल आदि के बारे में विशिष्ट वस्तु बोर्डो की स्थापना की। भारत सरकार ने कुछ विशेष वस्तुओं जेसें – चावल, पटसन, दालें, मोटे अनाज, रूई, तम्बाकू, तिलहन, सुपारी, गन्ना आदि के लिए बहुत सी विकास परिषदें स्थापित की है। सरकार ने कई निर्यात प्रोन्नति परिषदों की भी स्थापना की है।

(6) कृषि उपज के मूल्यों के विषय में किसानों को सूचना देने की व्यवस्था – कृषि उपज की विपणन व्यवस्था मे सुधार के लिए आवश्यक है कि मण्डियों में प्रचलित मूल्यों के अलावा उपज की मात्रा जो दिन विशेष में मण्डी मे बिकन के लिए आती है से सम्बन्धित सूचना रेडियो समाचार पत्रों द्वारा नियमित रूप से किसानों को मिलनी चाहिए। किसानों के हित में टीवी0 के प्रसारण मे मुख्य वस्तुओं के दैनिक मूल्यों, मात्रा तथा बाजार गति विधियों सम्बन्धी सूचना दी जाती है।,

(7) सरकारी खरीद तथा समर्थन कीमतों का निर्धारण – यह सुनिश्चत करने के लिए कि किसानों को अपने उत्पादन की सही कीमत मिले सरकार समय–समय पर विभिन्न कृषि वस्तुओं के लिए न्यूनतम समर्थन कीमतों तथा वसूली कीमतों की घोषणा करती रहती है। इन कीमतों का निर्धारण कृषि लागत और कीमत कमीशन की सिफारिशों के आधार पर किया जाता है। भारतीय खाद्य निगम इन कीमतों पर किसानों से उनका उत्पादन की उचित कीमत प्राप्त होती है।

(8) कृषि विपणन का राष्ट्रिय संस्थान – कृषि विपणन के राष्ट्रिय संस्थान की स्थापना 1988 में की गई। इस संस्थान के प्रमुख उद्देश्य व लक्ष्य – शिक्षण अनुसंधान व परामर्श के कार्यक्रमों द्वारा देश में कृषि विपणन ढाँचे का विकास करना। विभिन्न उद्यमों व संस्थाओं के कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम तैयार करना और उन्हें उसके अनुसार प्रशिक्षण देना। कृषि विपणन क्षेत्र मे बेहतर प्रबन्धन तकनीकों हेतु अनुसंधान करना। निवेश परियोजनाओं को तैयार करने के लिए तथा समस्याओं के निदान हेतु परामर्श सेवाएँ उपलब्ध करना। विद्यमान सुविधाओं के सम्पूरक के रूप मे कृषि विपणन के लिए शैक्षणिक कार्यक्रमों की व्यवस्था करना।

(9) फल और सब्जी विपणन – भारत में कृषि विपणन सुधार के अन्तर्गत ज्यादा ध्यान खाद्यन्नों पर ही दिया गया है। जबकी फल और सब्जी बाजार में अनेक मध्यस्थ कार्य कर रहे है जिससे उपभोक्ता द्वारा दी गई कीमत और किसानों को मिलने वाली कीमतों मे भारी अन्तर है। 1988 में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार 5 लाख से अधिक जनसंख्या वाले 48 शहरों मे 102 फल और सब्जी बाजार थे जिनमें केवल 54 बाजार ही नियमित थे। फलों के 65 थोक बाजार और सब्जियों के 81 थोक बाजार थे। औसतन 6.96 लाख लोगों के लिए फल व सब्जी का एक थोक बाजार है।

20.6. सहकारी विपणन व्यवस्था

भारत में सहकारिता का विधिवत् प्रारम्भ सन् 1904 में हुआ था। जब सहकारी साख समितियों की स्थापना की गई। 1912 में सहकारी समिति अधिनियम पारित किया गया। 1913 में पहली 'सहकारी विपणन समिति' का गठन 'कुम्नकोनम' नामक स्थान में किया गया। उसके बाद बम्बई प्रान्त में हुबली तथा गडक स्थानों पर दो विपणन समितियों का गठन किया गया। 1920–21 में इन समितियों की संख्या 31 थी। 1954 में बहुउद्देशीय समितियों की स्थापना हुई जो किसानों को साख प्रदान करने के साथ उनके उत्पादन का विपणन भी करती थी।

सहकारी विपणन से आशय उत्पादाकों के हितों की दृष्टि से उत्पादन को संगठित होकर बेचने से है। अर्थात् सहकारी विपणन बाजार का एक ऐसा स्वरूप है, जिसमें उत्पादक अपने उत्पादन के विक्रय सम्बन्धी हितों की पूर्ति के लिए सामूहिक स्वरूप से संगठित होकर विपणन क्रियाएँ सम्पन्न करतें है। ''सर फिलिप्स एवं डंकन के अनुसार'' वे संगठन जो सहारिता के आधार पर किसानों के समूहों द्वारा अपनी वस्तुओं को बेचने और सामान तथा अन्य वस्तुएँ खरीदने के लिए स्थापित हुए है। सहकारी विपणन संघ कहलाते है। ''के0 आर0 कुलकर्णी के अनुसार'' उत्पादकों का सहकारी संगठन उत्पादन के छोटे आकार के कारण उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों को दूर करने के लिए आत्म सहायता का एक प्रयास है।

अन्तराष्ट्रिय खाद्य एवं कृषि संगठन के अनुसार '' सहकारी विपणन एक ऐसी व्यवस्था है, जिसके अन्तर्गत किसानों या उत्पादकों का वर्ग अपनी वस्तुओं को उपभोक्ताओं तक पहुँचाने सम्बन्धी कुछ अथवा सभी क्रियाओं या कार्यों को पूर्व करने के उद्देश्य से संगठित हो जाता है। '' सर ओ0 बी0 जेसनेस के शब्दों में'' सहकारी विपणन का अर्थ पारस्परिक

लाभ प्राप्त करने व विपणन समस्याओं को हल करने के लिए मिलकर कार्य करना है। उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर सहकारी विपणन की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार है–

(1) सहकरी विपणन संगठन स्वेच्छा से विपणन सम्बन्धी कार्यों को पूरा करने के लिए बनाये जाते है।

(2) सहकारी विपणन व्यवस्था पारस्पारिक लाभ कमाने के उद्देश्य से बनायी जाती है।

(3) सहकारी विपणन व्यवस्था में सदस्य परस्पर मिलकर अपने सदस्यों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाते है।

(4) ये एक प्रकार की व्यापारिक संस्थाएँ होती है।

20.6.1 सहकारी विपणन संस्थाओं के उद्देश्य –

- **i.** अपने सदस्यों को उनकी वस्तु का उचित प्रतिफल दिलाना।
- **ii.** संग्रह की सुविधा प्रदान करना।
- **iii.** आवश्यकता के समय वित्तिय ऋण देना।
- **iv.** बाजार सम्बन्धी सूचनाओं की जानकारी देना।
- **v.** मूल्यों मे स्थायित्व लाना।
- **vi.** अपने सदस्यों को कच्चा माल, बीज, खाद आदि उपलब्ध कराना।

20.6.2 सहकारी विपणन व्यवस्था की संरचना – भारत में सहकारी विपणन समितियों का ढाँचा सभी राज्यों में एक समान नही है। अधिकांश राज्यों में सहकारी विपणन का ढाँचा द्वि–स्तरीय है, किन्तु कुछ राज्यों में त्रि–स्तरीय। भारत में सहकारी विपणन का सामान्य ढाँचा इस प्रकार है।

(1) प्राथमिक कृषि विपणन समितियाँ – गांवों के स्तर पर कृषि विपणन का कार्य इन समितियों द्वारा द्वारा किया जाता है यह समितियाँ दो प्रकार की होती है–

(क) सामान्य सहकारी विपणन समितियाँ– सामान्य सहकारी विपणन समितियाँ वे हैं, जिनका कार्य–क्षेत्र सामान्यतः पूरी तहसील हेाता और वे सभी प्रकार की वस्तुओं का व्यापार करती है। अब मण्डी स्तर पर 2636 सामान्य समितियाँ कार्य कर रही हैं।

(ख) विशिष्ट वस्तु सहकारी समितियाँ– विशिष्ट वस्तु सहकारी समितियाँ वे हैं जो किसी विशिष्ट वस्तु का व्यापार करती हैं जैसे– उत्तर प्रदेश या बिहार की गन्ना समितियाँ, उत्तर प्रदेश की घी समितियाँ तथा गुजरात की दुग्ध समिति इसके अच्छे उदाहरण है। विशिष्ट प्राथमिक समितियों की संख्या लगभग 3290 हैं।

(2) जिला क्षेत्रीय विपणन समितियाँ– प्राथमिक समितियों के ऊपर जिला स्तर पर केन्द्रीय जिला विपणन संघ होता है। इन संघों के सदस्य व्यक्ति और प्राथमिक समितियां दोनों ही हो सकते हैं। ये समितियाँ स्वतन्त्र रूप से कृषि वस्तुओं का क्रय–विक्रय करते हैं और प्राथमिक समितियों को ऋण तथा अन्य प्रकार की सहायता भी देते हैं। 172 जिला सहकारी विपणन समितियाँ विभिन्न जिलों में कार्यरत है।

(3) राज्य सहकारी विपणन संघ– इन समितियों का कार्य क्षेत्र सम्पूर्ण राज्य होता है। इसका कार्य क्रय–विक्रय करना तथा केन्द्रीय विपणन संघों तथा प्राथमिक विपणन

समितियों के ऋण प्रदान करना है। 29 राज्य सहकारी विपणन संघ विपणन में किसानों की सहायता कर रहा है।

(4) राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन महासंघ (NAFED) – यह राष्ट्रीय स्तर पर सहकारी विपणन की शीर्ष संस्था है। इसका मुख्य उद्देश्य कृषि एवं अन्य वस्तुओं में अपने सदस्यों के विपणन, व्यापारिक कार्य–कलापों में समन्वय लाना ओर प्रोत्साहित करना, अन्तर्राष्ट्रीय तथा अर्न्तराज्यीय कृषि व्यापार को बढ़ावा देना तथा सदस्यों की कृषि सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

20.6.3 भारत में सहकारी विपणन व्यवस्था की प्रगति– भारत में 1912 के सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत सहकारी विपणन समितियों का गठन प्रारम्भ हुआ। भारत में सर्वप्रथम 1913 में कुम्बकोनम नामक स्थान पर सहकारी विपणन समिति की स्थापना की गई। तत्पश्चात् बम्बई प्रान्त में दो सहकारी विपणन समितियों की स्थापना की गई। द्वितीय महायुद्ध में इन समितियों की स्थापना और विकास को काफी प्रोत्साहन मिला, जब सरकार ने इन्हें नियन्त्रित एंव दुर्लभ वस्तुओं के वितरण का कार्य सौंपा। तत्पश्चात् इनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती चली गई। भारत में ये समितियाँ चार स्तर पर गठित की गई है। वर्तमान समय में सहकारी विपणन तन्त्र में 6000 से अधिक विपणन समितियों कार्यरत् है। जिला स्तर पर 172 जिला क्षेत्रीय विपणन समितियां, राज्य स्तर पर 29 राज्य सहकारी संघ तथा अखिल भारतीय स्तर पर NAFED – राष्ट्रीय सहकारी कृषि विपणन महासंघ कार्यरत है। सहकारी विपणन समितियों ने 1950–51 में 47 करोड़ रूपये की कृषि उपज का क्रय–विक्रय किया था जो 1998–99 में बढ़कर 12008 करोड़ रूपये हो गया। सहकारी विपणन द्वारा विभिन्न वर्षों में किये गये क्रय–विक्रय का विवरण तालिका (20.2) में दी गई है।

तालिका (20.2) सहकारी विपणन समितियों द्वारा किये गयेकृषि माल का क्रय–विक्रय

वर्ष	कृषि माल का क्रय–विक्रय (करोड़ रूपये में)
1950–51	47
1960–61	175
1970–71	650
1980–81	1900
1986–87	3400
1995–96	11500
1998–99	12008

सहकारी विपणन के अतिरिक्त सहकारी विधायन (प्रसंस्करण) भी काफी प्रगति कर रहा है। आज देश में लगभग 2500 कृषि सहकारी प्रसंस्करण समितियां कार्य कर रही है। चीनी उद्योग में सहकारी समितियों की बड़े हिस्सेदारी है और चीनी के राष्ट्रीय उत्पादन में 58 प्रतिशत सहकारी क्षेत्र से आता है। देश में लगभग 220 सहकारी चीनी मिलें है।

सहकारी संग्रहण क्षमता की स्थापना हेतु सातवीं योजना में 20 लाख टन अतिरिक्त क्षमता कायम करने का लक्ष्य रखा गया। जबकि पहले तीन वर्ष में ही 24 लाख टन की अतिरिक्त क्षमता विकसित की गई। 2000 के अन्त तक राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम द्वारा 137.4 लाख टन की संग्रहण क्षमता थी जो कुल संग्रह क्षमता का 19.6 प्रतिशत थी। गुजरात, हरियाणा, कर्नाटक, महाराष्ट्र, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश में सहकारी विपणन समितियों का कुल बिक्री में 80 प्रतिशत तक हिस्सा है।

20.6.4 सहकारी विपणन व्यवस्था के लाभ– विश्व के पश्चिमी देशों में सहकारी विपणन की व्यवस्था को अत्यन्त प्रोत्साहन प्राप्त हुआ, डेनमार्क के विश्व डेयरी उत्पादों के पीछे सहकारी विपणन व्यवस्था ही है। सहकारी विपणन समितियां किसानों से उचित मूल्य पर उनकी उपज को खरीद कर उन्हें सहकारी उपभोक्ता भण्ड़ारों द्वारा जनता के बीच वितरित करती है। सहकारी नियोजन समिति (1959) के अनुसार ''सहकारी विपणन कृषक की स्थिति को विक्रेता के रूप में सुदृढ़ बनाता है। उसकी उपज के नियमित रूप से बिकने का विश्वास स्थापित करता है। और उसको अच्छे मूल्य पर बिकने के योग्य बनाता है। यही व्यवस्था कृषकों को यह भी सिखाती है कि कृषि एक प्रकार का व्यवसाय है।'' सहकारी विपणन व्यवस्था के लाभों को हम मुख्य रूप से तीन वर्गों में बांट सकते हैं–

1. किसानों को लाभ– सहकारी विपणन का सबसे पहला लाभ यह है कि किसान और उपभोक्ता के बीच मध्यस्थों की श्रृंखला का अन्त हो जाता हे। समिति किसानों को श्रेणीकरण व प्रमापीकरण के लिए प्रोत्साहित करती है। किसानों के लिए भण्ड़ार गृहों तथा गोदामों की व्यवस्था करती है। समितियां किसानों को वित्तीय सुविधाएं प्रदानकर उसे साहूकार के चगुंल से मुक्त करा। उनकी फसल का उचित मूल्य दिलवाती है। समितियां उत्पादन की पूर्ति की मात्रा नियन्त्रित कर कीमतों के किसानों के हित में प्रभावित करती है। समितियां किसानों को संगठित कर उनकी सौदा करने की क्षमता को बढ़ावा देती है। समितियां विज्ञापन व प्रचार द्वारा उपज की मांग में वृद्धि करती है।

समितियां किसानों को बाजार की कपटपूर्ण नीतियों और बुराइयों से बचाती है।

2.उपभोक्ता को लाभ– किसानों के साथ–साथ इन समितियों द्वारा उचित मूल्य पर वस्तुओं की पूर्ति सुनिश्चित कर उपभोक्ता के हितों की भी रक्षा की जाती है। ये समितियां माल की पूर्ति निरन्तर बनाये रखती है। जिससे वस्तुओं के बाजार मूल्य में अधिक उतार–चढ़ाव नहीं आते और उपभोक्ताओं को उचित कीमतों पर वस्तुएं प्राप्त होती रहती है।

3.सामाजिक लाभ– मध्यस्थों के अंत द्वारा उत्पादक तथा उपभोक्ता दोनों ही लाभान्वित होते हैं। और सहकारी समितियों की आय में वृद्धि होकर, राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने में सहायक सिद्ध होता है। सहकारी विपणन समितियों के सदस्य अपनी आर्थिक और विपणन सम्बन्धी समस्याओं पर विचार करते हैं एवं एक दूसरे के निकट आते हैं और सभी के हितों की रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। जिससे सहकारिता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

20.6.5. भारत में सहकारी विपणन व्यवस्था की धीमी प्रगति के कारण– इसमें कोई दो मत नहीं है कि भारत में सहकारी विपणन की प्रगति की गति काफी धीमी रही है। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित है।–

1. **वित्तीय साधनों का अभाव–** कृषि उपज की निरन्तर बढ़ती हुई मात्रा के कारण इन समितियों को पर्याप्त मात्रा में धन की आवश्यकता हेाती है। किन्तु इन समितियों के पास पर्याप्त धन नहीं है। फलतः समिति को अपने कार्य संचालन में बाधा होती है।

2. **कर्मचारियों में शिक्षा और प्रशिक्षण का अभाव–** अधिकांश समितियों के कर्मचारी अशिक्षित हैं और उनमें प्रशिक्षण का अभाव है। फलतः समिति के कार्य को कुशलता एवं मितव्ययिता के साथ चलाने में कठिनाई होती है।

3. **भण्डार गृहों एवं गोदामों का अभाव–** इन समितियों की धीमी प्रगति का एक प्रमुख कारण यह भी है कि इनके पास भण्डार गृहों एवं गोदामों का अभाव है। अतः इन्हें कृषि वस्तुओं को क्रय करके उनका तुरन्त विक्रय करना पड़ता है जिससे इन्हें अधिक लाभ नहीं होता।

4. **विधायन के पर्याप्त साधनों का अभाव–** पूंजी के अभाव में अधिकांश विपणन समितियों के पास विधायन के लिए पर्याप्त साधन नहीं है। वे उन वस्तुओं को खरीदने मे असमर्थ रहती है। जिन्हें बेचने के पूर्व बिक्री योग्य बनाना आवश्यक होता है।

5. **बाजार सम्बन्धी सूचनाओं का अभाव–** इन समितियों के पास टेलीफोन व तार आधुनिक संचार के साधन इन्टरनेट जैसे साधनों का पर्याप्त अभाव है। और ये विपणन समितियां दूसरी विपणन समितियों से भी कोई सम्बन्ध नहीं रखती। फलतः बाजार सम्बन्धी नवीनतम सूचनाओं का ज्ञान इन समितियों को और कृषकों को नहीं होता।

6. **विपणन व्यवस्था का समयानुकूल न होना–** इन समितियों द्वारा व्यवसाय करने के जो तरीके अपनाये जाते हैं, वे प्रचलित व्यापारिक तरीकों से भिन्न है। इससे उत्पादकों को अपने उत्पादन को इन समितियों के माध्यम से बेचने की प्रेरणा नहीं मिलती।

7. **आढ़तियों से प्रतियोगिता–** समितियों और आढ़तियों में सदैव प्रतियोगिता बनी रहती है। जिससे हर हालत में समितियां को ही हानि उठानी पड़ती है। यदि सहकारी समिति कृषक की उपज का मूल्य व्यापारियों की अपेक्षा अधिक देती है तो समिति को हानि होती है।यदि सहकारी समितियां कृषक की उपज का मूल्य व्यापरियों की अपेक्षा कम दें तो कृषक अपनी उपज को व्यापारी को बेचना पसन्द नहीं करता है।

8. **अनार्थिकता एवं निष्क्रियता–** आज भारतवर्ष में काफी सहकारी विपणन समितियां ऐसी है जो हानि एवं अलाभ की स्थिति मे कार्य कर रही है। तथा कुछ समितियां ठप्प पड़ी है।

9. **सदस्यों की उदासीनता–** यद्यपि सहकारी विपणन समितियां अपने सदस्यों को सभी प्राकर की सुविधायें प्रदान करती है। इसके बावजूद कृषक अपना माल समितियों के माध्यम से बेचना पसन्द नहीं करते। कृषकों को उनकी उपज की बिक्री का भुगतान बैंक से लेना पड़ता है। जिसमें कृषकों को परेशानी होती है और इस परेशानी से बचने के लिए वे इन समितियों के माध्यम से अपना माल बेचना पसन्द नहीं करते।कृषक समिति के नियमों

व उपनियमों से पूर्ण रूपेण परिचित नहीं होते।समितियों के गोदामों और क्रय केन्द्रों तक उपज को पहुंचाने के लिए किसानों के पास परिवहन एवं यातायात के साधनों का पर्याप्त अभाव होता है। कुछ समितियां तो ऐसे स्थानों पर है जहां सड़कें बहुत खराब है।समिति के सचिव कृषकों को सिगरेट आदि पिलाकर उनकी चापलूसी नहीं करते।

20.6.6 सहकारी विपणन में सुधार हेतु सुझाव–उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सहकारी विपणन समितियों से किसान को बहुत लाभ हो रहा है। परन्तु सम्पूर्ण देश के आकार तथा कृषि की आवश्यकताओं को देखते हुए इनकी प्रगति बहुत धीमी गति से हुई है। सहकारी विपणन के विकास के लिए कुछ सुझाव नीचे दिये जा रहे हैं–

1. सहकारिता के विभिन्न पहलुओं जैसे– साख–विपणन एवं उन्नत कृषि में समन्वय स्थापित करना चाहिए ओर यह प्रयत्न किया जाना चाहिए कि एक ही समिति इन तीनों प्रकार की सेवाएं प्रदान करे।
2. सहकारी विपणन समितियों को चाहिए कि जहां सम्भव हो, कृषि वस्तुएं उपभोक्ताओं को प्रत्यक्ष रूप से बेचे, ताकि मध्यस्थों का व्यय बच सके।
3. सहकारी विक्रय समितियों का प्रबन्ध व संचालन शिक्षित व कुशल व्यक्तियों के हाथों में होना चाहिए। इसके लिए कर्मचारियों को प्रशिक्षण की सुविधाएं प्रदान की जानी चाहिए।
4. इन सहकारी संस्थाओं द्वारा विधायन एवं व्यापार कार्य के लिए वित्तीय सहायता स्टेट बैंक द्वारा दी जानी चाहिए।
5. विपणन सहकारी समितियों के विकास के लिए नियोजित ढंग से प्रयत्न किया जाना चाहिए और उसमे उत्पादन, विधायन, विपणन एवं संग्रह आदि पर भी पूरा–पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।
6. विपणन सहकारी समितियो को निजी क्षेत्र से प्रतियोगिता एवं वैमनस्य का खतरा बना रहता है इसे दूर किये जाने का प्रयत्न किया जाना चाहिए।
7. उत्पादक व्यापारी को विपणन समिति की सदस्यता न दी जाये।
8. सरकार की ओर से इन संस्थाओं को कृषि– वस्तुओं के वर्गीकरण की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए।
9. सहकारी विपणन संस्थाओं के प्रयत्न करना चाहिए कि उत्पादित अतिरिक्त खाद्य सामग्री का क्रय कर सके।
10. सरकार को चाहिए कि यथा सम्भव विपणन समितियों को अपने सहायता कार्यों; जैसे–उन्नत बीजों या उर्वरकों के वितरणआदि का माध्यम नियुक्त किया जाना चाहिए।
11. सामुदायिक विकास योजना तथा राष्ट्रीय विस्तार सेवाओं के क्षेत्रों में सहकारी विक्रय पर विशेष जोर दिया जाना चाहिएं
12. ग्रामीण क्षेत्रों में निजी संग्रह एवं गोदाम सुविधाएं विकसित करने के लिए सहकारी समितियों को आर्थिक सहायता दी जानी चाहिए।

13. बहुत सी वस्तुएं ऐसी है जिनके विपणन के पूर्व विधायन कर देने से अच्छे मूल्य पर और अधिक मात्रा में बेचा जा सकती है। सहकारी समितियों को चाहिए कि इन वस्तुओं जैसे– रूई आदि में भी यह कार्य करें।
14. अनार्थिक व निष्क्रिय समितियों को या तो पूर्णरूपेण समाप्त कर दिया जाये या फिर उनकी दशा को सुधार कर उन्हें सुचारू रूप से चलाया जाये।
15. विपणन समितियों की स्थापना सामान्यतः मण्डी के निकट ही की जाये।

20.6.सारांश

कृषि विपणन से अभिप्राय कृषि उत्पाद के क्रय विक्रय से है। भारत में कृषि विपणन की जो व्यवस्था प्रचलित है। उसमें कृषक अपने उत्पाद को मेलों तथा ग्रामीण हॉट में बेचता है। इसके अतिरिक्त नियमित मण्डियों द्वारा सरकारी खरीद भी कृषि विपणन का हिस्सा है। भारत की कृषि विपणन व्यवस्था में अनेक दोष है। जिन्हें दूर करने के लिए सरकार ने समय समय पर अनेक कदम उठाये हैं।

सहकारी विपणन भी कृषि विपणन का प्रभावशाली स्वरूप है। इसमें ग्राम स्तर पर प्राथमिक समिति, जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी समिति तथा राष्ट्रीय स्तर पर छ।थ्म्क्‌ कार्य कर रही है। इससे किसानों के हितों की रक्षा हो रही है। परन्तु इसमें भी कुछ कमियां है जिन्हें दूर कर इन्हें मजबूत बनाने की आवश्यकता है। जिससे किसानों को अपनी फसल की सही कीमत मिलें।

20.7. शब्दावली

- ❖ **विपणन–** वस्तुओं को बेचना या बाजार व्यवस्था
- ❖ **लक्षित –** लक्ष्य के अनुसार या निश्चित लक्ष्य पर आधारित।
- ❖ **सहकारी –** वह व्यवस्था जिसमें कुछ लोग एक उद्‌देश्य के लिए साथ मिल कर कार्य करते हैं।
- ❖ **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।

20.8.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

25. प्राचीनकाल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक भारत में कृषि उत्पादन कार्य किसानों द्वारा मुख्य रूप से अपनी और अपने .....के लिए किया जाता था।
26. 1950–51 में ..... द्वारा किये गये अध्ययन के अनुसार भारत में कुछ कृषि उत्पाद का 33.4 प्रतिशत ही उत्पादकों द्वारा बाजार में बेचा जाता है।
27. निरीक्षण व विपणन निदेशालय के अनुसार औसतन कृषि अतिरेक्त का .... प्रतिशत भाग ही विपणन हेतु बाजार में आता है।

28. भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के अनुसार यह आकंड़ा का ..... प्रतिशत तक है।
29. भारत देश संसार में मेलों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ लगभग 1700 से अधिक कृषि पदार्थों के एवं जानवरो के लगतें है, जिनमें लगभग ..... प्रतिशत मेले कृषि वस्तुओं के होते है।
30. भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था में बिचोलियों की एक लंबी श्रृखला है। जिस कारण प्रायः किसानों को उपभोक्ताओं द्वारा दिये गये मूल्य का लगभग .... प्रतिशत भाग ही मिल पाता है।
31. नियन्त्रित मण्डियों की स्थापना की दिशा में पहला प्रयास .... में बरार में किया गया था।
32. सरकार ने ..... में कृषि उत्पादन (श्रेणी विभाजन एवं अंकन) कानून पास कियाए जिसके द्वारा विपणन तथा निरीक्षण निदेशालय को अधिकार दिया गया ।
33. .....में नाप तौल की मीट्रिक प्रणाली को अपनाया गया और 1 अप्रैल ..... से मीट्रिक बाटों का प्रयोग भी अनिवार्य कर दिया गया।
34. सरकार ने ..... में केन्द्रीय गोदाम निगम की स्थापना की।
35. कृषि विपणन के राष्ट्रिय संस्थान की स्थापना ..... में की गई।
36. भारत में सहकारिता का विधिवत् प्रारम्भ सन् ..... में हुआ था।
37. भारत में ..... के सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत सहकारी विपणन समितियों का गठन प्रारम्भ हुआ।
38. ..... में बहुउद्देशीय सहकारी समितियों की स्थापना हुई जो किसानों को साख प्रदान करने के साथ उनके उत्पादन का विपणन भी करती थी।
39. विशिष्ट प्राथमिक सहकारी समितियों की संख्या लगभग ....हैं।
40. ..... जिला सहकारी विपणन समितियाँ विभिन्न जिलों में कार्यरत है।
41. .....राज्य सहकारी विपणन संघ विपणन में किसानों की सहायता कर रहा है।
42. है। चीनी उद्योग में सहकारी समितियों की बड़े हिस्सेदारी है और चीनी के राष्ट्रीय उत्पादन में 58 प्रतिशत सहकारी क्षेत्र से आता है। देश में लगभग..... ..... सहकारी चीनी मिलें है।

उत्तर –(1) परिवार की उदरपूर्ति (2) धर्म नारायण (3) 25 प्रतिशत (4) 30 प्रतिशत (5) 40 प्रतिशत (6) 50 प्रतिशत (7) 1897(8) 1937 (9) 1958, 1 अप्रैल 1962 (10)1957 (11)1988 (12) 1904 (13) 1912 (14) 1954 (15) 3290 (16) 172(17) .29 (18) 220 सहकारी चीनी ।

20.9.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- Bilgrami, S.A.R. *'An Introduction to Agricultural Economics*;' (2006) Himalaya Publishing House Delhi

2- Sadhu, A.N. and Amarjit Singh *'Fundamentals of Agricultural Economics',* (2006) Himalaya Publishing House Delhi.

3. दत्त रुद्र एवं सुन्दरम के0पी0 एम0; (2007) *''भारतीय अर्थव्यवस्थाए''*;एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।

4. माथुर बी0 एल0; (2011) *''कृषि अर्थशास्त्र'';* अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।

5. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) *'' कृषि अर्थशास्त्र ''*; साहित्य भवन आगरा।

20.10.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Developmen*t'; Select books,New Delhi.

2. SandhA.N.,Singh,Amarjit (2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.

3. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.

4. Dantawala, M.L. et al. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford& IBH, New Delhi.

20.11.निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि विपणन से क्या तात्पर्य है। भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था पर प्रकाश डालते हुए उसकी कमीयों का वर्णन करें।
2. भारतीय कृषि विपणन व्यवस्था में सुधार करने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयासों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।
3. सहकारी विपणन से क्या अभिप्राय है? इसके उद्देश्यों एवं महत्व की व्याख्या कीजिए।
4. भारत में विद्यमान सहकारी विपणन ढॉचे की व्याख्या कीजिये। सहकारी विपणन समितियों की कमीयों पर प्रकाश डालिए।

इकाई 21: कृषि वित्त के प्रकार, चुनौतियाँ, सम्भावनाएँ एवं रणनीतियाँ

इकाई संरचना

21.1 प्रस्तावना

21.2 उद्देश्य

21.3 कृषि वित्त

21.4 कृषि वित्त के स्रोत

21.5 गैर संस्थागत स्रोत

21.6 संस्थागत स्रोत

21.7 कृषि वित्त की चुनौतियाँ , सम्भावनाएं एवं रणनीतियाँ

21.8 सारांश

21.9 शब्दावली

21.10 अभ्यास प्रश्न

21.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

21.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

21.13 निबन्धात्मक प्रश्न

21.1. प्रस्तावना

'कृषि वित्त एवं कृषि प्रबन्धन' खण्ड की यह पहली इकाई है। इससे पूर्व के खण्ड में आपने कृषि मूल्य तथा विपणन की विस्तृत जानकारी प्राप्त की।

इस इकाई में कृषि वित्त के अर्थ व आवश्यकताओं की जानकारी प्रस्तुत की जा रही है। तथा गैर संस्थागत तथा संस्थागत वित्तीय संस्थाओं की विस्तृत जानकारी देते हुए उनकी चुनौतियों और रणनीति पर प्रकाश डाला जायेंगा ।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप कृषि वित्त के स्रोतों तथा चुनौतियों को समझेगें।

21.2.उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- कृषि वित्त के प्रकार और स्रोतों को जान जायेंगें।
- कृषि वित्त के गैर संस्थगत स्रोत या व्यक्तिगत तथा स्रोत संस्थागत स्रोत की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेगें।
- कृषि वित्त की चुनौतियों,सम्भावनाओं एवं रणनीतियों से अवगत हो जायेगें।

21.3.कृषि वित्त

भारत एक कृषि प्रधान देश है जहाँ लगभग 67 प्रतिशत जनसंख्या गॉवों में निवास करती हैं तथा जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि है। ऐसे में कृषि वित्त का कृषि विकास में महत्वपूर्ण स्थान है। ग्रामीण क्षेत्र में विभिन्न आर्थिक क्रियाओं जैसे कृषि विकास, ग्रामीण उद्योग, पशुपालन, डेयरी उद्योग आदि के लिए पर्याप्त मात्रा में वित्त की आवश्यकता होती है। **श्री निकल्सन** के अनुसार कृषको को कृषि के चालू व्यय (जैसे– बीज आदि का क्रय, पशु , औजार व कच्चे माल का क्रय) चुकाने के लिए ,नई भूमि का क्रय करने के लिए अथवा भूमि की सिंचाई , जल निकासी की व्यवस्था आदि के सुधारने के लिये, मकान बनाने व मरम्मत करने के लिए सरकार को मालगुजारी चुकाने के लिये, विवाह एवं सामाजिक उत्सवों पर खर्च करने के लिये तथा मुकद्दमों बाजी का संचालन करने के लिये वित्त की आवश्यक्ता पड़ती है।

कृषि वित्त (कृषि साख) से अभिप्राय ग्रामीण क्षेत्र में किसानों को ऋण सुविधाऍ उपलब्ध कराने से है। **ग्रामीण साख सर्वेक्षण** के अनुसार ''कृषि की वह साख जिसकी कृषको को कृषि कार्यों को पूर्ण करने में आवश्यकता होती है, कृषि वित्त या साख के अन्तर्गत आती है।'' दूसरे शब्दों में कृषि वित्त या साख से तात्पर्य उस वित्त अथवा साख से होता है जिसका उपयोग कृषि से सम्बन्धित विभिन्न कार्यों के संपादन हेतु किया जाता है। कृषि यन्त्र क्रय करने, सिंचाई की व्यवस्था करने विपणन से सम्बन्धित कार्य या कृषि से सम्बन्धित अन्य किसी कार्य के लिए हो सकती है।

भारतीय किसानों का अधिकतर भाग, छोटे व सीमान्त किसानों का है जो निर्धन है। जिस कारण कृषि की नवीन तकनीक को अपनाने के लिए, उत्पादन के नए साधनों को बाजार से खरीदने के लिए इनके पास पर्याप्त धन नहीं है। ऐसे में कृषि वित्त की उचित व्यवस्था

द्वारा किसानों को कृषि विकास हेतु उचित वित्त उपलब्ध करा के ही भारत में कृषि का पूर्ण विकास किया जा सकता है।

21.3.1 कृषि वित्त के प्रकार– किसाानों की आवश्यकताओं के आधार पर कृषि वित्त के मुख्य दो प्रकार हैं।

(1) समय के अनुसार कृषि वित्त– समय का अभिप्राय उस अवधि से है जिसमें ऋण चुकाया जाता है। समय के अनुसार वित्त की आवश्यकता को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है–

(क) अल्पकालीन वित्त– सामान्यतया अल्पकालीन वित्त की अवधि एक फसल से दूसरी फसल तक की होती है। इस प्रकार के वित्त की आवश्यकता किसानों को बिज, उर्वरक, कृषि यंत्र, कीटनाशक, श्रमिकों की मजदूरी तथा अन्य तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए होती है। अल्पकालीन वित्त की अवधि 15 माह तक होती है।

(ख) मध्यकालीन वित्त– किसानों को अपनी भूमि में सुधार के लिए पशु खरीदने के लिए, कृषि के बडे यन्त्र, सिंचाई के लिए पम्प खरीदने के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। इन कार्यों को पूरा करने के लिए साधारण देय क्षमता से अधिक वित्त की आवश्यकता होती है। जिन्हें किसान फसल पर किस्तों द्वारा ही भुगतान करते है। मध्यकालीन वित्त की अवधि 15 माह से लेकर 5 वर्ष तक की होती है।

(ग) दीर्घावधि वित्त– जब किसानों को नयी भूमि खरीदनी हो, अपने खेत का विस्तार करना हो, पुराने ऋण का भुगतान करना हो, भूमि में कोई स्थायी सुधार करना हो तथा बडे कृषि यंत्र खरीदने हो तो उन्हें बडी मात्रा में वित्त की आवश्यकता होती है। ऐसी स्थिति में किसान जो ऋण लेता है उसे वह 5 से 10 या 20 वर्ष तक के लिए लेता है।

(2) उद्देश्य के अनुसार कृषि वित्त– भारतीय किसान को केवल कृषि कार्य के लिए ही नहीं परन्तु सामाजिक कार्यों को पूरा करने के लिए भी वित्त की आवश्यकता पड़ती है। इस आधार पर कृषि वित्त को निम्न भागों में बांटा जा सकता है।

(अ) उत्पादक वित्त – इसमें ऐसे ऋण शामिल किये जाते हैं, जो किसानों को कृषि क्रियाओं जैसे– कृषि यन्त्र की खरीद, उर्वरक, उन्नत बीज, मजदूरी भुगतान, ट्यूबवैल लगाने, भूमि सूधार हेतु कुएं खुदवाने तथा फसल की बिक्री आदि में सहायता देते हैं। इन्हें उत्पादक इसलिए कहा जाता है। क्योंकि इनका उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं से सीधा सम्बन्ध होता है। कृषि के व्यवसायीकरण के साथ आजकल खेती में धीरे–धीरे मशीनों का प्रयोग बढ़ रहा है। सिंचाई के लिए किसान अपने ट्यूबवैल तथा कृषि यंत्रों का प्रयोग करने लगे है। जिसके लिए उन्हें बडी मात्रा में कृषि वित्त की आवश्यकता होती है। अधिकांश उत्पादक कार्यों के लिए वित्त की व्यवस्था सहकारी समितियों, व्यापारिक बैंकों, भूमी विकास बैंक तथा नाबार्ड द्वारा की जाती है।

(ब) उपभोग वित्त– किसानों को प्रायः उपभोगता हेतु भी वित्त की आवश्यकता होती है। बहुत सारे किसानों को फसल बिक्री से इतनी आय नहीं होती कि वह अगली फसल तक परिवार का उचित जीवन–निर्वाह कर सकें। इसलिए वह अपनी दैनिक परिवारिक आवश्यकता के लिए ऋण लेते हैं। सूखे व बाढ़ के बाद यह आवश्यकता और बढ़ जाती

है। ऐसे स्थिति में संस्थागत साख स्रोतों से किसानों को वित्त की प्रति नहीं होती। इसलिए उन्हें मजबूर होकर उपभोग सम्बन्धी जरुरतों के लिए साहूकार और महाजनों से ही उधार लेना पड़ता हैं।

(स) अनुत्पादक वित्त– भारतीय किसानों को उपभोग के अतिरिक्त अनेक अनुत्पादक कोर्यो के लिए भी वित्त की आवश्यकता होती है। फसल ठीक न होने पर लगान अदायगी के लिए वित्त की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त किसान मुकदमेबाजी तथा अनेक सामाजिक संस्कारों जैसे– विवाह, पुत्र जन्मोत्सव, मृत्यु–भोज आदि के लिए भी अक्सर उधार लेते है। इन बातों के लिए गये कार्ज को आसानी से नही चुका पाते और प्रायः इस प्रकार के ऋणों की ब्याज की दर भी अधिक होती हैं और ऐसे वित्त की पूर्ति साहूकार व महाजन ही करते है।

21.4.कृषि वित्त के स्रोत

भारत में कृषि वित्त की पूर्ति के अनेक स्रोत है, जिन्हें मुख्य रुप से दो भागों में बांटा जा सकता है

(1) गैर संस्थगत स्रोत या व्यक्तिगत स्रोत (2) संस्थागत स्रोत।

कृषि के व्यवसायिकरण के साथ गैर संस्थगत स्रोतों का महत्व धीरे–धीरे कम होता जा रहा है।

तालिका (21.1) कृषि वित्त का स्रोतानुसार वर्गीकरण (प्रतिशत भाग)

कृषि वित्त के स्रोत	1951-52	1971	1981	1991	2001
(अ) गैर संस्थागत स्रोत					
1 .साहूकार	69.7	36.1	16.1	17.6	16.2
2. व्यापारी	5.5	8.4	3.2	2.5	2.3
3. सम्बन्धी एवं मित्र	14.2	13.1	8.7	5.5	4.3
4. भू–स्वामी एवं अन्य	3.3	10.7	8.8	4.0	3.8
उप–भोग (1 से 4)	**92.7**	**68.3**	**36.8**	**32.7**	**26.6**
(ब) संस्थागत स्रोत					
5. सरकार	3.1	7.1	3.9	6.1	7.1
6. सहकारी समितियां	3.3	22.0	29.9	21.6	30.3
7. वाणिज्य बैंक	0.9	2.6	29.4	33.7	33.4
8. अन्य	—	—	—	2.7	2.6
उपयोग (5 से 8)	**7.3**	**31.7**	**63.2**	**64.0**	**73.4**
कुल योग (अ + ब)	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**	**100.0**

Source-Economiic Survey 2004

आर्थिक सर्वेक्षण 2004 में दिये गये आकड़ो के अध्ययन से पता चलता है कि संस्थागत स्रोतों का महत्व दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आर्थिक सर्वेक्षण 2004 से प्राप्त आकड़ों को तालिका (21.1) दर्शाया गया है। तालिका (21.1) से स्पष्ट है कि 1951–52 में कुल कृषि वित्त में गैर संस्थागत स्रोत की हिस्सेदारी 92.7 प्रतिशत थी जो 1971 में 68.3 प्रतिशत ,1981 में 36.8 प्रतिशत, 1991 में 32.7 प्रतिशत तथा 2001 में घटकर 26.6 प्रतिशत रह गयी। इस प्रकार अर्थव्यवस्था के विकास के साथ गैर संस्थागत वित्त स्रोत की हिस्सेदारी घटती गई। वही दूसरी तरफ संस्थागत स्रोत की हिस्सेदारी 1951–52 में मात्र 7.3 प्रतिशत थी जो 1971 में 31.7, 1981 में 63.2 प्रतिशत, 1991 में 64.0 तथा 2001 में बढ़कर 73.4 प्रतिशत हो गई।

विस्तृत विवरण से पता चलता है कि इस दौरान गैर संस्थागत स्रोत में साहूकारों की हिस्सेदारी में मुख्य रुप से कमी आई। वही संस्थागत स्रोत में वाणिज्य बैंको तथा सहकारी समितियों द्वारा दिये गये वित्त में विशेष रुप से वृद्धि हुई है।कृषि वित्त का विस्तृत वर्गीकरण निम्न है–

कृषि वित्त के स्रोत

(1) गैर संस्थागत स्रोत	(2) संस्थागत स्रोत
1 साहूकार या महाजन	1 सरकार
2 व्यापारी एवं कमीशन एजेन्ट	2 सहकारी समितियां
3 सम्बन्धी एवं मित्र	3 वाणिज्य बैंक
4 भू–स्वामी एवं अन्य	4 भारतीय स्टेट बैंक
	5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक
	6 नाबार्ड

21.5.गैर संस्थागत वित्त स्रोत

गैर संस्थागत वित्त स्रोत में मुख्य रुप से साहूकार या महाजन, व्यापारी, मित्र व सम्बन्धी तथा भू–स्वामी आते है। जिनका विवरण इस प्रकार है।

21.5.1 साहूकार व महाजन– भारत में साहूकार तथा महाजन संस्थागत कृषि साख का विकास हो जाने पर भी ग्रामीण वित्त व्यवस्था में अपना अस्तित्व बनाये हुए है। यह अभी भी देश के सभी भागों में पाए जाते है। **अखिल भारतीय साख एवं निवेश सर्वेक्षण** रिर्पोट के अनुसार साहूकार तथा महाजन दो प्रकार के है प्रथम कृषक साहूकार है जो मुख्य व्यवसाय के रुप में कृषि कार्य करते है। द्वितीय व्यावसायिक साहूकार है जिनका प्रमुख व्यवसाय ही रुपया उधार देना है।

साहूकार उत्पादक, अनुत्पादक तथा उपभोग सभी उद्देश्यों के लिए अल्पकाल व दीर्घकाल के लिए किसानों को वित्त उपलब्ध कराते है। इन साहूकारों तक किसानों की पहुंच आसान होती है। क्योंकि इनका किसानों से पारिवारिक सम्बंध होता है। इनक वित्त लेन–देन के तरीके सरल और लचीले होते है। साथ ही ये जमानत लेकर तथा बिना

जमानत के भी वित्त उपलब्ध कराते। इस प्रकार इनकी कार्य पद्धति अत्यन्त लोचदार होती है, जो समय परिस्थिति तथा व्यक्ति के अनुसार परिवर्तित होती है। इसलिए ये अपने क्षेत्र में काफी लोकप्रिय होते है।

अखिल भारतीय ग्राम ऋण सर्वेक्षण (1954) की जांच के अनुसार सम्पूर्ण ग्राम वित्त में साहूकारो द्वारा 70 प्रतिशत वित्त दिया गया। लेकिन 1991 के एक अन्य सर्वेक्षण के अनुसार साहूकारों का अंश मात्र 18 प्रतिशत रह गया था। इससे पता चलता है कि इनका प्रभाव कम होता जा रहा है। क्योंकि अनेक बार साहूकार ब्याज की रकम अग्रिम रुप में काट लेते हैं। ये हिसाब–किताब में गड़बडी करते हैं और रसीद भी नही देते। अधिक ब्याज लगाते है। कम मूल्य पर फसल का जबरन क्रय करते हैं तथा किसानों से बगार भी कराते है। साहूकर के दोषों के बारे में **बम्बई बैकिंग जांच सतिति** ने अपनी रिपोर्ट में लिखा है कि '' साहूकारों के लेन–देन का ढंग इस प्रकार का है कि एक बार उनसे ऋण लेने पर छुटकारा पाना कठिन है।'' ग्रामीण क्षेत्र में सहकारी व वाणिज्य बैंको की स्थापना के साथ दिन–प्रतिदिन इनका महत्व घटता जा रहा है, लेकिन ये अभी भी महत्वपूर्ण है।

21.5.2 व्यापारी एवं कमीशन एजेन्ट– व्यापारी व कमीशन एजेन्ट किसानों को कृषि उत्पादन कार्यों हेतु वित्त उपलब्ध कराते हैं। इनके द्वारा कुछ विशेष फसलों जैसे– फल, मूँगफली, गन्ना तथा तम्बाकू आदि के उत्पादन हेतु ऋण प्रदान किये जाते हैं।ये किसानों को कम कीमत पर फसल बेचने के लिए बाध्य करते हैं और इसमें से भी अपने कमीशन की भारी वसूली करते हैं। तालिका (20.1) अनुसार 1951–52 में इन की हिस्सेदारी कुल कृषि वित्त का 5.1 प्रतिशत जो 2001 में घट कर 2.1 प्रतिशत रह गयी।, क्योंकि इनकी कार्यप्रणाली दोषपूर्ण थी।

21.5.3 सम्बन्धी एवं मित्र– किसान आवश्यकता पडने पर अपने मित्रों और रिश्तेदारों से नकद या वस्तुओं के रुप में उधार लेते है। ये उधार सामान्यतः अनौपचरिक रुप से दिए जाते है जिन पर ब्याज दर बहुत नीची होती है या ब्याज ही नहीं लिया जाता। ऐसे उधार अल्पकालिन होते है जो फसल कटाई पर लौटा दिये जाते हैं। इस प्रकार की वित्त व्यवस्था अनिश्चित होती है। कुल कृषि वित्त में इस प्रकार के वित्त का हिस्सा बहुत कम ही रहा है। 1951–52 में यह 14.2 प्रतिशत था जो 1991 में घटकर 4.3 प्रतिशत रह गया।

21.5.4 भू–स्वामी एवं अन्य– छोटे एवं सीमान्त किसान तथा काश्तकार अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भू–स्वामी एवं अन्य पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार के वित्त स्रोत में भी साहूकार व व्यापारियों एजेन्ट जैसी दोषपूर्ण कार्यप्रणाली द्वारा किसानों का शोषण किया जाता है। और छल द्वारा उनकी भूमि पर कब्जा कर लिया जाती है। और उन्हें भूमिहीन कर बन्धुआ मजदूर बनने के लिए मजबूर किया जाता है। 1951–52 में 3.3 प्रतिशत तथा 1991 में 3.8 प्रतिशत वित्त की पूर्ति इनके द्वारा की गई।कृषि के गैर संस्थागत स्रोतों की कार्य प्रणाली में अनेक दोष है– अनुत्पादक व उपभोग कार्यों के लिए वित्त देना, ब्याज की ऊँची दर, हिसाब में गड़बडी, अग्रिम ब्याज, भूमि पर कब्जा आदि। जो किसानों का शोषण कर उन्हें हमेशा के लिए कर्जदार बना देती हैं।

21.6.संस्थागत वित्त स्रोत

इसके अन्तर्गत ऐसी राशियॉ शामिल की जाती है जो सहकारी समितियों, वाणिज्य बैंकों, सरकार, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक भूमि विकास बैंक आदि द्वारा उपलब्ध करायी जाती है। संस्थागत वित्त संस्थाओं का मुख्य उद्देश्य किसानों को अपनी उत्पादकता बढ़ाने या आय को अधिकतम करने में सहायता देना है। ये अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन सभी प्रकार के ऋण की व्यवस्था करते हैं। संस्थागत वित्त के प्रमुख स्रोत इस प्रकार है।

21.6.1 सरकार– केन्द्र तथा राज्य सरकारों दोनो ही किसानों को अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त सहायता देती रही है। सरकार किसानों को प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रुप से प्रदान करती है। प्रत्यक्ष रुप से किसानों को दिये जाने वाले ऋणों को तकावी ऋण कहा जाता है। ऐसे ऋण विपदा या आपात स्थिति में दिये जाते हैं। जैसे– युद्ध, बाढ़, सूखा, भूकम्प आदि यह ऋण सामुदायिक विकास विभाग राजस्व विभाग, या सहकारी समितियों के माध्यम से दिये जाते हैं।

सरकार किसानों को अप्रत्यक्ष रुप से अल्पकाल तथा दीर्घकाल के लिए ऋण देती है। सरकार यह ऋण सहकारी समितियों, भूमि विकास बैंको को धन राशि उपलब्ध करा कर किसानों तक पहुॅचाती है। सरकार राज्य सहकारी बैंकों को अनुदान देकर भी किसानों को पर्याप्त मात्रा में साख उपलब्ध कराती है।

सरकार द्वारा दिये जाने वाले ऋण अधिक लोकप्रिय नहीं है। ब्याज दर कम होने के बावजूद , इन ऋणों की कम राशी, प्राप्ति में देरी, अकुशल प्रशासन तथा कागजी कार्यवाही के कारण किसान इनका लाभ नही उठा पाते।

21.6.2 सहकारी समितियाँ– सहकारी साख समितियाँ कृषि वित्त का सबसे बढ़िया तथा सस्ता स्रोत है। ये समितियॉ उत्पादन कार्यों हेतु ही ऋण प्रदान करती है। जिनकी ब्याज दर भी अन्य संस्थाओं की तुलना में कम होती है। भारत में सहकारी समितियाँ तीन स्तरों पर कार्य करती है। राज्य सहकारी बैंक राज्य में शीर्ष संस्था होती है। उसके बाद केन्द्रीय या जिला सहकारी बैंक तथा ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक साख समितियों का स्थान होता है।

गाँव के कोई भी दस लोग मिलकर **प्राथमिक सहकारी साख समिति** की स्थापना कर सकते हैं। इनकी कार्यपद्धति समस्त सहकारी साख की उन्नति एवं समृद्धि की सूचक है। वर्ष 1950–51 में इनकी संख्या 1.05 लाख थी जो 1960–61 में बढ़कर 2.12 लाख हो गई। बाद में पुनर्गठन के बाद 1999–2000 में इनकी संख्या 0.92 लाख हो गई। लेकिन प्रदान किये गये ऋण की मात्रा 1950–51 में 23 करोड़ से बढ़कर 1999–2000 में 13,600 करोड रुपये हो गई है।

प्राथमिक साख समितियों को ऋण उपलब्ध कराने के लिए **जिला स्तर पर केन्द्रीय या जिला सहकारी बैंक** का संचालन किया जाता है। भारत में केन्द्रीय सहकारी बैंक की स्थापना 1912 के सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत हुई 1950–51 में इनकी संख्या 505 थी पुनर्गठन के बाद 1999–2000 में 367 हो गई जबकि इनके द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा 1950–51 में 83 करोड़ रुपये से बढ़कर 1999–2000 में 47,630 करोड रुपये हो गया।

केन्द्रीय सहकारी बैंको को ऋण देने के लिए राज्य स्तर पर **राज्य सहकारी बैंक** होता है। यह बैंक रिजर्व बैंक, केन्द्रीय तथा प्राथमीक सहकारी साख समितियों के मध्य एक महत्त्वपूर्ण कड़ी का कार्य करता है। 1950–51 में इनकी संख्या 15 थी जो 1999–2000 में 29 हो गई तथा इनके द्वारा दिये गये ऋण की मात्रा इस दौरान 42 करोड़ रुपये से बढ़कर 38,250 करोड रुपये हो गई।

यद्यपि अर्थव्यवस्था के विकास के साथ सहकारी समितियों की कृषि वित्त में हिस्सेदारी लगातार बढी है फिर भी इनका लाभ अधिकतर बड़े किसानों ने ही उठाया है और बकाया ऋण भी एक बडी समस्या बना हुआ है। सहकारी साख संस्थाओं की सफलता के लिए इन्हें छोटे व सीमान्त किसानों पर अधिक ध्यान देना होगा और ऋणों की समय पर वापसी सुनिश्चित करनी होगी।

21.6.3 वाणिज्य बैंक– काफी लम्बे समय तक वाणिज्य (व्यापारिक) बैंकों का कृषि वित्त में हिस्सा बहुत कम था। 1950–51 में 0.9 प्रतिशत तथा 1961–62 में 0.7 प्रतिशत था 19 जुलाई 1969 को सरकार ने 14 वाणिज्य बैंकों तथा 15 अप्रैल 1980 में 6 वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इसके बाद इन बैंको द्वारा कृषि वित्त में महत्वपूर्ण योगदान दिया जाने लगा ये अल्पकालीन तथा मध्यकालीन दोनों प्रकार के ऋण प्रदान करते हैं। वाणिज्य बैंक न केवल किसानों को उर्वरक, पम्पिंग सेट व अन्य कृषि यन्त्र खरिदने के लिये ऋण दे रहे हैं। राष्ट्रीयकरण के बाद कृषि वित्त में इनकी हिस्सेदारी तेजी से बढ़ी है। जो 1950–51 में मात्र 0.9 प्रतिशत थी वह 1971 में 2.6 प्रतिशत तथा 2001 में बढ़कर 33.4 प्रतिशत हो गई । 30 जून 2009 तक व्यापारिक बैंको की संख्या 80514 थी जिसमें से 39.53 प्रतिशत शाखाए ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत थी।

21.6.4 भारतीय स्टेट बैंक– सार्वजनिक क्षेत्र के बैंकों में भारतीय स्टेट बैंक सबसे बडा बैंक है। जो देश के कुल बैंकिंग कारोबार का 26.2 प्रतिशत कारोबार सम्भालते है 1955 में अपनी स्थापना के समय से ही यह कृषि वित्त उपलब्ध कराने का प्रयास कर रहा है। यह सहकारी बैंको को वित्त उपलब्ध कराता है।सहकारी बैंकों के धन का निःशुल्क स्थानान्तरण करता है। गोदामों के निर्माण के लिय ऋण देता है। किसानों को ट्रैक्टर व अन्य यन्त्र खरीदने के लिये सीधे ऋण देता है। भारतीय स्टेट बैंक द्वारा 1972 में कृषि विकास शाखा खोलने की एक विशेष योजना प्रारम्भ की गई तथा ''गॉव अंगीकृत योजना'' प्रारम्भ की जिसके द्वारा किसानों को सीधे वित्त सुविधा प्रदान की जा सकें। 30 जून को भारतीय स्टेट बैंक तथा सहयोगी बैंकों की 16294 शाखायें थी जिसमें से 34.49 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र में स्थिति है।

21.6.5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक– बैंकिंग आयोग द्वारा लघु एवं सीमान्त किसानों तथा भूमिहीन कृषि श्रमिकों की वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु 1972 में ग्रामीण बैंको की स्थापना का सुझाव दिया गया। फलस्वरुप सरकार द्वारा नियुक्त ग्रामीण बैंक के कार्यदल की विशेष सिफारिश पर 2 अक्टूबर 1975 को 4 राज्यों उत्तरप्रदेश में मुरादाबाद और गोरखपुर, हरियाणा में भिवानी राजस्थान में जयपुर तथा पश्चिम बंगाल में माल्दा में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गई। इन्हें प्रायोज्य या प्रायोजित बैंक भी कहा जाता है क्योंकि इन

बैंको की स्थापना, प्रबन्धन तथा वित्तीय व्यवस्था में व्यापारिक बैंको की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की संख्या 6 तथा शाखाओं की संख्या 200 थी जो 2003 में बैंकों की संख्या 196 तथा शाखाओं की संख्या बढ़कर 14,507 हो गई है। इन बैंको के ऋणों का 90 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों के कमजोर वर्गों को दिया जाता है। देश के कुल कृषि ऋण प्रवाह में क्षेत्रीय बैंकों का हिस्सा लगभग 8 प्रतिशत है।

प्रत्येक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की अधिकृत पूँजी 1 करोड़ रुपये निर्धारित की गई है। यह अधिकृत पूँजी केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक एवं प्रायोजित बैंक की सलाह से कम कर सकता है, किन्तु यह 25 लाख रुपये से कम नहीं होगी। जिसमें 50 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार, 15 प्रतिशत राज्य सरकार एवं 35 प्रतिशत प्रायोजित बैंक द्वारा प्रदान की जायेगी। 12 जुलाई 1982 को इन बैंकों का नियन्त्रण रिजर्व बैंक ने नाबार्ड को सौंप दिया था।

यद्यपि इन बैंकों की स्थापना ग्रामीण साख के विस्तार के लिये की गई थी, परन्तु इन बैंकों के क्षेत्रीय वितरण में असमानता है। जिसमें से अधिकांश क्षेत्रीय बैंक घाटे में चल रहे हैं, जिस कारण उन्हें वित्तीय कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है। इस लिए स्वीकृत ऋणों के प्रयोग का निरीक्षण किया जाना चाहिए जिससे ऋण उसी कार्य में लगे जिसके लिए स्वीकृत किया गया है और समय पर ऋण वापसी हो सके।

21.6.6 राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) – देश में कृषि एवं ग्रामीण विकास कार्यों के लिये व्यवस्था करने, कृषि वित्त संस्थाओं की सहायता व समन्वय के लिये कृषि वित्त की सर्वोच्च संस्था के रुप में 12 जुलाई 1982 एक शीर्षस्थ बैंकों के रुप में नाबार्ड की स्थापना की गई। इसने 15 जुलाई 1982 से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसका मुख्यालय मुम्बई में तथा 4 मण्डलीय तथा प्रत्येक राज्य में क्षेत्रीय कार्यालयों की स्थापन की गई है।नाबार्ड को कृषि पुनर्वित्त व विकास निगम तथा राष्ट्रीय कृषि साख (दीर्घकालीन) कोण तथा राष्ट्रीय कृषि साख (स्थायीकरण) कोष के सभी कार्य हस्तान्ततरित कर दिये गये है। नाबार्ड अपने कार्यों के द्वारा कृषि वित्त में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। वर्ष 2003–04 के दौरान अल्पकालीन ऋण के रुप में 8,820 करोड रुपये के ऋणाों की स्वकृति दी। 1 अप्रैल 1995 से नाबार्ड के तहत एक नई ग्रामीण आधारित संरचनात्मक विकास निधि की स्थापना की गई। जिसके द्वारा सिंचाई सडके एवं पुल आदि के निर्माण हेतु सहायता दी जाती है। 2003–04 में इसके अन्तर्गत 5,440 करोड रुपये की राशी स्वीकृत की गई।

21.7.कृषि वित्त की चुनौतियाँ, सम्भावनाएँ एवं रणनीतियाँ

भारत में ग्रामीण ऋणग्रस्तता की समस्या नई नहीं है। यह समस्या उतनी ही पुरानी है, जितनी कृषि। किसानों का ऋणग्रस्त होना एक सामान्य बात है। **शाही कृषि आयोग** के अनुसार '' भारतिय कृषक ऋण में जन्म लेता है, ऋण में पलता है और ऋण में ही मरता है। '' आज भारतीय ग्रामीण वित्त व्यवस्था के सामने मुख्य चुनौती यही है कि किस प्रकार किसानों की वित्तीय सहायता कर उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार किया जाय। लेकिन संगठित व संस्थागत वित्तीय संस्थाओं की स्थापना के बावजूद आज भी ग्रामीण साख बाजार में असंगठीत व गैर संस्थागत स्रोतों जैसे साहूकार व महाजनों का प्रभुत्व है। जिन्हें पंजाब में महाजन, उत्तर प्रदेश में साहूकार, मारवाड में सेठ तथा चेन्नई में चेट्टी कहा

जाता है। आज भी ग्रामीण क्षेत्रों में इन पर वित्तीय निर्भरता संस्थागत क्षेत्रों के लिए मुख्य चुनौती बनी हुई है।

2004 में हिन्दुस्तान टाईम्स और भारतीय आर्थिक निवेश फाउण्डेशन के अध्ययन से यह तथ्य सामने आया कि आज भी ग्रामीण वित्त में साहूकारों की हिस्सेदारी 70 प्रतिशत है। जबकि सार्वजनिक बैंकों का मात्र 10 प्रतिशत सहकारी समितियों का 9 प्रतिशत, सरकारी स्रोत का 1 प्रतिशत, स्वयं सहायता समूहो का 1 प्रतिशत तथा अन्य का 9 प्रतिशत हिस्सा था।

अधिकांश साहूकार व महाजन ऐसे हैं जिनके घरों से सरकारी ऋण केन्द्र 1 किलोमीटर के अन्दर है। साहूकर अपने ऋणों पर औसतन 24 प्रतिशत ब्याज वसूलते हैं। तब भी आज किसान इन साहूकारों की जकड़ में फंसे हुए हैं। संस्थागत वित्त संस्थाओं को अपनी कार्यप्रणाली में इस प्रकार बदलाव करना होगा, जिससे किसान इनसे ऋण लेने के लिए आगे आये।

कृषि व ग्रामीण वित्त संस्थागत संस्थाओं के सामने दूसरी सबसे बडी चुनौती घाटे की है। क्योंकि क्षेत्रिय ग्रामीण बैंक, सहकारी समितियों तथा वाणिज्य बैंको द्वारा प्रदान ऋणों की समय पर वापसी नही हो पाती। पिछले दिनों किसानों द्वारा की गई आत्महत्या भी बैंकिंग प्रणाली के सामने एक चुनौती बनकर आई है।

स्वतंत्रता के इतने समय बाद भी आज छोटे भूमि तथा सीमान्त किसानों को अपनी वित्तीय आवश्यकताओं के लिए साहूकारों की शरण में जाना पडता है क्योंकि संस्थागत संस्थाओं पर बडे व प्रभावशाली किसानों का अधिक प्रभाव है। जिस कारण छोटे किसान ऋण जाल में फँसें हुए है। इन संस्थाओं के विस्तार में भी क्षेत्रीय असमनताऍ है। जहॉ कुछ क्षेत्रों में कई – कई बैंक व वही दूसरी ओर कुछ क्षेत्रों में इनका अभाव है। क्योंकि ग्रामीण बैंकों में शाखाएं विस्तार के नाम से अंधाधुंध ग्रामीण शाखाएं खोल दी गई है। जिससे इन बैंको का प्रशासनिक घाटा भी बढ़ा जिसका प्रभाव कृषि वित्त पर पडा है। इन सब कारणों से संस्थागत कृषि वित्त संस्थाओं के सामने अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधाएं आ रही हैं। जो कृषि वित्त व्यवस्था के लिए चुनौती बनी हुई है।

कृषि तथा ग्रामीण क्षेत्र में कृषि वित्त की आपार सम्भावनाएं है। लेकिन वित्तिय संस्थाओं के असमान वितरण, भेद–भाव पूर्ण व्यवहार, वित्त अभाव व जटिल कार्यप्रणाली के कारण किसानों तक यह अपनी प्रभावपूर्ण पहुॅच बनाने में धीमी गति से आगे बढ रहे है। इसलिये संस्थागत संस्थाओं को ऐसी रणनीति अपनानी होगी, जिससे किसान साहूकार की जकड़ से बच कर अन्य वित्तिय संस्थाओं से वित्तीय सहायता प्राप्त करे।

व्यापारिक बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको तथा सहकारी वित्त संस्थाओं को अपने ऋणों को राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना के साथ समन्वित करना चाहिये, जिससे किसानों को मुसीबत के समय ऋण वापसी में कठिनाई का सामना न करना पडे। साथ ही बैंकों को वर्षा बीमा योजना के साथ भी अपने ऋण को समन्वित करते हुए किसानों को इसकी जानकारी देनी चाहिए।

कृषि वित्त की नवीन रणनीति के तहत अगस्त 1998 में किसान क्रेडिट कार्ड की योजना प्रारंभ की गई अब किसान वाणिज्य बैंकों क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा सहकारी बैंको से आसानी से ऋण प्राप्त कर सकते हैं। 1998 से नवमबर 2009 तक 878.30 लाख किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए जा चुके थे इनमें से 48.21 प्रतिशत सहकारी बैंको द्वारा 13.16 प्रतिशत क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको तथा 38.63 प्रतिशत वाणिज्य बैंकों द्वारा जारी किये गये।

21.8.सारांश

भारत एक कृषि प्रधान देश है। जहाँ के अधिकांश किसान छोटे व सीमान्त श्रेणी के है। जिन्हें कृषि वित्त की आवश्यकता खाद, बीज, कीटनाशक, कृषि यन्त्र तथा सिंचाई व्यवस्था के लिए पड़ती है। किसान उत्पादक, अनुत्पादक तथा उपभोग सभी उद्देश्यों के लिए अल्पकालीन मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन ऋण लेते है। किसान इन ऋणों के लिये गैर संस्थागत स्रोतों जैसे– साहूकार व महाजन व्यापारियों व एजेन्ट, सम्बन्धी, मित्र तथा भूस्वामी तथा संस्थागत वित्तीय स्रोतों जैसे– सरकार, सहकारी वित्त समिति ,वाणिज्य बैंक, भारतीय स्टेट बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक तथा नाबार्ड पर निर्भर करते हैं। लेकिन आज भी कृषि वित्त में साहूकारों का प्रभुत्व बना हुआ है।2004 में हिन्दुस्तान टाईम्स और भारतीय आर्थिक निवेश फाउण्डेशन के अध्ययन से यह तथ्य सामने आया कि आज भी ग्रामीण वित्त में साहूकारों की हिस्सेदारी 70 प्रतिशत है। जबकि सार्वजनिक बैंकों का मात्र 10 प्रतिशत सहकारी समितियों का 9 प्रतिशत, सरकारी स्रोत का 1 प्रतिशत स्वयं सहायता समूहो का 1 प्रतिशत तथा अन्य का 9 प्रतिशत हिस्सा था। जो कृषि वित्त व्यवस्था के लिये एक बड़ी चुनौती है। अतः सरकार के अपनी रणनीति में इस प्रकार बदलाव लाना होगी कि किसान संस्थागत वित्त संस्थाओं से ऋण प्राप्त कर, विकास की और अग्रसर हो। व्यापारिक बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको तथा सहकारी वित्त संस्थाओं को अपने ऋणों को राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना के साथ समन्वित करना चाहिये, जिससे किसानों को मुसीबत के समय ऋण वापसी में कठिनाई का सामना न करना पडे।

21.9. शब्दावली

- **कृषि साख–** वह ऋण (साख) जो कृषि कार्य हेतु लिया जाता है।
- **उर्वरक–** रासायनिक खाद जैसे–यूरिया, पोटाश, फास्फेट आदि।
- **गैर संस्थागत स्रोत**– जिनकी निश्चित प्रणाली अनिश्चित होती है।
- **संस्थागत स्रोत**– जिनकी कार्यप्रणाली निश्चित नियमों पर आधारित होती है।
- **कृषि का वयवसायिकरण–** लाभ प्राप्ती के उद्देश्यों से कृषि करना।
- **वाणिज्य बैंक–** व्यापारिक बैंक जो लाभ प्राप्ति के लिए धन का लेने–देन करते हैं।
- **काश्तकार–** जो लोग किसी दूसरे की भूमि पर ठेके पर कृषि करता है।
- **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।

- **सहकारी** –वह व्यवस्था जिसमें कुछ लोग एक उद्देश्य के लिए साथ मिल कर कार्य करते हैं।

21.10.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

1. भारत एक..... प्रधान देश है जहाँ लगभग .....जनसंख्या गॉवों में निवास करती हैं तथा जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि है।
2. अल्पकालीन कृषि वित्त की अवधि ..... तक होती है।
3. मध्यकालीन वित्त की अवधि..... से लेकर ..... तक की होती है।
4. दीर्घावधि वित्त की अवधि .....या ..... तक के लिए लेता है।
5. सहकारी समितियों, व्यापारिक बैंकों, भूमि विकास बैंक तथा नाबार्ड द्वारा अधिकांश . ..... कार्यों के लिए वित्त की व्यवस्था की जाती है।
6. 1951–52 में कुल कृषि वित्त में गैर संस्थागत स्रोत की हिस्सेदारी..... प्रतिशत थी दूसरी तरफ संस्थागत स्रोत की हिस्सेदारी 1951–52 में मात्र ..... प्रतिशत .थी।
7. 2001 में कुल कृषि वित्त में गैर संस्थागत स्रोत की हिस्सेदारी घटकर..... प्रतिशत दूसरी तरफ संस्थागत स्रोत की हिस्सेदारी 2001 बढ़कर ..... प्रतिशत हो गई।
8. गैर संस्थागत वित्त स्रोत में मुख्य रुप से ..... आते है।
9. संस्थागत वित्त संस्था..... सभी प्रकार के ऋण की व्यवस्था करते हैं।
10. केन्द्र तथा राज्य सरकारों दोनो ही किसानों को..... वित्त सहायता देती रही है। सरकार किसानों को ..... रुप से प्रदान करती है।
11. भारत में सहकारी समितियाँ ..... स्तरों पर कार्य करती है। ..... राज्य में शीर्ष सहकारी संस्था होती है।
12. ..... को सरकार ने 14 वाणिज्य बैंकों तथा .....में 6 वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया।
13. क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की स्थापना ..... को ..... राज्यों में की गई।
14. कृषि वित्त की सर्वोच्च संस्था के रुप में .....एक शीर्षस्थ बैंकों के रुप में .....की स्थापना की गई।
15. .....में किसान क्रेडिट कार्ड की योजना प्रारंभ की गई ।
16. 1998 से नवमबर 2009 तक..... किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए जा चुके थे।
17. जारी किए जा चुके किसान क्रेडिट कार्ड में से .....प्रतिशत सहकारी बैंको द्वारा .....प्रतिशत क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको तथा ....प्रतिशत वाणिज्य बैंकों द्वारा जारी किये गये।
18. पिछले दिनों किसानों द्वारा की गई ..... भी बैंकिंग प्रणाली के सामने एक चुनौती बनकर आई है।

उत्तर –(1) कृषि ; 67 प्रतिशत (2)15 माह (3) 15 माह से लेकर 5 वर्ष (4) 5 से 10 या.20 वर्ष (5) उत्पादक (6) 92.7 प्रतिशत ; 7.3 प्रतिशत (7) 26.6 प्रतिशत ; 73.4 प्रतिशत (8) साहूकार या महाजन, व्यापारी, मित्र व सम्बन्धी तथा भू–स्वामी (9) . अल्पकालीन, मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन (10) अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन ; प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष (11) तीन ;राज्य सहकारी बैंक (12)19 जुलाई 1969; 15 अप्रैल 1980 (13)2 अक्टूबर 1975 ; 4 राज्यों (14) 12 जुलाई 1982 ;नाबार्ड (15) अगस्त 1998 (16)878.30 लाख (17) 48.21 प्रतिशत ;13.16 प्रतिशत ;38.63 प्रतिशत (18) आत्महत्या ।

21.11.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह कुसुमलता *''ग्रामीण ऋणव्यवस्था और सार्वजनिक बैंक ''* (फरवरी 2010) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।
2. यादव सुबह सिंह *''ग्रामीण विकास में बैंकों की भूमिका'* (नवम्बर 2010), प्रतियोगिता दर्पण; आगरा।
3. वर्मा सुभाष चन्द,*''क्षेत्रीय ग्रामीण विकास बैंक : चुनौतियाँ एवं समाधान ''*(फरवरी 2010) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।
4. पंत नवीन, *''ग्रामीण क्षेत्रों में बैकिंग सुविधाएं ''* (फरवरी 2010)योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।
5. यादव सावित्री,*''किसान क्रेडिट कार्ड से खत्म हुई किसानों की ऋणग्रस्तता ''* (जून 2011) कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
6. माथुर बी0 एल0; (2011) *''कृषि अर्थशास्त्र'';* अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
7. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) *'' कृषि अर्थशास्त्र ''*; साहित्य भवन आगरा।
8. दत्त रुद्र एवं सुन्दरम के0पी0 एम0; (2007) *''भारतीय अर्थव्यवस्थाए''* ;एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।
9. मामेरिया डॉ0 चतुर्भज एवं जैन डॉ0 एस0सी0; (1995) *''भारतीय अर्थशास्त्र '*; प्रकाशक साहित्य भवन आगरा।
10. सोनी आर0 एन0; *''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय ''* ; 2007; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।
11. मिश्र एस0के0 पुरी, वी0के0; (2008) *''भारतीय अर्थशास्त्र ''*; हिमालया पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली।

21.12.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'*Outlines of Agricultural Economic's*, MacMillan
2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Development*'; Select books,New Delhi.

3. SandhA.N.,Singh,Amarjit (2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.

4. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.

5. Dantawala, M.L. et al. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford& IBH, New Delhi.

21.13.निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि वित्त से आप क्या समझते हैं? कृषि वित्त के स्रोत पर प्रकाश डालिये।
2. कृषि वित्त के गैर–संस्थागत तथा संस्थागत वित्तीय स्रोतों की विस्तृत व्याख्या करो।
3. संस्थागत वित्तीय स्रोत की चुनौतियों का वर्णन करो।

इकाई 22: सहकारी वित्त प्रणाली, नाबार्ड और वैद्यनाथ समिति

इकाई संरचना

22.1 प्रस्तावना

22.2 उद्देश्य

22.3 सहकारी वित्त प्रणाली

22.4 नाबार्ड– राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक

22.5 वैद्यनाथ समिति

22.6 सारांश

22.7 शब्दावली

22.8 अभ्यास प्रश्न

22.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

22.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

22.11 निबन्धात्मक प्रश्न

22.1. प्रस्तावना

'कृषि वित्त एवं कृषि प्रबन्धन' खण्ड की यह 22वीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आप कृषि वित्त के अर्थ, प्रकार तथा स्रोतों की जानकारी प्राप्त कर चुके है।

इस इकाई में सहकारी वित्त प्रणाली, राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक कि विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की जा रही है। तथा इनके सम्बन्ध में वेद्यनाथ समिति की सिफारिशों पर चर्चा की जायेगी।

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप सहकारी साख समितियों तथा नाबार्ड की कार्यप्रणामी व स्थिति को समझ जायेंगें।

22.2.उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप –

- कृषि वित्त में सहकारी समितियों की स्थिति को जान जायेंगें।
- राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक की पूर्ण जानकारी प्राप्त कर लेगें
- सहकारी समितियों और नार्बाड के कार्य के कार्य में सुधार हेतु वैद्यनाथ समिति की रिपोर्ट से अवगत हो जायेगें।

22.3.सहकारी वित्त प्रणाली

भारत में सहकारी वित्त (साख) का इतिहास बहुत पुराना है। किसानों को महाजनों को व सहकारों के शोषण से बचाने के लिए सहकारी साख आन्दोलन का प्रारम्भ 1904 में हुआ था। स्वतंत्रता से पहले सहकारी समितियों का विकास बहुत धीमी गति से हुआ। परन्तु स्वतंत्रता के बाद सरकार के प्रयासों द्वारा सहकारी समितियों की स्थापना में तेजी आई। प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाकाल में प्राथमिक कृषि साख समितियों की संख्या 1.05 लाख से बढ़कर 2.10 लाख हो गई। और सदस्यों की संख्या 44 लाख से 190 लाख हो गई। इसी दौरान ऋणों की राशि 23 करोड़ रूपये से बढ़कर लगभग 203 करोड़ रूपये हो गई। पिछले वर्षों में सहकारी साख समितियों का पुनर्गठन हुआ है और घाटे में चल रही कमजोर समितियॉ समाप्त कर दी गई है। सहकारी साख समितियां किसानों के लिए अल्पकालीन मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त की व्यवस्था करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभातें है।

सहकारी साख (वित्त) प्रणाली का आरम्भ मुख्य रूप से किसानों को कृषि कार्यों के लिए आवश्यक पूँजी कम ब्याज दर पर उपलब्ध कराने के लिए हुआ था जिससे किसानों की साहूकारों पर निर्भरता कम हों। भारत में सहकारी साख समितियों का संगठन व स्वरूप संघीय है। जो निम्न प्रकार है–

22.3.1– प्राथमिक सहकारी वित्त समितियों– सहकारी वित्त समिति, जिसे सामान्यतः प्राथमिक कृषि साख समिति भी कहतें है दस या अधिक व्यक्तियों से आरम्भ की जा सकती है। ये व्यक्ति साधारणतया एक ही गाँव के होने चाहिए। गरीब से गरीब किसान भी समिति का सदस्य बन सकता है। सदस्यों का दायित्व असीमित होता है जिसका तात्पर्य यह है कि समिति को घाटा होने पर सम्पूर्ण हानि का प्रत्येक सदस्य पर पूर्ण दायित्व रहता है। समिति का प्रबन्ध एक निर्वाचित संस्था करती है, जिसके अध्यक्ष, सचिव

और कोषाध्यक्ष रहते है। प्रबन्धमण्डल के सदस्य अवैतनिक होते है। केवल लेखाकार ही वैतनिक होता है। कृषि कार्यों के लिए अल्पकलिक ऋण सामान्यतः एक वर्ष के लिए दिये जाते है। जिनकी ब्याज दर लगभग 6 प्रतिशत निर्धारित की गई है। लाभ का प्रयोग कुएँ बनाने, स्कूल की देखभाल तथा अन्य ग्रामीण कल्याणकरी कार्यों में किया जाता है।

प्राथमिक सहकारी वित्त समिति की स्थिति का अनुमान तालिका (22.1) से लगाया जा सकता है। 1950–51 इनकी संख्या 106 हजार थी, जो 1960–61 में 212 तथा 1970–71में पुनर्गठन के बाद 161 तथा 1999–2000 में 92 हो गई। इस दौरान साचा वितरण की स्थिति में प्रगति देखी गई। 1950–51 में इन्होंने 23 करोड़ रूपये की साख वितरित की, जो 1960–61 में 202 करोड़ रूपये 1970–71 में 578 करोड़ रूपए और 1999–2000 में 13,600 करोड़ रूपए हो गई। यह प्रगति चाहे अत्यन्त महत्वपूर्ण है, परन्तु किसानों की वित्त सम्बन्धी मांग को दृष्टि में रखते हुए पर्याप्त नहीं कही जा सकती।

तालिका (22.1) प्राथमिक सहकारी वित्त समिति की स्थिति

वर्ष	सहकारी समितियों की संख्या (हजार में)	साख वितरित (करोड़ रूपये में)
1950-51	106	23
1960-61	212	202
1970-71	161	578
1999-00	92	13,600

भारत सरकार और रिजर्व बैंक द्वारा प्राथमिक सहकारी समितियों के पुनर्गठन तथा पुनरूद्धार का कार्यक्रम चलाया गया। इसे राजस्थान, उड़ीसा, मध्य प्रदेश, केरल, तमिलनाडू तथा गुजरात में पूरा किया जा चुका है। अन्य राज्यो में इसमें विशेष प्रगति नहीं हुई। अधिकांश प्राथमिक कृषि साख समितियां वित्त के लिए केन्द्रीय सहकारी बैंकों पर निर्भर करती है। यदि केन्द्रीय बैंक की वित्तीय स्थिति सही नही है तो इसका प्रभाव प्राथमिक समितियों पर भी पड़ता है। मार्च 1999 के अंत तक, प्राथमिक समितियों की बकाया ऋण राशि 21,100 करोड़ रूपये से अधिक थी।

भारतीय रिजर्व बैंक, राज्यीय सरकारों के सहयोग के साथ, कमजोर सहकारी बैंकों को मजबूत बनाने और सहकारी विकास में क्षेत्रीय असंतुलन कम करने के लिए बहुत से कदम उठाता रहा है। 1975–76 में इन प्रयासों को और तीव्र किया गया ,ताकि कमजोर समितियां अपनी हानि, अशुद्ध ऋणों और बकाया ऋणों को समाप्त कर सकें। इसलिए कृषि पर राष्ट्रीय आयोग ने कृषक सेवा समितियों के गठन की सिफारिश की। ताकि ये केवल उधार ही नहीं, बल्कि सदस्यों को कृषि आदान और तकनीकी मार्गदर्शन दे सकें, जिससे वे बड़ी बहु–उद्देश्यीय समितियां बना सकें।

22.3.2 केन्द्रीय सहकारी बैंक–प्राथमिक साख समितियों को ऋण उपलब्ध कराने के लिए जिला स्तर पर केन्द्रीय या जिला सहकारी बैंक का संचालन किया जाता है। भारत में

केन्द्रीय सहकारी बैंक की स्थापना 1912 के सहकारी अधिनियम के अन्तर्गत हुई है। इन बैकों के हिस्सेदार कुछ निजी व्यक्ति होते है जो वित्त और प्रबन्ध दोनों की ही व्यवस्था करते हैं। सहकारी केन्द्रीय बैंकों की निधि (वित्तीय कोष) के तीन स्रोत है– उनकी अपनी हिस्सा पूंजी और आरक्षित कोषद्व जनता की जमा राशि और राज्य सहकारी बैक से मिले ऋण) अधिकांश केन्द्रीय सहकारी बैंक राज्य सहकारी बैंक और प्राथमिक साख समितियों के मध्य मध्यस्त का कार्य करते है। केन्द्रीय सहकारी बैंकों की स्थिति का तालिका (22.2) में विवरण प्रस्तुत किया गया है।

तालिका (22.2) केन्द्रीय सहकारी वित्त समिति की स्थिति

वर्ष	सहकारी समितियों की संख्या (हजार में)	साख वितरित (करोड़ रूपये में)
1950-51	505	83
1960-61	390	350
1970-71	341	894
1999-00	367	47,630

1950–51 में इनकी संख्या 505 थी जो 1960–61 में 390, 1970–71 में 341 तथा 1999–2000 में 367 हो गई और इनके द्वारा प्रदान की गई ऋण की मात्रा भी 1950–51 में 83 करोड़ रूपये , 1960–61 में 350 करोड़ रूपये, 1970–71 में 894 करोड़ रूपये तथा 1999–2000 में बढ़कर 47,630 करोड़ रूपये हो गई।

22.3.3 राज्य सहकारी बैंक– यह बैक प्रत्येक राज्य में सहकारी साख संरचना का शीर्ष होता है। इसलिए इसे शीर्ष बैंक भी कहा जाता है। यह राज्य के केन्द्रीय सहाकरी बैंकों को वित्त प्रदान करता है और उनके कार्यों का निरीक्षण व नियन्त्रण करता है। यह रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया से उधार लेकर केन्द्रीय सहकारी बैंक तथा प्राथमिक सहकारी समितियों की वित्तीय सहायता करता है। राज्य सहकारी बैंकों की स्थिति को तालिका (22.3) से समझा जा सकता है। 1950–51 में इनकी संख्या 15 थी जो 1960–61 में बढ़कर 21, 1970–71 में 25 तथा 1999–2000 में 29 हो गई थी। इस दौरान राज्य सहकारी बैंक द्वारा प्रदान किये गये ऋणों में वृद्धि देखी गई जो 1950–51 में 42 करोड़ रूपये थी वह 1960–61 में 258 करोड़ रूपये, 1970–71 में 748 करोड़ रूपये तथा 1999–2000 मे बढ़कर 38,250 करोड़ रूपये हो गई।

तालिका (22.3) राज्य सहकारी वित्त समिति की स्थिति

वर्ष	सहकारी समितियों की संख्या (हजार में)	साख वितरित (करोड़ रूपये में)
1950-51	15	42
1960-61	21	258
1970-71	25	748
1999-00	29	38,250

सहकारी साख की सबसे गम्भीर समस्या भरी बकाया ऋण है जिसके सम्बन्ध में रिजर्व बैंक द्वारा नियुक्त अध्ययन दल (1974) ने अपनी रिपोर्ट मे साफ कहा– ''सहकारी समितियों मे

बकाया ऋणों के विद्यमान होने का मुख्य कारण मनोबल का अभाव ओर काश्ताकारों मे अनुशासन की कमी है। सहकारी समितियों द्वारा दोषपूर्ण उधार नीति अपनाना, गैर जिम्मेदार सदस्यों के विरूद्ध तेजी से कार्यवाही करने में प्रबन्धकों का ढ़ील व्यवहार तथा उचित वातावरण का अभाव इस परिस्थिति को बढ़ाने वाले अन्य कारण है।'' कुल बकाया ऋणों में विलम्बित ऋणों की मात्रा 42 प्रतिशत है। यह अनुपात तमिलनाडू में 23 प्रतिशत से लेकर बिहार में 77 प्रतिशत तक है।

सहकारी साख समितियों को दूसरी सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि काश्तकार, फसल–सहभाजक, भूमिहीन कृषि मजदूर और देहातों में काम करने वाले दस्तकार जो बहुत गरीब है और जिन्हें वित्त की अत्यन्त आवश्यकता है। उन्हें कुल साख का मात्र 3 से 5 प्रतिशत भाग ही प्राप्त होता है। जिससे विभिन्न राज्यों में सहकारिता के लाभों के असमान वितरण की समस्या बनी रहेगी। उदाहरण के लिए 1976–77 में प्रति सदस्य दिए गए ऋणों की अखिल भारतीय औसत 278 रूपये थी जबकि गुजरात में यह राशि 278 रूपये, हरियाणा में 777 रूपये तथा पंजाब में 479 रूपये तक ऊँची थी परन्तु पश्चिम बंगाल में यह 178 रूपये, उत्तर प्रदेश में 169 रूपये और उड़ीसा में 114 रूपये तक नीची थी।

सहकारी समितियों की आन्तरिक समस्यायें बहुत है। सरकार का इनके दैनिक कामकाज में राजनीतिक हस्तक्षेप बहुत है। सदस्यों के आपसी झगड़े, समितियों के असन्तोषजनक प्रबन्धन, प्रबन्धको का अपर्याप्त प्रशिक्षण, सदस्यों में लगन तथा समर्पण की भावना का अभाव ,जिम्मेदारी की कमी, समितियों के वित्तीय साधनों में कमी तथा समितियों की केवल उत्पादनकारी उद्देश्यों के लिए ऋण देने की प्रथा आदि कुछ ऐसे कारण है जिन्होंने सहकारी साख के संतोषजनक विकास में कई प्रकार की बाधायें खड़ी की है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सहकारी साख समितियों ने प्रगति की है। किन्तु यह प्रगति अत्यन्त मन्द गति से हुई हैं। इसलिए सहकारी साख समितियों के संगठन में सुधार के साथ समय–समय पर प्रभावी अंकेक्षण तथा जांच की व्यवस्था की जानी चाहिए। जिससे लोगों का विश्वास इन समितियों पर बढ़े और वह अपनी साख आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए साहूकार व महाजनों के पास न जायें। इन समितियों की कार्यप्रणाली को सरल बनाया जायें। कर्मचारियों के प्रशिक्षण की व्यवस्था की जायें। बकाया ऋण वसूली की समुचित व्यवस्था की जायें। राजनैतिक हस्तक्षेप व गुटबन्दी को हतोत्साहित किया जाये। जिससे छोटे, मध्यम तथा भूमिहीन किसानों का विश्वास इन समितियों पर बढ़े और वह अपनी वित्तीय आवश्यकताओं की पूर्ति इन समितियों के माध्यम से पूरी करें।

22.4. नाबार्ड– राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक

भारतीय रिजर्व बैंक ने स्थापना के प्रारम्भ से ही भारतीय कृषि विकास में विशेष रूचि प्रदर्शित की। इसलिए रिजर्व बैंक ने अपनी स्थापना के साथ ही एक पृथक कृषि विकास विभाग की स्थापना अपने संगठन में सम्मिलित की। रिजर्व बैंक राज्यीय स्तर के सहकारी बैंकों तथा भूमि विकास बैंकों के माध्यम से कृषि को अल्पकालीन मौसमी उधार के साथ मध्यकालीन तथा दीर्घकालीन उधार की व्यवस्था करता रहा है। साथ ही रिजर्व बैंक ने कृषि पुनर्वित्त निगम की स्थापना की ताकि कृषि–विकास कार्यक्रमों, विशेषकर सावधि उधार

सुविधाओं को विकसित दिया जा सकें। इस हेतु एक ऐसे शिखर स्तर के बैंक की जरूरत हुई जो 'कृषि उधार ' से 'ग्राम विकास' तक के सभी कार्यक्रमों का प्रतिपादन और कार्यान्वयन कर सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए दिसम्बर 1979 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री चौ0 चरण सिंह के मंत्रिमण्डल द्वारा एक राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की स्थापित करने का निर्णय लिया गया। जिसकों श्रीमति इन्दिरा गांधी की सरकार द्वारा साकार रूप दिया गया।

राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (नाबार्ड) की स्थापना के सम्बन्ध में 1981 में संसद में एक अधिनियम पारित किया गया, जिसे 30 दिसम्बर, 1981 को राष्ट्रपति की स्वीकृति मिल गई। 12 जुलाई, 1982 को एक शीर्षस्थ बैंक के रूप में नाबार्ड की विधिवत् स्थापना कर दी गई और 15 जुलाई 1982 से नाबार्ड ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। इसका मुख्यालय मुम्बई में है। इसके 4 जानेल कार्यालय तथा प्रत्येक राज्य में 28 क्षेत्रीय कार्यालयों की स्थापना की गई है। नाबार्ड 391 जिला विकास कार्यालय सहित, श्रीनगर में एक विशेष सेल है।

22.4.1 नाबार्ड की पूंजी– नाबार्ड की अधिकृत पूंजी 500 करोड़ रूपये है। और चुकता पूंजी 100 करोड़ रूपये है। जिसे समान रूप से केन्द्र सरकार तथा भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा जुटाया गया है। नाबार्ड अपने कोषों की पूर्ति सरकार द्वारा, विश्व बैंक द्वारा तथा अन्य संस्थाओं द्वारा प्राप्त कोषों से करता है। नाबार्ड की चुकता पूंजी 100 करोड़ रूपये से बढ़कर 1999–2000 में 2,000 करोड़ रूपये कर दी गई है।जों वर्तमान में 5000करोड़ रूपये कर दी गई है।

22.4.2 नाबार्ड का प्रबन्ध– नाबार्ड का प्रबन्ध एक संचालन मण्डल द्वारा सम्पन्न होता है। जिसका गठन केन्द्र सरकार द्वारा भारतीय रिजर्व बैंक के परामर्श पर किया जाता है। नाबार्ड के संचालन मण्डल में अध्यक्ष तथा प्रबन्ध संचालक होते हैं साथ ही ग्रामीण अर्थव्यस्था व विकास के विशेषज्ञ रिजर्व बैंक के निदेशक, भारत सरकार तथा राज्य सरकार के अधिकारी होते है। वर्तमान समय में नाबार्ड के अध्यक्ष डॉ0 प्रकाश बख्शी है।

22.4.3 नाबार्ड के कार्य– नाबार्ड कृषि एंव ग्रामीण विकास हेतु वित्तीय सहायता उपलब्ध कराने वाली संस्थाओं में सर्वोच्च स्तर की संस्था है। निसन्देह सरकार एवं कृषि क्षेत्र को इस बैंक की सफलता पूर्वक भूमिका निर्वाह से अत्यधिक अपेक्षायें है। नाबार्ड को सफलतापूर्वक अपना उत्तरदायित्व निभाने के लिए निम्न कार्य सौंपे गये हैं–

1. ग्रामीण साख के क्षेत्र में नाबार्ड शीर्ष संस्था के रूप में कार्य करता है।
2. नाबार्ड अपने कृषि साख विभाग के माध्यम से सहकारी क्षेत्र की गतिविधियों पर नजर रखता है।
3. मौसमी कृषि कार्यों (फसल ऋणों) के लिए कृषि उत्पादन की बिक्री के लिए, उर्वरकों की खरीद व वितरण के लिए तथा सहकारी चीनी मिलों की कार्यशील पूंजी के लिए सहकारी बैंकों को अल्पकालीन ऋण (18 माह के लिए) प्रदान करता है।
4. निर्धारित कृषि उद्देश्यों, प्रसंस्करण समितियों के शेयरों की खरीद तथा प्राकृतिक विपदाओं से ग्रस्त इलाकों में अल्पकालीन ऋणों को मध्यमकालीन ऋणों में परिवर्तित करने

के लिए यह राज्य सहकारी बैंकों तथा क्षेत्रीय ग्रामीण को मध्यमकालीन ऋण (18 माह से 7वर्ष तक के लिए) प्रदान करता है।

5.कृषि में बड़े निवेष कार्यों के लिए यह राज्य सहकारी बैंकों, भूमि विकास बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा व्यापारिक बैंकों को मध्यकालीन व दीर्घकालीन ऋण (अधिक से अधिक 25 वर्ष के लिए) प्रदान करता है।

6. नाबार्ड सहकारी वित्त संस्थाओं की शेयर पूंजी में योगादान देने के लिए राज्य सरकारें को ऋणों के रूप में दीर्घकालीन सहायता (अधिकतम् अवधि 20 वर्ष) प्रदान करता है।

7.केन्द्रीय एवं राज्य सहकारी बैंकों तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के निरीक्षण की जिम्मेदारी नाबार्ड को सौंपी गई है।

8.नाबार्ड कृषि और ग्रामीण विकास कार्यक्रमों में अनुशासन को प्रोत्साहित करने के लिए अनुसंधान व विकास फण्ड रखता है। जिससे विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं के अनुसार परियोजना को बनाया जा सकें

9.कृषि पुनर्वित्त विकास बैंकों के सभी कार्यों को नाबार्ड द्वारा किया जाता है।

22.4.4 नाबार्ड के कार्यों के प्रगति–नाबार्ड की स्थापना पर, वे सब ऋण जो रिजर्व बैंक ने क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा राज्य सहकारी बैंकों को दिये हुए थे। नाबार्ड को हस्तान्तरित कर दिये गये। इन ऋणों की मात्रा 750 करोड़ रूपए थी। नाबार्ड ने अपनी स्थापना के प्रथम वर्ष में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों को 222 करोड़ रूपये तथा राज्य सहकारी बैंकों को 1574 करोड़ रूपये के ऋण दिये। नाबार्ड विभिन्न परियोजनाओं (भूमि सुधार, कृषि यन्त्रीकरण, लघु सिंचाई योजनाओं, मुर्गीपालन, डेयरी, भेड़–बकरियों के पालन, कॉफी प्रसंस्करण, डिब्बाबंद, प्रदूषण नियंत्रण उपकरण, कृषि यंत्र मरम्मत केन्द्र, बागवानी, मछली पालन, भण्डारण तथा विपणन, ग्रामीण आवास तथा स्वयं सहायता समूह आदि को स्वीकृति प्रदान करता है। तथा इनके लिए वित्तीय सहायता देता है।

तालिका (22.4) नाबार्ड द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता

वर्ष	स्वीकृत परियोजनाओं की संख्या	कुल प्रदत्त वित्तीय सहायता (करोड़ रूपये)
1970–71	458	293
1975–76	2905	1333
1980–81	16574	4629
1985–86	42557	11423
1990–91	89513	23164
1995–96	118029	42236
2000–01	121097	71241
2001–02	122058	78775
2002–03	122555	86950
2003–04	130181	95299

Source- www.nabard.org

तालिका (22.4) में विभिन्न वर्षों में नाबार्ड द्वारा विभिन्न परियोजनाओं के लिए प्रदत्त वित्तीय सहायता का विवरण दिया गया। नाबार्ड द्वारा 1970–71 में 458 परियोजनाओं की स्वीकृति दी गई जबकि यह संख्या 2003–04 में बढ़कर 130181 हो गई जबकि इसी दौरान कुल वित्तीय सहायता क्रमशः 293 करोड़ रूपये और 95299 करोड़ रूपये थी।

नाबार्ड द्वारा सहकारी बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों एव ंवाणिज्य बैंकों तथा अन्य एजेन्सियों को विभिन्न कृषि तथा सम्बद्ध गतिविधियों के लिए दिये गये ऋणों का विवरण तालिका (22.5) में दिया गया है कि सहकारी बैंकों तथा वाणिज्य बैंकों को दी गई सहायता की प्रमुखता रही है जबकि क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक को प्राप्त ऋण का हिस्सा काफी कम रहा। 1997–98 में नाबार्ड ने कुल 31,956 करोड़ रूपये ऋणों के रूप में दिये, जो 2002–03 में बढ़कर 69,560 करोड़ रूपये हो गया जिसमें से सहकारी बैंकों को 23,636 करोड़ रूपये क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक को 6070 करोड़ रूपये, वाणिज्य बैंक को 39,774 करोड़ रूपये तथा शेष 80 करोड़ रूपये अन्य एजेन्सियों को दिये गये।

तालिका (22.5)विभिन्न एजेन्सियों को नाबार्ड द्वारा दिया गया पुनर्वित्त(करोड़ रूपये)

एजेन्सी / वर्ष	1997–98	1998–99	1999–00	2001–02	2002–03
सहकारी बैंक	14,085	15,957	18,260	23,524	23,636
क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक	2,040	2,460	3,172	4,854	6,070
वाणिज्य बैंक	15,831	18,443	24,733	33,587	39,774
अन्य एजेन्सियां	–	–	103	80	80
कुल	**31,956**	**36,860**	**44,612**	**53,504**	**69,560**

Source- www.nabard.org

नाबार्ड जिन प्रयोजनों के लिए पुनर्वित्त सहायता देता है उनका विवरण तालिका (22.6) में दर्शाया गया है जिसके विश्लेषण से पता चलता है कि लघु सिंचाई, भूमि विकास, कृषि यंत्रीकरण, बागवानी, ग्रामीण आवास आदि को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

तालिका (22.6)नाबार्ड के पुनर्वित्त का प्रयोजनवार विवरण

क्र0सं0	प्रयोजन	वर्ष (करोड़ रूपये)		
		2001–02	2002–03	2003–04
1	लघु सिंचाई	691.06	854.97	651.45
2	भूमि विकास	134.62	250.69	185.56
3	कृषि यंत्रीकरण	1358.89	992.60	827.51
4	बगवानी	280.34	292.03	250.75
5	डेरी विकास	821.18	909.19	669.15
6	मुर्गीपालन	69.81	76.21	87.51
7	भेड बकरी पालन	105.85	109.60	90.95
8	मत्स्य पालन	36.35	34.73	23.24

9	वानिकी	16.09	12.40	10.94
10	भण्डार व विपणन	227.14	48.47	25.38
11	एस जी एस वाई	558.98	401.29	229.45
12	गैर कृषि क्षेत्र	1115.65	1237.87	1332.98
13	ग्रामीण/आवास	500.25	769.53	1030.24
14	अजा/अजजा कार्य योजना	130.54	112.08	73.61
15	स्वयं सहायता समूह	395.26	622.47	705.44
16	अन्य	240.90	694.64	1411.13
	कुल	**6682.91**	**7418.77**	**7605.29**

Source- www.nabard.org

22.4.5 ग्रामीण विकास मे नाबार्ड की भूमिका–नाबार्ड कृषि वित्त की शीर्ष संस्था है। इसलिए यह किसानों एवं अन्य ग्रामीण जनता को सीधे सहायता प्रदान नहीं करता अपितु सहकारी साख संस्थाओं, व्यापारिक बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों आदि के माध्यम से सहायता प्रदान करता है। नाबार्ड के कार्यों के मुख्य रूप से 4 श्रेणियों में रा जा सकता है। साख योजना, वित्तीय सेवायें, संवर्धन और विकास तथा निरक्षण व पर्यवेक्षण। जिन्हें नाबार्ड ने 28 क्षेत्रीय कार्यालयों तथा पोर्ट ब्लेयर मे एक उपकार्यालय सहित 391 जिला विकास कार्यालयों द्वारा लागू करने का प्रयास किया है। नाबार्ड अपने कार्यों को निम्न कार्यक्रमों, परियोजनाओं तथा समूहों द्वारा करता है।

1. **स्वयं सहायता समूह (SHGs)-**नाबार्ड की प्रमुख सफलता की कहानियों में से एक स्वयं सहायता समूह है। जिसे 1992 में 500 स्वयं सहायता समूह है। जिसे 1992 में 500 स्वयं सहायता समूहों के रूप में बैंक से जोड़ने के उद्देश्य से प्रायोगिक आधार पर शुरू किया गया था। स्वयं सहायता समूहों गरीब लोगों का एक समूह है जिसमें सामाजिक व आर्थिक रूप से पिछड़े लोग अपनी आम समस्याओं पर काबू पाने के विचार से शामिल होते है। इन समूहों के सदस्यों को उनके द्वारा नियमित रूप से की गई बचत के आधार पर बैंक उन्हे अपने सदस्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ऋण देता है। नाबार्ड के इस प्रयास में सरकारी तथा गैर–सरकारी संस्थाओं ने भी भाग लिया।

नाबार्ड के स्वयं सहायता समूह कार्यक्रम में 2010–11 तक 75 लाख स्वयं सहायता समूह इसमें से 47.8 लाख को बैंकों से सीधे ऋण प्रदान किया जा रहा है। 2010–11 के दौरान लगभग 12 लाख स्वयं सहायता समूहों को सभी वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिये गये ऋण की राशि 14548 करोड़ रूपये थी। भारत सरकार के ग्रामीण गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना के तहत तकरीबन 27 प्रतिशत स्वयं सहायता समूहों को जोड़ दिया गया है।

2. **किसान क्लब कार्यक्रम**– किसानों को संगठित कर नवीनतम् कृषि तकनीकों से परिचय कराकर बाजार तक पहुंच बढ़ाकर तथा उनकी तकनीकि जरूरतों का पूरा कर, उज्जवल भविष्य की ओर ले जाने में किसान क्लब कार्यक्रम महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है।

किसान क्लब उन्हें ऐसा मंच प्रदान करता है जहां किसान सामूहिक रूप से कृषि क्षेत्र की चुनौतियों का सामना करने के लिए संगठित प्रयास कर सकें। किसान क्लब कोई भी कम से कम 10 किसान मिलकर बना सकते है। जिसको एक गांव को ही प्राथमिकता देना चाहिए। इनका कार्य बैंक तथा ऋण प्राप्तकर्ता के बीच बेहतर तालमेल रखना, ऋण वसूली में बैंक की मद्द करना, कृषि की आधारभूत सुविधाओं, कृषि आगतों, विपणन तथा अनुदान सम्बन्धी समस्याओं को हल करना, तथा खाद बीज, कीटनाशक की सामूहिक खरीद व फसल को क्लब के माध्यम से विक्रय को प्रोत्साहित करना है। 31 मार्च, 2007 तक किसान क्लब का विस्तार 534 जिलों के 48763 गांवों तक हो गया था।

3. **ग्रामीण आधारसंरचना विकास निधि**–1995–96 में 2000 करोड़ रूपये से पहला ग्रामीण आधार संरचना विकास निधि ;त्प्क्थ्.प्द्ध स्थापित किया गया। जिसका उद्देश्य राज्य सरकारों तथा कार्यरत निगमों को ग्रामीण आधारित परियोजनाओं के लिए वित्तीय साधन उपलब्ध कराया था त्प्क्थ् के अन्तर्गत कई उद्देश्यों के लिए ऋण दिये जाते है जैसे सिंचाई परियोजनाएं, जलसंभर प्रबंध, ग्रामीण सड़कों व पुलों का निर्माण आदि। नाबार्ड द्वारा ग्रामीण आधार संरचना विकास निधि के अधीन दी गयी सहायता का विवरण तालिका (22.7) में दर्शाया गया है।

तालिका (22.7) नाबार्ड द्वारा ग्रामीण आधार संरचना विकास निधि के अधीन दी गयी सहायता का विवरण (करोड़ रूपये में)

RIDF	वर्ष	कोष राशि	स्वीकृति	वितरण	वितरण स्वीकृति के प्रतिशत
I to III	1995–97	7000	7290	6600	90–92
IV to VIII	1998–02	21500	21950	13470	78–40
IX	2003–04	5500	5440	990	18

परियोजनाओं अनुसार त्प्क्थ् की 82 प्रतिशत राशि सिंचाई ग्रामीण सड़कों एवं पुलों के लिए इस्तेमाल की गयी। जिसका विवरण तालिका (22.8) में दिया गया है। एक अलग विण्डो के तहत 500 से कम आबादी वाले गांवों में ग्रामीण क्षेत्रों को जोड़ने के लिए 4000 करोड़ रूपये के कोष से भारत निर्माण परियोजना का समर्थन किया गया है।

तालिका (22.8) उद्देश्यानुसार RIDF का प्रयोग

क्र0 सं0	**उद्देश्य**	**प्रतिशत भाग**
1.	सिंचाई	35
2.	सड़कें एवं पुल निर्माण	47
3.	अन्य	18
	कुल	**100**

Source- www.nabard.org

4. **स्वर्ण जयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना हेतु पुनर्वित**–नाबार्ड ने क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा सहकारी बैंकों को स्वर्णजयन्ती ग्राम स्वरोजगार योजना के कार्यान्वयन के लिए आवश्यक दिशा निर्देश जारी किए है। स्वर्ण जयन्ती योजना के अधीन पुनर्वित्त सहायता के लिए भी आवश्यक दिशा निर्देश जारी किये हैं। स्वर्णजयन्ती योजना के अधीन पुनर्वित्त सहायता के

लिए भी आवश्यक दिशा निर्देश जारी किये गये हैं। बैंकों को सलाह दी गई है कि वे स्वर्ण जयन्ती योजना समूहों की वर्गीकृत करने के लिए आवश्यक मापदण्ड तैयार करने के लिए नाबार्ड द्वारा जारी मापदण्डों की निदर्शी सूची को ध्यान में रखें।

5. सहकारी विकास कोष– नाबार्ड ने 1993 में सहकारी विकास कोष की स्थापना की। इस कोष का उद्देश्य सहकारी साख संस्थाओं की संगठनात्मक संरचना, मानव संसाधन विकास, संसाधन एकत्रण, ऋणों की वसूली इत्यादि गतिविधियों में सुधार व मजबूती लाना है। इस उद्देश्य के लिए राज्य सहकारी बैंकों, राज्य सहकारी कृषि और ग्रामीण विकास बैंकों, केन्द्रीय सहकारी बैंकों तथा प्राथमिक सहकारी बैंकों को अनुदान या आसान शर्तों पर ऋण के रूप में सहायता दी जाती है।

6. वाटरशेड विकास कार्यक्रम–एक व्यापक भूमि संरक्षण सिंचाई तथा वर्षा जल के सरंक्षण के द्वारा शुष्क क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने के प्रयास के तहत नाबार्ड ने ग्रामीण क्षेत्रों मे जल संचयन तकनीक के निर्माण पर जोर दिया है। जिसके लिए नाबार्ड 200 करोड़ रूपये से वाटरशेड विकास कोष की स्थापना की है। जो 1999–2000 में 602.76 करोड़ रूपये हो गया जिसके द्वारा 14 राज्यों के 124 जिलों में वाटरशेट कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं।

7.आदिवासी विकास और वाडी (WADI) दृष्टिकोण–देश की आदिवासी आबादी का 8 प्रतिशत से अधिक बड़े पैमाने पर जंगलों, पशुधन और कृषि पर निर्भर करता है। इस लिए नाबार्ड ने वाडी के साथ मिलकर इन्हें इनके पैतृक निवास स्थान पर उत्पादन प्रसंस्करण तथा विपणन की सुविधाओं की व्यवस्था की। वाडी मॉडल भारतीय एग्रो इंडस्ट्रीज फाउडेंशन के सहयोग से विकसित किया गया है। यह पर्यावरण विकास स्वास्थ्य सेवाओं व महिलाओं के विकास पर भी जोर देता है। इसने गुजरात में 10 वर्ष तथा महाराष्ट्र में 5 वर्ष पूरे करने के दौरान 410 गांवों के 27511 परिवारों को अपने कार्यक्रम में सम्मिलित किया है।

(8) जिला ग्रामीण उद्योग परियोजना (D R I P)– बैंकों तथा जिले विशेष की विकस ऐजेन्सियों को ध्यान में रखते हुए जिला ग्रामीण उद्योग का शुभारम्भ किया। यह एक एकीकृत क्षेत्र के लिऐ साख गहनता कार्यक्रम है। जिसको 1993–94 में देश के 106 जिलों में स्थायी रोजगार के अवसर पैदा करने के उद्देश्य से शूरू किया गया था।

(9) ग्रामीण उद्यमिता विकास कार्यक्रम – ग्रामीण क्षेत्र में रोजगार उत्पन्न करने के लिए ग्रामीण युवाओं में उद्यमिता कौशल विकास की आवश्यकता महसूस की गई। इसलिए नाबार्ड के समर्थन से ग्रामीण उद्यमिता विकास कार्यक्रम का प्रचार किया गया जिससे ग्रामीण शिक्षित बेरोजगार युवाओं को स्वयं का उद्यम स्थापित करने के लिए प्रेरित व प्रशिक्षित किया जा सके। अब तक 7793 ग्रामीण उद्यमित विकास कार्यक्रम द्वारा 2.32 लाख युवाओं को प्रशिक्षित किया गया है।

(10) ग्रामीण विपणन– ग्रामीण हाट, मेलों, प्रदर्शनियों तथा विपणन मेलों में भागीदारी से नाबार्ड अपने प्रचार कार्यक्रमों के तहत वित्तीय सहायता देता है। जिससे ग्रामीण कारीगरों व उद्यमियों को अपने उत्पादन के बाजार मिलता दे और वह अपने उत्पादन का शहरी व देहाती बाजार में प्रदर्शन कर सकतें है जिससे उनके उत्पाद प्रतिभा का प्रचार होता है।

(11) ग्रामीण अभिनव कोष– नाबार्ड ने स्विस विकास व सहकारी ऐजेन्सी के सहयोग से नाबार्ड एसडीसी ग्रामीण अभिनव कोण की स्थापना की है जो कृषि, गैर कृषि तथा लघु वित्त के क्षेत्र में आजीविका सृजन के अभिनव व नवीन परियोजनाओं का समर्थन करता है। सरकारी, गैर सरकारी संस्थान, निगमीत निकायों, वित्तीय संस्थानों और व्यक्तियों को नये उत्पादो, प्रक्रियाओं, प्रौद्योगिकी आदि गतिविधियों के लिए वित्तिय सहायता दी जाती है। जो गरीबों के विकास में शामिल हो।

(12) नाबार्ड परामर्श सेवाएं (NABCONS) – यह नाबार्ड की एक पूर्ण स्वामित्व वाली सहायक कम्पनी है जो कृषि और सम्बन्धित गतिविधियों के लिए व्यावसायिक परामर्श सेवायें प्रदान करती है। 31 मार्च 2007 के इसने संचयी रूप से 467 राष्ट्रिय तथा अन्तराष्ट्रिय कार्य अनुबन्धित किया यह परियोजना तैयार करने, मूल्यांकन वित्तिय व्यवस्था, परियोजना प्रबन्धन व निरीक्षण, कृषि व्यापार इकाईयो का पुनर्गठन, ग्रामीण विकास विषयों पर समिनार का आयोजन, प्रशिक्षण आदि को बढावा देती है।

(13) सहवित्त पोषण – यह अनुभव किया गया कि बैंका उच्च तकनीकी व बडे पैमाने के निर्यात आधारित परियोजनाओं में ऋण जोखिम के कारण वित्त प्रदान करने में सावधानी बरत रहें है। इसलिए नाबार्ड ने बैंकों में विश्वास पैदा करने और ऐसी परियोजनाओं के लिए ऋण सुविधा सुनिश्चित करने के लिए 14 वाणिज्य बैंकों के साथ सहवित्त पोषण समझौता किया है। वर्ष 2006–07 इसके तहत सात परियोजनाओं का 145.42 करोड रूपये था। फूलों की खेती, जैविक खेती, दुग्ध, प्रसंस्करण, इथेनाल उत्पाद और कृषि प्रसस्करण परियोजना को अभितिक स्वीकृति दी गई।

(14) किसान क्रेडिट कार्ड योजना – किसानों को अल्पकालीन ऋण सहायता प्रदान करने के लिए 1998–99 से किसान क्रेडिट कार्ड योजना शूरू की गई। नाबार्ड ने इस प्रक्रिया में तेजी लाने के प्रयास किए है। इसके परिणामस्वरूप यह लोकप्रिय हो रही है। तथा इसक कार्यान्वयन 27 बैंकों, 378 केंन्द्रिय सहकारी बैंकों तथा 196 क्षेत्रीय ग्रामीण बैकों के माध्यम से किया जा रहा है। इस कार्ड की राशि की सीमा का निर्धारण किसान की सम्पूर्ण वर्ष की साख आवश्यकता, तथा कृषि, उत्पादन क्रियाओं को ध्यान में रख कर किया जाता है। यह कार्ड तीन वर्ष के लिए मान्य होगा, जिसका प्रत्येक वर्ष पुर्ननिरिक्षण करवाना आवश्यक होगा। कार्ड से प्राप्त राशि को 12 माह में वापस चुकाना होगा। कार्ड से किसान 5000रू और इससे अधिक उत्पादन साख और इससे अधिक राशि की उत्पादन साख प्राप्त करने हुतु योग्य है। किसान क्रेडिट कार्ड धारकों को वैयक्तित दुर्घटना बीमा की सुविधा प्रदान की गई है मृत्यु या स्थायी अंपगता और आशिक अंपगता के लिए क्रमशः 50,000 और 24,000 रूपये का प्रावधान किया गया है। 1998–99 में कुल 607 किसान क्रेडिट कार्ड द्वारा 2084 करोड रू0 राशि स्वीकृत की गई। 1998 से 2009 तक 878.30 लाख किसान क्रेडिट कार्ड जारी किये जा चुके थे। इनमें से 48 प्रतिशित सहकारी बैंकों ने, 13 प्रतिशत क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों ने तथा 39 प्रतिशत वाणिज्य बैंकों द्वारा जारी किये गये।

नाबार्ड कृषि वित्त की शीर्ष सस्था है। जिनके मुख्य तीन कार्य है– पुनर्वित्त, संस्थात्मक विकास तथा अन्य बैंकों की कार्यविधि का निरीक्षण। परन्तु इस बैंक ने पुनरोर्वित पर ही

ज्यादा जोर दिया है। और अन्य दो कार्यों पर कम ध्यान दिया है। इसके अतिरिक्त नाबार्ड के अधिकांश कर्मचारी मुख्य कार्यालय अथवा क्षेत्रीय कार्यालयों में ही काम कर रहें है। जिस कारण नाबार्ड स्थानिय वास्तविकताओं से पूरी तरह अपरिचित है। और बहुत बडी संख्या में निर्धन परिवार ऐंसे है जो नाबार्ड की योजनाओं के लाभ से वंचित है नाबार्ड अभी तक सहकारी संस्थाओं संस्थओं की प्रबन्ध व्यवस्थओं को सुधार पाया है क्योंकि इन संस्थओं में राज्य सरकारों का हस्तक्षेप अभी भी जारी है।

22.5. वैद्यनाथ समिति

ग्रामीण सहकारी साख सांरचना के पुनरूद्धार पर टास्क फोर्स – देश में ग्रामीण सहकारी साख संस्थाओं को मजबूत बनाने के सुझाव देने के लिए वित्त मंत्रालय ने अगस्त 2004 में अर्थशास्त्री ए0 वैद्यनाथ की अध्यक्षता में ग्रामीण सहकारी साख सरचना के पुररूद्धार पर कार्यदल का गठन किया था, कार्यदल ने अपनी रिपोर्ट वित्त मंत्री पी0 चिदम्बरम को 5 जनवरी 2005 में प्रस्तुत की। कार्यदल का मसौदा जनवरी 2006 को सार्वजनिक टिप्पणी के लिए रखा गया, उयके बाद कार्यदल ने अगस्त 2006 को अपनी अन्तिम रिपोर्ट सरकार को पेश की।

कार्यदल ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि भारत में सहकारी साख संरचना प्रशासनिक, प्रबन्धकीय तथा वित्तीय सभी आधार पर कमजोर व निष्क्रिय हो चुकी है। तथा इसे पुनः संरचना तभी सम्भव हो सकेगी जब राज्य सरकारें वैद्यानिक और संस्थात्मक सुधार लागू करें। कार्यदल के अनुसार वित्तीय सहायता इन उद्देश्यों के लिए दी जानी चाहिए–

(1) संचित हानि को आमूल समाप्त करने के लिए,

(2) राज्य सरकारों द्वारा दी गई ऐसी गारंटियों को पूरा करने के लिए जिनका भुगतान नही किया गया है।

(3) एक निर्धारण स्तर तक पूंजी का स्तर बढानें के लिए,

(4) सरकार की हिस्सा पूंजी के भुगतान के लिए,

(5) तकनीकी सहायता के लिए।

कार्यदल ने सहकारी समितियों को मजबूत बनाने के लिए बहुत से सुझाव दिये हैं जैसे इन समितियों के प्रशासनिक व वित्तिय कामकाज में सहकारी हस्तक्षेप कम करना, सहकारी समितियों को यह स्वतन्त्रता देना, कि वे अपने से ऊपर की इकाई के अलावा किसी भी अन्य वित्तिय संस्था से ऋण ले सकती है। समय पर सहकारी समितियों में चुनाव की व्यवस्था करना आदि।

कार्यदल के सुझावों पर काम करते हुए भारत सरकार ने जनवरी 2006 में अल्पकालीन ग्रामीण सहकारी संरचना के पुनर्रूत्थान के लिए एक पैकेज की घोषण की, जिसमें 13496 करोड़ रूपये की वित्तिय सहायता का प्रावधान है। इस उद्देश्य के लिए नाबार्ड को कार्यान्वयन संस्था चुना गया है। प्रत्येक राज्य में एक राज्य स्तरीय कार्यदल की स्थापना की जाये जो समय–समय पर सहकारी सारव बैंक तथा राज्य सहकारी बैंक की समीक्षा व पर्यवेक्षण करें। किसी भी राज्य में पुररूद्धार पैकेज को लागू करने की प्रक्रिया भारत सरकार, राज्य सरकार और नाबार्ड के बीच समझौता ज्ञापन (MOU) पर हस्ताक्षर के

साथ शुरू होगी। राष्ट्रीय क्रियान्वन एवं निरीक्षण समिति द्वारा डव्न को अन्तिम रूप दिया जायेगा। अभी तक 25 राज्यों में कार्यदल की रिपोर्ट का कार्यान्वन शुरू हो गया है जहाँ भारत सरकार और नाबार्ड ने MOU पर हस्ताक्षर किये हैं।

22.6. सारांश

कृषि वित्त व्यवस्था में सहकारी सारव समितियों का महत्वपूर्ण स्थान है और भारत में सहकारी सारव का इतिहास बहुत पुराना है। वस्तुतः सहकारी समितियों की शुरूवात 1904 में की गई थी। स्वतन्त्रता के बाद इनका विकास तेजी से हुआ। भारत में सहकारी सारव संगठन का स्वरूप संघीय है। सबसे नीचे ग्रामीण स्तर पर प्राथमिक सारव समितियां हैं। इसके ऊपर जिला स्तर पर केन्द्रीय सहकारी बैंक हैं। सबसे ऊपर राज्य सहकारी बैंक होते हैं। दीर्घकालीन सहकारी सारव के लिए कृषि और ग्रामीण विकास बैंक है।

संस्थागत कृषि वित्त व्यवस्था में नाबार्ड का महत्वपूर्ण स्थान है। यह कृषि हेतु पुनर्वित्त की व्यवस्था करता है। इसकी स्थापना 12 जुलाई 1982 को की गई। इसका मुख्यालय मुम्बई में है तथा 4 जोनल कार्यालयों सहित 28 क्षेत्रीय कार्यालय है। इसका प्रबन्ध एक संचालन मण्डल द्वारा होता है। नाबार्ड के मुख्य तीन कार्य है– कृषि पुनर्वित, संस्थात्मक विकास तथा अन्य बैंको की कार्यविधि का निरिक्षण। इस हेतु नाबार्ड ने अनेक कार्यक्रम कोष तथा परियोजनाओं की व्यवस्था की जैसे– स्वयंसहारता समूह, किसान क्लब कार्यक्रम, ग्रामीण आधार संरचना विकास कोष, सहकारी विकास कोष, वाटशेड कार्यक्रम, ग्रामीण उद्यमिता विकास कार्यक्रम, ग्रामीण विपणपन, ग्रामीण अभिनव कोष, तार्बाड परामर्श सेवायें तथा किसान क्रेडिट कार्ड आदि।

यद्यपि नाबार्ड ने कृषि वित्त के क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किये हैं परन्तु सहकारी बैंको ही व्यवस्था का अभी भी सुधार नहीं हो पाया है। इसलिए वैद्यनायन समिति की सिफारिशों के मद्देनजर नाबार्ड ने 25 राज्यों में भारत सरकार के साथ सहकारी बैंको में संरचनात्मक सुधार हेतु समझौता ज्ञापन पर हस्ताक्षर किये है।

22.7. शब्दावली

1. **कृषि साख–** वह ऋण (साख) जो कृषि कार्य हेतु लिया जाता है।
2. **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।
3. **काश्तकार–** ऐसे किसान/व्यक्ति जो दूसरे की भूमि पर फसल उगायें।
4. **फसल सहभाजक–** फसल उत्पादन में समय हिस्सेदार।
5. **कृषि विपणन–** कृषि उत्पादन की विक्रय/बिक्री व्यवस्था।
6. **वाडी (WADI)** गुजराती शब्द जिसका अर्थ "छोटा सा बाग" है।
7. **अभिनव–** नये प्रयोग व अविष्कार।

22.8. अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

1. भारत में सहकारी साख आन्दोलन का प्रारम्भ ..... में हुआ था।

2. प्राथमिक कृषि साख समिति की ब्याज दर लगभग ..... प्रतिशत निर्धारित की गई है।
3. मार्च 1999 के अंत तक, प्राथमिक समितियों की बकाया ऋण राशि..... ... करोड़ रूपये से अधिक थी।
4. ..... राज्य में शीर्ष सहकारी संस्था होती है।
5. कृषि वित्त की सर्वोच्च संस्था के रुप में .....एक शीर्षस्थ बैंकों के रुप में .....की स्थापना की गई।
6. नाबार्ड मुख्यालय ..... में है। इसके ..... जानेल कार्यालय तथा प्रत्येक राज्य में ..... क्षेत्रीय कार्यालयों की स्थापना की गई है।
7. नाबार्ड की चुकता पूंजी 100 करोड़ रूपये से बढ़कर 1999–2000 में..... ..... करोड़ रूपये कर दी गई है।
8. वर्तमान समय में नाबार्ड के अध्यक्ष ..... है।
9. परियोजनाओं अनुसार RIDF की ..... प्रतिशत राशि सिंचाई ग्रामीण सड़कों एवं पुलों के लिए इस्तेमाल की गयी।
10. किसानों को अल्पकालीन ऋण सहायता प्रदान करने के लिए ..... से किसान क्रेडिट कार्ड योजना शूरू की गई।
11. ..... में अर्थशास्त्री ए0 वैद्यनाथ की अध्यक्षता में ग्रामीण सहकारी साख सरचना के पुररूद्धार पर कार्यदल का गठन किया था

उत्तर – (1) 1904 में (2) 6 प्रतिशत (3) 21,100 करोड़ रूपये (4) राज्य सहकारी बैंक (5) 12 जुलाई 1982 ;नाबार्ड(6) मुम्बई ; 4 जानेल कार्यालय ;28 क्षेत्रीय कार्यालयों (7) 2,000 करोड़ रूपये (8) डॉ0 प्रकाश बख्शी (9) 82 प्रतिशत (10) 1998–99 (11) अगस्त 2004 ।

एक वाक्य में उत्तर दो –

1. प्राथमिक सहकारी वित्त समिति, किसे कहतें है ?
2. 1999–2000 में प्राथमिक सहकारी वित्त समिति कितनी थी ?।
3. भारत में केन्द्रीय सहकारी बैंक की स्थापना किस अधिनियम के अन्तर्गत हुई ?
4. सहकारी केन्द्रीय बैंकों की निधि (वित्तीय कोष) के कितने स्रोत है?
5. जारी किए जा चुके किसान क्रेडिट कार्ड में से कितने प्रतिशत कार्ड सहकारी बैंको द्वारा जारी किये गये ?
6. 2000 करोड़ रूपये से कब पहला ग्रामीण आधार संरचना विकास निधि (RIDF-I) स्थापित किया गया ?
7. नाबार्ड ने कब सहकारी विकास कोष की स्थापना की ?
8. 1998 से 2009 तक कितने किसान क्रेडिट कार्ड जारी किये जा चुके थे ?

उत्तर –(1) प्राथमिक कृषि साख समिति दस या अधिक व्यक्तियों से आरम्भ की जा सकती है। ये व्यक्ति साधारणतया एक ही गाँव के होने चाहिए। गरीब से गरीब किसान भी समिति का सदस्य बन सकता है। (2) 92 (3) 1912 के सहकारी अधिनियम (4) तीन स्रोत है–

उनकी अपनी हिस्सा पूंजी और आरक्षित कोषद्व जनता की जमा राशि और राज्य सहकारी बैक से मिले ऋण (5) 48.21 प्रतिशत (6) 1995–96 में (7) 1993 में (8) 878.30 लाख ।

22.9. सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- यादव सुबह सिंह *''ग्रामीण विकास में बैंकों की भूमिका''* (नवम्बर 2010), प्रतियोगिता दर्पण; आगरा।

2- पंत नवीन, *''ग्रामीण क्षेत्रों में बैकिंग सुविधाएं ''* (फरवरी 2010) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।

3- यादव सावित्री,*''किसान क्रेडिट कार्ड से खत्म हुई किसानों की ऋणग्रस्तता ''* (जून 2011) कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

4. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) *'' कृषि अर्थशास्त्र ''*; साहित्य भवन आगरा।

5. माथुर बी0 एल0; (2011) *''कृषि अर्थशास्त्र'';* अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।

6. सोनी आर0 एन0; *''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय ''* ; 2007; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।

7. मामेरिया डॉ0 चतुर्भज एवं जैन डॉ0 एस0सी0; (1995) *''भारतीय अर्थशास्त्र ''*; प्रकाशक साहित्य भवन आगरा।

8. दत्त रुद्र एवं सुन्दरम के0पी0 एम0; (2007) *''भारतीय अर्थव्यवस्थाए''* ;एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।

9. www.nabard.org

22.10. सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'*Outlines of Agricultural Economic's*, MacMillan
2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Developmen*t'; Select books,New Delhi.
3. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh (2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.
4. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.
5. Dantawala, M.L. et al. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford& IBH, New Delhi.

22.11. निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि वित्त में सहकारी सारव समितियों की भूमिका की विवेचना करो।
2. "नाबार्ड में कृषि वित्त व्यवस्था में महत्वपूर्ण योगदान दिया है" कथन का मूल्यांकन करो।
3. सहकारी सारव समितियों के संगठन पर प्रकाश डालते हुए वैद्यनाथ समिति की सिफारिशों की चर्चा करो।

इकाई 23. वाणिज्यिक बैंकों की भूमिका, गैर कृषि ग्रामीण वित्त संस्थान

इकाई संरचना

23.1 प्रस्तावना

23.2 उद्देश्य

23.3 वाणिज्य बैंक तथा कृषि वित्त

23.4 रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा वाणिज्य बैंकों के लिए कृषि वित्त के मार्गदर्शी सिद्धान्त

23.5 कृषि वित्त हेतु वाणिज्य बैंकों द्वारा उठाये गये कदम

23.6 कृषि वित्त उपलब्धता में वाणिज्य बैंकों की भूमिका की समीक्षा

23.7 गैर कृषि ग्रामीण वित्त संस्थान

23.8 सारांश

23.9 शब्दावली

23.10 अभ्यास प्रश्न

23.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

23.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

23.13 निबन्धात्मक प्रश्न

23.1. प्रस्तावना

कृषि अर्थशास्त्र से सम्बन्धित खण्ड छः की यह 23वीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई के अध्ययन से आप सहकारी साख समितियों तथा नाबार्ड की कृषि वित्त में भूमिका को जान चुके हैं।

प्रस्तुत इकाई में वाणिज्य बैंकों की कृषि वित्त व्यवस्था पर प्रकाश डाला जायेंगे तथा कृषि वित्त में वाणिज्य बैंकों की भूमिका की समीक्षा की जायेगी तथा गैर कृषि ग्रामीण वित्त संस्थानों की चर्चा की जायेगी।

इसके अध्ययन से आप कृषि वित्त में वाणिज्य बैंक के योगदान को समझ सकेंगे।

23.2.उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

1. वाणिज्य बैंकों द्वारा की गई कृषि वित्त व्यवस्था को समझ जायेंगे।
2. रिर्जव बैंक द्वारा वाणिज्य बैंकों के लिए कृषि वित्त के मार्गदर्शी सिद्धान्तों को समझ जायेंगे।
3. वाणिज्य बैंकों द्वारा कृषि वित्त हेतु उठाये गये कदमों को जान जायेंगे।
4. गैर कृषि ग्रामीण वित्त संस्थानों को जान जायेंगे।

23.3. वाणिज्य बैंक तथा कृषि वित्त

कृषि वित्त में वाणिज्य बैंकों की दिलचस्पी पहली बार तब शुरू हुई। जब 1955 में स्टेट बैंक की सहायता के पश्चात् सहकारी प्रसंस्करण और विपणन समितियों को ऋण सुविधाओं की व्यवस्था की गई। स्टेट बैंक और उसके सहायक बैंकों ने अर्द्धनगरीय और ग्राम क्षेत्रों में शाखाओं का एक जाल बिछा दिया। लेकिन काफी लम्बे समय तक वाणिज्य बैंकों का कृषि वित्त में हिस्सा बहुत कम था। कुल ऋण में वाणिज्य बैंकों का हिस्सा 1950–51 में 0.9 प्रतिशत तथा 1961–62 में 0.7 प्रतिशत था। कृषि व ग्रामीण साख की बढ़ती हुई आवश्यकताओं और वाणिज्य बैंकों की अत्यन्त सीमित भूमिका के कारण सरकार ने जुलाई 1969 में 14 प्रमुख बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। राष्ट्रीयकरण के समय जून 1969 में भारत में वाणिज्य बैंकों की कुल 8262 शाखाएं थी जिनमें से केवल 1833 शाखाएं अर्थात् 22.2 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों में थी और वाणिज्य बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्र में कुल संस्थागत साख का 1.6 प्रतिशत भाग उपलब्ध कराया। सरकार ने 1980 में 6 और बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया। राष्ट्रीयकरण के बाद बैंकों ने ग्रामीण क्षेत्रों में बहुत सी शाखाएं खोली और ग्रामीण वित्त में अपने योगदान में काफी वृद्वि की। जून 2006 के अन्त तक वाणिज्य बैंकों की कुल संख्या 69,616 थी जिसमें से 30,754 अर्थात् 44 प्रतिशत शाखाएं ग्रामीण क्षेत्रों में थी। 30 जून 2009 तक व्यापारिक बैंको की संख्या 80514 थी जिसमें से 39.53 प्रतिशत शाखाए ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत थी।कृषि वित्त में वाणिज्य बैंकों की हिस्सेदारी 1950–51 में मात्र 0.9 प्रतिशत थी जो 1971 में 2.6 प्रतिशतद्व 1981 में 29.4 प्रतिशत, 1991 में 33.7 प्रतिशत तथा 2001 में बढ़कर 33.4 प्रतिशत हो गई। 2005–06 में वाणिज्य बैंकों ने

1,25,859 करोड़ रूपये का कृषि वित्त प्रदान किया जो इस वर्ष दिए गए कुल संस्थागत ऋण का 70 प्रतिशत था।

प्राथमिकता वाले क्षेत्रों (कृषि, लघु उद्योग, लघु व्यवसाय आदि) को ऋण देने के लिए रिजर्व बैंक ने वाणिज्य बैंकों के सामने कुछ लक्ष्य रखे गये हैं। जैसे वाणिज्य बैंक अपने कुल ऋण का 40 प्रतिशत भाग प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्रदान करेंगे। जिसमें से कृषि तथा सम्बद्व क्षेत्रों का कुल बैंक ऋण का 18 प्रतिशत दिया जाएगा। मार्च 1994 के अन्त तक बैंकों ने 37.8 प्रतिशत ऋण प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को दिया। जहां तक कृषि क्षेत्र की साख का हिस्सा 13.7 प्रतिशत था। मार्च 2006 के अन्त तक बैंकों ने 40.2 प्रतिशत ऋण प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्रदान किया। कृषि क्षेत्र को 15.3 प्रतिशत ऋण प्रदान किया ।

23.4. रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया द्वारा वाणिज्य बैंकों के लिए कृषि वित्त के मार्गदर्शी सिद्धांत

सन् 1970 में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने वाणिज्य बैंकों को एक परिपत्र द्वारा कृषि सम्बन्धी ऋण उपलब्ध कराने के लिए मार्गदर्शी सिद्धांत प्रस्तावित किये, जिसमें वाणिज्य बैंकों को कृषि ऋण देने का औचित्य, नीतियां एवं कार्य विधि स्पष्ट हो जाए–

23.4.1 ऋण के मानदण्ड एवं सीमा–वाणिज्य बैक न केवल पहले से सक्षम किसानों को ऋण उपलब्ध कराये परंतु इन्हें सीमान्त, माध्यम तथा लघु किसानों को ऋण उपलब्ध कराते हुए उनकी वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करना होगा।

23.4.2 प्रतिभूति का मार्जिन–वाणिज्य बैंकों को किसानों के प्रति उदार रूख अपनाना चाहिए और उन्हें कम मार्जिन पर ऋण उपलब्ध कराने चाहिए। अधिकतर वाणिज्य बैंक 25 प्रतिशत मार्जिन रखते हुए किसानों को उधार उपलब्ध कराते है और इसे यथा सम्भव कम करना चाहिए।

23.4.3 किसानों के लिए ऋणों के विरूद्ध प्रतिभूति–जहां तक उत्पादक ऋणों का सम्बन्ध है। अल्पकालीन वित्त के लिए केवल फसलों को जमानत की तरह रखना काफी होगा। इसके अतिरिक्त बैंक मशीनरी, भूमि बन्धक रखकर, सोने के आभूषणों को गिरवी रखकर या किसी एक या दो व्यक्तियों की गारंटी के आधार पर भी ऋण दे सकते हैं। इसके पीछे मुख्य उद्देश्य किसानों को आवश्यक प्रतिभूति के बिना कठिनाई के ऋण प्राप्त कराना है।

23.4.4 बकाया ऋण की वसूली–वाणिज्य बैंकों को उचित नियम एवं कार्यविधि का निर्माण करना होगा, ताकि उन परिस्थितियों को निर्धारित किया जाये। जिनमें फसल के दुर्घटनावश नष्ट होने पर चूक की माफी दी जा सके ओर किसानों को ऋण लौटाने में राहत दी जा सकें अर्थात् अल्पकालीन ऋण को मध्यकालीन या दीर्घकालीन ऋण में परिवर्तित किया जा सकें।

23.4.5 समन्वय की आवश्यकता–प्रारम्भिक अवस्थाओं में जब वाणिज्य बैंकों ने ग्राम–वित्त में प्रवेश किया, तब अपरिहार्य दोहरापन हुआ और यह पाया गया कि एक से अधिक वाणिज्य बैंक और सहकारी समितियों ने एक ही ऋण प्राप्तकर्त्ता को उसी उद्देश्य और उसी प्रतिभूति के विरूद्ध ऋण दे दिया। इस प्रकार के दोहरेपन को दूर करना होगा।

इसके अतिरिक्त बैंकों के प्रबन्धकों और सहकारी समितियों के अधिकारियों को मिलकर वित्त का रूप एवं मात्रा तय करनी होगी। इसके साथ–साथ राज्यीय सरकारों और वाणिज्य बैंकों के बीच लगातार परामर्श और विचार–विनिमय होना चाहिए और वाणिज्य बैंकों द्वारा किसानों को उपलब्ध करायी गयी सुविधाओं की जानकारी राज्यीय सरकारों को देनी चाहिए।

कृषि वित्त (फार्म उधार) पर रिजर्व बैंक के नए मार्गदर्शी सिद्धान्तों के लिए **श्री आर0पी0 गुप्त** की अध्यक्षता में एक समिति स्थापित की जिसने अप्रैल 1998 को अपनी निम्न सिफारिशें दी–

1. 2 लाख रूपये से अधिक के ऋणों पर सहकारी समितियों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की तरह वाणिज्य बैंकों को भी ब्याज दर निश्चित करने की स्वतंत्रता दी जाये।
2. कृषि वित्त के लिए 18 प्रतिशत के लक्ष्य को समाप्त करना ताकि कृषि वित्त हेतु आवश्यकता के समय अधिक वित्त की व्यवस्था की जा सकें।
3. वाणिज्य बैकों को अपने सेवा क्षेत्रों के बाहर जाने की इजाजत देनी चाहिए और ऋण प्राप्तकर्ताओं को किसी भी बैंक के पास जाने की छूट होनी चाहिए।
4. वाणिज्य बैंकों को किसानों की सभी अल्पकालीन ऋण आवश्यकताओं के लिए एक संयुक्त ऋण पैकेज का निर्माण करना चाहिए।
5. किसानों की प्रवृत्ति सोने ओर जमीन पर निवेश करने के लिए एक तरल बचत पैकेज तैयार करना चाहिए।

मई 1998 में भारतीय रिजर्व बैंक ने गुप्त समिति की सिफारिशों को स्वीकार कर लिया और वाणिज्य बैंकों को इन्हें लागू करने के लिए कार्यवाही करने का निर्देश दिया।

23.5.कृषि वित्त हेतु वाणिज्य बैंकों द्वारा उठाये गये कदम

राष्ट्रीयकरण के बाद वाणिज्य बैंकों ने कृषि तथा ग्रामीण वित्त प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इससे किसानों को कृषि आगत खरीदने के लिए वित्तीय सहायता प्राप्त हुई है। नई कृषि व्यवस्था में बढ़ते पैमाने के लाभ कों प्राप्त करने के लिए कृषि क्षेत्र हेतु बढ़ी मात्रा में वित्त की आवश्यकता है। एक अध्ययन के अनुसार भारत में बैंकों की शाखाओं के विस्तार से उर्वरकों की मांग में लगभग 23 प्रतिशत, ट्रैक्टरों के निवेशस्तर में 13 प्रतिशत, सिंचाई पम्पों में 41 प्रतिशत, दुधारू पशुओं में 46 प्रतिशत तथा भारवाही पशुओं में लगभग 38 प्रतिशत वृद्वि हुई है। वाणिज्य बैंकों की शाखाओं में 10 प्रतिशत वृद्धि होने से पशुओं तथा सिंचाई पम्पसेटों में निवेश में 4 से 8 प्रतिशत के बीच वृद्धि होती है। इससे स्पष्ट होता है कि वाणिज्य बैंकों के शाखा विस्तार से हाल के वर्षों में भारत के कृषि विकास व आधुनिकीकरण में सहायता मिली है। इसके अलावा बहुत से ग्रामीणों को महाजनों के चगुंल से छुटकारा मिला है। कृषि वित्त की व्यवस्था हेतु वाणिज्य बैंकों ने मुख्य रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में निम्न कार्यक्रम, योजनाओं व व्यवस्था के विस्तार पर जोर दिया। जिससे ग्रामीण वित्तीय व्यवस्था का विस्तार किया जा सके।

23.5.1 वाणिज बैंकों प्रायोजित बैंक– क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक–1970 के दशक के मध्य में रिजर्व बैंक ने एक कार्यदल गठित किया था। जिसने ग्रामीण साख में वाणिज्य बैंकों की भूमिका

पर संतोष व्यक्त किया, लेकिन फिर भी 1974 में इन बैंको के कुल ऋण में हिस्सा मात्र 16 प्रतिशत ही था। इसलिए कार्यदल की रिपोर्ट की समीक्षा के पश्चात् क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की स्थापना करने का निर्णय किया गया। 2 अक्टूबर, 1975 को 5 क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों (उत्तर प्रदेश में मुरादाबाद और गोरखपुर में, हरियाणा में भिवानी, राजस्थान में जयपुर और पश्चिम बंगाल में माल्डा में) की स्थापना की गई। ये बैंक देश के उन पिछड़े तथा जनजातीय क्षेत्रों में स्थापित किये गये थे। जहां पर वाणिज्य बैंकों तथा सहकारी बैंकों की सेवायें, पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नही थीं।1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों की संख्या 6 तथा शाखाओं की संख्या 200 थी जो 2003 में बैंकों की संख्या 196 तथा शाखाओं की संख्या बढ़कर 14,507 हो गई है। इन बैंको के ऋणों का 90 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रों के कमजोर वर्गों को दिया जाता है। देश के कुल कृषि ऋण प्रवाह में क्षेत्रीय बैंकों का हिस्सा लगभग 8 प्रतिशत है।

प्रत्येक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की अधिकृत पूँजी 1 करोड़ रुपये निर्धारित की गई है। यह अधिकृत पूँजी केन्द्रीय सरकार, रिजर्व बैंक एवं प्रायोजित बैंक की सलाह से कम कर सकता है, किन्तु यह 25 लाख रुपये से कम नहीं होगी। जिसमें 50 प्रतिशत केन्द्रीय सरकार, 15 प्रतिशत राज्य सरकार एवं 35 प्रतिशत प्रायोजित बैंक द्वारा प्रदान की जायेगी। 12 जुलाई 1982 को इन बैंकों का नियन्त्रण रिजर्व बैंक ने नाबार्ड को सौंप दिया था।

यद्यपि इन बैंकों की स्थापना ग्रामीण साख के विस्तार के लिये की गई थी, परन्तु इन बैंकों के क्षेत्रीय वितरण में असमानता है। जिसमें से अधिकांश क्षेत्रीय बैंक घाटे में चल रहे हैं, जिस कारण उन्हें वित्तीय कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है। इस लिए स्वीकृत ऋणों के प्रयोग का निरीक्षण किया जाना चाहिए जिससे ऋण उसी कार्य में लगे जिसके लिए स्वीकृत किया गया है और समय पर ऋण वापसी हो सके।

23.5.2 अग्रणी बैंक परियोजना–1969 में रिजर्व बैंक के अनुरोध पर अग्रणी बैंक परियोजना का प्रारम्भ किया गया। यह परियोजना उन क्षेत्रों के लिए थी जहां बैंकों की सुविधायें बहुत कम थी। ऐसे क्षेत्र के प्रत्येक जिले में, एक वाणिज्य बैंक को एक प्रमुख बैंक (अग्रणी बैंक) के रूप में चुना गया। उस जिले के लिए, विशेषकर कृषि क्षेत्र तथा अन्य प्राथमिक क्षेत्रों के लिए, बैंकों की सेवाओं को उपलब्ध करवाने की जिम्मेदारी, अग्रणी बैंक के लिए एक सलाहकार कमेटी होती है। जिसमें राज्य सरकार ,अनुसूचित बैंकों तथा उस जिले में काम कर रही अन्य वित्तीय संस्थाओं के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये हैं। यह सलाहकार कमेटी कृषि तथा दूसरे प्राथमिक क्षेत्रों के लिए भिन्न– भिन्न वित्तीय परियोजनाओं के बारे में निर्णय लेती है।

23.5.3 ग्राम अंगीकरण परियोजना–यह योजना अग्रणी बैंक योजना के पश्चात् शुरू की गई थी। क्योंकि अग्रणी बैंकों के कार्यों की समीक्षा से ज्ञात हुआ कि ये बैंक छोट तथा सीमान्त किसानों की वित्तीय आवश्यकताओं को पूर्ण नहीं कर सकें। इसलिए अग्रणी बैंकों को सुझाव दिया गया कि वह अपने जिले के कुछ जरूरतमंद गांवों का चयन कर वहां के सभी किसानों को पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सुविधायें उपलब्ध करायें।

23.5.4 सेवा क्षेत्र परियोजना–इस परियोजना का उद्देश्य देश के वाणिज्य बैंकों तथा सहकारी समितियों के आपसी समन्वय द्वारा, देश के लगभग 6 लाख गांवों में साख सुविधाओं को उपलब्ध कराता है। प्रत्येक वाणिज्य बैंक को 15 से 20 गांवों की साख की आवश्यकताओं की समीक्षा करने तथा उनको पूरा करने की जिम्मेदारी सौंपी गई है। प्रत्येक बैंक अपने सौंपे हुए क्षेत्र में सहकारी समितियों से मिलकर साख सुविधायें उपलब्ध करवाने का प्रयास करता है।

23.5.5 गहन केन्द्र परियोजना– ग्राम अंगीकरण परियोजना के अतिरिक्त स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ने गहन केन्द्र परियोजना आरम्भ की। इस परियोजना के अधीन, यह बैंक, देश के पिछडें उपखण्ड़ों में, एक सघन क्षेत्र का चयन करता है। तथा उसकी प्रत्येक प्रकार की वित्तीय आवश्यकताओं कोद्व साख उपलब्ध करवा कर पूरा करने की चेष्टा करता है।

23.5.6 कृषि वित्त निगम–वर्ष 1968 में कुछ वाणिज्य बैंकों ने मिलकर, कृषि विकास के लिए किसानों को साख–सुविधाओं उपलब्ध करवाने की योजना बनाई। यह निगम कृषि के विकास के लिए भिन्न–भिन्न परियोजनाओं को आरम्भ करने की स्वीकृति देता है तथा इसको स्थापित करने वाले बैकें की सहायता से इनके लिए ऋण उपलब्ध करवाता है ।

23.6. कृषि वित्त उपलब्धता में वाणिज्य बैंकों की भूमिका की समीक्षा

वाणिज्य बैंकों के शाखा विस्तार से हाल के वर्षों में भारत के कृषि विकास व आधुनिकीकरण में सहायता मिली है। इसके अलावा, बहुत से किसानों को साहूकार महाजनों के चंगुल से छुटकारा मिला है और ग्रामीण जनता को बचत की आदत पड़ने लगी। कृषि क्षेत्र के लिए प्रत्यक्ष ऋण देने के साथ–साथ बैंकों ने कई ऐसे उद्योंगों को भी ऋण सुविधाएं दी जिनका कृषि विकास पर प्रत्यक्ष प्रभाव हे।

किसानों को समय पर और पर्याप्त मात्रा में ऋण उपलब्ध कराने की व्यवस्था करना हमारे वाणिज्य बैंकों के लिए सबसे बड़ी चुनौती है। रिजर्व बैंक , नाबार्ड तथा अन्य बैंकों के परामर्श के पश्चात् 1998–99 में तैयार की गई किसान क्रेडिटकार्ड की मॉडल योजना को सभी बैंकों के माध्यम से देश के सभी राज्यों में कार्यान्वित कर रहे है। नवम्बर 2009 तक देश में कुल 878.30 लाख किसान क्रेडिट कार्ड जारी किये जा चुके थे। इसमें से 39 प्रतिशत वाणिज्य बैंकों द्वारा जारी किये गये। यद्यपि 31 मार्च, 2004 तक सभी पात्र किसानों को किसान क्रेडिट कार्ड उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया था।

लघु सिंचाई व्यवस्था बूंद–बूंद सिंचाई व्यवस्था तथा फब्बारा सिंचाई व्यवस्था के लिए तथा फार्म पौण्ड तथा वाटरशेट जैसी योजनाओं के लिए बैंक तकनीकी और आर्थिक व्यहारिकता के आधार पर ऋण उपलब्ध कराता है। प्राकृतिक आपदाओं के प्रबन्धन में बैंकों की भूमिका महत्वपूर्ण है। सूखों के समय बैंकों द्वारा अल्पकालीन ऋणों में मध्यकालीन ऋणों में परिवर्तित कर दिया जाता है तथा नए अल्पकालीन ऋण प्रदान किये जाते हैं बाढ़ व सूखे के बाद की स्थिति में गांवों को गोद लेकर क्षेत्र के विकास की योजनाओं के क्रियान्वयन हेतु वित्त की व्यवस्था की जाती है।

वाणिज्य बैकों द्वारा औषधीय पौधों के लिए वित्त व्यवस्था करना एक नया क्षेत्र है। अधिक मांग वाली औषधियां का कृषिकरण किया जाता है। ताकि दवा उद्योग, फूड प्रसंस्करण

आदि उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सके। वाणिज्य बैंक ग्रामीण क्षेत्र में गोदामों के निर्माण के लिए साख सम्बद्ध अनुदान में वाणिज्य बैंकों की शाखा विस्तार से विपणन क्षेत्र में भी विस्तार हुआ है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां भी सीधे किसानों से कृषि उत्पाद खरीदने ग्रामीण क्षेत्रों तक पहुंच रही है।

यद्यपि वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद ग्रामीण क्षेत्रों में बैंकों का विस्तार हुआ है परन्तु इससे कुछ समस्याएं भी उत्पन्न हुई है। क्योंकि बिना व्यावसायिक सम्भावनाओं को ध्यान दिये अंधाधुंध ग्रामीण शाखाएं खोलते जाने से एक और शाखाओं का प्रशासनिक खर्च बढ़ गया जिससे बैंकों को हानि हुई साथ ही बहुत से ऐसे ऋण प्रदान किये गयें जिनकी वापसी की सम्भावनाएं बहुत कम है। वाणिज्य बैंकों ने अपनी विस्तार उन्हीं क्षेत्रों में किया जहां पहले से सहकारी साख समितियां कार्यरत थी। पिछड़ी पर्वतीय तथा ऐसे क्षेत्र जहाँ संस्थागत साख व्यवस्था का अभाव था वहां वाणिज्य बैंक अपनी पहुंच बनाने में असमर्थ रहें।

सरकार ने वाणिज्य बैंकों को यह सुविधा दी है कि वो प्राथमिकता क्षेत्र के लिए निर्धारित लक्ष्यों को पूरा करने के लिए ग्रामीण आधारिक विकास कोष तथा भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक में निवेश कर सकते है। इसके अन्तर्गत बैंकों ने इसमें निवेश बढ़ाया, परन्तु इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि छोटे व सीमान्त किसानों को दिये जाने वाले ऋणों की वृद्वि दर में गिरावट आई। 1980 के दशक मे छोटे किसानों के दिये गये ऋण की वृद्वि दर 15.1 प्रतिशत थी जो 1990 के दशक में कम होकर 11.0 प्रतिशत रह गई तथा इस दौरान सीमान्त किसानों की ऋण वृद्धि दर 18.1 प्रतिशत से घटकर 13 प्रतिशत रह गई।

एक ही क्षेत्र में कार्य कर रहे विभिन्न वाणिज्य बैंको की शाखाओं के बीच तथा अन्य सहकारी व क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा सरकारी विभागों के बीच उचित सहयोग व तालमेल का अभाव है। यद्यपि अग्रणी बैंक योजना लागू है तब भी 10–15 बैंकों की 50 या अधिक शाखाओं मे तालमेल बैठाने में अनेक व्यवहारिक समस्यायें आती है। वाणिज्य बैंकों की योजनाओं का लाभ अधिकतर बड़े व मध्यम किसानों को ही हुआ है। क्योंकि जमानत व जटिल कागजी कार्यवाही के कारण छोटे व सीमान्त किसान अभी भी साहूकारों के पास ही जा रहे हैं।

इन सबसे गम्भीर समस्या ऋण वसूली की धीमी गति है। जिस कारण वाणिज्य बैंक कृषि वित्त में अधिक रूचि नहीं ले रहे, यद्यपि रिजर्व बैंक तथा सरकारी दिशा निर्देशों के अनुसार वाणिज्य बैंक कृषि क्षेत्र को वित्तीय सहायता दे रहे हैं परन्तु समय– समय पर ऋण माफी की योजना ने वाणिज्य बैंकों को वित्तीय संकट में डाल दिया हैं। हाल में किसानों द्वारा ऋण वापस न करने के रवैये को विभिन्न राजनीतिक दलों की वोटों की राजनीति से काफी प्रोत्साहन मिला है किसान अब जानबूझ कर ऋणों की वापसी नहीं करता और सरकार पर दबाव डालता है कि ऋण माफ कर दिये जाये। इससे कृषि को ऋण देने वाली संस्थाओं व बैंको का अस्तित्व ही खतरे में आने की आंशका है।

23.7. गैर कृषि ग्रामीण वित्त संस्थान

हाल के वर्षों में ग्रामीण भारत में आर्थिक गतिविधियों के विकेन्द्रीकरण में गैर कृषि क्रियाओं को महत्वपूर्ण माना जा रहा है। भारत की आर्थिक जनगणना का अनुमान है कि 41.89 लाख ग्रामीण लोग गैर कृषि क्रियाओं में कार्यरत है। जिनकी 1998–2005 के दौरान 4.56 प्रतिशत वृद्वि दर रही। इस क्षेत्र में पर्याप्त वृद्वि की संभावनाएं हैं क्योंकि ग्रामीण क्षेत्र में सड़कों, आवासों, बिजली व संचार सुविधाओं आदि का अभाव है। गैर कृषि गतिविधियों में मुख्य रूप से आवास निर्माण, सड़क निर्माण, हस्तशिल्प, प्रसंस्करण खनन, व्यापार, सामुदायिक सेवायें आदि आती है। जिससे छोटे सीमान्त व भूमिहीन किसानों को रोजगार उपलब्ध हो। इस प्रकार गैर कृषि क्षेत्र देश के तीव्र आर्थिक विकास की कुंजी है। इसके महत्व को देखते हुए नाबार्ड, राष्ट्रीय आवास बैंक तथा अन्य बैंक अनेक योजनाएं चला रहे हैं। जिनका विवरण इस प्रकार है।

23.7.1 नाबार्ड द्वारा प्रदान की जा रही गैर कृषि सहायता–नाबार्ड ग्रामीण क्षेत्रों की आय मे वृद्वि हेतु गैर कृषि क्षेत्र को पुनर्वित्त सहायता प्रदान करता है। जिससे छोटे कुटीर तथा हस्तशिल्प उद्योगों की स्थापना व विकास हो। नाबार्ड निवेश ऋण द्वारा खाद्य प्रसंस्करण, सूक्ष्म उद्योग, ग्रामीण कारीगरों व शिल्पियों को पुनर्वित सहायता उपलब्ध कराता है। नाबार्ड की स्वतः पुनर्वित सुविधा के अंतर्गत उद्यमिता ऋण योजना, लघु सड़क और जल परिवहन संचालन योजना तथा मार्जिन धन हेतु आसान ऋण सहायता योजना के तहत नाबार्ड पुनर्वित सुविधा देता है। वाणिज्य बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, सहकारी बैंक आदि द्वारा नाबार्ड की योजना का क्रियान्वयन किया जाता है। नाबार्ड की स्वतः पुनर्वित्त सुविधा का विवरण तालिका (23.4) में दर्शाया गया है।

तालिका (23.4)गैर कृषि क्षेत्र के लिए नाबार्ड का पुनर्वित्त (विशेष ऋण) प्रवाह

क्र0 सं0	वर्ष	विशेष ऋण (करोड़ रूपये में)
1	1986–87	16.00
2	1990–91	80.00
3	1996–97	644.68
4	2000–01	1022.02
5	2005–06	2285.98
6	2006–07	2265.16

Source- www.nabard.org

23.7.2 भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक– भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की अप्रैल 1990 मे संसद द्वारा पारित अधिनियम के तहत स्थापना की गई थी। बैंक की अधिकृत पूंजी 250 करोड़ रूपये है। जिसे 1000 करोड़ रूपये तक बढ़ाया जा सकता है। देश में फैली लघु इकाईयो को वित्तीय सहायता देने के लिए बैंक वाणिज्य बैंकों, सहकारी बैंकों तथा क्षेत्रीय बैंकों सहित अन्य वित्तीय निगमों को सहायता लेता है। देश के आर्थिक विकास तथा संतुलित विकास के लिए यह बैंक ग्रामीण क्षेत्र के लिए विशेष रूप से ग्रामीण

उद्योग कार्यक्रम चलाता है। जिसका उद्देश्य ग्रामीण क्षेत्र में उद्यमियों को प्रोत्साहन देकर आत्मनिर्भरता हेतु सूक्ष्म तथा लघु उद्योग लगाने हेतु सहायता देना जिससे ग्रामीण बेकारी, पलायन तथा संसाधनों के अल्प उपयोग की समस्या का समाधान हो सके।

ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम के तहत उद्योग की जानकारी ,प्रशिक्षण, प्रौद्योगिकी तथा विपणन व्यवस्था आदि के रूप में एक एकीकृत पैकेज इकाई के प्रदर्शन के आधार पर दिया जाता है। इकाई का मूल्यांकन राष्ट्रीय ग्रामीण विकास संस्थान हैदराबाद द्वारा आयोजित किया जाता है। दिसम्बर, 2009 को भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक ने संशोधित ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम शुरू किया है। जिसमें बैंकों के साथ स्वयं वित्त पोषण के माध्यम से नये लघु उद्योगों की स्थापना पर ध्यान केन्द्रित करने का निर्णय लिया गया।

23.7.3 राष्ट्रीय आवास बैंक–1988 को आवास के लिए शीर्ष स्तरीय संस्थान के रूप में राष्ट्रीय आवास बैंक की स्थापना की गई। इस पर रिजर्व बैंक का पूर्ण स्वामित्व है। इसका मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में है। राष्ट्रीय आवास बैंक निम्न योजनाओं के द्वारा ग्रामीण आवासीय व्यवस्था के लिए वित्तीय सहायता देता है–

1. स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण आवास वित्त योजना– वर्ष 1997–98 के बजट में राष्ट्रीय आवास बैंक से एक योजना तैयार करने का अनुरोध किया गया है। जिसका शुभारम्भ 15 अगस्त, 1997 को प्रधानमंत्री जी ने किया। इस योजना का उद्देश्य ऐसे गांव जहां की जनसंख्या 50,000 से अधिक नहीं है। ग्रामीण आवास उपलब्ध कराना है। इसमें इस कार्य हेतु वाणिज्य बैंकों, सहकारी समितियों तथा क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक सहित नाबार्ड को शामिल किया गया। वित्तीय सहायता के अतिरिक्त राष्ट्रीय आवास बैंक डिजायन व तकनीक सहायता भी देगा। 1997–2006 तक इसके अंतर्गत 22,80,000 इकाइयों का लक्ष्य रखा गया जिसमें में 2,213,189 इकाइयों का निर्माण कर लिया गया।

2. भारत निर्माण– यह योजना ग्रामीण क्षेत्र में बुनियादी सुविधाओं के विकास के लिए 2005–09 तक चलाने का लक्ष्य रखा गया। इसमें प्रत्येक गांव को बिजली उपलब्ध करना, पक्की सड़कें बनाना, पीने के पानी की व्यवस्था, निर्धन लोगों हेतु मकान निर्माण तथा गांवों को टेलीफोन सेवा से जोड़े जैसे कार्य करने निर्धारित किये गये।

3. इन्दिरा आवास योजना– 1980 में इस योजना का आरम्भ किया गया। इसके अंतर्गत गरीबी रेखा के नीचे के परिवारों को आवास निर्माण हेतु आर्थिक सहायता दी जाती है। जिसमें 60 प्रतिशत अनुसूचित जातियों व जन जातियों के लिए निर्धारित है। मैदानी क्षेत्र में 35,000 रू0 प्रति आवास पहाड़ी/ दुर्गम क्षेत्रों में 37,500रू0 प्रति आवास सहायता दी जाती है। इस योजना के राष्ट्रीय आवास बैंक ने वाणिज्य बैंक को शामिल किया है।

4. ग्रामीण क्षेत्रों में उत्पादक आवास– इस राष्ट्रीय आवास बैंक की नई योजना है। इस योजना का लाभ ग्रामीण क्षेत्रों के गरीबी की रेखा से कुछ ऊपर के लोगों को होगा। जिससे ये लोग छोटा कारोबार, कुटीर उद्योग तथा अन्य उत्पादक कार्य हेतु थोड़े बड़े आवास का निर्माण कर सके। जिसके लिए 70,000 रूपये का समिश्रण ऋण दिया जायेगा। जिसमें 52,500 रूपये मकान निर्माण हेतु तथा शेष 17,500 रूपये आय अर्जन हेतु होंगे। ऋण की अधिकतम अवधि 15 वर्ष तक की होगी। योजना का क्रियान्वयन बैंकों, आवास

वित्त निगम तथा सूक्ष्म वित्तीय संस्थान के द्वारा सीधे लाभार्थियों को या स्वयं सहायता समूहों के माध्यम से किया जायेगा।

23.7.4 खादी और ग्रामोद्योग आयोग– खादी और ग्रामोद्योग की स्थापना संसद के ''खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग अधिनियम 1956'' के तहत भारत सरकार द्वारा की गई थी। इसका मुख्य उद्देश्य–ग्रामीण क्षेत्र में खादी एवं ग्रामोद्योगों की स्थापना और विकास करने की योजना बनाना, प्रचार करना तथा इसहेतु सुविधाओं व सहायता देना है। अप्रैल 1957 में पूर्व के अखिल भारतीय खादी एवं ग्रामीण उद्योग बोर्ड का सम्पूर्ण कार्यभार इसने संभाल लिया। इसका मुख्यालय मुम्बई में 6 संभागीय कार्यालय सहित 29 राज्यों में इसके कार्यालय है। आयोग के तीन मुख्य उद्देश्य हैं– **सामाजिक उद्देश्य–** ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार उपलब्ध कराना ,**आर्थिक उद्देश्य–** बिक्री योग्य सामग्री प्रदान करना तथा **व्यापक उद्देश्य–** लोगों को आत्मनिर्भर बनाना और एक सुदृढ़ ग्रामीण सामाजिक भावना का निर्माण करना।

वर्तमान समय में आयोग के विकासात्मक कार्यक्रमों का क्रियान्वयन 5600 पंजीकृत संस्थाओं, 30138 सहकारी संस्थाओं, और लगभग 94.85 लाख लोगों के माध्यम से किया जा रहा है। आयोग द्वारा मधुमक्खी पालन, मिट्टी के बने बर्तन निर्माण, दलहन व अनाज प्रसंस्करण उद्योग, फूल व सब्जी प्रसंस्करण उद्योग, चमड़ा उद्योग, खाद्य तेल उद्योग,कुटीर उद्योग, औषधि उद्योग, कागज उद्योग, बढई तथा इलेक्ट्रॉनिक्स उद्योग आदि के विकास व स्थापना हेतु सहायता दी जाती है। इसके अतिरिक्त आयोग प्रधानमंत्री रोजगार सृजन कार्यक्रम के तहत ग्रामीण युवकों को स्वरोजगार हेतु सहायता देता है। आयोग ब्याज अनुवृत्ति पात्रता प्रमाण पत्र योजना के तहत खादी कार्यक्रम के लिए धन उपलब्ध कराता है। इसके अतिरिक्त आयोग परम्परागत उद्योग पुनः स्थापना हेतु फण्ड की योजना का परिचालन करता है। जिससे भारत के नष्ट होते जा रहे परम्परागत उद्योगों की स्थापना व विकास किया जाये इस हेतु 100 करोड़ रूपये के कोष की स्थापना की घोषणा की गई।

23.8.सारांश

राष्ट्रीयकरण से पूर्व कृषि साख में वाणिज्य बैंकों की हिस्सेदारी 1 प्रतिशत से भी कम थी। जुलाई 1969 में 14 बैंकों तथा 1980 में 6 बैंकों के राष्ट्रीयकरण के पश्चात् कृषि साख में वाणिज्य बैंकों की हिस्सेदारी में लगातार वृद्धि हुई है। तथा राष्ट्रीयकरण के बाद ग्रामीण क्षेत्र में बैंकों की शाखाओं का जाल बिछ गया है। जून 2006 के अंत तक बैंकों के कुल शाखायें 69616 थी जिसमें से 30754 अर्थात् 44 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्र में थी।

2005–06 में वाणिज्य बैंकों ने 1,25,859 करोड़ रूपये का कृषि वित्त प्रदान किया। जो इस वर्ष दिए गए कुल संस्थागत ऋण का 70 प्रतिशत था। रिजर्व बैंक ने वाणिज्य बैंकों के कृषि वित्त व्यवस्था हेतु अनेक मार्गदर्शी सिद्धान्त बताये हैं जिससे वाणिज्य बैंक कृषि वित्त व्यवस्था मे सक्रिय भूमिका निभा सकें। कृषि क्षेत्र की वित्त व्यवस्था हेतु वाणिज्य बैंक क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, ग्राम अंकीकरण योजना, अग्रणी बैंक योजना, किसान क्रेडिट कार्ड आदि योजना संचालित करता है। जिससे कृषि विकास के साथ किसानों को महाजनों व साहूकारों के चंगुल से छुटकारा मिला है।

यद्यपि पिछले वर्षों में कृषि वित्त में वाणिज्य बैंकों की हिस्सेदारी बढ़ी है। फिर भी कुछ नयी समस्यायें सामने आयी है जैसे अंधाधुंध ग्रामीण शाखायें, अन्य बैंकों व वित्तीय संस्थानों से समन्वय का अभाव, बड़े व मध्यम किसानों को प्राथमिकता, राजनैतिक का अभाव, बड़े व मध्यम किसानों को प्राथमिकता, राजनैतिक खास, ऋण वसूली की धीमी गति तथा समय–समय पर सरकार की ऋण माफी योजना जिस कारण बैंकों का अस्तित्व खतरे में आने की आशंका है।

हाल के वर्षों में ग्रामीण भारत में आर्थिक गतिविधियों के विकेन्द्रीकरण में गैर कृषि क्रियाओं को महत्वपूर्ण माना जा रहा है। गैर कृषि गतिविधियों में मुख्य रूप से आवास निर्माण, सड़क निर्माण, हस्तशिल्प, प्रसंस्करण खनन, व्यापार, सामुदायिक सेवायें आदि आती है। जिससे छोटे सीमान्त व भूमिहीन किसानों को रोजगार उपलब्ध हो। इस प्रकार गैर कृषि क्षेत्र देश के तीव्र आर्थिक विकास की कुंजी है। इसके महत्व को देखते हुए नाबार्ड, राष्ट्रीय आवास बैंक तथा अन्य बैंक अनेक योजनाएं चला रहे हैं।

23.9. शब्दावली

- **कृषि साख–** वह ऋण (साख) जो कृषि कार्य हेतु लिया जाता है।
- **उर्वरक–** रासायनिक खाद जैसे–यूरिया, पोटाश, फास्फेट आदि।
- **कृषि का व्यवसायिकरण–** लाभ प्राप्ती के उद्देश्यों से कृषि करना।
- **काश्तकार–** जो लोग किसी दूसरे की भूमि पर ठेके पर कृषि करता है।
- **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।
- **वाणिज्य बैंक–** व्यापारिक बैंक, जो लाभ प्राप्ति हेतु मुद्रा का व्यापार अर्थात् लेन–देन करते हैं।
- **नाबार्ड–** राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD)
- **विकेन्द्रीकरण–** उद्योगों व कृषि क्रियाओं का बिखराव या फैलाव
- **उद्यमिता–** जोखिम उठाने की क्षमता
- **उत्पादक आवास–** ऐसे आवास जो आय अर्जन अर्थात् आय प्राप्ति के माध्यम बनें।

23.10.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

1. .....को सरकार ने 14 वाणिज्य बैंकों तथा .....में 6 वाणिज्य बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया।
2. .....में किसान क्रेडिट कार्ड की योजना प्रारंभ की गई ।
3. 1998 से नवमबर 2009 तक..... किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए जा चुके थे।
4. जारी किए जा चुके किसान क्रेडिट कार्ड में से ..... प्रतिशत वाणिज्य बैंकों द्वारा जारी किये गये।
5. 30 जून 2009 तक व्यापारिक बैंको की संख्या ..... थी, जिसमें से.....प्रतिशत शाखाए ग्रामीण क्षेत्रों में कार्यरत थी।

6. रिजर्व बैंक ने वाणिज्य बैंकों के सामने लक्ष्य रखा की , बैंक अपने कुल ऋण का..... ..... प्रतिशत भाग प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को प्रदान करेंगे।
7. वाणिज्य बैंक कृषि तथा सम्बद्व क्षेत्रों को कुल बैंक ऋण का ..... प्रतिशत दिया जाएगा।
8. सन् ..... में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया ने वाणिज्य बैंकों को एक परिपत्र द्वारा कृषि सम्बन्धी ऋण उपलब्ध कराने के लिए मार्गदर्शी सिद्धांत प्रस्तावित किये।
9. कृषि वित्त (फार्म उधार) पर रिजर्व बैंक के नए मार्गदर्शी सिद्धान्तों के लिए .... की अध्यक्षता में एक समिति स्थापित की।
10. क्षेत्रीय ग्रामीण बैंको की स्थापना ..... को ..... राज्यों में की गई।
11. क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक की प्रदत्त पूंजी में केन्द्र सरकार, राज्य सरकार तथा प्रायोजित वाणिज्य बैंक की हिस्सेदारी..... निर्धारित की गई।
12. ..... में अग्रणी बैंक परियोजना का प्रारम्भ किया गया।
13. भारत की आर्थिक जनगणना का अनुमान है कि..... लाख ग्रामीण लोग गैर कृषि क्षेत्र में कार्यरत है।
14. भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की ..... मे संसद द्वारा पारित अधिनियम के तहत स्थापना की गई थी।
15. दिसम्बर, ... को भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक ने संशोधित ग्रामीण उद्योग कार्यक्रम शुरू किया है।
16. .....को आवास के लिए शीर्ष स्तरीय संस्थान के रूप में राष्ट्रीय आवास बैंक की स्थापना की गई।
17. .....में इन्दिरा आवास योजना का आरम्भ किया गया।
18. स्वर्ण जयन्ती ग्रामीण आवास वित्त योजना का शुभारम्भ .....को प्रधानमंत्री जी ने किया।
19. इन्दिरा आवास योजना में आवास निर्माण हेतु आर्थिक सहायता दी जाती है। जिसमें .... प्रतिशत अनुसूचित जातियों व जन जातियों के लिए निर्धारित है।
20. इन्दिरा आवास योजना में मैदानी क्षेत्र में .....रू0 प्रति आवास पहाड़ी/ दुर्गम क्षेत्रों में .....रू0 प्रति आवास सहायता दी जाती है।
21. खादी और ग्रामोद्योग की स्थापना संसद के .....के तहत भारत सरकार द्वारा की गई थी।
22. खादी और ग्रामोद्योग का मुख्यालय ..... में 6 संभागीय कार्यालय सहित .. ..राज्यों में इसके कार्यालय है।

<u>उत्तर</u> –(1) 19 जुलाई 1969; 15 अप्रैल 1980 (2) अगस्त 1998–99 (3) 878.30 लाख (4) 38.63 प्रतिशत(5)80514 ; 39.53 प्रतिशत (6) 40 प्रतिशत (7) 18 प्रतिशत (8) सन् 1970(9) श्री आर0पी0 गुप्त (10) 2 अक्टूबर 1975 ; 4 राज्यों (11)50:15:35(12)1969 (13) 41.89 लाख (14) अप्रैल 1990 (15) दिसम्बर, 2009(16)1988 (17)1980 (18)15 अगस्त, 1997

(19) 60 प्रतिशत (20) 35,000 रू0 प्रति आवास , 37,500रू0 प्रति आवास (21) 'खादी एवं ग्रामोद्योग आयोग अधिनियम 1956' (22) मुम्बई, 29 राज्यों।

23.11.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सिंह कुसुमलता *''ग्रामीण ऋणव्यवस्था और सार्वजनिक बैंक ''* (फरवरी 2010) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।
2. यादव सुबह सिंह *''ग्रामीण विकास में बैंकों की भूमिका''* (नवम्बर 2010), प्रतियोगिता दर्पण; आगरा।
3. वर्मा सुभाष चन्द,*''क्षेत्रीय ग्रामीण विकास बैंक : चुनौतियाँ एवं समाधान ''* (फरवरी 2010) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।
4. पंत नवीन, *''ग्रामीण क्षेत्रों में बैकिंग सुविधाएं ''* (फरवरी 2010) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।
5. यादव सावित्री,''*किसान क्रेडिट कार्ड से खत्म हुई किसानों की ऋणग्रस्तता ''*(जून 2011) कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।
6. सोनी आर0 एन0; *''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय ''* ;(2007) ; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।
7. मिश्र एस0के0 पुरी, वी0के0; (2008) *''भारतीय अर्थशास्त्र ''*; हिमालया पब्लिशिंग हाऊस नई दिल्ली।
8. दत्त रुद्र एवं सुन्दरम के0पी0 एम0; (2007) *''भारतीय अर्थव्यवस्थाए''*;एस0 चन्द्र एण्ड कम्पनी लि0 नई दिल्ली।
9. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) *'' कृषि अर्थशास्त्र ''*; साहित्य भवन आगरा।

23.12.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'*Outlines of Agricultural Economic's*, MacMillan
2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Developmen*t'; Select books,New Delhi.
3. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh(2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.
4. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.
5. Dantawala, M.L. et al. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford& IBH, New Delhi.

23.13.निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि वित्त में वाणिज्य बैंक की भूमिका की समीक्षा करें।
2. गैर कृषि ग्रामीण वित्तीय सहायता पर प्रकाश ड़ालों।
3. क्या वाणिज्य बैंकों के राष्ट्रीयकरण से कृषि वित्त की समस्याओं का समाधान हो गया ? व्याख्या करो।

इकाई 24. कृषि प्रबन्धन की अवधारणा, क्षेत्र तथा सिद्धान्त

इकाई संरचना

24.1 प्रस्तावना

24.2 उद्देश्य

24.3 कृषि प्रबन्धन

24.4 कृषि (फार्म) प्रबन्ध का क्षेत्र

24.5 कृषि प्रबन्धन के सिद्धान्त

24.6 सारांश

24.7 शब्दावली

24.8 अभ्यास प्रश्न

24.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

24.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

24.11 निबन्धात्मक प्रश्न

24.1. प्रस्तावना

यह खण्ड छः की कृषि प्रबन्धन से सम्बन्धित इकाई है इससे पूर्व की इकाई में आपके कृषि वित्त की विस्तृत जानकारी दी गई है।

प्रस्तुत इकाई में कृषि प्रबन्धन की अवधारणा, क्षेत्र तथा सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

इस इकाई के अध्ययन से आप कृषि प्रबन्धन के क्षेत्र और सिद्धान्तों से परिचित हो जायेगें।

24.2.उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- कृषि प्रबन्धन की अवधारणा को समझेगें।
- कृषि प्रबन्धन के क्षेत्र को समझ सकेगें।
- कृषि प्रबन्धन के सिद्धान्तों से परिचित हो जायेंगें।

24.3. कृषि प्रबन्धन

कृषि अर्थशास्त्र में कृषि (फार्म) प्रबन्ध का विशेष महत्व है। फार्म प्रबन्ध दो शब्दों फार्म प्रबंध का विशेष महत्व है। फार्म का अभिप्राय उस क्षेत्र से है जो कि एक किसान अथवा किसानों के समूह द्वारा खेती के काम में लाया जाता है तथा प्रबन्ध का अर्थ उत्पादन सम्बन्धी योजना को कार्य रूप में परिणित करना तथा उसमें प्रयुक्त वस्तुओं के समायोजना के लिए आता है। जिससे उत्पादक को अधिकतम लाभ प्राप्त हो सकें।

24.3.1– फार्म का अर्थ– फार्म वह क्षेत्र है जिस पर किसान या किसानों के समूह द्वारा सम्मिलित रूप से कृषि की जाती है फार्म वह क्षेत्र अथवा भूखण्ड है जिसका उपयोग फसल उत्पादन अर्थात् कृषि कार्य के लिये किया जाता है। जिस पर एक कृषक अथवा कई कृषकों का सम्मिलित रूप से स्वामित्व होता है तथा जिसकी सीमा निश्चित होती है। एडम्स के अनुसार ' वैधानिक रूप से फार्म से तात्पर्य उस भूमि के क्षेत्र से है जिसका स्वामित्व एक व्यक्ति के पास होता है तथा भूमि का वह क्षेत्र, फसलें उगाने अथवा चरागाह के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। इसके अन्तर्गत कई एकड़ क्षेत्र के एक अथवा अनेक खेत हो सकते हैं।''**जॉनसन के अनुसार–** ''फार्म से तात्पर्य उस स्थान से है जहां पर या तो कुछ एकड़ क्षेत्र में फसल उगाई जाती है या कुछ में पशु पाले जाते हैं यह आवश्यक नहीं कि उस भूमि पर फसल उत्पादन करने वाला अथवा पशु पालने वाला कृषक की श्रेणी में आता है।**चौहान के अनुसार–** ''भूमि के एक अथवा अनेक खण्ड जो कृषि उद्यम की एक इकाई के रूप में एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत संचालित किये जाते हैं, फार्म कहलाते है।''

24.3.2 प्रबन्ध का अभिप्राय– प्रबन्ध से अभिप्राय किसी कार्य को योजनाबद्ध, व्यवस्थित तथा उत्तम ढंग से करने की कला से है। कृषि हो या कोई अन्य व्यवसाय प्रबन्ध की आवश्यकता समान रूप से पड़ती है। सामान्यता प्रबन्धन की निम्न विशेषतायें होती हैं–

1. प्रबन्धन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है, जिसमें प्रबन्धन कार्यों का समूह होता है। जैसे– योजना बनाना, व्यवस्थित करना, नियन्त्रित करना, कर्मचारियों की व्यवस्था, निरीक्षण आदि।

2. सफल प्रबन्धन में संसाधन का प्रभावशाली उपयोग तथा लक्ष्यों की उपलब्धि महत्वपूर्ण है।

3. संगठन का प्रत्यक्ष, पर्यवेक्षण, संगठन की सीमा की स्थिति पर निर्भर करता है।

4. अच्छा प्रबन्धन, तकनीकी कौशल, संगठन तथा विशेष कार्य प्रदर्शन पर निर्भर करता है।

5. सफल प्रबन्धन के तीन आवश्यक तत्व है– क्षमता, प्रबन्धन की प्रेरणा तथा अवसर।

6. प्रबन्धन विज्ञान, कला तथा व्यावहारिकता का मिश्रण है।

कृषि में उत्पादन के लिए कृषिगत उपादानों जैसे– भूमि, श्रम पूंजी, प्रबन्ध आदि की आवश्यकता पड़ती है। भूमि, श्रम तथा पूंजी मूर्त उपादानों के अन्तर्गत तथा प्रबन्ध अमूर्त उपादान के अन्तर्गत आता है। कृषि उत्पादन में भले ही मूर्त उपादानों – भूमि, श्रम और पूंजी की प्रचुर उपलब्धता हो, किन्तु उपयुक्त प्रबन्ध के अभाव से उत्पादन प्रायः कम ही होता है। विभिन्न फर्मों से प्राप्त कृषि उत्पादनों की मात्रा उत्पादन के अन्य उपादानों के समान रहने पर भी प्रबन्ध क्षमता की भिन्नता के कारण भिन्न–भिन्न होती है। वास्तव में, सभी प्रबन्धकर्ता समान रूप से योग्य एवं कुशल नहीं होते। प्रबन्धकर्ता में पायी जाने वाली प्रबन्ध कला वास्तव में नैसर्गिक होती है, फिर भी इसमें प्रशिक्षण आदि के द्वारा वृद्धि की जा सकती है।

24.3.3 कृषि (फार्म) प्रबन्ध की परिभाषा– फार्म प्रबन्ध एक कला है जिसके द्वारा कृषि उत्पादन के सीमित साधनों की सहायता से भी उत्पादन को अधिकतम बनाया जा सकता है। कृषि के व्यवसायिक सिद्धान्तों एंव कृषि नीतियों द्वारा फार्म इकाई से अधिकतम सम्भावित लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से फार्म प्रबन्ध का अध्ययन किया जाता है। फार्म प्रबन्ध को विभिन्न विद्वानों ने निम्न प्रकार परिभाषित किया है–

वारेन के अनुसार, –" फार्म प्रबन्ध कृषि के व्यवसायिक सिद्धान्तों का अध्ययन है। इसका सम्बन्ध फार्म के संगठन सम्बन्धी विज्ञान और फार्म की इकाइयों सम्बन्धी उस प्रबन्ध से है जो निरन्तर अधिकतम लाभ प्राप्त करने के लिए किया जाता है।''

ग्रे के अनुसार– '' फार्म प्रबन्ध से तात्पर्य सुव्यवस्थित ढंग से फार्म का प्रबन्ध करने से है जिसे लाभकारिता के मापदण्ड से मापा जा सकता है।''

एफरसन के अनुसार–" फार्म प्रबन्धन वह विज्ञान है जो प्रक्षेत्र (फार्म) संगठन एवं संचालन को ध्यान में रखकर फर्म की दक्षता और निरन्तर लाभ के दृष्टिकोण से सम्बन्धित हो।''

ब्लैक के अनुसार, ''फार्म प्रबन्ध में संगठन, संचालन, क्रय–विक्रय तथा वित्तीय व्यवस्था इन चारों का समावेश रहता है।''

बैकफोर्ड एवं जॉनसन के अनुसार,''फार्म प्रबन्ध निम्नलिखित पांच कार्यों को करने का विज्ञान हैः 1. अवलोकन, 2. विश्लेषण, 3. निर्णय लेना, 4. लिये गये निर्णयो को कार्यान्वित करना तथा 5. निर्णयों के परिणामेां का दायित्व वहन करना।''

फार्म प्रबन्ध की उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययन एवं विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि सभी परिभाषाओं में निहित तत्वों में पर्याप्त समानता है। सभी विद्वानों ने अपनी परिभाषाओं में फार्म पर उपलब्ध सीमित संसाधनों का सर्वोत्तम उपयोग करके फार्म से निरन्तर अधिकतम लाभ प्राप्ति पर बल दिया है।

23.3.4. कृषि (फार्म) प्रबन्ध के उद्देश्य– फार्म प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य फार्म की विभिन्न व्यवसायिक इकायों एवं उद्यमों जैसे–फसलोत्पादन, दुग्ध उत्पादन द्वारा किसानों को अधिकतम शुद्ध लाभ प्राप्त कराना है। फार्म पर दो या दो से अधिक उद्यमों का संयोजन होता है। फार्म प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण उद्यमों से अधिकतम लाभ प्राप्त करना है। फार्म प्रबन्ध के अध्ययन के अन्तर्गत निम्नलिखित उद्देश्य आते हैं–

1. कृषि क्षेत्र में उत्पादन के विभिन्न साधनों एवं उनकी सहायता से उत्पादित उत्पादों के मध्य व्याप्त फलनात्मक सम्बन्धों का अध्ययन करना।
2. कृषि में आय–व्यय के पारस्परिक सम्बन्ध का अध्ययन करना।
3. फार्म संसाधनों एवं भूमि उपयोग का मूल्यांकन करना।
4. अधिकतम लाभदायक फसल उत्पादन एवं पशुपालन विधियों को ज्ञात करना।
5. प्रति हेक्टेयर तथा प्रति क्विंटल उत्पादन व्यय का अध्ययन करना।
6. फार्म की विभिन्न व्यवसायिक इकाइयों का तुलनात्मक आर्थिक अध्ययन करना।
7. जोत आकार का भूमि उपयोग, फसलोत्पादन प्रणाली, पूंजी नियोजन तथा श्रम का उपयोग से सम्बन्ध ज्ञात करना।
8. व्यय तथा आय में अनुकूल सम्बन्ध और संसाधनों के उचित विभाजन द्वारा कृषि व्यवसाय की क्षमता में वृद्धि करने वाले उपायों को ज्ञात करना।
9. कृषि व्यवसाय पर प्राविधिक परिवर्तनों का अध्ययन करना।
10. कृषि उत्पादों के लिए उपलब्ध सर्वोत्तम तकनीक का चुनाव करना।

उपर्युक्त उद्देश्यों के अध्ययन के आधार पर कृषक निम्नलिखित निर्णय सहजता से ले सकते हैं–

- फार्म पर अधिकतम उत्पादन किस तरह प्राप्त किया जाये।
- प्राप्त उत्पादन की अधिकतम कीमत किस तरह प्राप्त की जाये?
- उत्पादन की लागत को न्यूनतम कैसे बनाया जाये?
- सम्पूर्ण फार्म व्यवसाय से अधिकतम शुद्ध लाभ कैसे प्राप्त किया जाये?

यद्यपि कृषि व्यवसाय से अधिकतम लाभ प्राप्त करना किसानों का प्रधान उद्देश्य होता है, फिर भी यह उनका अन्तिम उद्देश्य नहीं होता। किसान का अन्तिम उद्देश्य रहन–सहन के स्तर तथा पारिवारिक सुख एवं समृद्धि में वृद्धि कर उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करना होता है। विवेकशील कृषि के सफल सम्पादन हेतु फार्म प्रबन्ध का समुचित ज्ञान होना आवश्यक है।

24.4. कृषि (फार्म) प्रबन्ध का क्षेत्र

फार्म प्रबन्ध के अन्तर्गत अनुसंधान, शिक्षण एवं प्रसार तीनों क्रियाओं का समावेश रहता है। अतः इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है। फार्म प्रबन्ध के अध्ययन क्षेत्र को निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है :–

1.**फार्म प्रबन्ध सम्बन्धी अनुसंधान–** फार्म प्रबन्ध में कृषकों की आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए समस्या से सम्बन्धित आंकड़ें एकत्रित किये जाते हैं, फिर उनका विश्लेषण करके उन कारणों को ज्ञात किया जाता है जो कि प्रक्षेत्र की आर्थिक क्षमता को बढ़ाने में बाधक होते हैं। प्राप्त निष्कर्षों के आधार पर कृषकों को सुझाव दिये जाते हैं।

2. **फार्म प्रबन्ध शिक्षण तथा प्रशिक्षण–** वर्तमान समय में सभी विश्वविद्यालयों में बी. एस–सी.(कृषि) स्तर पर फार्म प्रबन्ध का विषय पढ़ाया जाता है। फार्म मैनेजमेण्ट का विशेष कोर्स एम.एस–सी (कृषि) तथा पी–एच.डी. स्तर पर पढ़ाया जाता है। फार्म प्रबन्ध के ज्ञान से किसान कृषि से सम्बन्धित सही निर्णय लेने में सहायक होता है। जैसे कि किसान कौन–सी फसल बोये, कितनी मात्रा में विभिन्न फसलों का उत्पादन करे, किस प्रकार उत्पादन करे तथा कब और कैसे उत्पादन को बेचे आदि।

3. **फार्म प्रबन्ध प्रसार–** अध्ययन के ज्ञात निष्कर्षों एवं समाधानों को प्रसार कार्यकर्ताओं द्वारा किसानों को उपलब्ध कराया जाता है तथा उन्हें इससे सम्बन्धित प्रशिक्षण दिया जाता है। चूंकि अधिकांश किसान इतने शिक्षित नहीं है कि अध्ययन के निष्कर्षों तथा समाधान को आसानी से समझ सके तथा उनको ग्रहण कर सकें। इसलिए अनुसन्धान के निष्कर्षों के प्रसार माध्यम द्वारा प्रदर्शन करके दिखाना आवश्यक हो जाता है। यह फार्म प्रबन्ध प्रसार के अन्तर्गत आता है।

4. **फार्म योजना का निर्माण–** फार्म योजना का निर्माण भी फार्म प्रबन्ध के अन्तर्गत आता है। फार्म पर विभिन्न कृषि कार्यों के समुचित सम्पादन हेतु फार्म योजना का निर्माण किया जाता है। फार्म योजना के अन्तर्गत विभिन्न कृषि कार्यों की सूची वरीयता के आधार पर तैयार की जाती है, ताकि फार्म से सम्बन्धित समस्त कार्यों को समय से बिना किसी कठिनाई के पूरा किया जा सके। इस प्रकार फार्म योजना का निर्माण भी फार्म प्रबन्ध का ही एक अंग है।

5. **फार्म प्रबन्ध का क्षेत्र व्यष्टि** विश्लेषण से सम्बन्धित है। इसमें प्रत्येक फार्म को एक पृथक् इकाई मानकर निर्णय लिया जाता है। अतः फार्म के सम्बन्ध में लिये जाने वाले विभिन्न निर्णय यथा– फसल का चुनाव, सिंचाई की व्यवस्था, उर्वरकों एवं कृषि यन्त्रों का उपयोग आदि से सम्बन्धित क्रियाएं फार्म प्रबन्ध के क्षेत्र में सम्मिलित होती है।

24.4.1 कृषि (फार्म) प्रबन्ध तथा कृषि अर्थशास्त्र में सम्बन्ध–कृषि अर्थशास्त्र के अर्न्तगत कृषि वस्तुओं के उत्पादन एवं वितरण की क्रियाओं तथा कृषि उद्योग से सम्बन्धित संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है। कृषि अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र की एक महत्वपूर्ण शाखा है। कृषि अर्थशास्त्र के अन्तर्गत किसानों के धन प्राप्ति एवं धन के व्यय से सम्बन्धित क्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। यह कृषि अर्थशास्त्र की वह शाखा है जिसके अन्तर्गत प्रत्येक फार्म में किये जाने वाले सभी कृषि कार्यों के सम्बन्ध में अधिकतम लाभ प्राप्ति के लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए निर्णय लिये जाते हैं। यद्यपि फार्म प्रबन्ध कृषि अर्थशास्त्र का ही अंग है, फिर भी अध्ययन की दृष्टि से फार्म प्रबन्ध एवं कृषि अर्थशास्त्र में निम्नलिखित अन्तर विद्यमान हैं–

1. कृषि अर्थशास्त्र कृषि विज्ञान की एक शाखा है जबकि फार्म प्रबन्ध कृषि अर्थशास्त्र की उसी तरह की एक शाखा है, जैसे– कृषि उत्पादन, कृषि विपणन, कृषि वित्त आदि कृषि अर्थशास्त्र की शाखाएं है।
2. अध्ययन की दृष्टि से कृषि अर्थशास्त्र एक समष्टिपरक् विषय है, जबकि फार्म प्रबन्ध एक व्यष्टिपरक् विश्लेषण होता है।
3. फार्म प्रबन्ध के अध्ययन की इकाई एक फार्म होती है जबकि कृषि अर्थशास्त्र के अध्ययन की इकाई किसान समूह अथवा किसान समाज होता है। कृषि अर्थशास्त्र फसल उत्पादन, पशुपालन, कृषि की उन्नति, तकनीकों के ज्ञान के आधार पर देश अथवा क्षेत्र के हितों की सामूहिक रूप में व्याख्या करता है। फार्म प्रबन्ध एक ही फार्म अथवा किसान के लिए उपयुक्त उद्देश्यों के प्राप्ति की व्याख्या करता है।
4. फार्म प्रबन्ध का उद्देश्य किसान को उसके फार्म से निरन्तर अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त कराना होता है, जबकि कृषि अर्थशास्त्र का उद्देश्य क्षेत्र के किसानों को अधिकतम लाभ की राशि प्राप्त कराते हुए उनके रहन–सहन के स्तर में सुधार एवं कल्याण में वृद्धि करना होता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि कृषि अर्थशास्त्र एवं फार्म प्रबन्ध दोनों आपस में अन्तर्सम्बन्धित हे। कृषि अर्थशास्त्र अर्थशास्त्र की एक शाखा है। इस प्रकार फार्म प्रबन्ध भी अर्थशास्त्र की एक शाखा है जो कृषि व्यवसाय में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है।
फार्म प्रबन्ध कृषि अर्थशास्त्र की ही एक शाखा है। यह एक व्यक्तिगत इकाई के प्रबन्ध एवं क्रिया–कलापों से सम्बन्धित है। दूसरी तरफ कृषि अर्थशास्त्र कृषि की समग्रता के आधार पर तथा किसानों के एक समूह का दूसरे समूह के साथ सम्बन्धों का अध्ययन करता है। इस प्रकार फार्म एक सूक्ष्म इकाई तथा कृषि एक वृहद् इकाई समझा जाता है।
इस तरह फार्म प्रबन्ध मुख्य रूप से एक किसान परिवार की समृद्धि से सम्बन्धित है, जबकि कृषि अर्थशास्त्र, पूरे किसान समाज को सम्भागीय या राष्ट्रीय स्तर पर नीति निर्धारण में सहयोग प्रदान करता है। अतः मूल्य नीति, जोत की अधिकतम सीमा, भूमि सुधार, कृषि आयकर आदि कृषि अर्थशास्त्र की विषय–सामग्री है।
कृषि एक ऐसा व्यवसाय है जिसमें अनिश्चिता का तत्व विद्यमान रहता है। कृषि उत्पादों के उत्पादन एंव कीमतों में प्रायः उतार–चढ़ाव आते रहते हैं ऐसे में फार्म प्रबन्ध का ज्ञान सकारात्मक भूमिका निभाता है। अनिश्चित कृषि वातावरण की अवस्था में सतत् लाभ की प्राप्ति हेतु फार्म प्रबन्ध का ज्ञान किसानों को फार्म पर कार्यों के करने में सहायक हो सकता है:–

1. **निर्मित फार्म योजना को फार्म पर क्रियान्वित करना–** फार्म योजना के समुचित क्रियान्वयन में फार्म प्रबन्ध का ज्ञान सहायक होता है। फार्म योजना से प्राप्त होने वाले लाभ की धनराशि योजना के समुचित क्रियान्वयन पर निर्भर करती है।
2. **उत्पादन, उत्पादकता व कीमतों का भावी अनुमान लगाना–** किसान अपने कृषि फार्म के क्षेत्र का विभिन्न उद्यमों के बीच वितरण किस प्रकार करेगा, यह तत्कालीन कीमतों पर निर्भर करता है। परन्तु उत्पादन से प्राप्त होने वाली उसकी आय फसल

की कटाई के समय प्रचलित कीमतों पर निर्भर करती है। फसल की कटाई के समय प्राप्त होने वाली कीमतों की सदैव अनिश्चिता बनी रहती है। अतः उत्पादन, उत्पादकता एवं कीमतों का सही आकलन करना आवश्यक हो जाता है। फार्म प्रबन्ध का ज्ञान इसके आंकलन में सहायक होता है।

3. **कृषि उत्पादों के अनुमानित उत्पादन, उत्पादकता व कीमतों को प्राप्त करने के लिए फार्म योजना बनाना–** फार्म प्रबन्ध का ज्ञान होने से किसान इस तरह फार्म योजना तैयार करता है कि उत्पादन एवं उत्पादकता के लक्ष्य की प्राप्ति के साथ–साथ वह अपने उत्पादों की उचित कीमत भी प्राप्त कर सके।
4. **फार्म योजना के संचालन से प्राप्त लाभ अथवा हानि को वहन करना–** सामान्यता फार्म योजना के समुचित क्रियान्वयन के फलस्वरूप निर्धारित लक्ष्यों की सकारात्मक प्राप्ति की अधिक सम्भावना रहती है और उसके अनुसार प्रत्याशित लाभ भी प्राप्त होता है। कभी–कभी मौसम एवं कीमतों की प्रतिकूलता की दशा में फार्म योजना से हानि भी हो सकती है। इस प्रकार फार्म योजना को कार्यान्वित करने से उत्पन्न हुए लाभ अथवा हानि को फार्म प्रबन्धक को ही वहन करना पड़ता है।

24.4.2 कृषि (फार्म) प्रबन्ध की विषय सामग्री

फार्म प्रबन्ध की मुख्य भूमिका फार्म संगठन एवं क्रिया–कलाप के बारे में इस प्रकार निर्णय लेना है जिससे कि फार्म से अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए फार्म प्रबन्ध के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों का अध्ययन किया जाता है–

1. फार्म का चुनाव, क्षेत्रफल एवं मूल्यांकन।
2. फार्म संसाधनों का मूल्यांकन।
3. व्यवसायिक इकाइयों के सम्बन्ध का अध्ययन।
4. व्यय सम्बन्धी निर्णय का अध्ययन।
5. आय एवं व्यय के अनुपात के चुनाव का अध्ययन।
6. फार्म योजना एवं प्रक्षेत्रीय आय– व्यय
7. फार्म मूल्य लाभ एवं साख
8. प्रत्येक व्यवसायिक इकाई एवं सम्पूर्ण फार्म पर आय एवं व्यय का अध्ययन।
9. फार्म उत्पादन का विपणन।
10. जोखिम एवं अनिश्चितता।

उपर्युक्त विषय आपस में इस प्रकार सम्बन्धित है कि उन्हें अलग करना सम्भव नहीं। इसलिए व्यवसाय की न्यूनता एंव विकल्प की परिधि में समझने हेतु सभी विषयों का समुचित अध्ययन आवश्यक है।

24.5. कृषि प्रबन्धन के सिद्धान्त

कृषि व्यवसाय की सफलता के लिए व्यासायिक सिद्धान्त किसानों को कृषि फार्म पर विभिन्न प्रकार के कृषि कार्यों को सम्पादित करने के लिए निर्णय लेने में सहायक होते हैं। किसान किस अनुपात में कौन सी फसल बोये, कौन सी फसल लाभदायक होगी। अधिकतम उत्पादन हेतु कौन सी फसल लाभदायक होगी, उत्पादन के विभिन्न साधनों को किस

अनुपात में प्रतिस्थापित किया जाना चाहिए। इन बातों के सम्बन्ध में उचित निर्णय हेतु फार्म प्रबन्ध का ज्ञान जरूरी है। फार्म प्रबन्ध की सहायता से उत्पादन लागत को कम करके पैदावार को बढ़ाया जा सकता है। फार्म पर एक ही निर्णय लेने के लिए एक से अधिक फार्म प्रबन्ध के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है।

24.5.1 प्रतिफल के नियम– कृषि उत्पादन के साधनों को अल्पकाल तथा दीर्घकाल में विभिन्न प्रकार से समायोजित किया जा सकता है, अल्पकाल में कुछ साधन ही परिवर्तनशील होते है, जबकि दीर्घकाल में सभी साधन परिवर्तनशील हो सकते है इसलिए अल्पकाल तथा दीर्घकाल में प्रतिफल के नियम भिन्न– भिन्न होते है– अल्पकाल में परिवर्तशील अनुपातों के नियम तथा दीर्घकाल में पैमाने के प्रतिफल के नियम।

24.5.1 {a} परिवर्तनशील अनुपात के नियम या उत्पत्ति हास नियम–यह अर्यशास्त्र का आधारभूत नियम है। इस नियम के अनुसार अन्य कृषि उत्पादन के साधनों के मात्रा को स्थिर रखते हुए, जब एक परिवर्तनशील साधन की मात्रा में वृद्वि की जाती है तो कुल उत्पादन तो बढता है परन्तु औसत और सीमान्त उत्पादन घटता है और अन्त में कुल उत्पादन भी घटता जाता है।

स्टिगलर के अनुसार –'जब किसी साधनों के संयोग में एक साधन का अनुपात बढ़ाया जाता है, तो एक सीमा के पश्चात् पहले उस साधन का सीमान्त उत्पादन और फिर औसत उत्पादन घट जायेंगे।'प्रसिद्ध अर्थशास्त्री **मार्शल** ने कृषि के सम्बन्ध में घटते प्रतिफल का विवेचन इस प्रकार किया – भूमि की खेती में पूंजी और श्रम की मात्रा बढ़ने से उत्पादन मात्रा में सामान्यतः आनुपातिक वृद्धि से कम वृद्धि होता है। बशर्ते कृषि तकनीक में कोई सुधार न हुआ हों।

परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की तीन अवस्थाएँ – जब कुछ साधनों को स्थिर रखते हुए एक साधन की मात्रा को बढ़ाया जाता है तो उससे उत्पादन पर जो प्रभाव पड़ता है उसे तालिका (14.1) में प्रदर्शित किया गया है।अन्य साधनों की मात्रा को स्थिर रखते हुए जब श्रम की मात्रा बढ़ायी जाती है तो उसका कुल उत्पादन, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन पर जो प्रभाव पड़ता है उसके तालिका 14.1 में प्रदर्शित किया गया है। तालिका (14.1) से स्पष्ट है कि श्रम की इकाई में वृद्धि करने से प्रारम्भ में TP, AP तथा MP तीनों बढ़ते है। क्योंकि इस अवस्था में AP लगातार बढ़ता है।

इसीलिए इस अवस्था को बढ़ते औसत उत्पादन की अवस्था कहते है। इसके बाद AP गिरना शुरू हो जाते है जबकि MP पहले ही गिरने लगता है। ऐसी स्थिति में TP भी घटती दर से बढ़ता है। यह अवस्था घटते औसत उत्पादन की अवस्था कहलाती है। जबकि श्रम की और इकाईयों के प्रयोग से अन्त में TP भी गिरने लगता है जब कि MP ऋणात्मक हो जाता है। यह अवस्था घटते कुल उत्पादन की अवस्था कहलाती है।

तालिका (24.1) एक परिवर्तनशील साधन में कुल उत्पादन, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन

श्रम की इकइयाँ	कुल उत्पादन (TP)	औसत उत्पाद (AP)	सीमान्त उत्पाद (MP)	अवस्थाएँ
1	21	21	21	
2	50	25	29	प्रथम
3	81	27	31	अवस्था
4	108	27	27	
5	125	25	17	द्वितीय
6	138	23	13	अवस्था
7	138	19.7	0	
8	128	16	– 10	तृतीय अवस्था

इस कारण उत्पादन को तीन अवस्थाओं में बांटा जा सकता है। एक परिवर्तनशील साधन के उत्पादन फलन की तीन अवस्थाओं को चित्र (14.1) द्वारा भली प्रकार समझा जा सकता है। जिसमें X अक्ष पर परिवर्तनशील साधन (श्रम) की मात्रा तथा Y अक्ष पर कुल उत्पादन, औसत उत्पादन तथा सीमान्त उत्पादन को दर्शाया गया है। TP वक्र को देखने पर पता चलता है कि वह A बिन्दु तक तेजी से बढ़ता है। क्योंकि इस स्थिति में MP भी बढ़ता है। A बिन्दु मोड़ बिन्दु है क्योंकि यहाँ तक TP बढ़ती दर से बढ़ता है MP तथा AP भी बढ़ते है।

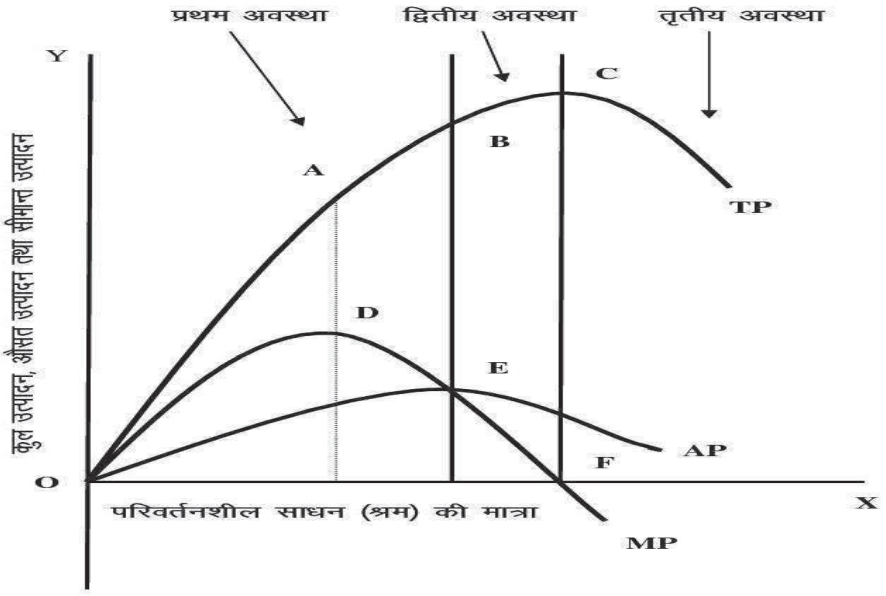

चित्र (14.1) परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की तीन अवस्थाएँ

इसके बाद MP घटने लगता है और E बिन्दु के बाद AP भी घटने लगता है। इसलिए 'B' बिन्दु के बाद TP घटती दर से बढ़ता है और TP C बिन्दु पर अधिकतम उत्पादन को प्रदर्शित करता है जबकि F बिन्दु पर MP शून्य हो जाता है और जब TP घटने लगता है तो MP ऋणात्क हो जाता है। वास्तव में TP, AP तथा MP का बढ़ना, घटना तथा MP का ऋणात्मक हो जाना ही परिवर्तनशील अनुपात के नियम की तीन अवस्थाएँ है।

1. **प्रथम अवस्था (बढ़ते प्रतिफल की अवस्था)** :–प्रारम्भ में जब श्रम की इाकईयों को बढाया जाता है तो स्थिर साधनों का अच्छी प्रकार से प्रयोग होने लगता है। क्योंकि परिवर्तनशील साधन की अपेक्षा स्थिर साधन की मात्रा अधिक होती है। जिससे परिवर्तन शील साधन की मात्रा बढ़ाने से स्थिर साधनों का गहन तथा पूर्व प्रयोग होता है। जैसे–जैसे परिवर्तनशील साधन की अतिरिक्त इकाईयाँ जोड़ी जाती है स्थिर साधन की कार्यक्षमता भी बढ़ती जाती है और MP बढ़ता है जिससे TP बढती दर से बढ़ता है अतः प्रारम्भ में TP, AP तथा MP तीनों बढ़ते है । प्रथम अवस्था तब समाप्त होती है जब AP वक्र उच्चतम बिन्दु पर होता है ओर जहां पर MP = AP होता है। रेखाचित्र में इस स्थिति को E बिन्दु द्वारा प्रदर्शित किया गया है। इस अवस्था को बढ़ते हुए औसत उत्पादन अवस्था या बढ़ते प्रतिफल का नियम कहा जाता है।
2. **द्वितीय अवस्था (घटते प्रतिफल की अवस्था)** :–प्रथम अवस्था के बाद भी जब स्थिर साधन की तुलना में परिवर्तनशील साधन श्रम की मात्रा बढ़ाई जाती है तो स्थिर साधन की मात्रा तुलनात्मक रूप से कम होती जाती है और परिवर्तनशील साधन में जैसे–जैसे वृद्धि की जाती है। वैसे –वैसे ही स्थिर साधन अपेक्षाकृत न्यून होते जाते है। जिससे MP तथ AP घटने लगते है लेकिन धनात्मक रहते है। जिस कारण TP घटती दर से बढ़ता है। चित्र में TP के C बिनु तथा MP के F बिन्दु तक यही स्थिति है। जब C बिन्दु पर TP अधिकतम तथा F बिन्दु पर MP शून्य हो जाता है। एक उत्पादक के लिए यह बहुत ही महत्वपूर्ण अवस्था है क्योंकि इस अवस्था में रह कर ही उत्पादक को उत्पादन करना होता है। इस अवस्था को 'घटते प्रतिफल की अवस्था' या 'घटती सीमान्त व औसत उत्पादन की अवस्था' कहा जाता है।
3. **तृतीय अवस्था (ऋणात्मक प्रतिफल की अवस्था)** :–जब अन्य साधनों को स्थिर रखते हुए परिवर्तनशील साधन श्रम की मात्रा को बढाते जाते है तो एक ऐसी अवस्था आती है। जब TP घटने लगता है और MP ऋणात्मक हो जाता है। इस अवस्था में परिवर्तनशील साधन की इकाईयां स्थिर साधन की तुलना में अधिक हो जाती है जिससे वह एक–दूसरे के काम में बाधा डालने लगती है। जिसके फलस्वरूप TP बढ़ने के बजाये घटने लगता है। । इस अवस्था को 'ऋणात्मक प्रतिफल की अवस्था'

कहा जाता है। क्योंकि इसमें परिवर्तनशील साधन का सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक हो जाता है। इसलिए एक विवेकशील उत्पादक इस अवस्था में उत्पादन करना पसन्द नहीं करेगा।

24.5. **{b} पैमाने के प्रतिफल के नियम** पैमाने के प्रतिफल का विचार इस बात का अध्ययन करता है कि यदि सभी साधनों में अनुपातिक परिवर्तन कर दिया जाये तो उत्पादन में किस प्रकार से परिवर्तन होगा। इसमें साधनों की निरपेक्ष मात्राओं में ही परिवर्तन होता है परन्तु उनके आपसी अनुपात में परिवर्तन नहीं होता, इसे पैमाना रेखा द्वारा दर्शाया जाता है। जब एक विशिष्ट पैमाना रेखा पर साधनों की मात्राओं को परिवर्तित किया जाता है तो उत्पादन में जो परिवर्तन होगा। उसे पैमाने के प्रतिफल द्वारा प्रदर्शित किया जाता है।

पैमाने के प्रतिफल के नियमों की व्याख्या समोत्पादन वक्रों द्वारा की जा सकती है कि साधनों में आनुपातिक वृद्धि करने अर्थात पैमाना रेखा पर साधनों की वृद्धि करने पर उत्पादन में क्या परिवर्तन होगा। जब सभी साधनों को समान अनुपात में बढ़ाया जाता है, तो प्राप्त होने वाली उत्पादन की मात्रा या प्रतिफल की तीन अवस्था प्राप्त हो सकती है –

1. पैमाने के बढ़ते प्रतिफल – जब उत्पादन के सभी साधनों (पैमाने) की मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पादन में अधिक अनुपात से वृद्धि होती है तो उसे पैमाने के बढ़ते प्रतिफल कहते है। दूसरे शब्दों में पैमाने के बढ़ते हुए प्रतिफल के अन्तर्गत उत्पादन में एक समान वृद्धि प्राप्त करने के लिए साधनों की मात्राओं में क्रमशः कम और कम वृद्धि की आवश्यकता पड़ती है। जैसे–सभी साधनों को 10% बढ़ाया जाये तो उत्पादन 20% बढ़ जाये तो इसे पैमाने के बढ़ते प्रतिफल की अवस्था कहा जाएगा।

2. पैमाने के स्थिर प्रतिफल – जब उत्पादन के सभी साधनों अर्थात पैमाने की मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पादन में ठीक उसी अनुपात में वृद्धि होती है तो उसे 'पैमाने के स्थिर प्रतिफल' कहते है अर्थात् पैमाने के स्थिर प्रतिफल में उत्पादन में समान वृद्धि के लिए साधनों की मात्राओं में समान अर्थात् उसी अनुपात में वृद्धि करनी पड़ती है। जैसे सभी साधनों में 10% वृद्धि करने पर उत्पादन में भी 10% की वृद्धि हो जाती है तो इसे पैमाने के स्थिर प्रतिफल की अवस्था कहा जायेगा।

3. पैमाने के घटते प्रतिफल – जब उत्पादन के सभी साधनों (पैमाने) की मात्रा में वृद्धि करने से उत्पादन में उससे कम अनुपात में वृद्धि होती है तो उसे पैमाने के घटते प्रतिफल कहते है। अर्थात् पैमाने के घटते प्रतिफल के अन्तर्गत उत्पादन में एक समान वृद्धि करने के लिए साधनों की मात्राओं में क्रमशः अधिक वृद्धि करनी पड़ती है। उदाहरणार्थ – सभी साधनों में 10% वृद्धि करने पर उत्पादन में मात्र 8% ही बढ़े तो इसे पैमाने के घटते प्रतिफल की अवस्था कहा जायेगा।

24.5.2 **तुलनात्मक लाभ का सिद्वान्त** – भौगोलिक , भौतिक तथा आर्थिक तत्वों की भिन्नता के कारण अलग अलग फसलें पैदा की जाती है और ये उत्पादित फसलें एक क्षेत्र में दूसरे क्षेत्र की अपेक्षा अधिक लाभदायक साबित होती है। तुलनात्मक लाभ का सिद्वान्त विभिन्न क्षेत्र के किसानों के अधिकतम लाभ की प्राप्ति के लिए

फसलों के चयन में सहायक होता है। किसान द्वारा उत्पादित फसलों के लाभ दो प्रकार के होते है–

1– निरपेक्ष लाभ 2– सापेक्ष लाभ निरपेक्ष लाभ की तुलना में सापेक्ष लाभ का किसानों के लिए अधिक महत्व है। सापेक्ष लाभ या तुलनात्मक लाभ में श्रम के भौगोलिक विभाजन तथा उत्पादन में विशिष्टीकरण के कारण विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन लागतें भिन्न भिन्न होती है। जलवायु, प्राकृतिक साधनों , भौगोलिक स्थिति एवं श्रम की कुशलता में अन्तर होने के कारण एक क्षेत्र किसी वस्तु को किसी दूसरे क्षेत्र की अपेक्षा कम लागत में उत्पादन कर सकता है। इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र उस वस्तु के उत्पादन में विशिष्ठीकरण करता है, जिसमें उसकी उत्पादन की तुलनात्मक लागत सबसे कम हो। इसलिए जब कोई किसान किसी दूसरे क्षेत्र के किसान के साथ व्यापार करता है, तो वह उन वस्तुओं का विक्रय करेगा, जिनमें उसकी उतपादन लागत तुलनात्मक रूप से कम है।

इस प्रकार तुलनात्मक उत्पादन लागत वाली वस्तु में विशिष्ठीकरण प्राप्त कर उस क्षेत्र के किसान उस वस्तु का निर्यात प्रारम्भ कर देगें और अपनी अन्य आवश्यकताओं या तुलनात्मक रूप से अधिक लागत वाली वस्तुओं का आयात करेगें जिससे देश की राष्ट्रीय आय पर अनुकूल प्रभाव पडेगा।

24.5.3 साधनों के प्रतिस्थापन का सिद्वान्त– फसलों के उत्पादन की प्रक्रिया में किसानों के सामने सबसे कठिन समस्या यह होती है, कि वह किस प्रकार उत्पादन लागत को कम करें तथा अपने उत्पादन को अधिक करे। चाहे यह कार्य फसलों के बोने से सम्बन्धित हो, सिंचाई, खरपतवार या उर्वरकों के प्रयोग आदि अनेको कार्यो से जिन्हें किसानों को अपने उत्पादन कार्य में प्रयोग में लाना होता है। प्रत्येक साधन की लागत अलग– अलग होती है, जिससे उत्पादन लागत भी अलग– अलग हो जाती है। इसलिए किसान उत्पादन के साधनों के संयोग के स्तर को ज्ञात करना चाहता है, जहाँ उस कार्य को करने की न्यूनतम उत्पादन लागत लाने के लिए अधिक लागत वाले साधन या उत्पाद किया के स्थान पर कम लागत वाले साधन या उत्पादन किया का चुनाव करता है।

किसानों के पास उत्पादन के साधन सीमित मात्रा में होते है। जिस कारण उसे साधनों को विभिन्न प्रयोगों में इस प्रकार आंबटित करना पडता है कि उसका लाभ अधिकतम हों और लागत न्यूनतम रहें। इसके लिए किसान महगें उत्पादन साधनों को सस्ते उत्पादन साधनों से प्रतिस्थापित करता है। इस प्रतिस्थापन किया में उत्पादन के साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा कीमत को ध्यान में रखा जाता है। जहाँ एक साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य का अनुपात अन्य साधन की उत्पादकता तथा मूल्यानुपात के बराबर होता है वहाँ किसान अधिकतम उत्पादन, न्यूनतम् लागत में प्राप्त कर सकता है।

24.5.4– लागत का सिद्धान्त– लागत का सिद्वान्त किसानों को फार्म पर होने वाली विभिन्न प्रकार की लागतों के आधार पर निर्णय लेने में सहायक होता है। किसान

किसी वस्तु का कितना उत्पादन करेगा, यह वस्तु की लागत और उसके बाजार मूल्य पर निर्भर करता है। किसान बाजार में जिस वस्तु की पूर्ति करता है उस पर लागत का प्रभाव पडता है। किसी वस्तु के उत्पादन में किसान जितनी भी लागत लगाता है उसे मुख्य रूप से दो भागों में बाटाँ जा सकता है। प्रथम कुल स्थिर लागत तथा द्वितीय कुल परिवर्तनशील लागत। कुल स्थिर लागत वे लागतें होती है जो उत्पादन प्रकिया के प्रारम्भ में प्रमुख होती है जैसे– भूमि, भवन, यन्त्र, ट्यूबवैल आदि। इन लागतों को किसान को अवश्य वहन करना पड़ता है। कुछ उत्पादन न होने की भी दशा में ये लागते बनी रहती है। जबकि कुल परिवर्तनशील लागत को प्रमुख लागत भी कहते हैं। यह उत्पादन की मात्रा के साथ परिवर्तित होती रहती है। उत्पादन न होने की स्थिति में यह लागत शून्य होती है। जैसे– उत्पादन कार्य में उपयोग होने वाले बीज, खाद, कीटनाशक, क्षम, कृषि यन्त्र हेतु ईंधन आदि।किसान जब उत्पादन कार्य सम्पादित करता है, तो उसे दोनों प्रकार की लागतों को वहन करना पड़ता है। इसलिए उत्पादक उस वस्तु के उत्पादन को चुनता है। जिसका मूल्य उनकी उत्पादन लागत के अतिरिक्त उसे कुल लाभ भी प्रदान करता है।

24.5.5 तुलनात्मक समय का सिद्धान्त–जब फार्म पर प्रयोग में लाये गये विभिन्न प्रकार के साधनों से प्राप्त लाभ एक साथ न प्राप्त होकर अलग–अलग समयों पर प्राप्त होते हैं अथवा विभिन्न उद्यमों में पूंजी निवेश एक साथ न होकर अलग–अलग समयों में एवं अलग–अलग मात्राओं में होता है, तो ऐसी परिस्थितियों में कृषकों को यह निर्णय लेना होता है कि कौन सी उत्पादन प्रक्रिया उसके लिए लाभप्रद होती है। अलग–अलग समय पर लाभ प्राप्त होने अथवा भिन्न–भिन्न लागत होने की दशा में तुलनात्मक समय के सिद्धान्त द्वारा उद्यमों का चयन आर्थिक रूप से सरलता से किया जाता है।

तुलनात्मक समय का सिद्धान्त किसानों को सीमित पूंजी सम्बन्धी, लागत सम्बन्धी निर्णय लेने में सहायक होता है। समय सम्बन्धी अन्य निर्णय जिसमें विभिन्न विकल्पों से विभिन्न समयों में भिन्न लाभ प्राप्त होता है अथवा लागत व्यय भिन्न होते हैं।तुलनात्मक समय के सिद्धान्त द्वारा निर्णय सरलता से लिये जा सकते हैं।

सीमित पूंजी वाले कृषक अपनी बचत को बैंकों में न जमा करके विभिन्न उद्यमेां में लगाते हैं जहां उन्हें बैंकों से अधिक आमदनी प्राप्त होती है। अतः सीमित पूंजी वाले किसानों के लिए ब्याज दर उद्यमों से प्राप्त होने वाली आय की दर होती है।अधिक पूंजी वाले किसान अपनी पूंजी बैंकों में जमा करते हैं जहां उन्हें एक निश्चित दर ब्याज मिलती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सीमित एवं असीमित पूंजी वाले किसानों को एक ही प्रकार के निर्णय लेना लाभप्रद नहीं होता। इस प्रकार समय सम्बन्धी अन्य समस्याएं भी तुलनात्मक समय सिद्धान्त द्वारा हल की जा सकती है।

24.5.6 कृषि प्रबन्धन के आधुनिक सिद्धान्त– छोटे खेतों के सन्दर्भ में कृषि प्रबन्धन के दो पूरक सिद्धान्त है। पहला कृषि प्रणाली सिद्धान्त तथा दूसरा उद्देश्यानुसार प्रबन्धन के सिद्धान्त। इसमें नियोजन, संगठन, नियन्त्रण जैसे प्रबन्धकीय कार्यों को शामिल

किया जाता है। इन प्रक्रियाओं के उपयोग के माध्यम से समय पर कृषि प्रणाली के संचालन को नियन्त्रित किया जाता है। व्यावसायिक फार्म प्रबन्ध में अधिकतम वित्तीय लाभ के उद्देश्य से परम्परागत व्यावसायिक फार्म के सैद्धान्तिक दृष्टिकोण को अपनाया जाता है। इसके विपरीत हाल के दशकों में कृषि प्रणाली सिद्धान्त को केवल औपचारिक प्रमुखता के लिए किया जाता है। दोनों सिद्धान्तों का प्रयोग एक खेत के प्रबन्धन के वर्णनात्मक या सकारात्मक विश्लेषण के लिए किया जाता है। जिससे किसान अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने का मार्गदर्शन प्राप्त करता है।

1. **कृषि (फार्म) प्रणाली सिद्धान्त–** फार्म प्रणाली सिद्धान्त का प्रमुख उद्देश्य किसानों के हित के लिए लक्ष्य निर्धारण, गतिशील कृत्रिम प्रणाली द्वारा कृषि उत्पादन के माध्यम से आय सृजन करना है। सामान्यतया फार्म प्रणाली सरल के बजाय जटिल प्रणाली है। किसी विशेष कृषि प्रणाली की विशिष्टता इसके स्थान, इतिहास, संसाधनों व मानव तत्वों का परिणाम है। कृषि प्रणाली सिद्धान्त में कृषि आगतों की पूर्ति, साख संस्थाओं स्थानीय सामुदायिक संस्थाओं और सरकारी एजेसियों को सम्मिलित किया जाता है। कृषि प्रणाली में उपलब्ध संसाधनों को भौतिक तथा गैर भौतिक रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है। भौतिक संसाधनों जैसे– भूमि, पानी, भवन, मशीनरी आदि को सम्मिलित किया जाता है, जबकि गैर भौतिक संसाधनों की सूची बनाना कठिन है। इसमें प्रबन्धन का ज्ञान व कौशल श्रम ओर खेत प्रणाली के सामाजिक संगठन ऋण पात्रता, संसाधनों का गठन, कृषि साख अनुपात आदि को शामिल किया जाता है।

कृषि प्रणाली सिद्धान्त में किसी खेत (फार्म) प्रणाली के नजरिए से पांच प्रमुख उपखण्ड को शामिल किया जाता है–

1- तकनीकी उपखण्ड जिसमें संसाधनों, प्रौद्योगिकी ज्ञान और अवसरों का उपयोग कृषि उत्पादों का उत्पादन करने के लिए प्रयोग किया जाता है। तकनीकी उपखण्ड में अपने आप में अनेक उपखण्ड सम्मिलित है, जैसे– फसल प्रणाली, सिंचाई प्रणाली। किसी विशेष कृषि प्रणाली में सटीक प्रकृति भौगोलिक, सामाजिक आर्थिक और तकनीकी बाधाओं के द्वारा उत्पादन का निर्धारण किया जाता है।

2- संगठनात्मक तथा संरचनात्मक उपखण्ड हैं, जैसे– प्राधिकार, संचार, कार्य विवरण, दायित्व निर्धारण तथा कार्य आंबटन जो कृषि प्रणाली में आते है। लेकिन छोटे फार्मों में ये उपखण्ड विस्तृत नहीं होते।

3- अनौपचारिक संरचनात्मक उपखण्ड जो दो या अधिक व्यक्तियों के शामिल होने पर मौजूद होता है फार्म सामाजिक संगठन में अधिक से अधिक लोग सम्मिलित होते हैं जैसे – कृषक परिवार, श्रमिक, पड़ोसी आदि।

4- लक्ष्यों और मूल्यों का उपखण्ड जो कृषि प्रणाली उद्देश्य पूर्ण संगठन से संबधित है।

5- प्रबन्धकीय उपखण्ड इसमें माध्यम से पूरी कृषि प्रणाली के लिए लम्बी व छोटी अवधि की योजना का विकास उद्यमों पर निर्णय, तकनीकी चयन, संसाधनों का आंवटन, अवसरों का अधिकार, नियन्त्रण की स्थापना प्रक्रिया तथा सभी उपखण्डों के बीच

सम्बन्ध तथा समन्वय करना है। प्रबन्धकीय उपखण्ड इसमें शामिल व्यक्तियों के ज्ञान, अनुभव, निर्णय तथा सूचना प्रणालियों के प्रयोग पर निर्भर करती है।

बड़ें खेत (फार्म) में ये पांचों उपखण्ड आवश्यक है। जबकि छोटे खेत पर संगठनात्मक संरचना और अनौपचारिक सामाजिक उपखण्ड का बहुत महत्व नहीं है। तकनीकी, संरचनात्मक अनौपचारिक, लक्ष्य तथा मूल्य एवं प्रबन्धकीय पांचों उपखण्ड कृषि प्रणाली को समग्र प्रणाली बनाने में सहायक है। ये इमारत की ईंट है जिन्हें प्रक्रिया, नेतृत्व, निर्णय क्षमता, सूचना प्रवाह तथा नियंत्रण तन्त्र के सीमेन्ट से जोड़ा जाता है।

2. **उद्देश्यानुसार प्रबन्धन के सिद्धान्त–** कृषि प्रणाली के उद्देश्यानुसार प्रबन्धन सिद्धान्त सैद्धान्तिक तथा व्यवहारिक रूप में अवसरों से भरा है। इसमें प्रबन्धन कार्यों का नियोजन किया जाता है। प्रबन्धन क्षेत्र में संगठन के द्वारा उत्पादन, विपणन, वित्त और कर्मचारियों की संख्या को नियन्त्रित के लिए नियोजन, संगठन तथा नियन्त्रण मानक है। कृषि प्रणाली के लक्ष्य फार्म के हित धारकों तथा मालिकों द्वारा निर्धारित किया जाता है। वास्तविक लक्ष्यों का चुनाव जीविका, लाभ, विकास और संसाधन संरक्षण के ऊपर निर्भर करते हैं।

उद्देश्यानुसार प्रबन्धन में लघु, मध्यम और लम्बी अवधि के लक्ष्यों के लिए, दीर्घकालीन अनिश्चिता के बीच प्रबन्धन के उद्देश्यों का सफल क्रियान्वयन एक कठिन कार्य है। उद्देश्यानुसार प्रबन्ध प्रणाली के मुख्य सोपान निम्न हैं–

(अ) नियोजन– समय के साथ साल दर साल के कृषि प्रणाली प्रबन्धन के लिए तीन बुनियादी सवालों के जबाव का फैसला किया जाता है– (1) क्या उत्पादन करें? (2) कैसे उत्पादन करें?(3) कितना उत्पादन करें? इन सवालों के जबाव द्वारा वार्षिक उत्पादन की योजना बनाई जाती है। योजना में क्या, कैसे, और कितना पर विचार–विमर्श तथा निर्णय लिया जाता है। जो उत्पादन अर्थशास्त्र के बुनियादी नियम पर आधारित है। योजना वार्षिक आधार पर बनाई जाती है, जिसमें समय–समय पर संशोधित किया जाता है।

(ब) संगठन– योजना की तुलना में संगठन विश्लेषात्मक के बजाय प्रशासनिक प्रक्रिया है। संगठन का उद्देश्य कृषि प्रणाली की योजना का सुनिश्चित कार्यान्वय है। योजना में क्या,कैसे और कितना उत्पादन करना है कि जानकारी प्राप्त की जाती है। वहीं संगठन में आवश्यक कार्य आवंटन, समन्वय, आवश्यक जानकारी तथा व्यवस्था का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना है। यह संगठन की क्षमता द्वारा प्रभावित होती है।

(स) नियन्त्रण– उद्देश्यानुसार प्रबन्धन सिद्धान्त में नियन्त्रण योजना के कार्यान्वयन में निगरानी एवं निरीक्षण की प्रक्रिया है। नियन्त्रण का कम या विस्तृत तरीके से प्रयोग किया जाता है। यह विश्लेषण की प्रक्रिया पर निर्भर करता है। नियन्त्रण में फार्म के आंकड़े, खेत के आंकड़े, कृषि विशेषज्ञों तथा सलाहकार की राय को सम्मिलित किया जाता है। साथ ही वित्तीय व भौतिक जानकारी को भी शामिल किया जााात है। जिसके तुलनात्मक विश्लेषण द्वारा आगे की योजना बनाई जाती है।

24.6.सारांश

कृषि प्रबन्धन का कृषि अर्थशास्त्र में विशेष महत्व है। कृषि प्रबन्धन में कृषि कार्यों को सुव्यवस्थित ढंग इस प्रकार सम्पादित किया जाता है कि किसान को अधिकतम लाभ प्राप्त

हो। इसमें फार्म संगठन, संचालन, क्रय विक्रय तथा वित्तीय व्यवस्था आदि क्रियाओं का प्रयोग किया जाता है। कृषि प्रबन्धन में फार्म सम्बन्धी सम्पूर्ण आंकड़ें एकत्र कर फार्म हेतु योजना बनाई जाती है। और कृषि आगतों को इस प्रकार आंवटित किया जाता है कि कृषि कार्य सुचारू ढंग से सम्पन्न हो। किसान किस अनुपात में कौन सी फसल बोये, कौन सी फसल लाभदायक होगी। उत्पादन के विभिन्न साधनों का किस प्रकार प्रतिस्थापन करें आदि बातों का निर्णय लेने के लिए कृषि प्रबन्धन के सिद्धान्तों जैसे– प्रतिफल के नियम, तुलनात्मक लाभ का सिद्धान्त, साधनों के प्रतिस्थापन का सिद्धान्त, लागत का सिद्धान्त, तुलनात्मक समय का सिद्धान्त, कृषि प्रणाली सिद्धान्त तथा उद्देश्यानुसार प्रबन्धन के सिद्धांत, की सहायता ली जाती है। जो किसान को क्या उत्पादन करें? कैसे उत्पादन करें? तथा कितना उत्पादन करें? आदि समस्याओं के सामधान में सहायक है।

24.7. शब्दावली

- ❖ **कृषि उपादानों** –कृषि उत्पादन के साधनों (आगातों)
- ❖ **ह्रासमान प्रतिफल** – गिरता हुआ उत्पादन
- ❖ **कुल उत्पाद (TP)** – किसी परिवर्तनशील साधन के एक निश्चित इकाईयों के प्रयोग से जो उत्पादन प्राप्त होता है। उसे कुल उत्पादन कहते है।
- ❖ **सीमान्त उत्पाद (MP)** – साधन की एक अतिरिक्त इकाई के प्रयोग से कुल उत्पादन होने वाली वृद्धि।
- ❖ **औसत उत्पाद (AP)** – कुल उत्पादन में परिवर्तनशील साधन की कुछ इकाईयों से भाग देने से प्राप्त होता है।
- ❖ **प्रतिस्थापन** –स्थानापन्नता अर्थात एक साधन के स्थान पर दूसरे के प्रतिस्थापित या प्रयोग करना।
- ❖ **सार्वभौमिक** – सब जगह होना
- ❖ **समष्टिपरक**– वृहद् इकाई से सम्बन्धित बड़ी
- ❖ **व्यष्टिपरक** – सूक्ष्म इकाई से सम्बन्धित छोटी
- ❖ **लक्षित** – लक्ष्य के अनुसार या निश्चित लक्ष्य पर आधारित।
- ❖ **सहकारी** – वह व्यवस्था जिसमें कुछ लोग एक उद्देश्य के लिए साथ मिल कर कार्य करते हैं।
- ❖ **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।

19.8.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

1. वारेन के अनुसार फार्म प्रबन्ध कृषि के ..... सिद्धान्तों का अध्ययन है।
2. कृषि अर्थशास्त्र ..... की एक महत्वपूर्ण शाखा है।
3. प्रसिद्ध अर्थशास्त्री मार्शल ने कृषि के सम्बन्ध में ..... प्रतिफल का विवेचन की है।

4. जब उत्पादन के सभी साधनों (पैमाने) की मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पादन में अधिक अनुपात से वृद्धि होती है तो उसे..... कहते है।
5. जब उत्पादन के सभी साधनों अर्थात पैमाने की मात्रा में वृद्धि करने पर उत्पादन में ठीक उसी अनुपात में वृद्धि होती है तो उसे ..... कहते है।
6. जब उत्पादन के सभी साधनों (पैमाने) की मात्रा में वृद्धि करने से उत्पादन में उससे कम अनुपात में वृद्धि होती है तो उसे..... कहते है।
7. ..... में श्रम के भौगोलिक विभाजन तथा उत्पादन में विशिष्टीकरण के कारण विभिन्न क्षेत्रों में उत्पादन लागतें भिन्न भिन्न होती है।
8. जहाँ एक साधन की सीमान्त उत्पादकता तथा मूल्य का अनुपात अन्य साधनों की उत्पादकता तथा मूल्यानुपात के बराबर होता है तो किसान ..... उत्पादन, ... लागत में प्राप्त कर सकता है।
9. किसी वस्तु के उत्पादन में किसान मुख्य रूप से दो लागत ..... लगाता है।
10. बड़ें खेत (फार्म) में ये पांचों उपखण्ड आवश्यक है। जबकि छोटे खेत पर ..... और ..... उपखण्ड का बहुत महत्व नहीं है।

<u>उत्तर</u> –(1) व्यवसायिक सिद्धान्तों (2) अर्थशास्त्र (3) घटते प्रतिफल (4) पैमाने के बढ़ते प्रतिफल (5) 'पैमाने के स्थिर प्रतिफल' (6) पैमाने के घटते प्रतिफल (7) तुलनात्मक लाभ (8) अधिकतम उत्पादन, न्यूनतम् लागत (9) प्रथम कुल स्थिर लागत तथा द्वितीय कुल परिवर्तन शील लागत(10) संगठनात्मक संरचना, अनौपचारिक सामाजिक ।

सही उत्तर का चुनाव करो :–

1. परिवर्तनशील अनुपातों का नियम कहलाता है –
   (क) दीर्घकालीन उत्पादन करना (ख) अल्पकालीन उत्पादन फलन
   (ग) पैमाने के प्रतिफल (घ) कोई नहीं।
2. जब औसत उत्पादन अधिकतम होता है तो –
   (क) सीमान्त उत्पादन बढता है।
   (ख) कुल उत्पादन गिरता है।
   (ग) सीमान्त उत्पादन के बराबर होता है।
   (घ) सीमान्त उत्पादन ऋणात्मक होता है।
3. प्रो0 मार्शल के अनुसार उत्पादन ह्रास नियम लागू होता है –
   (क) विनिर्माण उद्योग में (ख) कृषि में
   (ग) कारखानों में (घ) सभी उद्योगों में
4. परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की प्रथम अवस्था वहाँ समाप्त होती है जहाँ –
   (क) MP अधिकतम् होता है (ख) TP अधिकतम् होता है
   (ग) AP अधिकतम् होता है (घ) उपर्युक्त सभी
5. ऋणात्मक प्रतिफल की अवस्था में –
   (क) स्थिर साधन की MP ऋणात्मक होती है।
   (ख) परिवर्तनशील साधन की MP ऋणात्मक होती है।

(ग) क और ख (घ) कोई नहीं।

6. परिवर्तनशील अनुपातों के नियम की तीसरी अवस्था में –

(क) AP ऋणात्मक होता है। (ख) MP ऋणात्मक होता है।

(ग) TP गिरता है। (घ) ख और ग

7. प्रथम अवस्था में मोड बिन्दु के बाद TP वक X अक्ष के प्रति –

(क) उन्नतोदर (उन्तत) (ख) अवनतोदर (अवतल)

(ग) क और ख (घ) कोई नहीं

8. परिवर्तनशील अनुपातों का नियम प्रदर्शित करता है :–

(क) बढ़ते प्रतिफल (ख) स्थिर प्रतिफल

(ग) घटते प्रतिफल (घ) उपर्युक्त सभी

9. कृषि प्रणाली प्रबन्धन के लिए बुनियादी सवालों के जबाव का फैसला किया जाता है :–

(क) क्या उत्पादन करें? (ख) कैसे उत्पादन करें?

(ग) कितना उत्पादन करें? (घ) उपर्युक्त सभी

उत्तर(1) (ख) (2) (ग) (3) (ख) (4) (ग) (5) (ख) (6) (घ) (7) (ख) (8) (घ) (9) (घ)

19.9.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. सोनी आर0 एन0; *''कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय ''* ; 2007; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।
2. माथुर बी0 एल0; (2011) *''कृषि अर्थशास्त्र'';* अर्जुन पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली।
3. गुप्त डॉ0 शिव भूषण'; (2010) *'' कृषि अर्थशास्त्र ''*; साहित्य भवन आगरा।
4. www.fao.org
5. Bilgrami, S.A.R. *'An Introduction to Agricultural Economics*;' (2006) Himalaya Publishing House Delhi
6. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh *'Fundamentals of Agricultural Economics',* (2006) Himalaya Publishing House Delhi.

19.10.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'*Outlines of Agricultural Economic's*, MacMillan
2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Development*'; Select books,New Delhi.
3. Sadhu, A.N. and Amarjit Singh(2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.
4. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.

5. Dantawala, M.L. et al. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford& IBH, New Delhi.

19.11.निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि (फार्म) प्रबन्धन से आपका क्या अभिप्राय है? कृषि प्रबन्धन के उद्देश्य पर प्रकाश डालिए।

2. कृषि (फार्म) प्रबन्धन के क्षेत्र की व्याख्या करते हुए कृषि अर्थशास्त्र तथा कृषि प्रबन्धन के सम्बन्ध की व्याख्या करें।

3. कृषि (फार्म) प्रबन्धन के विभिन्न सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या कीजिये।

इकाई 25. कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियाँ एवं कृषि प्रबन्धन की समस्याएँ

इकाई संरचना

25.1 प्रस्तावना

25.2 उद्देश्य

25.3 कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियाँ

25.4 कृषि प्रबन्धन की समस्याएँ

25.5 सारांश

25.6 शब्दावली

25.7 अभ्यास प्रश्न

25.8 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

25.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

25.10 निबन्धात्मक प्रश्न

25.1. प्रस्तावना

यह खण्ड छः की 25वीं इकाई है, इससे पूर्व की इकाई के अभ्यास से आप कृषि प्रबन्धन की अवधारणा तथा सिद्धान्तों को जान चुकें है।

प्रस्तुत इकाई में कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियों तथा कृषि प्रबन्धन की समस्याओं पर प्रकाश डाला जाएगा।

इस इकाई के अध्ययन से आप कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्त्यिों सहित उसकी समस्याओं को जान जाऐगें।

25.2.उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप–

- ❖ कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियों की विस्तृत जानकारी प्राप्त कर लेगें।
- ❖ कृषि प्रबन्धन हेतु सरकार की नई पहल को जान जायेगें।
- ❖ कृषि प्रबन्धन की समस्याओं से अवगत हो जायेगें।

25.3. कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियाँ

आधुनिक युग कृषि व्यवसायिकरण का युग है, क्योंकि वर्तमान समय में कृषि केवल जीवन निर्वाह का साधन ही नहीं है। बल्कि उद्योग की तरह व्यवसायिक रुप लेती जा रही है। इसलिए कृषि प्रबन्धन समय की आवश्यकता है। बढ़ते शहरीकरण, औद्योगिकीकरण और आधुनिकीकरण की वजह से कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रफल दिनों दिन घटता जा रहा है, तो दूसरी तरफ किसानों की मानसून पर निर्भरता और जलवायु परिवर्तन के चलते कृषि उत्पादन में जोखिम और अनिश्चितता बनी रहती है। ऐसी स्थिति में बेहतर कृषि प्रबन्धन पर जोर देना बेहद जरुरी हो गया है। कृषि उत्पादन में अनिश्चितता के कारण जोखिम प्रबन्धन हेतु कृषि बीमा योजना शुरु की गई। किसानों को कृषि सम्बन्धी समस्त जानकारी उपलब्ध कराने के लिए किसान कॉल सेन्टर भी शुरु किये गये हैं। केन्द्र सरकार ने ग्रामीण विकास बैंक नाबार्ड के जरिये ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामीण ज्ञान केन्द्र (रुरल नॉलेज सेंटर्स) की स्थापना की गई। इन केन्द्रों में आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी व दूरसंचार के तकनीक का उपयोग किसानों को वांछित जानकारी उपलब्ध कराने के लिए किया जाता है।

कृषि वैज्ञानिक **डॉ एम0 एस0 स्वामीनाथन** की रिपोर्ट बताती है कि भारत में प्रतिवर्ष अपरदन के कारण भूमि उर्वरक क्षमता की क्षति होती है। इसलिए भूमि प्रबन्धन द्वारा मिट्टी की ऊपरी परत को नुकसान से बचाया जाना चाहिए। सरकार की ओर से भूमि सुधार कार्यक्रम, बंजर भूमि सुधार कार्यक्रम सहित कई कार्यक्रम चलाये जा रहें है। कृषि विश्वविद्यालय तथा कृषि विभाग की ओर से गांव–गांव प्रशिक्षण के लिए व्यापक योजन बनाए जाने की जरुरत है। कृषि प्रबन्धन के लिए किसानों को मौसम के अनरुप कृषि के तौर तरीके सिखाने, खाली पड़ी अनुपजाऊ भूमि को उपजाऊ बनाने, नवीन सिंचाई तकनीक के प्रयोग तथा किसानों को औद्योगिक एवं औषधिय खेती का व्यापक प्रशिक्षण दिया जाना जरुरी है।

भारत में कृषि प्राचीन काल से ही किसानों की जीविका का साधन रही है। ऐसे में कृषि प्रबन्धन पर जोर देना नितान्त आवश्यक हो गया है। क्योंकि बेहतर कृषि प्रबन्धन द्वारा ही देश की बढ़ती जनसंख्या के लिए उचित खाद्यान्न व्यवस्था की जा सकती है और कृषि की लक्षित विकास दर को प्राप्त किया जा सकता है। भारत सरकार द्वारा समय–समय पर बेहतर कृषि प्रबन्धन हेतु अनेक कार्यक्रम तथा योजनाएं लागू की गई। भारत में कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं–

25.3.1 भू–प्रबन्धन– भू–प्रबन्धन को भूमि के प्रति समग्र दृष्टिकोण के रुप में लिया जा सकता है, जिसमें व्यक्तियों एवं समुदायों के भू–अधिकारियों की मान्यता एवं उनके निहित अधिकार शामिल हैं जिनमें भू–अभिलेखों का सृजन एवं रखरखाव, व्यक्तिगत अधिकारों में कटौती एवं अतिरिक्त भूमि के वितरण संबंधी भू–हदबन्दी कानूनों को लागू करना, काश्तकारी कानूनों को लागू करना तथा काश्तकारों का संरक्षण, तथा भूमि अधिकारों को लागू करना आदि आते हैं। भू– अभिलेखों का प्रबन्धन समग्र भू–प्रबन्धन का एक प्रारम्भिक पक्ष है। इस लेख का मकसद भारत में भू–अभिलाखों के प्रबन्धन की चुनौतियों, समस्याओं तथा सम्भावित नैदानिक उपायों का विश्लेषण करना है। भूमि भारत में एक जटिल मूद्दा है। भारत का भू–प्रबन्धन काफी हद तक नौकरशाही नियन्त्रण में रहा है। भारत सरकार के राजस्व प्रशासन ने 1988–89 में भू– अभिलेखो को कम्प्यूटरीकृत और नक्शों का अंकीकरण करना शुरु किया। इसे 1992–93 में एक पूर्ण विकास कार्यक्रम के रुप में अपनाया गया। तब से राज्यों में भी अपने तरीकों से भू–अभिलेखों को कम्प्यूटरीकृत करना शुरु कर दिया था। कुछ राज्यों में कम्प्यूटरीकरण का व्यापक इस्तेमाल हो रहा है। अपेक्षा की जा रही है कि कम्प्यूटरीकरण कार्यक्रम भू–प्रबन्धन प्रणाली में बदलाव लायेगा। भू–आधुनिकीकरण कार्यक्रम काफी हद तक प्रोद्योगिकी क्षमता पर निर्भर करता है। इसलिए एस आई आर डी, एटीआई, कृषि विश्विद्यालय, राज्य सरकार की प्रतिष्ठित संस्थाएं तथा नागरिक समाज आधारित प्रतिष्ठित संगठन इस कार्यक्रम में शामिल हैं। जो राष्ट्रीय तथा राज्यवार प्रारुप विकसित करने में लगें हैं।

25.3.2– क्षरित भूमि प्रबन्धन– भारत में थार की रेत उत्तर भारत के मैदानी खेतों को अनुपजाऊ बना रही है। इतन ही नहीं मिट्टी की ऊपरी परत, जो करीब 20 सेन्टीमीटर गहरी है, तेजी से नष्ट हो रही है और यही मिट्टी जीवनदायिनी है। ऐसे में क्षरित भूमि को संरक्षित करना ही एकमात्र विकल्प है। संयुक्त राष्ट्र खाद्य एवं कृषि संगठन की रिपोर्ट में भी यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रति वर्ष 27 अरब टन मिट्टी अपरदन, जलभराव, क्षारीयकरण के कारण नष्ट हो रही है। मिट्टी का यह मात्रा एक करोड़ हेक्टेयर कृषि भूमि के बराबर है।

चुंकि भारत कृषि प्रधान देश है। इसके बाद भी भारत में करीब 50 फीसदी से ज्यादा भूमि किसी न किसी कारण बेकार पड़ी हुई है। इस बेकार पड़ी भूमि पर खेती न होने का एक बड़ा कारण इसका अनुपजाऊ होना है। इसके अलावा एक बड़ी समस्या यह भी है कि जो भूमि उपजाऊ है वह भी किसी न किसी कारण अनुपजाऊ होती जा रही है। देश में कृषि योग्य भूमि का एक बड़ा हिस्सा क्षरित भूमि का है। इस भूमि को बचाना सबसे बड़ी चुनौती

है क्योंकि विकास समय की जरुरत है। विकास की दौड़ में कृषि योग्य भूमि का प्रभावित होना भी स्वभाविक प्रक्रिया है। ऐसे में हमारे पास जो विकल्प हैं, उनमें अनुपयोगी मिट्टी को कृषि योग्य बनाना बेहद जरुरी है। इससे कृषि योग्य भूमि का रकबा बरकरार रह पायेगा और खाद्य संकट की समस्या से भी निजात पायी जा सकती है।

आंकड़ो पर ध्यान दें तो भारत में मनुष्य भूमि अनुपात 0.48 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति है, जो दुनिया के न्यूनतम अनुपातों में से एक है। वर्ष 2025 में घटकर यह आंकड़ा 0.23 हेक्टेयर होने का अनुमान लगाया जा रहा है। ऐसे में खेती की अनुपयोगी जमीन को खेती योग्य बनाकर एक बड़ी चुनौती से निबटा जा सकता है। भारत में कुल भूमि क्षेत्रफल 329 मिलियन हेक्टेयर है। इसमें अभी तक कृषि कार्य में करीब 144 मिलियन हेक्टेयर भूमि ली जा रही है। करीब 178 मिलियन हेक्टेयर भूमि विभिन्न कारणों से बंजर पड़ी हुई है। इसमें करीब 40 मिलियन हेक्टेयर क्षरित वन भी सम्मिलित हैं और 84 मिलियन हेक्टेयर क्षरित वर्षा पर आधारित हैं। भारत में मृदा अपरदन की दर करीब 2600 मिलियन टन प्रतिवर्ष है। देश की करीब 140 मिलियन हेक्टेयर भूमि जल तथा वायु अपरदन से प्रभावित है। मृदा की भौतिक, रासायनिक एवं जैविक गुणों को बचाना बेहद जरुरी है क्योंकि मृदा की उर्वराशक्ति के क्षीण होने का नुकसान किसी न किसी रुप में समूचे राष्ट्र को चुकाना पड़ता है। यदि फसलों की वृद्धि के लिए आवश्यक नाइट्रोजन, फास्फोरस, मैग्नीशियम, कैल्शियम, गंधक, पोटाश सहित अन्य तत्वों को बचाकर उसका समुचित उपयोग पौधे को ताकतवर बनाने में किया जाए तो एक तरफ हमारी आर्थिक स्थिति में सुधार होगा और दूसरी तरफ मृदा संरक्षण की दिशा में भी एक महत्वपूर्ण पहल होगी। हालांकि केन्द्र सरकार की ओर से भूमि सुधार कार्यक्रम, बंजर भूमि सुधार कार्यक्रम सहित कई कार्यक्रम चलायें जा रहे हैं। इसे विस्तारित करने की जरुरत है।

25.3.3 उत्तम/उच्च उत्पादकता वाले बीज का प्रबन्धन– 1966 के प्रयोग के बाद उच्च उत्पादकता वाले बीजों के प्रयोग को बढ़ावा मिला। जिससे गेहूं का उत्पादन लगभग 4 गुना हो गया। चावल का उत्पादन भी बहुत बढ़ा। इसलिए उच्च उत्पादकता वाले उन्नत बीजों का प्रयोग बढ़ा।

उन्नत बीज मुख्यतः दो प्रकार का होता है एक परिशोधित या सुधरी किस्मों का बीज दूसरा संकर या हाईब्रिड बीज। सुधरी किस्मों के बीज में आनुवांशिक गुणों में स्थायित्व अधिक होता है। इन किस्मों को सावधानीपूर्वक उपयोग करने पर कई वर्षों तक उपयोग किया जा सकता है जबकि संकर बीज में आनुवांशिक गुणों में कम स्थायित्व होता है। अर्थात् एक बार फसल लेने पर संकर किस्मों का उत्पादन घट जाता है। अतः हर वर्ष नया बीज लेना होता है जैसे कि संकर बाजरा की किस्मों में होता है।

उन्नत किस्म बीजो की खोज के साथ इनकी पैदावार को बढ़ाना तथा उनका उचित वितरण भी आवश्यक है इसलिए सरकार ने राष्ट्रीय बीज निगम, राज्य बीज निगम तथा अनेक कृषि विश्वविद्यालयों को उन्नत किस्म के बीज उत्पादन तथा वितरण का प्रबन्ध करने की जिम्मेदारी दी। 1980–81 में 25 लाख क्विंटल उन्नत बीजों का वितरण किया

गया, जो 2005–06 में बढ़ कर 126.74 लाख क्विंटल तक पहुंच गया। 2006–07 में अनुमानतः 149.63 लाख क्विंटल उन्नत बीजों का वितरण किया गया।

25.3.4– जल प्रबन्धन– भारत में हर साल कहीं बाढ़ की नौबत रहती है तो कहीं सूखे की। बाढ़ और सूखे के कारण कृषि तो प्रभावित होती ही है, लेकिन इसके अलावा भी कई कारणों से भारतीय खेती प्रभावित होती है, भारत में सिंचाई कुप्रबंधन के कारण करीब 6–7 मिलियन हेक्टेयर भूमि लवण्ता से प्रभावित है। यह स्थिति पंजाब, हरियाणा, उत्तर प्रदेश में ज्यादा है। इसी तरह करीब 6 मिलियन हेक्टेयर भूमि जलजमाव से प्रभावित है। देश में पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बीहार, उड़ीसा एवं उत्तर पूर्वी राज्यों में जलजमाव की समस्या है। असमतल भूक्षेत्र वर्षा जल से काफी समय तक भरा रहता है। इसी तरह गर्मी के दिन मे यह अधिक कठोर हो जाती है। ऐसे में इसकी अम्लता बढ़ जाती है और इसमें खेती नही हो पाती। यदि इस समस्या का निराकरण कर दिया जाय तो खाद्य उत्पादन में आशातीत बढ़ोतरी होगी। इसी तरह रासायनिक खादों के अधिक प्रयोग के कारण अम्लीय भूमि भी हमारे देश की उत्पादन क्षमता को प्रभावित कर रही है। अम्लीय मृदा में विभिन्न पोषक तत्वों का अभाव हो जाता है। इससे मृदा अपरदन की संभावना बढ़ने लगती है। भारत में करीब 60 फीसदी कृषि भूमि वर्षा पर आधारित है। बदलते परिवेश में मानसून की सक्रियता कहीं कम तो कहीं ज्यादा होने से बाढ़ व सूखे के हालात रहते हैं। बाढ़ के कारण कृषि योग्य भूमि प्रभावित होती है बाढ़ के पानी के बहाव के साथ मिट्टी की ऊपरी परत भी बह जाती है। इसे जल अपरदन कहते हैं। परिस्थितिकीविदों की मानें तो भारत में करीब हर साल करीब छः करोड़ टन उपजाऊ ऊपरी मिट्टी का कटाव होता है। पानी के साथ बहने वाली इस मिट्टी में नाइट्रोजन, फास्फोरस, पोटास, कैल्शियम, मैग्नीशियम के साथ ही अन्य सूक्ष्म तत्व भी बह जाते हैं। इससे किसानों का खेत अनुपजाऊ हो जाता है। मध्य एवं पूर्वी भारत जलजनित क्षरण की चपेट में ज्यादा आता है। इसका एक बड़ा कारण यहां की मिट्टी की स्थिति भी है। ऐसे में इस मिट्टी को बचाने के लिए सबसे उपयुक्त उपाय है मिट्टी के अनुकूल फसल चक्र का अपनाया जाना। जनजनित क्षरण से बचने के लिए जड़युक्त फसलों की खेती ज्यादा से ज्यादा करायी जाये। बाढ़ प्रभावित इलाके में पानी के तीव्र गति से होने वाले बहाव को रोकने के लिए जगह–जगह बाड़बंदी कराई जाए। पट्टीदार खेती करने वाले किसानों को मेड़बन्दी में विशेष सहयोग किया जाए।

कृषि वैज्ञानिकों का मानना है कि पौधे का प्रथम भोजन पानी माना गया है। पौधे को तैयार होने में करीब 90 फीसदी जल की आवश्यकता होती है। यह मिट्टी में उपस्थित तत्वों को पौधे तक पहुंचाता है। मिट्टी में समुचित आर्दता होना भी जरुरी होता है। मिट्टी में पानी कम होना और अधिक होना दोनों ही पौधे को किसी न किसी रुप में प्रभावित करती हैं। इसलिए जल प्रबन्धन अति आवश्यक है।

सिंचाई को प्रोत्साहन देने हेतु स्प्रिंगलर सिस्टम को व्यापक रुप से कृषि क्षेत्र में लागू करना चाहिए। इस सिस्टम में जमीन के अन्दर पानी के पाईपों की फिटिंग करके उसमें भूमि के क्षेत्रफल को ध्यान में रखकर एक या दो जगह निकासी द्वार बना दिया जाता है। इस निकासद्वार पर घुमावदार फव्वारों को लगा दिया जाता है जो चारों तरफ घूम–घूम कर

फसलों की सिंचाई करते हैं। इस प्रणाली को अपनाने से फसलों की सिंचाई संतुलित रुप से होती है।

25.3.5– उर्वरक प्रबन्धन (जैविक उर्वरक)– कृषि विशेषज्ञों के अनुसार कृषि में विभिन्न किस्मों के उर्वरकों (नाइट्रोजनी, फॉस्फेटी तथा पोटाशी–NPK) का उपयोग एक संतुलित अनुपात में ही किया जाना चाहिए। भारत के लिए अन्न फसलों हेतु मानक अनुपान 4 प्रतिशत, 2 प्रतिशत और 1 माना जाता है। नाइट्रोजनी और फास्फोटी उर्वरकों के घरेलू उत्पादन में कमी को आयातों से पूरा किया जाता है। पोटाश के मामले में सम्पूर्ण आवश्यकता आयात द्वारा ही पूरी की जाती है। उर्वरक उपभोग में भारत का विश्व में तीसरा स्थान है। भारत अभी नाइट्रोजनी उर्वरकों की अपनी खपत का 34 प्रतिशत व फास्फेटी उर्वरको की खपत का 82 प्रतिशत उत्पादन कर पाता है। पोटाशी उर्वरकों के लिए भारत पूरी तरह से आयात पर ही निर्भर है। अतः उर्वरकों के संतुलित उपयोग को प्रोत्साहित करने के लिए जैविक उर्वरकों के उत्पादन में तीव्र वृद्धि की आवश्यकता है। रासायनिक उर्वरकों के बजाय जैविक उर्वरकों का उपयोग कृषि कार्य में करना अति आवश्यक है। कम्पोस्ट खाद, केंचुआ खाद, लेमन ग्रास, ग्रीन मेन्योर ये सभी जैविक खाद में शामिल हैं। जैविक खाद के प्रयोग से मृदा की उर्वरता में वृद्धि, भूजल धारण क्षमता में वृद्धि, जैविक कीटनाशक से मित्र कीट भी सुरक्षित होते हैं, फसल अधिक गुणवत्ता वाली, मृदा में उपलब्ध लाभदायक जीवाणुओं की संख्या के ह्रास में कमी, पर्यावरण प्रदूषण में कमी, भूमि के अघुलनशील तत्वों को घुलनशील अवस्था में परिवर्तित करना, रासायनिक खादों के मुकाबले सस्ती, टिकाऊ आदि अनेक गुण विद्यमान होते हैं।

समन्वित पोषण प्रबन्धन से तात्पर्य यह है कि पौधे को पोषक तत्व प्रदान करने वाले सभी संभव स्रोतों जैसे रासायनिक उर्वरक, जैविक खादें, जैविक उर्वरक, फसल अवशेष इत्यादि का कुशलतम समायोजन कर फसलों को संतुलित पोषण दिया जाय। ये सभी स्रोत पर्यावरण हितैषी हैं और इनसे मुख्य पोषक तत्व भी पौधों को धीरे–धीरे व लम्बे समय तक प्राप्त होते रहते हैं। सघन फसल प्रणाली के अन्तर्गत फसलें मृदा से जितने पोषक तत्वों का अवशोषण करती है उनकी क्षतिपूर्ति मृदा स्वस्थ्य बनाए रखने के लिए अति आवश्यक है। मृदा परीक्षण के आधार पर मुख्य, गौण और सूक्ष्म पोषक तत्वों जैसे जिंक, लौह, तांबा, बोरोन, माल्बिडेनम, मैगनीज व क्लोरीन की बहुत मात्रा की आवश्यकता होती है। यदि फसल अवशेष व अन्य जैविक खादों का नियमित प्रयोग होता रहे तो पौधों को इन तत्वों के अतिरिक्त पोटाश की भी कमी नहीं रहती है। फास्फोरस की कमी जीवाणु खाद बीज का जीवाणु उपचार करके पूरी की जा सकती है। समन्वित पोषण प्रबन्धन के प्रमुख सूत्र इस प्रकार है :–

❖ वर्ष में एक बार दाल वाली फसल अवश्य लगानी चाहिए। ज्वार, बाजरा व मक्का के बाद रबी में चना, मसूर व बरसीम लगाएं। दाल वाली फसलों की जड़ो में राइजोबियम जीवाणु की गांठे होती हैं जो नाइट्रोजन स्थिरीकरण का काम करती हैं।

❖ फसल अवशेषों को भी खाद के रुप में प्रयोग करना चाहिए। इससे पोषक तत्वों के साथ–साथ मृदा में कार्बन की मात्रा भी अधिक बढ़ती है।

❖ हरी खाद वाली फसलें जैसे ढैंचा, सनई, लौबिया व ग्वार उगाने से जमीन में नाइट्रोजन व कार्बन की मात्रा बढ़ जाती है।

❖ जैविक उर्वरकों जैसे राइजोबियम, कल्वर, पी. एस. बी. व एजोटोबैक्टर आदि का प्रयोग करने से रासायनिक उर्वरकों के प्रयोग में कमी की जा सकती है।

❖ अरण्डी व नीम की खली का प्रयोग भी समन्वित पोषण प्रबन्धन के अन्तर्गत किया जा सकता है। बुवाई से 15 दिन से 20 दिन पहले 8 से 10 टन खली को प्रति हेक्टेयर के हिसाब से खेत में अच्छी तरह मिलाएं।

❖ मिट्टी जांच के आधार पर सूक्ष्म पोषक तत्वों को प्रदान करने वाले, उर्वरकों को मृदा में डालें या फसल पर छिड़काव करें। भारतीय मृदाओं में प्रमुख रुप से जिंक, आयरन व मैगनीज की कमी पाई जाती है।

25.3.6– मृदा संरक्षण– मृदा को ऊपरी सतह को जल व वायु द्वारा होने वाले क्षरण से बचाना चाहिए। इसके लिए खेतों की मेड़बंदी करके वर्षाऋतु में वर्षा जल को संरक्षित कर लिया जाए। इससे क्षेत्र विशेष में भूमिगत जलस्तर भी ऊपर उठेगा। जल कटाव से होने वाले नुकसान से भी मृदा को बचाया जा सकता है। मृदा में अधिक से अधिक जैविक खादों का प्रयोग करें जिससे भूमि की जलधारण क्षमता को बढ़ाया जा सके। कृषि कार्यो में बदलाव जैसे शून्य जुताई को अपनाकर भी मृदा स्वास्थय में सुधार किया जा सकता है। खेत की बार–बार जुताई करने से मृदा संरचना पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। मृदा को आवरण प्रदान करने वाली फसलों जैसे मूँग, उड़द, लोबिया आदि का समावेश फसल चक्र में करने से भी मृदा को संरक्षित कर सकते हैं।

सफल कृषि उत्पादन के लिए लवणीय, क्षारीय व अम्लीय मृदाओं का सुधार आवश्यक है। लवणीय, क्षारीय व अम्लीय मृदाओं में पौधे भूमि में उपलब्ध पोषक तत्वों व जल का अवशोषण नही कर पाते हैं। लवणीय भूमि सुधार के लिए भूमि समतलीयकरण, मेड़बन्दी या सिंचाई जलभराव करके घुलनशील लवणों का निक्षालन करें। मृदा जांच के आधार पर क्षारीय भूमि में जिप्सम, सल्फर व केल्साइट का प्रयोग करें। हरी खाद वाली फसलों जैसे ढाँचा, सनई व लोबिया भी क्षारीय भूमि सुधारने में उपयोगी सिद्ध हुई हैं। अम्लीय मृदाओं के सुधार हेतु मृदा पी. एच. के अनुसार चूने की मात्रा का प्रयोग करें।

25.3.7– कृषि बीमा प्रबन्धन– देश में सर्वप्रथम फसल बीमा योजना, परीक्षण के तौर पर 1973 से 1984 तक चलाई गई थी, अप्रैल 1985 से केन्द्रीय कृषि मन्त्रालय ने व्यापक फसल बीमा योजना प्रारम्भ की, इसके स्थान पर रबी वर्ष 1999–2000 से एक 'राष्ट्रीय कृषि बीमा योजना : 1999–2000' लागू की गई, इस योजना मुख्य उद्देश्य सूखे, बाढ़, ओलावृष्टि, चक्रवात, आग, कीट/बीमारियाँ आदि जैसे प्राकृतिक आपदाओं के कारण फसल को हुई क्षति से किसानों का संरक्षण करना है, ताकि आगामी मौसम में उनकी ऋण साख बहाल हो सके, यह योजना 25 राज्यों तथा 2 कन्द्रशासित क्षेत्रो में लागू की गई है, सामूहिक रुप से पिछले दस मौसमों अर्थात् रबी के मौसम 1999–2000 से रबी 2007–08 तक इस योजना के तहत् 11.55 करोड़ किसानों को शामिल किया जा चुका था, इस योजना के लिए वर्ष 2010–11 के बजट में 950 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया

है, कृषि बीमा आयोग द्वारा इस योजना के विकल्प के रुप में मौसम आधारित बीमा योजना भी प्रारम्भ की गई है, जिसके लिए 2007–08 के बजट में अलग से 100 करोड़ रुपये का प्रावधान किया गया था। 2008–09 तक 1347 लाख किसानों का 1,48,250 करोड़ रुपये की राशि का बीमा कराते हुए 2,109 लाख हेक्टेयर क्षेत्र को कवर किया गया है। भारतीय कृषि बीमा कम्पनी लि. ने दक्षिण–पश्चिमी मानसून अवधि 2004 के दौरान 'वर्षा बीमा' वर्षा बीमा योजना शुरु की वर्षा बीमा में कृषक समुदाय की भिन्न–भिन्न जरुरतों के अनुरुप पाँच अलग–अलग विकल्पों की व्सवस्था की गई, ये हैं–

(1) जून से सितम्बर तक कुल वर्षा के आधार पर मौसमी वर्षा बीमा,
(2) 15 जून और 15 अगस्त के बीच की अवधि में हुई वर्षा के आधार पर बुआई विफलता बीमा ,
(3) जून और सितम्बर के बीच वर्षा की मात्रा के अनुसार वर्षा वितरण बीमा,
(4) फसलों के लिए जल की आवश्यकता के आधार पर तैयार किए गए कृषि सम्बन्धी सूचकांक के आधार पर ,
(5) एक आपात विकल्प, जिसमें 50 प्रतिशत तथा तथा बेहद प्रतिकूल विसामान्यता और मौसम के दौरान अधिक वर्षा आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, राजस्थान और उत्तर प्रदेश के 20 वर्षा मापी क्षेत्रों में वर्ष 2004–0.5 में वर्षा बीमा प्रायोगिक योजना के रुप में शुरु की गई थी।

खरीफ 2006 के दौरान, सम्पूर्ण देश के 16 राज्यों को शामिल करते हुए लगभग 150 जिलों/वर्षामापी केन्द्र क्षेत्रों में, यह योजना वर्षा बीमा 2006 के रुप में कार्यान्वित की जा रही है।

25.3.8– बागवानी व्यवस्था प्रबन्धन– हमारे देश में मिट्टी और जलवायु की विविधता के कारण फलों, सब्जियों, जड़ी–बूटियों, सुगंधयुक्त पौधों, मसालों, नारियल, काजू, कोको आदि बागवानी फसलों की पैदावार की अच्छी सम्भावनाएँ हैं, इस दिशा में किए गए प्रयत्नों से जो सफलता मिली है, उससे हमारा देश नारियल, सुपारी, काजू, अदरक, हल्दी, काली मिर्च आदि के सबसे बड़े उत्पादक देश के रुप में उभरा है, भारत विश्व में काजू का सबसे बड़ा उत्पादक तथा निर्यातक देश है, बागवानी उत्पादों को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्र सरकार ने एक राष्ट्रीय बागवानी मिशन 5 मई 2005 से प्रारम्भ किया है, वर्ष 2011–12 तक देश में बागवानी उत्पादन 300 मिलियन टन करने तथा बागवानी के तहत बुआई क्षेत्र को 40 लाख हेक्टेयर करने का लक्ष्य इस मिशन के तहत निर्धारित किया गया है, पोषक उपजों की उपलब्धि में वृद्धि कृषकों की आय में वृद्धि, कृषि उत्पादों में मूल्यवर्द्धन व सब्जियों की उपलब्धि में वृद्धि इसके अन्य उद्देश्यों में शामिल है, मिशन की सफलता के लिए गेहूं व धान के अधीन चले आ रहे बुआई क्षेत्रों के कुछ भाग को बागवानी उपजों के अधीन लाने के प्रयास किए जाएंगे, इस मूद्दे पर विचार के लिए राज्यों के कृषि मंत्रियों की बैठक केन्द्रीय कृषि मंत्री द्वारा शीघ्र ही बुलाई जाएगी।

उल्लेखनीय है कि देश में कुल बागवानी उत्पादन 1991–92 में 28.63 मिलियन टन था जो बढ़कर 2007–08 में 207.01 मिलियन टन हो गया था, बागवानी उत्पादन में इस वृद्धि

के चलते देश में फलों व सब्जियों की प्रति व्यक्ति उपलब्धि में भी वृद्धि हुई है, इन उपजों से निर्यात प्राप्तियाँ 1991–92 में 141.1 करोड़ रुपए की थीं, जो बढ़कर 2002–03 में 6759.3 करोड़ रुपए की रही , देश में बागवानी फसलों के लिए अधीन क्षेत्रफल वर्ष 2007–08 के दौरान 200.87 लाख हेक्टेयर था, वर्ष 2010–11 के बजट में राष्ट्रीय बागवानी की मिशन के लिए 1062 करोड़ रुपए की राशि आवंटित की गई है।

25.3.9– कृषि वित्त प्रबन्धन –किसान क्रेडिट कार्ड– किसान क्रेडिट कार्ड योजना अगस्त 1998 में वाणिज्यिक बैंकों, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों तथा सहकारी बैंकों से प्राप्त ऋण को सुसाध्य बनाने के लिए प्रारम्भ की गई थी इस योजना की मुख्य विशेष्ताएं नीचे दी गई हैं–

(1). 5000 रुपये अथवा अधिक के उत्पादन ऋण के लिए पात्र किसान, किसान क्रेडिट कार्ड प्राप्त करने के हकदार हैं, यह कार्ड किसान को उनकी भूमि के आधार पर जारी किये जाते हैं।

(2). पात्र किसानों को किसान कार्ड और पास बुक अथवा कार्ड–सह–पास बुक उपलब्ध कराई जाती है।

(3). इनका उपयोग किसान खेती के लिए बीज, उर्वरक और कीटनाशक आदि जरुरतों की वस्तुओं को खरीदनें के लिए करते हैं।

(4). प्रचालनात्मक जोत, फसल पैटर्न और वित्त श्रेणी के आधार पर सीमा निर्धारित की जाती है।

(5). बैंको के विवेक पर उप–सीमाएं निर्धारित की जाती है।

(6). वार्षिक समीक्षा की शर्त पर कार्ड 3 वर्ष के लिए वैध होता है।

(7). प्रत्येक आहरण का भुगतान 12 महीने में करना होता है।

(8). प्राकृतिक आपदाओं के कारण खराब हुई फसलों के मामले में ऋण को बदलना/पुनर्निर्धारण की भी अनुमति है।

(9). लागत वृद्धि तथा फसल पैटर्न आदि में परिवर्तन होने पर ऋण की सीमा को बढ़ाया जा सकता है।

(10). भारतीय रिजर्व बैंक के मानदंडो के अनुसार ब्याज की दर आदि में परिवर्तन किया जा सकता है।

(11). जारी करने वाली शाखाओं अथवा बैंक के विवेक पर उसकी अन्य नामित शाखाओं के माध्यम से प्रचालन किया जाता है।

(12). कार्ड और पास बुक साथ होने पर स्लिप/चैक के माध्यम से आहरण किया जाता है।

इस योजना का कार्यान्वयन वाणिज्यिक बैंकों, केन्द्रीय सहकारी बैंको और क्षेत्रीय ग्रामीण बैंकों के माध्यम से किया जा रहा है, वर्ष 1998 से लेकर नवम्बर 2009 तक 878.30 लाख किसान क्रेडिट कार्ड जारी किए जा चुके थे, इनमें 48.21 प्रतिशत सहकारी बैंको द्वारा, 13.16 प्रतिशत ग्रामीण क्षेत्रीय बैंकों द्वारा (RRB_s) द्वारा तथा 38.63 प्रतिशत वाणिज्यिक बैंकों द्वारा जारी किए गए।

25.3.1.0– कृषि सम्बन्धी जानकारी का प्रबन्धन– कृषि सम्बन्धी नवीन तकनीक तथा आवश्यक जानकारी किसानों तक पहुंचाने का प्रबन्ध करने के लिए सरकार ने किसान कॉल सेन्टर तथा रुरल नॉलेज सेन्टरों की स्थापना की है। 21 जनवरी 2004 को तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने नई दिल्ली में किसान कॉल सेन्टर तथा कृषि चैनल का उद्घाटन किया। किसान कॉल सेन्टरों के वर्तमान में 144 किसान कॉल ऐजेन्ट्स लगाए जा चुकें हैं। जिसमें 1551 नम्बर डायल करके कृषि सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। किसान चैनल के द्वारा केबिल के जरिये एक वर्ष तक दिन में चार बार एक–एक घण्टे का कार्यक्रम प्रसारित किये गये। दिसम्बर 2006 में तीन–तीन घण्टे के कार्यक्रम दिन में चार बार प्रसारित किये जाते हैं।

केन्द्र सरकार ने ग्रामीण विकास बैंक 'नाबार्ड' के जरिये देश के ग्रामीण क्षेत्रों में रुरल नॉलेज सेन्टर्स की स्थापना की है। इन केन्द्रों में आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी व दूरसंचार तकनीक का उपयोग किसानों को वांछित जानकारीयाँ उपलब्ध कराने के लिए किया जाता है। 2005–06 के बजट में एक–एक लाख रुपये की लागत से एक हजार नॉलेज सेन्टर स्थापित करने की केन्द्र की योजना है। इसके लिए ग्रामीण आधारित संरचना विकास कोष से धन राशी सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाती है। प्रारम्भ में यह सेन्टर आन्ध्र प्रदेश, गुजरात, कर्नाटक, महाराष्ट्र, उड़ीसा, राजस्थान, तमिलनाडु, उत्तराखण्ड तथा पश्चिम बंगाल में स्थापित किये जा रहें हैं।

25.3.11– खाद्य प्रबन्धन एवं प्रसंस्करण– उत्पादित कृषि उत्पाद के उचित प्रबन्धन में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए भारत में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग मंत्रालय की स्थापना जुलाई 1988 में की गई। खाद्य प्रसंस्करण उद्योग के विकास में निजी, सार्वजनिक और सहकारी क्षेत्र करगर भूमिका अदा कर रहा है। खाद्य प्रसंस्करण क्षेत्र के अधीन कई क्षेत्र आते हैं जैसे– खाद्य प्रसंस्करण, माँस प्रसंस्करण, पॉल्टी प्रसंस्करण, दुग्ध प्रसंस्करण, मछली प्रसंस्करण, फल–सब्जी प्रसंस्करण तथा उपभोक्ता खाद्य उद्योग आदि। खाद्य प्रसंस्करण में चावल मिलिंग, दाल मिलिंग तथा रोलर फ्लोर मिलिंग आदि सम्मलित है। साथ ही इन खाद्यान्नों के श्रेणीकरण सहित निर्यातोन्मुखी इकाईयों की भी स्थापना की गई है। दिसम्बर 2004 तक मंत्रालय ने 27 चावल मिलों, 13 आटा मिलों, 21 तैल मिलों और 8 दाल मिलों को वित्तिय सहायता उपलब्ध कराई है। मांस प्रसंस्करण की 8 इकाईयों, मत्स्य प्रसंस्करण की 18 इकाईयों, डेयरी प्रसंस्करण की 19 इकाईयों की स्थापना में सहायता दी है। इसके अतिरिक्त शीतल पेय के लगभग सभी राज्यों में 100 से अधिक संयन्त्र है और इसमें 25 हजार कर्मचारी कार्यरत हैं। पैक की हुई चाय और बिस्कुट के बाद पैक किये हुए शीतल पेय खाद्य पदार्थो का तीसरा सबसे बड़ा स्थान है। कुटीर उद्योग और शराब उद्योग के लिए निर्धारित मदों को छोड़कर सभी प्रसंस्कृत खाद्य मद उद्योग अधिनियम 1951 के तहत लाइसेंस मुक्त है।

25.3.12– ई खेती (कृषि)– भारत के ग्रामीण क्षेत्र में संचार सुविधा पहुंचाने के बाद ई–कृषि की दिशा में कदम बढ़ रहे हैं। सरकार की कोशिश है, कि संचार क्रान्ति और हरित क्रान्ति दोनों को एक साथ लेकर ई–कृषि की नई क्रान्ति की शुरुवात की जाये।

ई–कृषि द्वारा द्वारा किसानों को समुचित सुविधाएं वरीयता के आधार पर उपलब्ध कराई जाती है। पंजाब में बड़ी संख्या में किसान ई–कृषि से जुड़ चुके हैं। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद की ओर से बनाई गई वेबसाइट के जरिए भी किसानों की कृषि से संबंधित सूचनाओं और जानकारियों को एक कोष के रुप में सहेजा जा रहा है। पंजाब में ई–कृषि को साकार करने के लिए अमेरिका कृषि वैज्ञानिकों की मदद ली जा रही है। फील्ड फ्रेश फूड्स प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी ने एयरटेल के जरिए अमेंरिका की कोलम्बिया यूनिवर्सिटी को लुधियाना से जोड़ रखा है। लुधियाना में ई–कृषि द्वारा वेबी–कार्न, सहित हरी मिर्च, केले व धनिये की खेती में सहायता ली जा रही है। जिससे किसानों को दुगुना लाभ प्राप्त हो रहा है।

अंगूर के उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए अब इसकी बागवानी कम्प्यूटर के जरिए की जा रही है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद के राष्ट्रीय अंगूर अनुसंधान केन्द्र के निदेशक डॉ पी.जीत्र अडसुले के अनुसार योजना के पहले चरण में केन्द्र कम्प्यूटर के जरिये लगभग 500 अंगूर उत्पादकों तक पहुंच सुनिश्चित करेगा। कुछ कृषि विश्वविद्यालयों ने अपनी वेबसाइट और कॉलसेन्टरो की भी स्थापना की है। इन सेन्टरों पर ऐसी व्यवस्था की गई है कि किसान किसी भी समय खेती के सम्बन्ध में विशेषज्ञों टेलीफोन या नेट द्वारा जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

25.3.13– अनुबन्ध खेती– पिछले कुछ वर्षो से अनुबन्ध खेती में किसानों की रुची बढ़ी है, अनुबन्ध खेती मूल रुप से तो उत्पादक किसानों तथा क्रयकर्ता कम्पनियों, ग्राहकों के बीच अग्रिम अनुबन्ध के तहत एक निर्धारित मूल्य पर कृषि, बागवानी आदि उत्पादों के उत्पादन, आपूर्ति, क्रय–विक्रय की एक व्यवसायिक व्यवस्था है। इसमें उत्पादक किसान एक निशिचित मात्रा मे कृषि उत्पाद को निश्चित समय पर कम्पनियों, अनुबन्ध करने वाली फार्मो एवं ग्राहकों को उपलब्ध करते हैं तथा खरीददार पूर्व निर्धारित मूल्य देकर उत्पाद करते हैं। देश में अनुबन्ध खेती का मौजूदा दौर का लगभग वर्ष 1989 में पंजाब के होशियारपुर में पेप्सी फूड लिमिटेड द्वारा टमाटर संसाधन संयंत्र की स्थापना के साथ शुरु हुआ। इस के अन्तर्गत राज्य में लगभग 2500 हेक्टेयर में फैली टमाटर की खेती में 5 लाख टन उत्पादन के साथ स्थिरता आई। आईसीआईसीआई बैंक तथा हिंदुस्तान लीवर लिमिटेड के साथ मिलकर मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले में गेहूं उत्पादन के लिए अनुबंधित खेती की पहली परियोजना शुरु की। इसकी सफलता से सबक लेकर रैलीस इण्डिया ने फूड वर्ल्ड तथा अन्य सहयोगियों के साथ मिलकर बंगलूरु में फल उत्पादन, पानीपथ में बासमती उत्पादन तथा नासिक में सब्जी उत्पादन की अनुबंधित खेती की ओर कदम बढ़ाया। पंजाब, महाराष्ट्र, राजस्थान, कर्नाटक, गुजरात, मध्यप्रदेश, छत्तिसगढ़, आन्ध्र प्रदेश, उड़ीसा आदि राज्यों में अनुबंधित खेती की जा रही है। लगभग 14 लाख हेक्टेयर में सायाबीन, संतरा, सब्जियां, फल, मसालें, दलहन, आलू, गन्ना आदि के अनुबन्ध हुए हैं। राजस्थान, गुजरात तथा पश्चिमी बंगाल में भी बड़े क्षेत्र मं अनुबंधित खेती की जा रही है।

25.4. कृषि प्रबन्धन की समस्याएँ

कृषि भारतीय अर्थव्यवस्थ की केन्द्र व भारतीय जीवन की धुरी है। आर्थिक जीवन का आधार, रोजगार का प्रमुख स्रोत तथा विदेशी मुद्रा अर्जन का माध्यम होने के कारण कृषि को देश की आधारशिला कहा जाये तो कोई अतिश्येक्ति नहीं होगी। देश की कुल श्रमशक्ति का लगभग 52 प्रतिशत भाग कृषि एवं सम्बन्धित क्षेत्रों से ही अपना जीविकोपार्जन कर रही ह। अतः भारत में कृषि के विकास, समृद्धि व उत्पादकता पर ही देश का विकास व सम्पन्नता निर्भर है। इसलिए कृषि प्रबन्धन समय की आवश्यकता है। जिससे कृषि आगतों का उचित समन्वय व प्रयोग कर अधिकतम उत्पादन किया जाता सकें, लेकिन कृषि प्रबन्धन की तकनीक को अपनाने में अनेक समस्याएं हैं, जो इस प्रकार हैं–

25.4.1– तकनीकी कृषि शिक्षा का अभाव– भारत जैसे देश में जहाँ 1.25 अरब के लगभग आबादी का 70 प्रतिशत भाग कृषि पर आधारित है। उस देश मे कृषि शिक्षा के विश्वविद्यालय और महाविद्यालय नाममात्र के हैं उसमें भी गुणात्मक शिक्षा का अभाव है। जो कि कृषि प्रबन्धन में एक बड़ी बाधा है क्योंकि उदारीकरण के युग में कृषि आधुनिक तकनीक तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माध्यम से की जा रही है। ऐसे में भारत जैसे देश में किसानों की स्थिति जो कृषि सम्बन्धि तकनीकी ज्ञान से वंचित है की स्थिति अन्यन्त गम्भीर एवं विचारणीय है। शिक्षा का ही दूसरा पहलू जिसे प्रबन्धन शिक्षा की श्रैणी में रखा जा सकता है। राष्ट्रीय तथा प्रादेशिक स्तर पर जो विश्वविद्यालय व अनुसंधान केन्द्र है। उसमें उच्चस्तरीय शोध व गुणवत्तापरक शिक्षकों का अभाव है। आज भी किसान ईश्वरीय कृपा पर ही निर्भर है। कृषि शिक्षा का व्यापक प्रचार–प्रसार ग्रामीण क्षेत्रों में होना चाहिए और प्रत्येक शिक्षण संस्थान में न्यूनतम् माध्यमिक स्तर तक की शिक्षा अवश्य होनी चाहिए।

25.4.2– भू–प्रबन्धन सम्बन्धी समस्याएं – देश की किसी भी क्षेत्र में भूमि तथा फसल प्रबन्धन का अभाव पाया जाता है क्योंकि इस प्रकार की नीतियों और प्रबन्धन का संचालन वे लोग करते हैं जिन्हें इस क्षेत्र में कोई जानकारी नहीं है। भारत का भू– प्रबन्धन काफी हद तक प्रशासनिक नियन्त्रण में है। पटवारी, ग्राम अधिकारी, मण्डल अधिकारी, राजस्व इंस्पेक्टर आदि जैसे बुनियादि राजस्व अधिकारी शहर व अर्द्धशहरी इलाकों में निवास करते हैं। जिस कारण बिना स्थल निरिक्षण के ही भूमि विवादों का निपटारा कर दिया जाता है। इसके बावजूद हजारों भूमि विवाद राजस्व अदालतों में लम्बित हैं जो कृषि के उचित प्रबन्धन में बड़ी बाधा है। इसलिए कृषि अभिलेखों का उचित प्रबन्धन कृषि विकास की आधारभूत आवश्यकता है।

25.4.3– भूमि अधिग्रहण नीति– केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा गठित विभिन्न विकास प्रधिकरणों द्वारा भूमि अधिग्रहण की नीति में कृषि भूमि के अनुसार परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। औद्योगिक विकास आधाभूत संरचना के विकास तथा आवासीय परियोजनाओं हेतु ऐसी भूमि का अधिकरण किया जाना चाहिए जो कि कृषि योग्य नही है। ऊसर बंजर तथा क्षरित भूमि का ही अधिग्रहण होना चाहिए। कृषि भूमि का अधिग्रहण व निर्माण कार्य प्रतिबन्धित होना चाहिए। आवासीय औद्योगिक एवं ढांचागत निर्माणों के लिए कृषि भूमि के

अंधाधुंध अधिग्रहण पर रोक होनी चाहिए। जिससे कृषि क्षेत्रों का संकुचन न हो और कृषि उत्पादन में स्थिरता के साथ वृद्धि हो।

25.4.4– कृषि उत्पाद के प्रबन्धन की समस्या– कृषि उत्पाद जब बाजार में आता है तो उसकी पूर्ति की अधिकता से मूल्य में निरन्तर गिरावट होती है और मध्यस्त भी इस स्थिति का फायदा उठाते हैं क्योंकि समय पर विपणन व्यवस्था न होने के कारण कृषि उत्पाद के नष्ट होने का भय होता है। भण्डारण व्यवस्था के अभाव में किसान अपने उत्पाद को शीघ्र बेचने के लिए बाध्य हो जाते हैं। साथ ही किसान की वस्तुओ अर्थात् उत्पाद का मूल्य भी सरकार द्वारा निर्धारित किया जाता है। आज भी किसानों के पास इस प्रकार का कोई तन्त्र नहीं है, जो यह तय कर सके कि उसके उत्पाद का उचित मूल्य आज किस बाजार में क्या है और भविष्य में मूल्य घटने–बढ़ने की क्या सम्भावनाएँ हैं।

25.4.5– साख प्रबन्धन में कठिनाई– कृषि प्रबन्धन की पूर्व प्रक्रिया उचित साख व्यवस्था पर निर्भर करती है और आधुनिक कृषि तकनीक के लिए बड़ी मात्रा में कृषि साख की आवश्यकता पड़ती है। आधुनिक कृषि तकनीक में साख की आवश्यकता के अतिरिक्त अधिक जोखिम भी है क्योंकि यदि किसान का उत्पादन बाढ़, सूखे आदि के कारण ठीक ढंग से नही हुआ तो किसान की स्थिति अन्यन्त दयनीय हो जाती है। यद्यपि इसके लिए सरकार ने अनेक साख संस्थाओं की स्थापना की है और किसानों के जोखिम को कम करने के लिए कृषि बीमा योजना शुरु की है। लेकिन इसका दायरा कुछ फसलों तथा किसानों तक ही सीमित है जिस कारण इन योजना का विस्तार सभी फसलों तथा किसानों तक होना आवश्यक है जिससे किसान कृषि प्रबन्धन की आधुनिक तकनीक को अपना सकें।

25.4.6– अनुबन्ध खेती की समस्याएं– अनुबन्धित खेती में कई बार पूर्व निर्धारित मूल्य में देरी से भुगतान, कमजोर विस्तार सेवाएं तथा निवेश में धन की कमी की समस्याएं भी आ रही है। किसानों की कमजोर क्रयशक्ति की वजह से इस कारोबार में उनके मूल उत्पादक होने के बावजूद उनकी स्थिति दूसरे दर्जे की होती जा रही है। बाजार के उतार–चढ़ाव के चलते अनुबन्धित राशि से बेहतर या कभी कम मूल्य मिलने के कारण भी कभी किसान तो कभी खरीददार बिना सूचना दिए अनुबन्ध का उल्लंघन कर देते हैं। इसलिए मूल्य निर्धारण में किसान संघो, सरकारी तथा गैर सरकारी संगठनों की भागीदारी होनी चाहिए। किसान की कम्पनी के विपणन तन्त्र में हिस्सेदारी होनी चाहिए जिससे वह अपने हितों की रक्षा कर सकें।

25.4.7– लागत की अधिकता–आधुनिक कृषि प्रबन्धन में कृषि आगतों–उच्च उत्पादक बीज, उत्पादक बीज, रासायनिक उर्वरक, कीटनाशक, नवीन सिंचाई व्यवस्था, कृषि यन्त्रों आदि का बढ़ा महत्व है। लेकिन भारत में आज भी उच्च उत्पादकता वाले बीज के वितरण व उपलब्धता में अनिश्चितता के साथ लागत में भिन्नता है और कई बार तो उच्च उत्पादकता वालें बीजो के नाम पर किसानों को नकली बीज दे दिये जाते हैं। भारत में नाइट्रोजन को छोड़ कर अधिकांश उर्वरकों का आयात किया जाता है। आज–कल नकली उर्वरकों की नई समस्या भी देखने को मिल रही है। कीटनाशकों के साथ भी यही स्थिति है। कृषि यन्त्रों के

अधिक लागत, तकनीकि ज्ञान व प्रशिक्षण की कमी तथा अनियमित पूर्ति के कारण कृषि प्रबन्धन की व्यवस्था मे अनेक बाधायें आती है।

25.4.8– कृषि आधारित उद्योगों के उचित विकास का अभाव– यद्यपि भारत में कृषि पदार्थ प्रसंस्करण की व्यवस्था में अनेक बदलाव आये हैं। लेकिन अभी–भी फल तथा सब्जियों के प्रसंस्करण की अपार सम्भावनाएं हैं, जिससे इन पदार्थो के मूल्यों में स्थिरता के साथ पूर्ति भी सुनिश्चित की जा सकें। खाद्य प्रसंस्करण की इकाईयों अधिकांश बड़ी कम्पनियों द्वारा चलाई जाती है जो ग्रामीण क्षेत्रों से दूर होती है। जिस कारण किसानों से इनका सीधा सम्पर्क नहीं होता, इस कारण किसान इन सुविधाओं का समुचित लाभ उठाने में असमर्थ रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि नवीन कृषि व्यवस्था में कृषि प्रबन्धन की महत्वपूर्ण भूमिका है जिससे न्यूनतम् लागत में अधिकतम् उत्पादन की प्राप्ती हो सकें। कृषि प्रबन्धन में जहाँ भू–प्रबन्धन के साथ कृषि आगतों का उचित प्रबन्धन आवश्यक है। वहीं दूसरी ओर उत्पादित कृषि पदार्थो के उचित भण्डारण, प्रसंस्करण तथा विपणन का प्रबन्धन भी आवश्यक है जो कृषि विकास के साथ ही देश के विकास में सहायक हो।

25.5.सारांश

आज के व्यवसायिक कृषि के युग में कृषि प्रबन्धन का महत्व बढ़ गया है। जिससे कृषि स्वरुप बदल गया है अब कृषि में भू–प्रबन्धन, क्षीर भूमि प्रबन्धन, उच्च गुणवत्ता वाले बीज, जल प्रबन्धन, उर्वरक प्रबन्धन, मृदा संरक्षण, कृषि बीमा प्रबन्धन, बागवानी प्रबन्धन, कृषि वित्त हेतु– किसान क्रेडिट कार्ड, खाद्य प्रसंस्करण, ई खेती तथा अनुबन्धित खेती जैसी व्यवस्था के कारण कृषि प्रबन्धन के नये युग का आरम्भ हुआ है। जिसने कृषि के परम्परागत स्वरुप को बदल कर, एक व्यवसाय का रुप दे दिया है, लेकिन कृषि प्रबन्धन को अपनाने में कुछ समस्याएं है जो भारत में कृषि प्रबन्धन की प्रवृत्ति में अनेक बाधायें आती हैं जैसे– तकनीकी कृषि शिक्षा का अभाव, भू–प्रबन्धन की समस्या, भूमि अधिग्रहण, कृषि आगतो की कमी, साख प्रबन्धन में कठिनाई, अनुबन्धित खेती की समस्याएं, कृषि आधारित उद्योंगो का अभाव तथा लागत की अधिकता। इन समस्याओं के कारण कृषि का समुचित विकास करना है, तो इन बाधाओं को दूर करना होगा। तभी कृषि प्रबन्धन की व्यवस्था सफल होगी।

25.6. शब्दावली

- **कृषि साख–** वह ऋण (साख) जो कृषि कार्य हेतु लिया जाता है।
- **उर्वरक–** रासायनिक खाद जैसे–यूरिया, पोटाश, फास्फेट आदि।
- **कृषि का व्यवसायिकरण–** लाभ प्राप्ती के उद्देश्यों से कृषि करना।
- **काश्तकार–** जो लोग किसी दूसरे की भूमि पर ठेके पर कृषि करता है।
- **अनुदान/रियायत** – सरकार द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता का रूप जो किसी वस्तु या सेवा के उपयोग पर प्राप्त हो।
- **नाबार्ड–** राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक (NABARD)

- **विकेन्द्रीकरण–** उद्योगों व कृषि क्रियाओं का बिखराव या फैलाव
- **उद्यमिता–** जोखिम उठाने की क्षमता
- **खाद्य प्रसंस्करण –** ऐसी व्यवस्था जिससे खाद्य पदार्थ लम्बे समय तक प्रयोग किये जा सकें।
- **आधारभूत संरचना –** विकास में सहायक आधार जैसे–सड़क, परिवहन, विद्युत, लोह इस्पात, सीमेंट उद्योग आदि।

25.7.अभ्याय प्रश्न

रिक्त स्थान भरों :–

1. केन्द्र सरकार ने ग्रामीण विकास बैंक नाबार्ड के जरिये ग्रामीण क्षेत्रों में ....केन्द्र की स्थापना की गई।
2. भारत सरकार ने राजस्व प्रशासन..... में भू– अभिलेखो को कम्प्यूटरीकृत और नक्शों का अंकीकरण करना शुरु किया।
3. मिट्टी की ऊपरी परत, जो करीब.....सेन्टीमीटर गहरी है, तेजी से नष्ट हो रही है और यही मिट्टी जीवनदायिनी है।
4. आंकड़ो पर ध्यान दें तो भारत में मनुष्य भूमि अनुपात..... ..... हेक्टेयर प्रति व्यक्ति है।
5. वर्ष 2025 में घटकर मनुष्य भूमि अनुपात..... हेक्टेयर होने का अनुमान लगाया जा रहा है।
6. भारत में कुल भूमि क्षेत्रफल ..... मिलियन हेक्टेयर है। इसमें अभी तक कृषि कार्य में करीब.....मिलियन हेक्टेयर भूमि ली जा रही है।
7. देश की करीब ..... मिलियन हेक्टेयर भूमि जल तथा वायु अपरदन से प्रभावित है।
8. 1966 के प्रयोग के बाद उच्च उत्पादकता वाले बीजों के प्रयोग को बढ़ावा मिला। जिससे गेहूं का उत्पादन लगभग .....गुना हो गया।
9. भारत में सिंचाई कुप्रबंधन के कारण करीब..... मिलियन हेक्टेयर भूमि लवण्ता से प्रभावित है।
10. भारत में करीब ..... फीसदी कृषि भूमि वर्षा पर आधारित है।
11. पौधे को तैयार होने में करीब..... फीसदी जल की आवश्यकता होती है।
12. नाइट्रोजनी, फॉस्फेटी तथा पोटाशी– NPK का उपयोग एक संतुलित अनुपात में ही किया जाना चाहिए। भारत के लिए अन्न फसलों हेतु मानक अनुपान .... माना जाता है।
13. उर्वरक उपभोग में भारत का विश्व में ..... स्थान है।

14. पोटाशी उर्वरकों के लिए भारत पूरी तरह से..... पर ही निर्भर है।
15. देश में सर्वप्रथम फसल बीमा योजना, परीक्षण के तौर पर .... से .....तक चलाई गई थी।
16. .....से केन्द्रीय कृषि मन्त्रालय ने व्यापक फसल बीमा योजना प्रारम्भ की ।
17. बागवानी उत्पादों को प्रोत्साहन देने के लिए केन्द्र सरकार ने एक राष्ट्रीय बागवानी मिशन .....से प्रारम्भ किया है ।
18. किसान क्रेडिट कार्ड योजना ..... में प्रारम्भ की गई थी ।
19. ..... को तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी वाजपेयी ने नई दिल्ली में किसान कॉल सेन्टर तथा कृषि चैनल का उद्घाटन किया।
20. किसान कॉल सेन्टरों में .....नम्बर डायल करके कृषि सम्बन्धी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।
21. भारत में खाद्य प्रसंस्करण उद्योग मंत्रालय की स्थापना .... में की गई।
22. देश में अनुबन्ध खेती का मौजूदा दौर का लगभग वर्ष 1989 में पंजाब के होशियारपुर में ..... द्वारा टमाटर संसाधन संयंत्र की स्थापना के साथ शुरु हुआ।

उत्तर –(1) ग्रामीण ज्ञान केन्द्र (रुरल नॉलेज सेंटर्स) (2) 1988–89 (3) 20 सेन्टीमीटर (4)0.48 हेक्टेयर प्रति व्यक्ति (5) 0.23 हेक्टेयर (6) 329 मिलियन हेक्टेयर ,144 मिलियन हेक्टेयर भूमि (7) 140 मिलियन हेक्टेयर भूमि (8) 4 गुना (9) 6–7 मिलियन हेक्टेयर (10) 60 फीसदी (11) 90 फीसदी (12) 4 प्रतिशत, 2 प्रतिशत और 1 प्रतिशत (13) तीसरा (14) आयात (15) 1973 से 1984 (16) अप्रैल 1985 (17) 5 मई 2005 (18) अगस्त 1998 (19) 21 जनवरी 2004 (20)1551 नम्बर (21) जुलाई 1988 (22) पेप्सी फूड लिमिटेड ।

25.8.सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1- देवपुरा प्रतापमल ,''*सामुहिक भूमि का प्रबन्ध*'' (दिसम्बर 2011) कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

2- मोदी अनीता, '' *भारत में कृषि : चुनौतियाँ एवं समस्याएँ* '' (जनवरी 2011) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।

3- शर्मा कुलदीप एवं सुधीर प्रधान, '' *जैविक खेती : समस्याएँ और सम्भावनाएँ*'' (जनवरी 2011) योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।

4- सिंह कुमार सुनील'' *कृषि क्षेत्र में नई क्रान्ति –ई खेती* ''(अक्टूबर 2011) कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

5- कुमार सुरेन्द्र '' *भारत में भू–अभिलेखों का आधुनिकीकरण* '' (अक्टूबर 2011), योजना, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, प्रकाशन विभाग भारत सरकार, नई दिल्ली।

6- मलिक जगपाल सिंह'' *मृदा उर्वरकता प्रबन्धन* ''(नवम्बर 2011) कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

7- समसामायिक वार्षिकी 2011, Vol. 1. प्रतियोगिता दर्पण; आगरा।

8- यादव सावित्री,''*किसान क्रेडिट कार्ड से खत्म हुई किसानों की ऋणग्रस्तता* '' (जून 2011) कुरूक्षेत्र, ग्रामीण विकास मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

9- सोनी आर0 एन0; ''*कृषि अर्थशास्त्र के मुख्य विषय* '' ;(2007) ; विशाल पब्लिशिंग कम्पनी, जालन्धर।

10- प्रतियोगिता दर्पण; 2010, आगरा।

25.9.सहायक / उपयोग पाठ्य सामग्री

1. Taylor, H.C., (1949),'*Outlines of Agricultural Economic's*, MacMillan

2. Ghatak, S and K. Ingerscant (1984), '*Agriculture and Economic Developmen*t'; Select books,New Delhi.

3. SandhA.N.,Singh,Amarjit (2009),'*Fundamentals Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.

4. Desai,R.G. (2009), '*Agricultural Economics*', Himalaya Publishing House.

5. Dantawala, M.L. et al. (1991): '*Indian Agricultural Development since Independence*',Oxford& IBH, New Delhi.

25.10.निबन्धात्मक प्रश्न

1. कृषि प्रबन्धन की वर्तमान प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालिए।
2. कृषि प्रबन्धन की समस्याओं का वर्णन करो।
3. कृषि प्रबन्धन ने कृषि का स्वरुप बदल दिया है, आलोचनात्मक व्याख्या करो।

इकाई–26 कृषि वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

इकाई संरचना

26.1 प्रस्तावना

26.2 उद्देश्य

26.3 विदेशी व्यापार नीति एवं कृषि वस्तु का विदेशी व्यापार

26.4 कृषि वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

26.4.1 कृषि वस्तुओं के निर्यात का प्रतिरूप

26.4.2 कृषि वस्तुओं के निर्यात की दिशा

26.4.3 कृषि वस्तुओं के आयात का प्रतिरूप

26.4.4 कृषि वस्तुओं के आयात की दिशा

26.5 कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बर्द्धन हेतु सरकारी प्रयास

26.6 कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी समस्याऐं

26.7 सारांश

26.8 पारिभाषिक शब्दावली

27.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

26.10 संदर्भ ग्रन्थ सूची

26.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

26.12 निबन्धात्मक प्रश्न

26.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत इकाई 'कृषि वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार' आठवे प्रश्न पत्र के अन्तर्गत सातवें खण्ड 'कृषि और वाह्य क्षेत्र' की छब्बीसवीं इकाई है।

पूँजीवाद की ओर बढ़ते कदम तथा औद्योगीकरण की लहर के बाद भी भारतीय अर्थव्यवस्था कृषि वस्तुओं के उत्पादन एवं उनके व्यापार के बिना अधूरी ही कही जायेगी वैश्वीकरण के दौर में अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं को भी शामिल करना अत्यन्त महत्वपूर्ण माना गया है। प्रस्तुत इकाई कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न पहलुओं से सम्बन्धित की गयी है। जिसके अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के आयात–निर्यात के प्रतिरूप तथा उसकी दिशाओं के साथ–साथ कृषि के विकास को भी समाहित किया गया है। विदेशी व्यापार का कृषि के विभिन्न पक्षों पर सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभावों को स्पष्ट किया गया है जिन्हें विदेशी व्यापार की कठिनाईयों के अन्तर्गत भी स्पष्ट किया गया है।

कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का सम्बन्ध विदेशों में कृषि वस्तुओं की मांग से पाया जाता है वहीं इनका उन पर सम्बन्ध भारतीय कृषि के उत्पादन एवं उनकी कीमत नीति से लगाया जाता है। सरकारी विदेशी व्यापार सम्बन्धी नीतियाँ भी कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित एवं निर्धारित करती है।

26.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप भली–भांति समझ सकेंगे कि –

(i) कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की क्या स्थिति है? जिसके अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के आयात एवं निर्यात की संरचना एवं दिशाओं के बारे में आप भली–भांति विभिन्न तथ्यों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

(ii) कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार तथा कृषि के विकास के मध्य अन्तर्सम्बन्धों के बारे में आप विभिन्न पक्षों से भली–भांति परचित हो सकेंगे।

(iii) प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार से सम्बन्धित विभिन्न कठिनाईयों एवं समस्याओं के बारे में भली–भांति समझ सकेंगे।

26.3 विदेशी व्यापार नीति एवं कृषि वस्तुओं का विदेशी व्यापार

भारत में कृषि वस्तुओं के आयात एवं निर्यात के सम्बन्ध में आर्थिक तथा राजनैतिक स्तर पर अनके प्रकार के मतभेद पाये जाते रहे हैं। एक ओर देश में सरकार खाद्य सुरक्षा की गारण्टी प्रदान करती है वहीं खाद्य वस्तुओं की कीमतों को नियंत्रित करने के प्रयास किये जाते रहे हैं। देश में खाद्यान्न तथा अन्य कृषि वस्तुओं के उत्पादन के बाद भी देश में भुखमरी, कुपोषण जैसी समस्याऐं पायी जाती हैं। सरकार को अर्थव्यवस्था की आन्तरिक तथा बाहरी प्रकृति को देखते हुए कृषि वस्तुओं के आयात–निर्यात के लिए विदेशी व्यापार नीति में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

आपको यह ज्ञात होगा कि देश की आजादी के समय तथा वर्तमान समय में कृषि वस्तुओं के व्यापार में महत्वपूर्ण परिवर्तन पैदा हुए। विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में जो नीतियाँ तय की गयी उनको निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

विदेशी व्यापार नीति

भारत में कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार के सुधार करने के लिए अनेक नीतिगत उपाय किये गये। ये नीतिगत उपाय भारत की विभिन्न विदेशी व्यापार नीतियों के अन्तर्गत शामिल किये गये हैं। आप आगे भारत सरकार द्वारा निर्धारित विदेश व्यापार नीतियों के अन्तर्गत कृषि के विदेशी व्यापार सुधार सम्बन्धी उपायों को समझ सकेंगे। विदेशी व्यापार नीति 2004–09 के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रयास किये गये। इसके लिए कृषि क्षेत्र के लिए निम्नलिखित सुविधाऐं देने की व्यवस्था की गयी।

1. फल, फूलों, सब्जियों एवं लघु वनोत्पादों तथा इनके मूल्यवर्द्धित उत्पादों के निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए विशेष कृषि योजना नाम से एक नये पैकेज की घोषणा की गयी जिसके तहत इन उत्पादों का निर्यात 5 प्रतिशत ड्यूटी फ्री क्रेडिट इन्टाइटलमेंट के लिए हकदार होगा।
2. कृषि क्षेत्र में उत्पादकता बढ़ाने के लिए तथा पौधों की किस्म में सुधार लाने के लिए बीजों के आयात तथा निर्यात नई पौध के आयात को आसान बनाया गया है।
3. दवाई निर्माण में प्रयोग होने वाले पौधों तथा हर्बल–उत्पादों के निर्यातों को विशेष बढ़ावा देने का प्रयत्न किया गया है।
4. कृषि क्षेत्र के लिए पूंजीगत वस्तुओं का आयात शुल्क से मुक्त कर दिया गया है।
5. पिछली विदेशी व्यापार नीति में स्थापित कृषि–निर्यात क्षेत्रों को मजबूत बनाया गया है। इन कृषि निर्यात क्षेत्रों से कृषि उत्पादों को बढ़ावा देने के लिए इन क्षेत्रों को बहुत सी रियायतें दी गयी। इन क्षेत्रों के अद्योसंरचना विकास पर भी ध्यान दिया गया।

विदेशी व्यापार नीति '2009–14'

विदेश व्यापार नीति 2009–14 के अन्तर्गत भी कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए मूलभूत उपाय किये गये हैं –

1. कृषि वस्तुओं के निर्यात को आसान बनाने के लिए एक ही स्थान पर से सभी औपचारिकताऐं पूरी करने की नीति अपनाये जाने की व्यवस्था की गयी। इसे सिंगल विण्डो स्कीम (Single Window Scheme) कहा जाता है। इस व्यवस्था से निर्यात को समयानुसार सम्भव बनाया जा सकता है।
2. चाय निर्यातों को विशेष कृषि और ग्राम उद्योग योजना के अधीन उपलब्ध लाभ प्रदान करने की व्यवस्था की गयी।
3. कृषि निर्यात को रोजगारपरक बनाने पर जोर दिया गया है।
4. कृषिगत उपजों के निर्यात सम्बर्द्धन हेतु (विशेष कृषि उपज योजना) को प्रारम्भ किया गया।

5. बीजों के आयातों की शर्तों को अत्यन्त उदार बनाया गया।

पूरक विदेशी व्यापार नीति–'2011–12'

भारत की पूरक विदेशी व्यापार नीति–2011–12 के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया है।

26.4 कृषि वस्तुओं का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार

भारत के विदेशी व्यापार में कृषि वस्तुओं का ध्यान लम्बे समय से ही निर्धारित किया गया है। भारत कृषि वस्तुओं का आयात एवं निर्यात दोनों ही अलग–अलग स्तर पर समयानुकूल करता रहा है। कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने के लिए भारत अन्तर्राष्ट्रीय अनाज परिषद का सदस्य बन गया है। गेहूँ और अन्य मोटे अनाजों के मामलों में सहयोग करने के लिए आयात एवं निर्यात करने के उद्देश्य से यह परिषद कार्यशील है। 1995 को इस परिषद को अन्तर्राष्ट्रीय गेहूँ परिषद कहा जाता था। भारत को 2003 में निर्यातक सदस्य के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय अनाज परिषद का सदस्य बनाया गया।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक होगा कि 1951 से प्रारम्भ किये गये भारतीय नियोजन कार्यक्रम की सफलता के चलते अस्सी दशक में भारत खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर हो गया। वर्तमान में भारत न केवल कृषि वस्तुओं का निर्यात करता है बल्कि खाद्यान्न का 2 करोड़ टन का बफर स्टाक भी रखता है। सन् साठ के दशक की विदेशी व्यापार की स्थिति पर एक नजर डाली जाय तो भारतीय अर्थव्यवस्था को 'शिप–टू–माउथ' खाद्य अर्थव्यवस्था कहा जाता था। विदेशों से आयात होने वाला गेहूँ जहाज से सीधे भूखे लोगों के पेट तक जाता था। वर्ष 1963 से 1968 के दौरान जिस हरित क्रान्ति को भारत ने अपनाया उसने भारतीय खेती तथा अर्थव्यवस्था दोनों की दिशा एवं दशा बदल दी है। कृषि वैज्ञानिक नौरमन ई.बोरलॉग, तत्कालीन कृषि मन्त्री, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद ने नये बीजों की किस्मों का उत्पादन करके अधिक उत्पादन द्वारा कृषि के वस्तुओं के विदेशी व्यापार को बढ़ावा दिया।

26.4.1 कृषि वस्तुओं के निर्यात का प्रतिरूप

आप इस उपखण्ड के अन्तर्गत यह समझ सकेंगे कि भारत कौन–कौन सी कृषि वस्तुओं का निर्यात करता है तथा इन वस्तुओं के निर्यात की मात्रात्मक स्तर पर क्या विशेषताऐं रही हैं। भारत द्वारा कृषि वस्तुओं के अन्तर्गत काजू की गिरी, काफी, खली, कपास, चावल, मसाले, चीनी, चाय तथा मेट तथा तम्बाकू का निर्यात विदेशों को किया गया है।

वर्ष 2005–06 में कृषि वस्तुओं का निर्यात रू० 46703 करोड़ रहा जिसमें 2594 करोड़ रूपये की काजू की गिरी, 1731 करोड़ रूपये की काफी, 4875 करोड़ रूपये की खली, 2904 करोड़ रूपये की कपास, 2116 करोड़ रूपये के मसाले, 598 करोड़ रूपये की चीनी, 1589 करोड़ रूपये की चाय मेट तथा 1032 करोड़ रूपये की तम्बाकू का निर्यात का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि वर्ष 2005–06 के दौरान 19.6 प्रतिशत की वृद्धि कृषि तथा सम्बद्ध उत्पादों के निर्यातों में दर्ज की गयी।

पिछले दो दशकों के कृषि वस्तुओं के निर्यात का अध्ययन करने के लिए नीचे तालिका दर्शायी गयी है जो निर्यात के प्रतिरूप को स्पष्ट करती है।

तालिका भारत से कृषि उत्पाद का निर्यात

निर्यात की राशि (करोड़ रूपये में)

क्र. सं.	मद	1990–91	2007–08	2008–09	2009–10	2010–11
1.	चाय और मेट	1070 (3.4%)	2034 (0.3%)	2689 (0.3%)	2944 (0.3%)	3247 (0.3%)
2.	काजूगिरी	447 (1.4%)	2235 (0.3%)	2931 (0.3%)	2829 (0.3%)	2627 (0.2%)
3.	चावल	462 (1.4%)	11755 (1.8%)	11164 (1.3%)	11255 (1.3%)	10801 (0.9%)

नोट :– कोष्ठक में दिये गये आंकड़े कुल निर्यात का प्रतिशत है।

ऊपर दी गयी तालिका को देखने से आप भली–भांति समझ सकेंगे कि विभिन्न वर्षों में कृषि वस्तुओं के निर्यात में क्या परिवर्तन हुए हैं। चाय तथा मेट का निर्यात वर्ष 1990–91 में 1070 करोड़ रूपये का रहा जो वर्ष 2010–11 में 3247 करोड़ रूपये का हो गया। वर्ष 1990–91 में इसका भाग 3.4 प्रतिशत था जो वर्ष 2010–11 में केवल 0.3 प्रतिशत ही रह गया इसी प्रकार काजूगिरी तथा चावल के निर्यात में भी गिरावट दर्ज की गयी। वर्ष 1990–91 में काजू गिरी का निर्यात 1.4 प्रतिशत रह गया। वर्ष 1990–91 में चावल का निर्यात 1.4 प्रतिशत था जो 2010–11 में जाकर 0.9 प्रतिशत ही रह गया।

26.4.2 कृषि वस्तुओं के निर्यात की दिशा

भारत के कृषि वस्तओं के विदेशों में बड़े स्तर पर मांग की गयी है। कृषि वस्तुओं का निर्यात श्रीलंका, चीन, पूर्वी अफ्रीकी देश को किया गया है ये देश भारत की चाय के प्रमुख ग्राहक हैं। जूट का निर्यात बांग्लादेश को किया जाता है। इसके साथ खाद्यान्न तथा अन्य कृषि वस्तुओं का निर्यात अमेरिका, इग्लैण्ड, रूसी संघ, यूरोपीय संघ तथा जापान सहित अन्य विकसित देशों को किया जाता है।

26.4.3 कृषि वस्तुओं के आयात का प्रतिरूप

आपको यह पता होगा कि भारतीय कृषि उत्पादन पर अनेक प्रकार के प्राकृतिक तथा गैर प्राकृतिक कारकों का प्रभाव पड़ता है। जिससे कृषि उत्पादन अनेक दिशाओं में परिवर्तित होता रहता है। कृषि में होने वाले परिवर्तन भारत के विदेशी व्यापार को भी प्रभावित करते हैं। कृषि वस्तुओं के उत्पादन में होने वाले संरचनात्मक परिवर्तन भारत के कृषि वस्तुओं के आयातों को मात्रात्मक एवं दिशात्मक रूप में प्रभावित करते हैं। इसके लिए सरकार द्वारा अनेक प्रकार के प्रयास राष्ट्रीय तथा राज्य स्तरों पर किये गये हैं। कृषि सुधारों के परिणामस्वरूप भारत कृषि पदार्थों की पूर्ति के मामलों में आत्मनिर्भर हो गया है। अतः गत वर्षों में भारत के कृषि वस्तुओं के आयात में गिरावट दर्ज की गयी।

वर्ष 2009–10 में खाद्यान्न एवं उपभोक्ता वस्तुओं का आयात 497 करोड़ रूपये का था जो कुल आयात का 3.7 प्रतिशत रहा। इसी वर्ष खाद्य तेल का आयात रूपये 26483 करोड़ का किया गया जो कुल आयात का 1.9 प्रतिशत आंकलित किया गया। पिछले कुछ वर्षों में

भारत में तिलहन का उत्पादन उनकी मांग के अनुरूप न होने के कारण भारत को खाद्य तेलों का आयात करना पड़ता है।

वर्ष 2010–11 में खाद्यान्न एवं उपभोक्ता वस्तुओं का आयात 545 करोड़ रूपये जो कुल आयात का 2.9 प्रतिशत थां गत वर्षों में खाद्य एवं सम्बन्धित वस्तुओं के आयात में कमी दर्ज की गयी इसमें अनाज, दालें, दुग्ध उत्पाद, फल तथा सब्जियाँ शामिल हैं।

भारत द्वारा आयात की जाने वाली अन्य कृषि वस्तुओं में कपास, ऊन, जूट के रेशे आदि शामिल हैं। भारत को अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए कृषि उत्पादन को कच्चे माल के लिए भी आयतित करना पड़ता है। 1960–61 में कपास, ऊन एवं जूट के रेश का आयात 91 करोड़ रूपये का था जो 2009–10 में बढ़कर 9959 करोड़ रूपये का हो गया।

26.4.4 कृषि वस्तुओं के आयात की दिशा

आपको मालूम होगा कि भारत कृषि वस्तुओं के मामले में आत्मनिर्भर हो गया है इसीलिए इसके आयातों की दिशा भी सीमित हो गयी है। भारत का आवश्यकतानुसार कृषि वस्तुओं का आयात अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया से ही किया गया है जिसका भाग अत्यन्त नगण्य ही है। वियतनाम, थाइलैण्ड, श्रीलंका देशों में भी कृषि वस्तुओं का आयात किया जाता है।

26.5 कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बर्द्धन हेतु सरकारी प्रयास

अब आप कृषि वस्तुओं के आयात–निर्यात की दिशा एवं संरचना का अध्ययन करने के बाद महसूस करते होंगे कि भारत में कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार को और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत किये गये अनेक प्रयासों के बावजूद भी कृषि वस्तुओं का योगदान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उल्लेखनीय स्तर पर नहीं पहुँच पा रहा है। भारत सरकार तथा राज सरकारों के द्वारा पिछले काफी समय से कृषि वस्तुओं के व्यापार का बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रयास किये गये जिनको निम्न रूप में दर्शाया जा सकता है। आपने देखा होगा कि देश की स्वतन्त्रता के बाद से ही कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में अनेक परिवर्तन होते रहे हैं लेकिन सरकार द्वारा वर्तमान में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन इस आशय से किये गये कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के अनुरूप भारतीय कृषि में वांछनीय सफलता प्राप्त हो सके।

कृषि वस्तुओं के श्रेणी विभाजन एवं प्रमापीकरण के कारण भारतीय कृषि वस्तुओं की अन्तर्राष्ट्रीय मांग पर अनुकूल प्रभाव ड़ालने का सरकार द्वारा प्रयास किया गया। प्रमापीकरण एवं श्रेणीकरण से उपज की किस्म में सुधार हुआ तथा कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार का विस्तार हुआ। आपको यहां ध्यान देना होगा कि कृषि वस्तुओं के श्रेणी विभाजन एवं प्रमापीकरण की प्रक्रिया सरकार द्वारा काफी पहले ही प्रारम्भ की गयी थी लेकिन वर्तमान में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कड़ी बाजार प्रतियोगिता होने के कारण इसका महत्व और अधिक बढ़ गया है। वर्तमान में भारत सरकार द्वारा कृषि वस्तुओं के प्रमापीकरण एवं श्रेणी विभाजन पर अत्यधिक ध्यान दे रही है तथा इसके लिए आवश्यक कदम भी उठाये गये हैं। वर्तमान में देश में 1051 केन्द्रों पर कृषि वस्तुओं के वर्गीकरण का कार्य किया जा रहा है जिससे कृषि वस्तुओं की स्पर्द्धात्मक क्षमता में वृद्धि हुई है।

भारत सरकार द्वारा कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में होने वाले योगदान की जानकारी को किसानों तथा छोटे व्यापारियों तक पहुँचाने के लिए व्यापार से सम्बन्धित अनेक सूचनाओं का प्रकाशन हेतु प्रसारण किया जाता है जिससे किसानों को अपने उत्पादन के उपयोगिता की पूर्ण जानकारी होती है तथा अनावश्यक विचौलियों से बचा जा सकता है। कृषि वस्तुओं की व्यापार से सम्बन्धित सूचनाओं के प्रसारण एवं प्रकाशन में केन्द्र सरकार के साथ राज्य सरकारों द्वारा भी प्रयास किये गये हैं, इसके लिए ग्रामीण क्षेत्रों को रेडियो, टेलीविजन, समाचार पत्र, पत्रिकाओं एवं इन्टरनेट की सुविधा के माध्यम से आवश्यक सूचनाओं को ग्रामीणों तक पहुँचाया जा रहा है। कृषि वस्तुओं को व्यापार चक्रों/उच्चावचनों से सुरक्षित रखने के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में सरकार द्वारा अनेक प्रकार की वित्तीय सहायता सम्बन्धी कार्यक्रमों का प्रचार व्यापक स्तर पर कर रही है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि उत्पाद को मांग एवं पूर्ति के अनुसार समायोजित करने के लिए भण्डार ग्रहों/शीतग्रहों की स्थापनो के लिए विशेष रूप से वित्तीय सहायता उपलब्ध करायी गयी है।

व्यापार को बढ़ाने के लिए कृषि क्षेत्र में नवीन अनुसंधान तथा सर्वेक्षणों के माध्यम से कृषि के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी अनेक समस्याओं को दूर करने का प्रयास किया गया है ताकि विदेशी व्यापार के लिए ग्रामीण स्तर सके उत्पादन, लागत तथा गुणवत्ता सम्बन्धी चुनौतियों का सामना किया जा सके। सरकार द्वारा कृषि वस्तुओं के न्यूनतम समर्थन मूल्यों की भी समय–समय पर सरकार द्वारा घोषणाएँ की जाती हैं तथा समयानुसार इसमें आवश्यक संसोधन भी किया गया है ताकि कृषि वस्तुओं के मूल्यों में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के अन्तर में अधिक वृद्धि न हो सके। कृषि वस्तुओं के मूल्यों में यह अन्तर अधिक होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

कृषि वस्तुओं के उत्पादन विस्तार तथा सुधार के लिए आने वाली पूँजी की कमी को दूर करने के लिए बैंकों द्वारा अत्यधिक मात्रा में कृषि ऋण उपलब्ध कराने पर भारत सरकार द्वारा विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इसके साथ राष्ट्रीय सहाकारी कृषि विपणन संगठन (NAFED) के द्वारा भी कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए कृषि सम्बन्धी वस्तुओं की पूर्ति कराता है। विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने के लिए समय–समय पर कृषि नीतियों में भी आवश्यक कदम उठाये गये हैं। इसके साथ विदेशी व्यापार नीतियों में भी कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए विशेष प्रयास किये गये हैं।

भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में भी कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के लिए विशेष प्रयास किये जाते रहे हैं। भारत सरकार द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से भी इस दिशा में ठोस कदम उठाये गये थे। कृषि वस्तुओं के आयात को कम करने के लिए आयात प्रतिस्थापन विशेष जोर दिया गया है तथा निर्यात सम्बर्द्धन हेतु भी सार्थक कदम उठाये गये हैं, इसके लिए व्यापार बोर्डों के स्थापना, वस्तु मण्डलों की स्थापन, निर्यात गृहों की स्थापना की गयी है। सरकार द्वारा निर्यात संबर्द्धन परिषदों का गठन किया गया है जिसमें कृषि वस्तुओं को वरीयता दी गयी है।

सरकार की आर्थिक नीति के अन्तर्गत उदार लाइसेंस प्रणाली का अपनाया गया जिसमें मुक्त व्यापार को बढ़ावा देने के लिए नकद सहायता तथा प्रशुल्कों में रियायतें देने की व्यवस्था की गयी। इससे कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने में बढ़ी सीमा तक प्रोत्साहन मिला।

आपको यह जानकर भी अत्यन्त आवश्यक होगा कि सरकार द्वारा विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना की गयी जिसमें खाद्य प्रसंस्करण तथा कृषि उत्पादन के निर्यात पर विशेष फोकस दिया गया। वर्तमान में भी वस्तुओं के निर्यात को बढ़ा देने के लिए इन क्षेत्रों का विस्तार एवं नवीनीकरण किया जा रहा है। कृषि वस्तुओं की कीमतों में स्थायित्व बनाये रखने तथा व्यापार को अनुकूल बनाये रखने की दिशा में प्रयासों के साथ कृषि आदानों पर अनेक प्रकार की सरकारी सब्सिडी दी जा रही है जो वर्तमान में विकसित देशों तथा विकासशील देशों के मध्य एक समस्या का विषय बनी हुई है। शायद आपने इस तथ्य पर ध्यान दिया हो कि कृषि के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कृषि सम्बन्धी सुधारों तथा विकास कार्यक्रमों का भी महत्वपूर्ण योगदान होता है। भारत सरकार द्वारा इस दिशा में भी महत्वपूर्ण प्रयास किये गये हैं। राज्य सरकारों द्वारा कृषि सिंचाई सुविधाओं के विस्तार पर निरन्तर ध्यान दिया जा रहा है तथा इसके लिए नवीन विद्युत परियोजनाओं के माध्यम से कृषि उत्पादन में वृद्धि के सार्थक प्रयास किये गये हैं।

कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बर्द्धन हेतु सरकारी प्रयासों के अन्तर्गत अन्य महत्वपूर्ण प्रयास यह भी किया गया कि वैश्वीकरण के दौर में कृषि बाजार विस्तार की दिशा में राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के मेलों का भी आयोजन किया गया है। जिसमें कृषि वस्तुओं के प्रदर्शन को वरीयता दी गयी है।

26.6 कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार सम्बन्धी समस्याऐं

कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में सरकार को अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है। ये समस्याऐं संस्थागत तथा गैर–संस्थागत दोनों ही रूपों में सामने आती हैं। आप इस तथ्य से भली–भांति परिचित होगें कि कृषि वस्तुओं के उत्पादन, भण्डारण, विपणन, खाद्य सुरक्षा, मूल्यनीति आदि पक्षों से सम्बन्धित समस्याऐं हमारी कृषि व्यवस्था में पैदा होती रही हैं जिनका कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार के निर्यात का कमजोर ढाँचा, कृषि वस्तुओं के प्रसंस्करण की असुविधा, ग्रेडिंग तथा गुणवत्ता सम्बन्धी अनेक समस्याओं का निर्यातकों के सामना करना पड़ता है। भारतीय निर्यात सम्बन्धी नीतियों का भेदभाव पूर्ण निर्माण एवं क्रियान्वयन भी विदेशी व्यापार को सीमित करता है। जो हमारी अर्थव्यवस्था तथा कृषि विकास के लिए अवरोधक का कार्य करता है।

कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार सम्बन्धी अनेक प्रमुख समस्याओं को आप निम्न तथ्यों द्वारा आसानी से समझ सकेंगे।

1. हमारे देश के अन्दर अधिकांश कृषि उत्पादन निम्न कोटि का किया जाता है जिस पर उत्पादन लागत अधिक आती है जिसके आधार अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में कृषि वस्तुओं के मध्य प्रतियोगिता करना अत्यन्त कठिन हो जाता है इससे हमारा विदेशी व्यापार प्रतिकूल रूप से प्रभावित होता है।

2. भारत का कृषि निर्यात अमेरिका, इग्लैण्ड, रूसी संघ, यूरोपीय संघ, जापान आदि विकसित देशों के लिए किया जाता है। इसके साथ इन विकसित देशों का आयात नीति भारत के प्रति उदार नहीं है जिससे कृषि निर्यातकों को इन देशों के साथ व्यापार करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विकसित देशों द्वारा कृषि आयातों पर शर्तें प्रतिबन्ध तथा ऊँचे कर लगाये जाते हैं जिससे विदेशी व्यापार प्रभावित होती है।
3. सम्बन्धित तथा खाने के लिए तैयार कृषि वस्तुओं के निर्यात की मांग में वृद्धि हुई है लेकिन भारत में इन वस्तुओं की पूर्ति करने के लिए अनेक प्रकार की कृषि सम्बन्धी सुविधाऐं किसानों को दिया जाना आवश्यक माना गया है जो भारत में उपलब्ध नहीं हो रही है।
4. आपको यह बताना अत्यन्त आवश्यक होगा कि कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ावा देने के लिए कृषि वस्तुओं की लागत को कम करने के साथ कीमत भी कम रखने की आवश्यकता है लेकिन भारत में अधिक लागत तथा नीची कीमतों के कारण किसान आत्महत्या करने के लिए मजबूर हो रहा है। इस प्रकार का विरोधाभास कृषि तथा विदेशी व्यापार के विकास के बाधक सिद्ध हो रहा है।
5. भारत में तीव्र औद्योगीकरण, बढ़ती जनसंख्या आदि संस्थागत परिवर्तन के कारण कृषि वस्तुओं की घरेलू मांग में तीव्र वृद्धि हुई है जिससे निर्यात को प्रोत्साहन नहीं मिल पा रहा है। भारत में ही कृषि वस्तुओं का बाजार अत्यन्त बड़ा तथा विस्तृत है जो इन वस्तुओं के विदेशी व्यापार के लिए लाभदायक नहीं है।
6. कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार के सम्बन्ध में यह भी तर्क दिया जाता है कि भारत में खाद्य सुरक्षा की समस्या के लिए अनेक नीतिगत उपाय किये गये हैं जिससे कृषि उत्पादन को संग्रह करने जैसी सुविधाओं से कीमत नीति तथा तंत्र को प्रभावित किया गया है जो कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार के मार्ग में एक अवरोधक का कार्य करते हैं।

26.7 सारांश

देश की स्वतंत्रता के बाद से भारत की कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिले हैं। भारत द्वारा कृषि वस्तुओं के आयात में कमी करके आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली है। अमेरिका तथा आस्ट्रेलिया से की कृषि वस्तुओं का आयात किया जाना सम्भव होता है। भारत सरकार द्वारा विभिन्न विदेशी व्यापार नीतियों के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के निर्यात को बढ़ाने के लिए अनेक महत्वपूर्ण प्रयास किये। विशेष कृषि योजना सिंगल विण्डो कार्यक्रम, सहित अन्य प्रकार की रियायतें दी गयी। मात्रात्मक दृष्टि से कृषि वस्तुओं के निर्यातों में लगातार वृद्धि जारी है लेकिन आनुपातिक रूप से निर्यातों की वृद्धि ऋणात्मक ही रही है। इसके साथ वर्ष 2003 में भारत को कृषि निर्यातक देश के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय गेहूँ परिषद का सदस्य बनाया गया। वर्ष 2005–06 में 46703 करोड़ रुपये की कृषि वस्तुओं का निर्यात किया गया। यह निर्यात मुख्य रूप से अमेरिका, इंगलैण्ड, रूसी संघ, चीन, श्रीलंका, अफ्रीकी देश तथा जापान सहित अन्य देशों को किया

गया। भारत के विदेशी व्यापार के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के आयात–निर्यात में अनेक प्रकार की आन्तरिक तथा बाह्य समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

भारतीय कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार को बढ़ावा देने की दिशा में महत्वपूर्ण सफलता उस समय मिली जब जुलाई 2003 में भारत को अन्तर्राष्ट्रीय अनाज परिषद (इन्टरनेशनल ग्रेंस कौंसिल) में नियतिक सदस्य देश के रूप में शामिल कर लिया गया। इससे भारत के कृषि निर्यात को एक नई दिशा मिली। 1995 तक इस अन्तर्राष्ट्रीय अनाज परिषद को अन्तर्राष्ट्रीय गेहूँ परिषद के नाम से जाना जाता रहा था। इस परिषद का सदस्य बनाये जाने के पीछे मुख्य कारण विदेशी सदस्य देशों में भारतीय अनाज की मांग बढ़ने को लगाया जाता रहा है। इस अन्तर्राष्ट्रीय परिषद का सचिवालय लंदन में है। यह फूड एण्ड कन्वेंशन के तहत स्थापित फूड एण्ड कमेटी को भी सेवाऐं प्रदान करता है। भारत इण्टरनेशनल ग्रेंस एग्रीमेन्ट 1995 तथा इसके ग्रेन ट्रेड कन्वेंशन 1995 में भी शामिल है। वर्ष 2009–10 में भारत को 17997.49 पौंड का भुगतान किया गया था जिसे भारतीय कृषि वस्तुओं के व्यापार के लिए एक सार्थक प्रयास ही रहा जायेगा।

आपको शायद ज्ञात हो कि भारत के निर्यातों में आर्थिक से पूर्व खाद्य प्रसंस्करण की भूमिका अत्यन्त कम थी। भारत सरकार द्वारा खाद्य प्रसंस्करण करके खाद्यान्नों के निर्यात पर वल देना प्रारम्भ किया। सरकार ने इस दिशा में ठोस कदम उठाते हुए प्रारम्भिक सफलता प्राप्त की। वर्ष 1990–91 में भारत द्वारा प्रसंस्कृत खाद्यान्नों का निर्यात रूपये 10485.92 करोड़ था जो वर्ष 2001–02 में बढ़कर रूपया 13629.57 करोड़ हो गया। वर्ष 2002–03 में परिस्कृत खाद्य पदार्थों के निर्यातों का मूल्य 14600 करोड़ रूपये (अनुमानित) था। वर्ष 2001–02 में प्रसंस्कृत फल, सब्जियाँ, पशु उत्पादक, समुद्री उत्पाद, चावल, अखरोट, डेयरी उत्पाद, स्पिरिट, ब्रेवरीज का निर्यात बड़े स्तर पर किया गया। इसके बाद इन प्रसंस्कृत खाद्य पदार्थों के साथ वृद्धि होती गयी। शराब के निर्यात में भी भारत ने सक्रियता प्रदर्शित की। खाद्य प्रसंस्कृत खाद्य पदार्थों के निर्यात में भारत को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है। चाय का निर्यात भारतीय कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। चाय का निर्यात, परम्परागत निर्यात की श्रेणी में आता है। वर्तमान में भी चाय का निर्यात अपनी स्थिति को मजबूत बनाये हुए है। भारत चाय उत्पादक एवं निर्यात दोनों ही रूपों में प्रमुख है। भारत में चाय का अत्यधिक उपयोग होने पर भी एक बड़ा भाग निर्यात कर दिया जाता है। वर्ष 1950–51 में चाय का निर्यात 180 करोड़ रूपये का था जो वर्ष 2009–10 में बढ़कर 2944 करोड़ रूपये के स्तर पर पहुँच गया।

भारत ने कॉफी के निर्यात में भी महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त कर रखी है भारत द्वारा वर्ष 1950–51 में 1.4 करोड़ रूपये का निर्यात किया था जो वर्ष 2009–10 में बढ़कर 2032 करोड़ रूपये के स्तर पर पहुँच गया। इसी प्रकार जूट तथा जूट से निर्मित वस्तुओं का भी निर्यात परम्परागत रूप में रहा है। बांग्लादेश विभाजन से पूर्व भारत का जूट निर्यात पर एकाधिकार था लेकिन अब देश द्वारा जूट से निर्मित वस्तुओं का निर्यात किया गया।

अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में भारत को जूट वस्तुओं के निर्यात में कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है बांग्लादेश तथा इण्डोनेशिया इस निर्यात में मुख्य प्रतियोगी देश हैं।
भारत द्वारा खली का निर्यात किया जाता है। वर्ष 1960–61 में 14 करोड़ रूपये की खली निर्यात की गयी जो 2009–10 में 7832 रूपये के स्तर पर पहुँच गया।

कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए अनेक प्रकार के संस्थागत तथा गैर संस्थागत उपाय किये गये हैं, फिर भी इस क्षेत्र में अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

26.8 पारिभाषिक शब्दावली

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार –एक देश की अपनी भौगोलिक सीमाओं से बाहर वस्तुओं का आयात एवं निर्यात को अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार कहा जाता है।

वैश्वीकरण – दो या दो से आधिक देशों के बिना किसी रूकावट के वस्तुओं एवं सेवाओं का क्रय विक्रय वैश्वीकरण कहलाता है। इसके अन्तर्गत समस्त देशों की अर्थव्यवस्थाओं को एकीकरण किया गया है।

कीमत नीति –कीमतों को नियंत्रित एवं प्रशासित करने के लिए सरकार द्वारा किये गये नीतिगत प्रयास, कीमत नीति के नाम से जाने जाते है।

पूंजीवाद – अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत उत्पत्ति के साधनों पर निजी अधिकार रखने की स्थिति को पूंजीवाद कहा जाता है।

आयात–शुल्क – किसी देश द्वारा विदेशों से मंगायी गयी वस्तुओं एवं सेवाओं पर लगाया जाने वाला कर आयात शुल्क कहलाता है।

रियायतें – आयात निर्यातों के लिये पहले से निर्धारित शर्तों , नियमों व कानून को ढ़ीला करना ही रियायत कहलाता है।

निर्यात सम्वर्द्धन – किसी देश द्वारा नियार्तो में वृद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयासों को निर्यात सम्वंर्द्धन कहा जाता है।

खाद्य–सुरक्षा – देश के अन्दर जनता की भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए किये गये सुरक्षित उपायों को खाद्य सुरक्षा के नाम से जाना जाता है।

26.9. अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न संख्या–1. निम्नलिखित प्रश्नों का संक्षेप में उत्तर दीजिए?

(क) भारत से निर्यात होने वाली कृषि वस्तुऐं कौन–कौन सी हैं?

(ख) विदेशों से आयात की जाने वाली कृषि वस्तुओं का उल्लेख कीजिए?

(ग) कृषि वस्तुओं का निर्यात किन देशों को किया जाता है?

(घ) विदेश व्यापार सम्नीति 2009–14 में कृषि वस्तुओं के अन्तर्राट्रीय व्यापार सम्बन्धी तथ्यों का उल्लेख कीजिए?

(ड़) सिंगल विण्डो स्कीम से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न संख्या–2. निम्नलिखित कथनों में से सत्य/असत्य का चुनाव कीजिए।

(क) भारत से अमेरिको को कृषि वस्तुओं का निर्यात किया जाता है।

(ख) इंग्लैण्ड सबसे बड़ा कृषि वस्तुओं का आयातक देश है।

(ग) भारत के कृषिगत आयातों में वृद्धि जारी है।

(घ) भारत को अन्तराष्ट्रीय अनाज परिषद में आयातक देश के रूप में वर्ष 2003 में शामिल किया गया था।

प्रश्न संख्या–3. विदेश व्यापार नीति 2004–09 में कृषि वस्तुओं के निर्यात सम्वर्द्धन हेतु उठाये गये कदमों को स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न संख्या–4. बीजों के आयात की शर्तो को उदार किस विदेश व्यापार नीति में बनाया गया?

प्रश्न संख्या–5. दिये गये कथनों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए?

(क) वर्ष 2009–10 में भारत द्वारा रू0.....का खाद्यान्न तथा उपभोक्ता वस्तुओं का आयात किया गया।

(ख) भारत विदेशों से खाद्य तेलों का .....करता है।

(ग) वर्ष 2010–11 में रू0.....करोड़ का चावल विदेशों को निर्यात किया गया था।

(घ) श्री लंका तथा चीन देश भारतीय.....के प्रमुख ग्राहक देश हैं।

प्रश्न संख्या–6. कृषि वस्तुओं के आयात की दिशा को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए?

प्रश्न संख्या–7. नीचे दिये गये तथ्यों का सही जोड़े बनाओ।

(क)	(ख)
1. जूट का निर्यात	गेहूँ का आयात
2. शिप–टु–माउथ	बंग्लादेश
3. काजू गिरी	पूर्वी अफ्रीकी देश
4. चाय का निर्यात	निर्यात

26.10 संदर्भ ग्रंथ सूची

1. रूद्र दत्त एवं के.पी.एम. सन्दरम–2010 भारतीय अर्थव्यवस्था, 47 वाँ पूर्णतया संशोधित संस्करण, एस. चन्द एण्ड कम्पनी लि0, रामनगर नई दिल्ली।
2. मिश्रा एण्ड पुरी (2011) भारतीय अर्थव्यवस्था, 29 वां संस्करण, हिमालय पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली
3. डॉ0 सी.एस. बरला एवं डा0 एच.एस. अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, अग्रवाल (2010) लक्ष्मीनारायन अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, आगरा।
4. टी.टी. सेठी (2010) मुद्रा बैंकिंग एवं अन्तर्राट्रीय व्यापार, लक्ष्मीनारायन अग्रवाल पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता–आगरा।
5. जे0पी0 मिश्रा (2010) कृषि अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन्स आगरा
6. मासिक पत्रिकाऐं – (1) कुरूक्षेत्र – दिल्ली
   (2) योजना – दिल्ली
   (3) स्वदेशी – राधाकृष्णपुरम, नई दिल्ली

26.11. सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. आर्थिक समीक्षा – 2010–11 भारत सरकार, नई दिल्ली।
2. पाण्डेय मृगेश (2010) आर्थिक वृद्धि एवं विकास, नीति एवं समस्याऐं मीनाक्षी प्रकाशन, बेगम ब्रिज, मेरठ।
3. अर्थव्यवस्था (2012) वार्षिकी साहित्य भवन प्रकाशन, आगरा।

26.12 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न संख्या–01, कृषि वस्तुओं के अर्न्राष्ट्रीय व्यापार के प्रतिरूप को स्पष्ट करते हुए आयात एवं निर्यात की दिशाओं को बताओ ?

प्रश्न संख्या–2. कृषि वस्तुओं के अर्न्तराष्ट्रीय व्यापार का भारतीय कृषि के विकास से क्या अन्तर्सबन्ध है ? आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

प्रश्न संख्या–3. कृषि वस्तुओं के आयात एवं निर्यात में आने वाली प्रमुख कठिनाइयों की विवेचनो कीजिए ?

प्रश्न संख्या–4 कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए सरकार द्वारा किये गये प्रयासों की विवेचना कीजिए?

हल –

प्रश्न संख्या 01 के हल के लिए बिन्दु संख्या 26.4 का अवलोकन करें।
प्रश्न संख्या 02 के हल के लिए बिन्दु संख्या 26.3 को देखें।
प्रश्न संख्या 03 के उत्तर के लिए बिन्दु संख्या 26.6 का अवलोकन करें।
प्रश्न संख्या 04 के उत्तर के लिए बिन्दु संख्या 26.5 का अवलोकन करें।

इकाई–27. विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर प्रभाव

इकाई संरचना

27.1 प्रस्तावना

27.2. उद्देश्य

27.3 विश्व व्यापार संगठन एवं कृषि समझौता का भारतीय कृषि पर प्रभाव

27.4 विश्व व्यापार संगठन का भरतीय कृषि पर प्रभाव

27.5 विश्व व्यापार संगठन एवं भारतीय कृषि की समस्याऐं।

27.6 सारांश

27.7 पारिभाषिक शब्दावली

27.8 अभ्यास प्रश्न

27.9 संदर्भ सूची

27.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

27.11 निबन्धात्मक प्रश्न

27.1 प्रस्तावना

यह सातवें ब्लाक 'कृषि और मध्य क्षेत्र' की सत्ताइसवी इकाई है जो 'विश्व व्यापार संगठन का भरतीय कृषि पर प्रभाव' से सम्बन्धित की गयी है। इससे पूर्व की ईकाई में आप भारत की कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विभिन्न पक्षों से भलीभाँति परिचित हुए होंगे।

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत विश्व व्यापार संगठन की नीतियों, योजनाओं एवं निर्णयों से भारतीय कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया जायेगा। विश्व व्यापार संगठन एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है जो कृषि को विदेशी व्यापार के साथ अन्तरक्षेत्रीय व्यापार के साथ प्रभावित करता है। वैश्वीकृत अर्थव्यवस्थाओं में कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था जो नीति निर्धारित करती है उसका बाह्य तथा आन्तरिक दोनों ही रूपों में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष प्रभाव पड़ता है। विश्व व्यापार संगठन भारतीय कृषि को विदेशी अर्थव्यवस्थाओं के लिए खोलने तथा मनमाने प्रभावों को डालने की नीतियां तय करता रहा है। यह संगठन इस बात के लिए भी आलोचनाओं का शिकार पाया गया है कि केवल विकसित देशों के हितों के लिए ही विकासशील या भारतीय देशों के हितों के लिए ही विकासशील या भारतीय अर्थव्यवस्था को गुमराह करने का प्रयास करता है।

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत विश्व व्यापार संगठन के भारतीय कृषि पर पड़ने वाले सकारात्मक व नकारात्मक प्रभावों को स्पष्ट किया जायेगा। विश्व व्यापार संगठन के माध्ययम से भारतीय कृषि के विकास के लिए सरकारी प्रयास भी तेज हुए हैं लेकिन भारतीय कृषि के सामने अनेक प्रकार की चुनौतियां पैदा हुई हैं। विश्व व्यापार संगठन की नीतियों का प्रभाव अन्य सभी देशों के साथ होने वाले व्यापार पर भी पड़ता है इसीलिये भारतीय कृषि नीतियों के निर्धारण में भी नीति निर्धारकों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आप प्रभावों के अन्तर्गत विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि के विकास पर पड़ने वाले प्रभावों एंव खाद्यान्न उत्पादन पर पड़ने वाले बहुआयामी प्रभावों का भी अध्ययन कर सकेंगे।

27.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद आप भली भांति समझ सकेंगे कि–

1. विश्व व्यापार संगठन के ऐजेन्डे में कृषि के मुद्दे को क्यों शामिल किया गया तथा यह कृषि सम्बन्धी मुद्दा किन देशों के इशारों पर तैयार किया गया है?
2. विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर जो प्रभाव पड़ा है उसकी दिशा क्या है तथा यह कहाँ तक भारतीय कृषि को प्रभावति करने में सफल हुआ है।
3. विश्व व्यापार संगठन की कृषि सम्बन्धी नीतियों के क्रियान्वयन के कारण भारत सरकार ने भारतीय कृषि के सामने किन समस्याओं को समझा तथा उनके समाधान के लिए नीतिगत उपायां को क्या रूप दिया है?
4. विश्व व्यापार संगठन की नीतियों के स्तर तथा विदेशी व्यापार की दिशा में क्या परिवर्तन हुए हैं तथा भारतीय कृषि में उत्पन्न चुनौतियों के लिए विश्व व्यापार संगठन किस सीमा तक जिम्मेदार हैं

27.4 विश्व व्यापार संगठन एवं कृषि समझौता

विश्व व्यापार संगठन के 1 जनवरी 1995 को अस्तित्व में आने के बाद दिसम्बर 1995 से अपना कार्य प्रारम्भ किया। विश्व व्यापार संगठन ने अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के विस्तार के प्रयासों के बाद विकसित देशों का ध्यान विकासशील देशों की कृषि व्यवस्थाओं तथा उत्पादित माल के बाजारों की ओर गया। भारतीय कृषि पर इस व्यापार संगठन के पढ़ने वाले प्रभावों का आंकलन संगठन के मंत्रिमण्डल स्तररीय घोषणा के आधार पर लगाया गया था ''इस बात की प्रबल आवश्ययकता थी कि विश्व कृषि व्यापार में अधिक अनुशासन और निश्चितता लायी जाय और संरचनात्मक अधिशेष सहित इस क्षेत्र के प्रतिबन्धों एवं विकृतियों को सुधारने एवं रोकने के प्रयास किए जाए ताकि विश्व कृषि बाजार असन्तुलन, अस्थिरता और अनिश्चितता के माहौल से उबर सके।'' कृषि के सम्बन्ध में विश्व व्यापार संगठन ने कृषि आयातों से मात्रात्मक प्रतिबन्धों को मुद्दा बनाकर विकासशील देशों की कृषि विकास की गति को प्रभावित किया। सब्सिडी समाप्त करने, कृषि बीजों के सम्बन्ध में पेटेन्ट लागू करने से भारतीय कृषि बुरी तरह से प्रभावित होने का अनुमान अर्थशास्त्रियों द्वारा लगाया गया। कृषि समझौते का मुख्य उद्देश्य विकसित देशों द्वारा व्यापार में आने वाली विभिन्न बाधाओं के सामधान को हल करना था। जिसे विकासशील देशों के साथ भारत की कृषि को हथियार बनाने का जोरदार प्रयास किया गया जिससे भारतीय कृषि को आन्तरिक तथा बाहरी दोनों ही क्षेत्र गम्भीर रूप से प्रभावित हुए।

आपको यह बताना अत्यन्त उपयोगी होगा कि विकसित देशों के पास अपने स्वयं के प्राकृतिक या कच्चे माल सम्बन्धी संसाधन उनकी वृद्धिदर को स्थिरता देने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसीलिए विश्व व्यापार संगठन के माध्यम से विकसित देश भारत सहित विकासशील देशों के कृषि सदृश्य संसाधनों का प्रयोग अपने विकास की गति को स्थिरता देने के लिए करना चाहते हैं। आपको यह स्पष्ट करना भी अत्यन्त आवश्यक होगा कि सन् नब्बे के दशक के प्रारम्भ में ही विश्व के विकसित तथा विकासशील देशों के मध्य गम्भीर मतभेद पैदा हो गये थे। इस समस्या का सामधान करना कोई सरल कार्य नहीं था। विश्व व्यापार संगठन के दो तिहाई से अधिक विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थओं में कृषि की प्रधानता है। इसीलिए, विकसित देशों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक था कि विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाओं के विकसित राष्ट्रों के हितों की ओर मोड़ा जाय। विकसिक देश विश्व व्यापार संगठन को एक ऐसे हथियार के रूप में अपनाना चाहते थे जिससे इन देशों की अर्थव्यवस्थाओं को मजबूत आधार मिल सके।

विश्व व्यापार संगठन का कृषि पर पड़ने वाले प्रभाव का सबसे महत्वपूर्ण तत्व विश्व व्यपार संगठन द्वारा कृषि पर समझौता रहा है। जिसके अन्तर्गत निम्नलिखित बातों को शामिल किया गया –

1. कृषि से सम्बन्धित घरेलू बाजार को सभी देशों के लिए खोलना इसके लिए सभी देशों को अपने देशी बाजारों से आयात प्रतिबन्धों को समाप्त करने की व्यवस्था की गयी ताकि व्यापार में आने वाली समस्याओं को दूर किया जा सके। मात्रात्मक आयात प्रतिबन्ध, सरकार द्वारा व्यापार तथा उसका नियंत्रण आदि को भी शामिल

किया गया। विकसित देशों के सन् 2000 तक तटकरों की दरों में 36 प्रतिशत तथा विकासशील देशों को 2004 तक 24 प्रतिशत की कमी करने की व्यवस्था की गयी।

2. घरेलू समर्थन में कमी करने की व्यवस्था जिसके अन्तर्गत घरेलू समर्थन को दो भाग में रखा गया–

(क) व्यापार को विकल्पित न करने वाली सहायता।

(ख) व्यापार को विकल्पित करने वाली सहायता।

व्यापार को विकल्पित न करने वाली सहायता को तीन भागों में विभाजित किया गया–ग्रीन बॉक्स, ब्लू बाक्स तथा स्पेशल डिफ्रंशियल बाक्स

3. निर्यात सहायता कम करना जिसके अन्तर्गत निर्यातों को प्रोत्साहित करने के लिए प्रदान की जाने वाली सहायता को विकसित देशों को 6 वर्ष की अवधि में 21 प्रतिशत तथा विकासशील देशों को 10 वर्ष की अवधित में 14 प्रतिशत करना है।

कृषि पर समझौते पर विकासशील तथा विकसित राष्ट्रों द्वारा अलग–अलग आधारों पर अपने–अपने पक्ष में सकारात्मक अनुमान लगाये गये। आपको यह भी स्पष्ट करना होगा कि विकसित एवं विकासशील राष्ट्र कृषि के मुद्दे पर संस्थागत रूप से एकरूपता दिखा सकते हैं लेकिन वास्तविक क्षेत्र में विकसित देशों द्वारा विकासशील देशों के हित में सही दिशा में नहीं सोचा जा रहा है भले ही विकासशील राष्ट्र अपने कूटनीतिक प्रयासों से कृषि क्षेत्र में विकास की रणनीति तय कर रहे हों। शायद आपको विदित हो कि वैश्वीकृत अर्थव्यवस्थाओं में पूंजीवादी या विकसित अर्थव्यवस्थाओं को विकास की गति बनाये रखना अन्यन्त आवश्यक है इसके लिए विकासशील राष्ट्रों की अर्थव्यवस्थाओं की क्षमताओं का प्रयोग विकसित राष्ट्र अपने हित में करना चाहते हैं।

आर्थर डंकल द्वारा प्रस्तावित महत्वपूर्ण प्रस्ताव बौद्धिक सम्पदा के अधिकारों के संरक्षण से सम्बन्धित है। जिसके अन्तर्गत किसी भी नये आविष्कार के पंजीकृत पेटेन्ट पर 20 वर्षों के लिए एकाधिकार प्राप्त होता है जिसे समस्त विश्व के देशों पर लागू किया जाता है। 20 वर्ष की इस अवधि में विश्व के समस्त देशों में कोई भी संस्था या व्यक्ति उस पेटेन्ट से संरक्षित उत्पादन करने के लिए उस संस्था से अनुज्ञा लेनी होती है तथा उसे पूर्ण निर्धारित रोयल्टी का भी भुगतान करना होता है। इस उत्पादन के लिए पेटेन्टधारी से तकनीकी न लेकर स्वयं के द्वारा किये गये अनुसंधान एवं समस्त स्वप्रयासों से उत्पादन प्रौद्योगिकी विकसित कर लेने पर भी उस 20 वर्ष तक की समयावधि तक पेटेन्टधारी की अनुमति लेना आवश्यक होता है। उस उत्पादन पर भविष्य में शोध उसमें परिवर्धन क्षमता का विकास, सुधार करने सम्बन्धी अधिकार भी पेटेन्टधारी संस्था या व्यक्ति को होता है।

आपको यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि इस व्यापार सम्बन्धित बौद्धिक सम्पदा अधिकार पर भी विश्व व्यापार संगठन की सोची समझी पूर्व निर्धारित रणनीति के आधार पर विकसित देशों द्वारा विश्व में उत्पादित अधिकांश उत्पादों के विकसित पेटेन्ट औद्योगिक राष्ट्रों की कम्पनियों ने पंजीकृत करा लिये हैं। इस बौद्धिक सम्पदा अधिकार की व्यवस्थाओं के अन्तर्गत विश्व में नवीन उत्पादों एवं तकनीकी पर एक

तरह से विकसित देशों का ही पूर्ण अधिकार हो गया है। कुछ वर्ष पूर्व कुछ फसलों के उत्पादन को लेकर भारत तथा अन्य विकसित देशों के मध्य विवाद की स्थिति पैदा हुई थी जिसमें भारत के पक्ष में सर्वसम्मति प्रदान की गयी। इस अधिकार के प्रभावों यदि कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर डालकर देखा जाय तो यह स्पष्ट होता है कि भारत जैसे विकासशील देशों को कृषि उत्पादन तथा उसकी गुणवत्ता के क्षेत्र में अनेक प्रकार की प्रतिस्पर्धात्मक समस्याओं का सामना करना होगा। जिसका परिणाम यह देखने को मिल रहा है कि भारत में कृषि वस्तुओं के निर्यात की अपेक्षा आयात में अधिक वृद्धि दर्ज की गयी है।

27.3.2 विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर प्रभाव

विश्व व्यापार संगठन के भारतीय कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों को दो रूपों में रखकर अध्ययन किया जाना अति आवश्यक समझा जायेगा।

1. कृषि पर पड़ने वाले सकारात्मक प्रभाव।
2. कृषि पर पड़ने वाले नकारात्मक प्रभाव।

विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर जो प्रभाव पड़ा है उसमें सकारात्मक प्रभावों को एक सीमित दायरे में रखकर ही देखा जा सकता है। इन सकारात्मक प्रभावों के अन्तर्गत केवल यह कहा जा सकता है कि खुली आर्थिक नीतियों के कारण कृषि निर्यात के लिए बाजार का विस्तार हुआ है तथा भारत की अर्थव्यवस्था में व्यापारी वर्ग द्वारा की जाने वाली कृषि वस्तुओं की काला बाजारी को कम किया गया है। वहीं दूसरी ओर भारत सरकार द्वारा भारतीय कृषि उत्पाद को आन्तरिक तथा बाहरी क्षेत्रों में प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति के अनुकूल बनाने के सार्थक प्रयास किये गये हैं। जिसके लिए खाद्य प्रसंस्करण जैसी व्यवस्था पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है कृषि निर्यात के लिए विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना पर केन्द्र सरकार द्वारा काफी ध्यान दिया गया है तथा वर्तमान में भी इन क्षेत्रों के विकास एवं विस्तार पर निरन्तर कार्य किया जा रहा है। इन क्षेत्रों के विकास के माध्यम से भारतीय व्यापारियों में भी कृषि उत्पादों की पूरी कीमत देने के लिए प्रयास किये गये हैं जिससे किसानों के मध्य भी अपनी कृषि के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण पैदा हुआ है।

विश्व व्यापार संगठन के कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों को नकारात्मक रूप में निम्नवत लिया जा सकता है।

भारतीय कृषि व्यवस्था एक लम्बे समय से ही अनेक प्रकार की संस्थागत तथा गैर–संस्थागत समस्याओं का सामना कर रही है। जिससे भारतीय कृषि उत्पादन की लागत अधिक तथा उत्पादन की वृद्धि दर निम्न स्तर पर पहुँच गयी है। विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्गत कृषि समझौते से भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि वस्तुओं का आगमन तेजी से हुआ जिससे भारतीय कृषि उत्पाद विदेशी वस्तुओं से प्रतिस्पर्द्धा करने में पूर्ण सफल नहीं हो सके। विकसित देशों द्वारा अपने किसानों को सहायताऐं प्रदान की जा रही है जिससे विकासशील देशों के कृषि बाजार में उनकी पहुँच आसान बन गयी है। इस प्रकार विकसित देशों द्वारा भारतीय कृषि को भी नकारात्मक रूप से प्रभावित किया गया है।

मात्रात्मक प्रतिबन्ध समाप्त होने के पश्चात् आवश्यक वस्तुओं का अन्धाधुन्ध आयातः रोकने के लिए नई आयात–निर्यात नीति तय की गयी। देश में फल, सब्जियाँ, चाय, कॉफी, मसाले, गेहूँ, चावल, मोटे अनाज, नारियल का तेल आदि का आयात मुक्त हो गया है जिससे भारतीय कृषि के आन्तरिक बाजार पर भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा है।

विश्व व्यापार संगठन के कृषि पर पड़ने वाले मनमाने प्रभावों के परिणामस्वरूप छोटे तथा सीमान्त किसानों के हितों को सुरक्षित रखा जाता सम्भव नहीं है जिससे अत्यधिक कर्ज का बोझ, आत्महत्याऐं जैसी घटनाऐं सामने आ रही हैं। पेटेन्ट कानून एवं वौद्धिक सम्पदा का अधिकार भी भारतीय कृषि को नकारात्मक रूप से प्रभावित करता है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक वर्ष किसानों को नए बीजों को खरीदना होगा जिससे कृषि लागत में वृद्धि होगी एवं कृषि उत्पादन के लिए किसी भी दिशा में प्रभाव हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में डीजल तथा कच्चे तेज की कीमतों का बाजार भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार संगठन से प्रभावित हुआ जिससे भारतीय कृषि के लिए सिंचाई, परिवहन के साधन आदि की लागत में भी वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप किसानों के लोगों में कमी आयी।

भारत में पेटेन्ट प्रणाली के आविष्कार के उपयोग तथा इससे उत्पादित उत्पादन एवं उत्पादन में अपनायी जाने वाली विधि पर सम्बन्धित देश के अधिकार का भी भारतीय कृषि पर अत्यन्त प्रभाव पड़ा। इस प्रणाली के लागू होने से कोई भी व्यक्ति पेटेन्ट स्वामी की बिना अनुमति के उस उत्पादन का उपयोग एवं विक्रय व्यापारिक स्तर पर नहीं कर सकता। यह अधिकार उसी स्थिति में किसी देश को दिया जा सकता है जब उस उत्पादन की नवीन उपयोगिता हो तथा मानव के लिए उपयोगी भी हो। इस कानून के लागू होने से भारत में कृषि क्षेत्र में विदेशी पूँजी को आकर्षित होने का अवसर प्राप्त हुआ जिससे भारतीय किसानों की स्वायत्तता पर गहरा आघात लगने की संभावना व्यक्त की गयी।

आपको यह भी स्पष्ट करना अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होगा कि स्वास्थ्य और पादप स्वास्थ्य प्रावधान तथा व्यापारगत प्राविधिक अवरोध नामक समझौता विश्व व्यापार संगठन का एक सराहनीय कार्य रहा। विकासशील देशों के साथ भारत ने इसके उचित क्रियान्वयन की प्रतिवद्धता प्रकट की लेकिन विकसित राष्ट्रों द्वारा इसका क्रियान्वयन न होने के कारण विकासशील देशों को काफी क्षति उठानी पड़ रही है। विकसित देश अपने वायदों से पीछे हटकर अपने बाजारों को संरक्षित किया गया है। इससे भारतीय कृषि बाजार के अन्तर्गत निर्यातों को सीमित किया गया है जिसका भारतीय कृषि पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि विकासशील देश, विकसित देशों पर इस प्रावधान को लागू कराने का दबाव डालें।

बीजों एवं पौधों की किस्म का पेटेन्ट होने से देश के किसानों को प्रत्येक वर्ष बीज बहुराष्ट्रीय कम्पनियों से खरीदने होंगे और अपने निजी फार्मों पर उत्पादित बीजों का प्रयोग किसान अपनी फसल के लिए नहीं कर सकेंगे। विश्व व्यापार संगठन की सन्धि को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध में सरकार ने पौध किस्म संरक्षण के लिए एक कानून बनाने का निर्णय लिया है। जिसके अन्तर्गत पौध प्रजननक अधिकारों की एक व्यवस्था तैयार की गयी है। प्रस्तावित पौध संरक्षण कानून–1978 संधि के प्रावधानों के अनूरूप तैयार किया

गया है। इसके अन्दर किसानों तथा अनुसंधानकर्ताओं के अधिकारों को संरक्षित करने की व्यवस्था की गयी है। पौधों की किस्म के संरक्षण की अवधि सीमा 15 वर्ष रखी गयी वृक्ष एवं बेल के इस प्रावधान के बाहर रखा गया है।

भारत में सीमान्त एवं लघु किसानों की संख्या अत्यधिक है जो नयी किस्म के बीजों को प्रत्येक साल खरीदने में सक्षम नहीं होते हैं। इसके लिए 'टर्मिनेटर जीन' जैसी प्रौद्योगिकी को अपनाने में सावधानी अत्यन्त आवश्यक है। भारत सरकार इस तकनीकी से सहमत नहीं है। भारत इस मामले में सकारात्मक रवैया अपनाने का पक्षधर है।

विश्व व्यापार संगठन की नीतियों एवं उपायों के चलते भारतीय चाय उद्योग के सामने अनेक प्रकार की गंभीर चुनौतियां पैदा हुई हैं जिनमें ज्यादा उत्पादन लागत, गुणवत्ता में गिरावट निर्यात बाजार में कड़ी प्रतियोगिता, घरेलू मूल्य पर प्रतिकूल प्रभाव आदि प्रमुख हैं। परिणामस्वरूप चाय बागान मजदूरों की मजदूरी अत्यन्त कम हुई है जो चाय बागानों के प्रति श्रमिकों का नकरात्मक रवैया पाया गया है। इससे चाय उद्योग प्रतिकूल दिशा में प्रभावित हुआ है। विश्व व्यापार संगठन की विकासशील देशों के प्रति पक्षपातपूर्ण व्यवहार के कारण चाय की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में काफी अन्तर पाया गया है। जिससे चाय के अन्तर्राष्ट्रीय बाजार में अनेक प्रकार की समस्याऐं पैदा हुई हैं। चाय उद्योग में व्याप्त श्रमिकों सम्बन्धी समस्याओं के लिए अनेक प्रकार के सुधारों की आवश्यकता है।

आपको ज्ञात हो कि विश्व व्यापार संगठन द्वारा सबसे मजबूत हथियार 'कृषि के लिए दिये जाने वाले अनुदानों की समाप्ति का बनाया गया।' सरकार द्वारा कृषि को दी जाने वाली अनुदान सहायता के कारण कृषि उत्पादन की कीमतें घरेलू बाजारों में अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की अपेक्षा कम होती हैं। इसके पीछे यह तथ्य प्रस्तुत किया जाता है कि विकसित देशों के कृषि उत्पादन के विपणन में उच्च कीमत होने के कारण अनेक प्रकार की बाधाऐं पैदा होती हैं। जिसकें सन्दर्भ में विकासशील देश विशेषकर भारत में यह तथ्य प्रस्तुत किया गया कि कृषि के बाजार में प्रचलित कीमतों में अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों के बराबर समानता लायी जाय। सरकार द्वारा अपने देश की कृषि के लिए कृषि उपादानों पर अनुदान दिया जाता है जैसे – उवर्रक, बीज, सिंचाई, कृषि ऋण आदि, जिसका प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से किसान भी लाभ लेने में समर्थ हो पाते हैं। भारत में यह व्यवस्था एक लम्बे समय से चली आ रही है। विश्व व्यापार संगठन द्वारा इस अनुदान व्यवस्था पर गम्भीरता से ध्यान दिया गया तथा इसका प्रभाव विश्व व्यापार पर विकसित देशों की कृषि व्यवस्था के पक्ष में ड़ालने का प्रयास किया गया। भारत में भी सरकार द्वारा कुछ विशेष फसलों एवं वागानों की कृषि के लिए भी अलग से अनुदान देने की व्यवस्था की जाती है जिसके कारण इस प्रकार की कृषि को बढ़ावा देकर उसे अधिक उत्पादक बनाने का प्रयास किया जाता है। इसका प्रभाव भी अन्तर्राष्ट्रीय कीमत के आधार पर देखने के लिए विश्व व्यापार संगठन द्वारा भारत सरकार तथा भारतीय व्यापारियों को मजबूत किया गया है।

विश्व व्यापार संगठन के समझौते के अनुसार भारत सरकार ने अपने आयातों पर से मात्रात्मक प्रतिबन्धों को एक बड़ी सीमा तक हटा लिया है जिसका भारतीय कृषि पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा है। भारत ने विश्व व्यापार संगठन के

दिशा निर्देशों के अनुसार पूर्व में हटाये गये आयात प्रतिबन्धों के अतिरिक्त शेष बचे 1429 उत्पादों के आयात से भी प्रतिबन्ध समाप्त कर दिया है जिसमें 714 उत्पादों पर से अप्रैल 2000 में तथा शेष बचे 715 वस्तुओं पर से 1 अप्रैल 2001 से यह प्रतिबन्ध समाप्त किये गये। आपको यह स्पष्ट करना अत्यन्त आवश्यक है कि जिन उत्पादों से आयात सम्बन्धी मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटाये गये हैं उनमें कृषि तथा गैर कृषि उत्पाद दोनों ही सम्मिलित हैं। लेकिन इन आयात सम्बन्धी प्रतिबन्धों की समाप्त का अधिकांश प्रभाव भारतीय कृषि व्यापार पर ही पड़ा है। मात्रात्मक प्रतिबन्ध हटने के साथ आवश्यक वस्तुओं का भारत में अतिरिक्त या अनावश्यक कृषि वस्तुओं का आयात न हो सके इसके लिए भारत सरकार ने अपनी कृषि नीति तथा विदेश व्यापार नीति में भारतीय कृषि को संरक्षण प्रदान करने के जोरदार प्रयास किये। कुछ महत्वपूर्ण कृषि उत्पादों गेहूँ, चावल, मक्का के खुले आयात की छूट नहीं दी है इन वस्तुओं का आयात कुछ विशेष सरकारी व्यावसायिक कम्पनियाँ ही कर सकतीं हैं। वनस्पति तथा पशु उत्पाद से सम्बन्धित वस्तुओं के आयात के लिए कृषि मंत्रालय की अनुमति को आवश्यक बनाया गया है। भारत में मांस, दूध और दुग्ध उत्पाद, फल व सब्जियाँ, चाय कॉफी, मसाले, गेहूँ, चावल व मोटे अनाज, रबड़ रबड़ का सामान, कागज व लेखन सामग्री, नारियल का तेल, रेशम का आयात खुल गया है।

विश्व व्यापार संगठन की विकासशील देशों की कृषि विरोधी नीतियों के कारण भारत सरकार को अनेक नीतिगत उपायों का सहारा लेना पड़ा। सरकार द्वारा विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना करके कृषि की समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया गया। विश्व व्यापार संगठन को कृषि के उत्पादन पर प्रभावों को भी मात्रात्मक रूप में दर्शाया जा सकता है। देश के कुल खाद्यान्न उत्पादन में मोटे अनाज के उत्पादन का भाग वर्ष 2003–04 में 17.8 प्रतिशत रहा जो 38.12 मिलियन टन था 2005–06 में यह उत्पादन 34.00 मिलियन टन अनुमानित किया गया।

आठवीं पंचवर्षीय योजना (1997–2002) के दौरान भारत में कृषि की विकास दर 4.7 प्रतिशत आमंत्रित की गयी नवी योजना में यह विकास दर 2.1 प्रतिशत ही रह गयी। दसवी योजना में वर्ष 2002–03 में यह विकास दर ऋणात्मक रूप में –7 प्रतिशत हो गयी ग्यारवहवी पंचवर्षीय योजना में कृषि की विकास दर 8 प्रतिशत आंकलित की गयी। इस प्रकार विश्व व्यापार संगठन की नीतियों के प्रभावों का भारतीय कृषि पर समग्र रूप में ऋणात्मक प्रभाव ही पडा भले ही सरकार ने इसकी पूर्ति के लिए अनेक कृषि उत्पादन सुधार की योजनाऐं संचालित की हो। विश्व व्यापार संगठन की नीतियों का प्रभाव गेहूँ के उत्पादन पर भी परिलक्षित हुआ। वर्ष 1999–2000 में गेहूँ का उत्पदन 76.3 मिलियन टन रहा जो 2000–01 में घटकर 69.6 मिलियन टन रह गया। 2002–03 में यह उत्पादन घटकर 65.8 मिलियन टन के स्तर पर आ गया। वर्ष 2004–05 में 68.6 मिलियन टन गेहँ का देश में उत्पादन किया गया। छोटे तथा सीमान्त किसानों की दयनीय हालात के कारण कृषि योग्य भूमि का प्रयाग भी सही रूप में नहीं हो सका। खाद्यान्न उत्पादन पर भी सही रूप में नहीं हो सका। खाद्यान्न उत्पादन पर पड़ने वाले प्रतिकूलात्मक प्रभाव के कारण कृषि जोतों का अधिग्रहण आद्योगिक तथा सेवा क्षेत्र द्वारा किया गया जिससे कृषि

क्षेत्र के विकास का मार्ग और अवरूद्ध हुआ। खुले व्यापार की नीतियों के कारण दिल्ली राजधानी क्षेत्र से सटे पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश का गेहूँ उत्पादक क्षेत्रफल के गैर कृषि कार्यो में उपयोग से गेहूँ उत्पादन में गिरावट आयी।

विश्व व्यापार संगठन द्वारा पैदा की गयी भारतीय कृषि सम्बन्धी समस्याओं के निराकरण के लिए सरकार द्वारा जो विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना की उससे भी भारतीय कृषि की दशा पर कोई खात अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ा।

27.4 विश्व व्यापार संगठन एवं भारतीय कृषि की समस्यायें

विश्व व्यापार संगठन एवं भारतीय कृषि से जुड़ी हुयीं अनेक समस्याओं की ओर ही आपका ध्यान ले जाने की आवश्यकता होगी। भारत में औद्योगिक तथा सेवा क्षेत्र के तीव्र विकास के परिणामस्वरूप भारतीय जनसंख्या का एक बड़ा भाग रोजगार तथा अन्य आर्थिक क्रिया कलापों के लिए अनेक रूपों में भारतीय कृषि से जुड़ा हुआ है। विश्व व्यापार संगठन द्वारा भारतीय कृषि पर जबरन थोपे गये अनेक नियमों एवं कानूनों तथा विकसित देशों की रणनीतियों के परिणामस्वरूप भारतीय कृषि अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रसित हो गयी है।

1991 में देश में प्रारम्भ किये गये आर्थिक सुधारों से पूर्व भारतीय कृषि व्यवस्था को नियन्त्रित एवं नियमन करने के लिए भारत सरकार स्वतन्त्र थी तथा कृषि विकास सम्बन्धी अनेक योजनाओं का सफलतापूर्वक क्रियान्वयन किया गया जिसके परिणामस्वरूप कृषि उत्पादन में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की गयी। स्वतन्त्रता के समय कृषि सम्बन्धी अनेक प्रकार की संस्थागत तथा गैर संस्थागत समस्याऐं विद्यमान थीं जिनका निराकरण विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में तय रणनीति के अनुसार किया गया। आर्थिक सुधारों के वर्तमान दौर में कृषि अनेक प्रकार की समस्याओं जैसे कृषि जोतों का लगातार छोटा होना, उत्पादन में वांछित वृद्धि न होना, कृषि विवधीकरण के प्रति किसानों की अधिक सजगता न होना तथा समय पर बीज, खाद व सिंचाई की उपलब्धता न होना, देखी जा सकती है, जिसको लेकर भारत सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा अनेक ठोस कदम उठाये गये हैं लेकिन विदेशी नीतियों एवं दबाव के चलते इन कार्यक्रमों एवं योजनाओं का पूर्ण लाभ किसानों का प्राप्त नहीं हो पा रहा है। भारत में कृषि उत्पादों के अधिक आयात तथा कम निर्यात के कारण भी कृषि बाजार में मौसम के अनुसार किसान विरोधी आर्थिक उतार–चढ़ाव की स्थिति पैदा होती रहती है, जिसकी बजह से किसानों की लागत भी निकलना मुश्किल हो जाता है।

विश्व व्यापार संगठन द्वारा जारी दिशानिर्देष के अनुसार भारतीय कृषि को पूँजीवाद की परधि में लाया जा रहा है लेकिन भारत में ऐसे माहौल की कोई ठोस सम्भावनाऐं नहीं हैं। कृषि में किसानों को होने वाले आर्थिक हानि की बजह से भारत के अनेक प्रान्तों में किसानों द्वारा आत्म हत्याओं की स्थिति भी इस आर्थिक सुधार के दौर में देखी जा रही है। भारत में लगातार होती छोटी जोतों के कारण आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत विकसित नवीन तकनीकी एवं तकनीकी उपकरणों का प्रयोग कृषि उत्पादन हेतु सफलतापूर्वक नहीं किया जा सकता है। परिणामस्वरूप भारतीय कृषि व्यवस्था को एक

नकारात्मक दृष्टिकोंण से देखा जा रहा है तथा भारतीय सरकारों एवं बड़े किसानों का भी कृषि विकास के प्रति महत्वपूर्ण प्रयास नहीं रह गया है और भारत सरकार की विभिन्न नवीन योजनाओं में सेवा क्षेत्र के विकास को ही प्रमुखता दी जा रही है इसके साथ कृषि क्षेत्र से श्रमिकों को भी पर्याप्त मात्रा में रोजगार नहीं मिल पा रहा है जिससे ग्रामीण क्षेत्रों में गरीबों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है। कृषि वस्तुओं के उत्पादन की कीमतों में उतार–चढ़ाव एवं कृषि लागतों में वृद्धि के कारण ग्रामीणों को अपनी मूलभूत आवश्यकताओं को भी अनेक प्रकार के वित्तीय समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है।

26.5 सारांश

विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के बाद से विश्व के विकसित तथा विकासशील देशों के मध्य व्यापार की संरचना एवं दिशा में महत्वपूर्ण परिवर्तन परिलक्षित हुए। विश्व व्यापार संगठन द्वारा भारतीय व्यापार को भी अनेक दिशाओं में परिवर्तित किया। विकसित देशों द्वारा भारतीय कृषि के व्यापार एवं आन्तरिक कृषि व्यवस्थाओं को भी अपने हितों की ओर आकर्षित किया है। भारतीय कृषि के आयात एवं निर्यात पर लगातार मात्रात्मक एवं गुणात्मक प्रतिकरों को लगाये जाने तथा भारत पर लगातार अनेक प्रकार के दवाबों को बनाये रखने का प्रयास विकसति देशों द्वारा विश्व व्यापार संगठन के द्वारा किया गया। इस प्रकार के दवाबों एवं प्रयासों के द्वारा भारतीय कृषि व्यापार का अन्य विकासशील देशों की ओर बढ़ने का भी प्रभाव पड़ा है। विकसित देशों द्वारा अपनाये जाने वाली प्रतिकूल नीति का सामना करने के लिए भारत सरकार द्वारा भी कृषि उत्पादन एवं व्यवस्था के सुदृढ़ करने के लिए अनेक नीतिगत कदन उठाये हैं ताकि विश्व व्यापार संगठन के नकारात्मक प्रभावों का सामना किया जा सके। सरकार द्वारा कृषि के लिए आन्तरिक रूप से अनेक प्रकार की योजनागत प्रयास किये गये है। जिसके परिणामस्वरूप कृषि वस्तुओं के व्यापार में निरपेक्ष रूप से काफी सुधार हुआ है।

27.6 पारिभाषिक शब्दावली

विश्व व्यापार संगठन – विदेशी व्यापार को प्रोत्साहित करने एवं बढ़ावा देने वाली अन्तर्राष्ट्रीय स्तर की एक संस्था है।

आयात –किसी देश द्वारा विदेशों से वस्तुओं एवं सेवाओं को खरीदकर मंगाना आयात कहलाता है।

निर्यात– किसी देश द्वारा अपनी वस्तुओं एवं सेवाओं को विदेशों के लिए वेचना या भेजना निर्यात कहलाता है।

विकसित देश–जिन देशों में पूर्ण रोजगार के साथ विकास की दर उच्चतम सीमा पर जाकर स्थिर हो गयी है उन्हें विकसित देश कहा जाता है।

विकासशील देश– जिन देशों का पूर्ण विकास नहीं हुआ है तथा विकास की ओर अग्रसर है उनको विकासशील देश कहा जाता है।

मात्रात्मक प्रतिबन्ध – विदेशी व्यापार पर मात्रा के आधार पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्ध।

तटकर– किसी देश की सीमा पर वस्तुओं के व्यापार पर लगने वाला कर तटकर कहलाता है।

प्रतिस्पर्द्धा– वस्तुओं एवं सेवाओं के मध्य बाजार में होने वाली प्रतियोगिता।

27.7 अभ्यास प्रश्न

प्रश्न– 1. निम्नलिखित प्रश्नों का संक्षेप में अन्तर दीजिए?

1. विश्व व्यापार संगठन की नीतियां किन देशों के पक्ष में सर्वाधिकार लाभदायक रही हैं?
2. विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर किस दिशा में प्रभाव पड़ा है?
3. वर्ष 2004 तक विकासशील देशों द्वारा तटकरों को किस सीमा तक करने की व्यवस्था की गयी?
4. व्यापार को विकल्पित न करने वाली सहायता को कितने भागों में विभातिज किया गया है?

प्रश्न–2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए।

1. विश्व व्यापार संगठन की नीतियों.....का सम्बन्ध.....अर्थव्यवस्था से है।
2. विकसित देशों द्वारा निर्यात सहायता को.....
3. विश्व व्यापार संगठन की नितियों से भारत में कृषि वस्तुओं का आयात.....है।
4. विश्व व्यापार संगठन की नीतियों से भारतीय कृषि की लागतों में.....हुई है।

प्रश्न–3. नीचे दिये तथ्यों में से सही पर (√) तथा गलत पर (X) का निशान लगाओ।

1. विश्व व्यापार संगठन की नीतियां किन देशों के पक्ष में सर्वाधिक लाभदायक रही है?
2. विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर किस दिशा में प्रभाव पड़ा है।
3. वर्ष 2004 तक विकासशील देशों के तथ्यों को किस सीमा तक करने की व्यवस्था की गयी है?
4. व्यापार को विकल्पित न करने वाली सहायता को कितने भागों में विभाजित किया गया है?

प्रश्न–4. नीचे दिये तथ्यों में से सही पर (√) तथा गलत पर (X) का निशान लगाओ।

1. ग्यारहवीं योजना में कृषि विकास दर 8 प्रतिशत रही।
2. 2005–06 में भारत में खाद्यान्न उत्पादन 102 मिलियन टन रहा।
3. कृषि समझौता विकसित देशों के पक्ष में रहा।

प्रश्न–5. सही विकल्पों का चयन कीजिए।

1. विश्व व्यापार संगठन की स्थापना हुई
   (क) 1997 (ख) 1995 (ग) 1982 (घ) 1999
2. **विश्व व्यापार संगठन से कृषि लागतों पर प्रभाव पड़ा।**
   (क) प्रतिकूल (ख) अनुकूल (ग) कोई प्रभाव नहीं (घ) कोई नहीं
3. **ग्यारहवी योजना में कृषि की वृद्धि दर रही।**
   (क) 7 प्रतिशत (ख) 8 प्रतिशत (ग) 5 प्रतिशत (घ) 12 प्रतिशत

4. **पेटेन्ट कानून से भारतीय किसानों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।**
   (क) छोटे किसानों पर (ख) सीमान्त किसानों पर
   (ग) छोटे एवं सीमान्त किसानों पर (घ) बड़े किसानों पर

27.8 संदर्भग्रन्थ सूची

1. बरला एण्ड अग्रवाल (2008) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा संजय प्लेस आगरा।
2- Economic Survey (2009-10) Oxford University Press (Minister of Finance Goverment of India) Jai singh Road New Delhi.
3. दत्त एवं सुन्दरम् (2010) भारतीय अर्थव्यवस्था,एस0चन्द्र एण्ड क0 लि0 नई दिल्ली।
4. जी0सी0 सिंघई (2010) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र,साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
5. कुरूक्षेत्र, मासिक पत्रिका अंक 3 जनवरी 2007, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मन्त्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली।

27.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मिश्रा एण्ड पुरी (1011) भारतीय अर्थव्यवस्था,हिमालय पब्लिकेशन्स नई दिल्ली।
2. भारतीय अर्थव्यवस्था (2012) वार्षिकी प्रतियोगिता दर्पण, स्वदेशी बीमा नगर आगरा।
3. दिनेश दीक्षित एण्ड एस0एस0 अग्रवाल (2010) कृषि अर्थशास्त्र,विश्वविद्यालय प्रकाशन, अस्पताल मार्ग, आगरा।
4. मिश्र जगदीश नारायण (2010) भारतीय अर्थव्यस्था,लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता अनुपम प्लाजा संजय प्लेस, आगरा।
5. झिंगन एम0एस0 (2009) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था वृंदा पब्लिकिशनन्स प्रा0 लि0 आशीष कम्पलेक्स, मयूरविहार फेस– I, दिल्ली–91

27.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न–1. विश्व व्यापार संगठन द्वारा कृषि समझौते की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए?

प्रश्न–2. भारतीय कृषि पर पड़ने वाले विश्व व्यापार संगठन के प्रतिकूलात्मक प्रभावों की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न–3. विश्व व्यापार संगठन के भारतीय कृषि पर पड़ने वाले सुधारात्मक प्रभावों की विवेचना कीजिए।

प्रश्न–4. विश्व व्यापार संगठन की नीतियों का भारतीय कृषि उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन कीजिए।

इकाई–28. उदारीकरण का घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय कृषि व्यापार पर प्रभाव

इकाई संरचना

28.1 प्रस्तावना

28.2 उद्देश्य

28.3 उदारीकरण एवं भारतीय कृषि नीतियाँ

28.4 उदारीकरण का कृषि व्यापार पर प्रभाव

28.5 विदेशी व्यापार नीति एवं कृषि व्यापार

28.5.1 उदारीकरण सम्बन्धी कृषि व्यापार की समस्याऐं

28.6 सारांश

28.7 पारिभाषिक शब्दावली

28.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

28.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

28.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

28.11 निबन्धात्मक प्रश्न

28.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत 'उदारीकरण का घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय कृषि व्यापार पर प्रभाव' सातवे ब्लॉक कृषि और वाह्य क्षेत्र की अट्ठाईसवीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई में आपने विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यू.टी.ओ.) के भारतीय कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों का मूल्यांकन किया होगा तथा विश्व व्यापार के भारतीय कृषि से जुड़े विभिन्न विषयों के बारे में भली भांति परचित हुए होंगे।

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आपको यह समझाने का प्रयास किया गया है कि भारत की उदारीकरण की नीति कृषि वस्तुओं के न केवल अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को प्रभावित करती है वल्कि घरेलू व्यापार के विभिन्न पहलुओं को प्रभावित करती है। भारत सरकार द्वारा नब्बे के दशक में अपनाये गये आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत उदारीकरण की नीति में मौद्रिक तथा गैर मौद्रिक सुधार किये जिनका भारतीय कृषि के विदेशी व्यापार पर अनेक दिशाओं में प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ा। भारत सरकार की विदेश व्यापार नीतियों में भी कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार को स्थान में रखा गया है।

28.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के अध्ययन के बाद भली भांति समझ सकेंगे कि –

1. भारतीय कृषि व्यापार के सम्बन्ध में उदारीकरण की क्या प्रासंगिकता है?
2. उदारीकरण स्तर के साथ–साथ कृषि का घरेलू तथा विदेशी व्यापार किस रूप में परिवर्तित हुआ है ?
3. उदारीकरण की नीति का भारतीय कृषि के घरेलू एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों की क्या प्रकृति है तथा इससे भारतीय कृषि व्यापार किस दिशा की ओर परिवर्तित हुआ है?
4. इसके साथ आप यह भी समझ सकेंगे कि विदेशी व्यापार नीति उदारीकरण से कहां तक प्रभावित है जो कृषि व्यापार से किस सीमा तक सम्बन्ध रखती है?
5. प्रस्तुत इकाई के अध्ययन से आप समझ सकेंगे कि कृषि वस्तुओं के घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की दिशा एवं आकार पर क्या प्रभाव पड़ा है?

28.3 उदारीकरण एवं भारतीय कृषि नीतियाँ

पिछली इकाई के अन्तर्गत आपने विश्व व्यापार संगठन का भारतीय कृषि पर पड़ने वाले प्रभावों का अध्ययन करके आर्थिक सुधारों की पृष्ठभूमि को भंलीभांति समझ लिया होगा। आर्थिक गतिविधियों के नियमन के लिए बनाये गये नियम कानून ही भारतीय अर्थव्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों को अलग–अलग रूपों में नकारात्मक रूप से प्रभावित करने लगे। इन नकारात्मक प्रभावों को दूरे करने के लिए उदारीकरण की नीति का भी सहारा लिया गया। प्रभावित होने वाले अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों में कृषि तथा कृषि वस्तुओं का व्यापार महत्वपूर्ण स्थान रखता है। कृषि तथा कृषि व्यापार को प्रभावित करने वाली नीतियाँ उदारीकरण की

प्रक्रिया द्वारा पूर्णरूप से प्रभावित पायी गयी जिसके द्वारा भारतीय कृषि व्यापार को अनेक रूपों में प्रभावित किया गया।

आपको यहां अवगत कराना अत्यन्त आवश्यक होगा कि उदारीकरण का वित्तीय, मौद्रिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में जो भी प्रभाव पड़ा उसका कृषि पर प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से प्रभाव अवश्य ही डाला गया। औद्योगिक क्षेत्र में अपनाये जाने वाले उदारीकरण की प्रक्रिया का भी कृषि व्यापार की दिशा एवं दशा दोनों पर ही गहरा प्रभाव पड़ा। कृषि नीतियों का निर्धारण भी उदारीकरण को केन्द्र विन्दु मानकर किया गया जिसमें भारतीय किसान तथा कृषि व्यवस्था को परिवर्तित करने का प्रयास किया गया।

देश में बीजों की आसान उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए सरकार द्वारा धान व गेहूँ के बीजों के आयात की सशर्त मंजूरी जुलाई 2011 में प्रदान की। यह आयात सरकारी प्राधिकरणों के साथ–साथ निजी क्षेत्र की कम्पनियों द्वारा भी किये जाने की अनुमति दी गयी। कृषि मन्त्रालय द्वारा फिलहाल यह अनुमति दो वर्षों के लिए दी गयी। 1988 में राष्ट्रीय बीज विकास नीति लागू किये जाने के पश्चात् मोटे अनाजों, दालों, सब्जियों तथा फूलों आदि के बीजों के आयात की अनुमति समय–समय पर दी गयी। लेकिन गेहूँ तथा धान के बीजों के आयात की अनुमति सरकार द्वारा प्रथम बार प्रदान की गयी है। उदारीकरण के एक अन्य प्रभाव को इसी क्षेत्र में इस प्रकार भी देखा जा सकता है कि सितम्बर 2011 में सरकार द्वारा गेहूँ तथा गैर बासमती चावल के निर्यात पर से प्रतिबन्ध हटाने का निर्णय लिया जो भारतीय कृषि व्यापार की दिशा में एक सार्थक कदम कहा गया है। इसके साथ ही जिंसों के निर्यात की सीमाऐं (20–20 लाख टन) भी सरकार द्वारा तय की गयी हैं। दोनों ही जिंसों का यह निर्यात ओपन जनरल लाइसेंस (**Open General Lecence OGL**) के तहत किये जाने की व्यवस्था की गयी। आपको ज्ञात हो कि गेहूँ के निर्यात पर यह प्रतिबन्ध वर्ष 2008 में आरोपित किया था। बीच में कुछ विशेष अवसरों पर ही सशर्त निर्यात की अनुमति दी गयी थी।

राष्ट्रीय कृषि नीति–2007

भारत सरकार द्वारा आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत उदारीकरण की प्रक्रिया को ध्यान में रखते हुए 26 नवम्बर, 2007 को राष्ट्रीय कृषि नीति–2007 को संसद में प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीय किसान आयोग द्वारा अपनी सिफारिसों में नई कृषि नीति को घोषित करने की अनुशंसा की गयी। नई राष्ट्रीय कृषि नीति–2007 में कृषि उत्पादकता में वृद्धि, उत्पादन में वृद्धि, किसानों की आर्थिक स्थिति में सुधार, कृषि में नवीन प्रौद्योगिकी का प्रयोग एवं सिंचाई सुविधाओं के विकास के साथ कृषि वस्तुओं के निर्यात पर मुख्य रूप से ध्यान दिया गया। नवीन कृषि नीति की मुख्य बातों को निम्नलिखित रूप में स्पष्ट किया जा सकता है।

राष्ट्रीय कृषि नीति–2007 में कृषि क्षेत्र को प्रतिस्पर्धी बनाने के साथ लाभदायक रोजगार के साधन के रूप में विकसित करने की रणनीति तय की गयी, इसके साथ भूमि सुधारों के अधरे पड़े मुद्दों को पूरा करने के लिए तथा कृषि योग्य भूमि के गैर कृषि उपयोग में कमी लाने पर जोर दिया गया। इस नीति में किसानों के लिए एक ऐसी

व्यवस्था विकसित करने पर जोर दिया गया जिसके द्वारा किसानों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान हो सके तथा किसान परिवारों को गैर कृषि कार्यों में रोजगार उपलब्ध कराने की व्यवस्था को शामिल किया गया। इसके साथ नई कृषि नीति में ग्रामीण क्षेत्रों में आजीविका के संसाधनों को स्थायित्व प्रदान करने के लिए कृषि क्षेत्र में स्नातक की उपाधि धाकरों को उद्यमि बनाने की पहल करने अथवा रणनीति सृजित करने पर जोर दिया गया।

राष्ट्रीय कृषि नीति–2007 के अन्तर्गत वैश्विक प्रभावों से कृषि को सुरक्षित करने के लिए फसलों के उचित मूल्य नीति निर्धारित करने की बात कही गयी तथा किसानों की आय बढ़ाने के लिए व्यापारिक क्षेत्र को विस्तारित करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इसके अन्तर्गत किसानों को नये रूप में परिभाषित किया गया जिसके अन्तर्गत कृषि तथा सम्बद्ध क्षेत्र में काम करने वाले ग्रामीणों को भी किसान की परिभाषा में शामिल किया गया। परम्परागत खेती के स्थान पर जैवित खेती को भी महत्व दिया गया तथा जेनेटिकली मॉडीफाइड बीजों के बढ़ावे पर जोर दिया गया। नई राष्ट्रीय कृषि नीति में छोटी जोत वाले किसानों को ठेके पर खेती देने तथा किसान कम्पनियाँ बनाने की बात कही गयी जिससे किसानों को लाभदायक व्यवसाय उपलब्ध हो सके। इसके साथ कृषि साख को सुलभ, सुगम तथा सस्ते दरों पर उपलब्ध कराने की व्यवस्था की जिसके अन्तर्गत किसानों की ऋण ग्रस्तता पर कोई भी टिप्पणी नहीं की गयी है लेकिन किसानों की ऋण ग्रस्तता को लेकर भविष्य में सरकार द्वारा गतिशील कार्यक्रम प्रारम्भ करने की व्यवस्था को शामिल किया गया है। यह नीति कृषि क्षेत्र विशेषतः कृषि अनुसंधान में सार्वजनिक निवेश को बढ़ावे पर जोर देती है इसके लिए मृदा परीक्षण केन्द्र तथा नये शोध बीज केन्द्र को अधिक से अधिक खोलने पर भी ध्यान देती है। इस नीति के अन्तर्गत कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र के विकास दर का लक्ष्य 4 प्रतिशत से 4.5 प्रतिशत के बीच रखा गया है। कृषि नीति में किसानों को उचित कीमत पर उर्वरक तथा कृषि आगत उपलब्ध कराने की आवश्यकता पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। वस्तु के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि या कमी को रोकने तथा उसमें जोखिमों से बचने के लिए भावी बाजारों के सीमा क्षेत्र को बढ़ाने की घोषणा सरकार द्वारा दी गयी। इस नीति के अन्तर्गत यह भी ध्यान दिया गया कि खाद्य व्यवस्था की समुचित सुरक्षा की जाय जिसके अन्तर्गत अगस्त 2007 में गठित राष्ट्रीय खाद्य सुरक्षा मिशन को प्रभावी बनाने पर विशेष ध्यान दिया गया है।

उक्त राष्ट्रीय कृषि नीति पर ध्यान देने के बाद आप देखेंगे कि इस नीति के कुछ विन्दुओं को सीधे तौर पर उदारीकरण के माध्यम से विदेशी व्यापार से जोड़ा गया है तथा घरेलू व्यापार को बढ़ावा देने एवं उसे संरक्षित करने के लिए भी आवश्यक व्यवस्था पर जोर दिया गया है। उदारीकरण के परीणामस्वरूप विदेशी खासकर विकसित देशों की किसान विरोधी नीतियों के पड़ने वाले नकारात्मक प्रभावों से किसानों के बचाव पर ही ध्यान दिया गया है। इस कृषि नीति में भविष्य में उदारीकरण के उपकरणों एवं नतीजों के प्रति सचेत रहकर उनका सामना करने के लिए कार्यनीति पर भी इशारा किया गया है।

28.4 उदारीकरण का कृषि व्यापार पर प्रभाव

विशेष आर्थिक क्षेत्रों के अन्तर्गत कृषि तथा बागवानी सम्बन्धी इकाईयाँ स्थापित करने पर जोर दिया गया है। इन इकाईयों को यह भी छूट प्रदान की गयी है कि आगतें तथा अन्य सामग्री घरेलू व्यापार क्षेत्र के संविदा कृषकों को प्रदान करें। ये आगतें तथा उत्पाादन का स्वरूप आयातकर्ता देश की आवश्यकता पर निर्भर करता है। इस प्रक्रिया तथा व्यवस्था का लाभ कृषक तथा कृषि व्यापारियों को घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार बढ़ाने में मिलेगा।

कृषि वस्तुओं के व्यापार को प्रोत्साहित करने के लिए सरकार द्वारा राष्ट्रीय स्तर पर मेला लगाने की व्यवस्था की जिसमें बैट का सामान, जड़ी बूटियाँ, मसाले, वागवानी, जैविक खाद्य उत्पाद, हस्तशिल्प को विशेषज्ञ महत्व दिया जाता है। सरस नाम के इस मेले में घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कृषि वस्तुओं के सौदे किये जाते हैं।

आपको यह भी बताना अत्यन्त आवश्यक समझा जायेगा कि कृषि वस्तुओं की विदेशी व्यापार तथा घरेलू व्यापार में प्रतिभगिता बढ़ाने के लिए भारतीय किसानों को भी अच्छी किस्म तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन करने का प्रोत्साहन देने की अति आवश्यकता है। इन मेलों के माध्यम से इस कार्य को अत्यन्त सरल बनाया गया है। इन सरस मेलों का आयोजन दिल्ली, हैदराबाद, भुवनेश्वर, गुहावटी तथा जयपुर आदि में आयोजित किये गये।

उदारीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों के सन्दर्भ में देखना होगा कि वर्ष 2000–2001 में कृषि तथा सम्बद्ध वस्तुओं का नियति में हिस्सा 14 प्रतिशत था जो 2008–09 (अप्रैल–दिसम्बर) में घटकर 10. 6 प्रतिशत ही रह गया। इसी सम्बन्ध में देखना होगा कि वर्ष 2007–08 में कृषि और सम्बद्ध उत्पादों का निर्यात 76006 करोड़ रूपये था जो वर्ष 2008–09 (अप्रैल–दिसम्बर) में 62150 करोड़ रूपये ही रहा।

आयातों के संदर्भ में खाद्य पदार्थ और सम्बन्धित उत्पाद का आयात वर्ष 2006–07 में 2.9 प्रतिशत था जो वर्ष 2008–09 (अप्रैल–दिसम्बर) में बढ़कर 11.4 प्रतिशत हो गया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि सरकार द्वारा किये गये तमाम निर्यात मूलक प्रयासों तथा अनेक प्रकार की रियायतों के बाद भी उदारीकरण का लाभ व्यापारियों ने कृषि वस्तुओं का आयात करके उठाया। उक्त आकड़ों के आधार पर उदारीकरण की नीति का लाभ भारतीय किसान तथा कृषि निर्यात न लेकर विकसित देश तथा आयातक व्यापारी ही ले सके।

भारत सरकार द्वारा उदारीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत ही कृषि के आन्तरिक / घरेलू व्यापार तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने के लिए विशेष आर्थिक क्षेत्रों (**Special Economic Zone**) की स्थापना की राह को अपनाया। विशेष आर्थिक क्षेत्र (एस.ई.जेड़) देश की घरेलू सीमा के अन्तर्गत एक ऐसा क्षेत्र है जो पूर्णतः शुल्क मुक्त है, जिसे व्यापार संचालन, शुल्क तथा प्रशुल्कों की दृष्टि में आने वाली किसी भी वस्तु पर किसी भी प्रकार का शुल्क देय नहीं होता है, भले ही वह घरेलू व्यापारिक क्षेत्र से ही क्यों न प्राप्त की गयी हो या अन्य किसी देश से आयात की गयी हो। विशेष आर्थिक क्षेत्रों के माध्यम से कृषि वस्तुओं के घरेलू एवं विदेशी व्यापार को विशेष महत्व दिया गया है। इस

प्रकार आप यह भंली भांति नोट कर लें कि इन क्षेत्रों के अन्तर्गत दी जाने वाली सुविधाऐं अधिकांशतः कृषि क्षेत्र के आन्तरिक व बाहरी दोनों ही क्षेत्रों पर लागू होती हैं।

उदारीकरण की नीति के अन्तर्गत इस योजना के व्यापार सम्बर्द्धन हेतु निम्न प्रकार की रियायतें / छूट देने की व्यवस्था की गयी है। विशेष आर्थिक क्षेत्र इकाईयों को घरेलू व्यापार क्षेत्र से कच्चे माल, उपकरणों, उपयोग वस्तुओं आदि की प्राप्ति बिना किसी लाइसेंस या विशेष अनुमति के सम्भव होती है। निर्यात आय तथा इसकी विदेशों में निवेश सम्बन्धी छूट भी दी गयी। मूल्य सहित चुंगीकर, मण्डीशुल्क तथा स्टाम्प ड्यूटी की छूट भी की गयी है।

28.5 विदेशी व्यापार नीति एवं कृषि व्यापार

वर्ष 2002–2007 की पंचवर्षीय निर्यात नीति में जिस व्यापक पैकेज की घोषणा की गयी उसी में विशेष आर्थिक क्षेत्रों और कृषि निर्यात क्षेत्रों को बनाने बढ़ाने पर विशेष जोर दिया गया था। निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्रों को नया रूप दिया गया था। इससे कृषि वस्तुओं के निर्यात में अच्छी सफलता मिली। उदारीकरण की नीति में व्यापार सम्बन्धी नियमों एवं कानूनों को अत्यन्त सरल बनाया गया जिससे व्यापारियों का ध्यान कृषि उत्पादन की आरे गया। सरकार द्वारा कृषि निर्यात क्षेत्रों की स्थापना की ओर अग्रसर है। कृषि और सम्बन्धित उत्पादों का निर्यात वर्ष 2004–05 में कुल निर्यात का 16.8 प्रतिशत था, जो 2005–06 में बढ़कर 17.4 प्रतिशत की वृद्धि पायी गयी। विदेशी व्यापार नीति 2004–09 के अन्तर्गत निर्यात को रोजगार परक बनाने के लिए पाँच परम्परागत निर्यातों में कृषि के निर्यात पर विशेष फोकस दिया गया तथा कृषिगत उपजों के निर्यात सम्बर्द्धन हेतु 'विशेष कृषि उपज योजना' प्रारम्भ की गयी।

आप ध्यान देगें कि विदेश व्यापार नीति 2009–14 में अन्तर पूर्वी राज्यों के वागवानी उत्पादों को फोकस उत्पाद योजना का लाभ दिया गया तथा चाय निर्यातकों को मूल्य बर्द्धन की शर्तों को उदार बनाया गया इसके साथ जल्दी खराब होने वाली कृषि उपजों के लिए एकल खिड़की व्यवस्था को मंजूरी दी गयी जिसका कृषि के विदेशी व्यापार पर अनुकूल प्रभाव पड़ा।

आर्थिक उदारीकरण के सम्बन्ध में वर्ष 2003 में भारत सरकार द्वारा एपीएमसी कानून 1954, में आवश्यक संशोधित किया जिसके अन्तर्गत किसानों को अपनी उपज को सीधे बाजार में बेचने की व्यवस्था की गयी तथा खाद्य पदार्थों के घरेलू व्यापार बाधाओं का दूर करने का प्रावधान किया गया। भारत में कृषि राज्य सरकारों की विषय वस्तु में आता है। इसीलिए राज्यों ने इस प्रावधान को अपनाने में कठिनाईयाँ पैदा की। भारत में आंन्ध्रप्रदेश में इस दिशा में महत्वपूर्ण व्यवस्था की गयी जिसमें 'रैयत बाजार' की स्थापना की गयी जिसके अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के घरेलू बाजार का विस्तार हुआ तथा घरेलू बाजार में आने वाली समस्याओं को दूर किया गया। ई–चौपाल के माध्यम से भी कृषि वस्तुओं के व्यापार को विस्तृत किया गया। इस ई–चौपाल व्यवस्था के माध्यम से किसानों को अपना उत्पादन इन्टरनेट के माध्यम से विक्रय करने का अवसर प्राप्त हो

सका। यह माल इन्टरनेट के द्वारा सुपार बाजार में वेचना सम्भव हुआ। भारत के नौ राज्यों में 40 लाख किसान इस व्यवस्था का लाभ लेकर कृषि बाजार में संलग्न हैं।

उदारीकरण का भारतीय कृषि व्यापार पर एक अन्य प्रभाव यह भी पाया गया कि भारतीय कृषि वस्तुओं के घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा निगमों के प्रवेश देने की व्यवस्था की गयी। वर्तमान में रिटेल क्षेत्र में विदेशी निवेश की मंजूरी की व्यवस्था के कारण भारतीय कृषि वस्तुओं के घरेलू तथा बाहरी व्यापार पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों का दबाव होगा लेकिन यह दबाव किस रूप एवं दिशा में होगा यह किसानों की सोच तथा अर्थव्यवस्था में होने वाले स्वाभाविक परिवर्तनों पर निर्भर करेगा।

भारतीय कृषि के व्यापार पर पड़ने वाले प्रभाव का आंकलन आप इस तथ्य के आधार पर भी लगा सकते हैं कि वर्ष 2012 में भारत विश्व का सबसे बड़ा चावल निर्यातक देश बन बया है। वर्ष 2012 में 97.5 लाख टन चावल का निर्यात हमारे देश द्वारा विदेशों को किया गया है। वर्ष 2011 में भारत चावल के निर्यात करने में तीसरे स्थान पर रहा था। थाइलैण्ड 1.06 करोड़ टन चावल का निर्यात करके पहले स्थान पर था।

आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत कृषि को राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में महत्वपूर्ण स्तर पर लाने के लिए अनेक कृषि सम्बन्धी कार्यक्रमों/योजनाओं की शुरूआत की जिनका कृषि उत्पादन पर अनुकूल तथा वांछित प्रभाव पड़ा जिसके परिणामस्वरूप कृषि वस्तुओं के घरेलू तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि सम्भव हो सकी। इस प्रयास के अन्तर्गत वर्ष 2011–12 में कुल खाद्यान्न उत्पादन 252.56 मिलियन टन के रिकार्ड स्तर पर अनुमानित किया गया। वर्ष 2011–12 में गेहूँ का उत्पादन 90.23 मिलियन टन के रिकार्ड स्तर पर रहा। खाद्यान्नों के उत्पादन में भले ही भारत ने आत्मनिर्भरता प्राप्त की है तथा विदेशी व्यापार में सहभागिता का स्तर निम्न हो लेकिन यह आत्मनिर्भरता खाद्यान्नों के घरेलू व्यापार के विस्तार के कारण ही सम्भव बनी रह सकी है। खाद्यान्नों का उत्पादन भारत के सभी राज्यों में उनकी आवश्कयताओं के अनुरूप नहीं हो सका है।

खाद्यान्नों के रिकार्ड उत्पादन भी रिकार्ड स्तर पर पाया गया। इस वर्ष देश में फलों व सब्जियों का कुल उत्पादन 240 मिलियन टन से अधिक रहा है। उत्पादन में वृद्धि के कारण ही इनके निर्यात में वृद्धि दर्ज की गयी। फलों व सब्जियों के निर्यात से 1400 करोड़ रूपये की विदेशी मुद्रा सन्दर्भित वर्ष (2011–12) में अर्जित की गई है। फलों व सब्जियों के रिकॉर्ड उत्पादन से इनकी प्रति व्यक्ति उपलब्धता में भी वृद्धि हुई है। 12वीं पंचवर्षीय योजना में शीतगृहों की अतिरिक्त क्षमता सृजन का लक्ष्य 15 मिलियन टन का है, जो 11वीं पंचवर्षीय योजना में 8.75 मिलियन टन का था। कोल्ड चेन को बढ़ावा देने के लिए 'एक नेशनल सेंटर फॉर कोल्ड चेन डेवलपमेंट' (NCCD) की स्थापना का फैसला लिया है। देश में बागवानी उत्पादन को बढ़ावा देने के लिए चालू वर्ष 2012 को बागवानी वर्ष (Year of Horticulture) घोषित किया गया।

कृषि के आन्तरिक व्यापार को सुदृढ़ करने हेतु वर्ष 2011–12 की खरीफ की उपजों के लिए न्यूनतम समर्थन मूल्य (Minimum Support Prices-MSPs) की घोषणा सरकार ने 9 जून, 2011 को की थी इनमें सामान्य किस्म के धान को न्यूनतम

समर्थन मूल्य 80 रूपये प्रति क्विंटल बढ़ाते हुए यह 1080 रूपये प्रति क्विंटल घोषित किया गया। तद्नुसार 'ए' श्रेणी के धान में भी 80 रूपये प्रति क्विंटल की वृद्धि सरकार ने की तथा यह 1030 रूपये प्रति क्विंटल इस वर्ष किया गया था। खरीफ की अन्य उपजों के न्यूनतम समर्थन मूल्यों में भी केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की आर्थिक मामलों की समिति की 9 जून, 2011 की बैठक में लिए फैसले के तहत् की गई। इनमें सर्वाधिक 400–400 रूपये प्रति क्विंटल की वृद्धि उड़द व मूँगफली के न्यूनतम समर्थन मूल्यों में की गई। उड़द का मूल्य 2900 रूपये प्रति क्विंटल से बढ़ाकर न्यूनतम समर्थन मूल्य 3300 रूपये प्रति क्विंटल तथा मूँगफली (छिलके सहित) के मामले में यह 2300 रूपये से बढ़ाकर 2700 रूपये प्रति क्विंटल किया गया था। अन्य उपजों में अरहर का न्यूनतम समर्थन मूल्य 3000 रूपये प्रति क्विंटल से बढ़ाकर 3200 रूपये प्रति क्विंटल तथा मूँग के मामले में यह 3170 रूपये से बढ़ाकर 3500 रूपये प्रति क्विंटल किया गया। इसी क्रम में सोयाबीन के न्यूनतम मूल्य में 250–250 रूपये प्रति क्विंटल की वृद्धि इस वर्ष की गई तथा पीली सोयाबीन का समर्थन मूल्य 1440 रूपये बढ़ाकार 1690 रूपये तथा काली सोयाबीन का मूल्य 1400 रूपये से बढ़ाकर 1650 रूपये प्रति क्विंटल घोषित किया गया। कपास–मीडियम स्टेपल व लाँग स्टेपल के न्यूनतम समर्थन मूल्य 2010–11 में क्रमशः 2500 रूपये व 3000 रूपये प्रति क्विंटल थे, जो इस वर्ष 2011–12 में क्रमशः 2800 रूपये व 3300 रूपये प्रति क्विंटल घोषित किए गए।

भारत सरकार ने कृषि के महत्व का स्वीकारते हुए वित्तीय वर्ष 2011–12 की रबी उपजों के लिए नए न्यूनतम समर्थन मूल्यों (Minimum Support Prices-MSPs) की घोषणा 25 अक्टूबर, 2011 को की, इन फसलों का विपणन 2012–13 में किया गया है। कृषिगत लागत एवं मूल्य आयोग (CACP) के संस्तुतियों के आधार पर घोषित नए समर्थन मूल्यों में सर्वाधिक 700–700 रूपये प्रति क्विंटल की वृद्धि चना व सैफ्लावर के मामले में तथा सबसे कम 165 रूपये प्रति क्विंटल की वृद्धि गेहूँ के मामले में की गई है। गेहूँ का न्यूनतम समर्थन मूल्य 1120 रूपये प्रति क्विंटल पिछले वर्ष था (बाद में 50 रूपये प्रति क्विंटल बोनस इस पर अलग से घोषित किया गया था) विपणन वर्ष 2012–13 के लिए गेहूँ का न्यूनतम समर्थन मूल्य 1285 रूपये प्रति क्विंटल किया गया है, जबकि चना का समर्थन मूल्य 2100 रूपये प्रति क्विंटल से बढ़ाकर 2800 रूपये प्रति क्विंटल तथा सैफ्लॉवर के मामले में यह 1800 रूपये प्रति क्विंटल से बढ़ाकर 2500 रूपये प्रति क्विंटल किया गया है। इसी प्रकार रबी की अन्य उपजों में जौ का न्यूनतम समर्थन मूल्य 780 रूपये प्रति क्विंटल से बढ़ाकर 980 रूपये प्रति क्विंटल किया गया तथा मसूर का 2250 रूपये प्रति क्विंटल से बढ़ाकर 2800 रूपये प्रति क्विंटल और रेपसीड/सरसों का न्यूनतम समर्थन मूल्य 1850 रूपये प्रति क्विंटल से बढ़ाकर 2500 रूपये प्रति क्विंटल किया गया है,

चीनी वर्ष 2011–12 (अक्टूबर–सितम्बर) के लिए गन्ने के उचित लाभकारी मूल्य की घोषणा केन्द्र सरकार ने 16 मार्च, 2011 को की। यह मूल्य 145 रूपये प्रति क्विंटल घोषित किया गया था। 2010–11 में यह 139.12 रूपये प्रति क्विंटल था। गन्ने के लिए सरकार द्वारा घोषित यह मूल्य न्यूनतम देय मूल्य है, चीनी मिलें इससे अधिक मूल्य का भुगतान

करने को स्वतन्त्र हैं। पेराई सत्र 2010–11 में ही चीनी मिलें 210 रूपये प्रति क्विंटल की दर से भुगतान कर रही हैं।

आपको ज्ञात हो कि केन्द्र सरकार द्वारा गन्ने के लिए घोषित एक आरपी गन्ने के लिए दिया जाने वाला न्यूनतम मूल्य होता है। चीनी मिलें इससे अधिक मूल्य के भुगतान के लिए स्वतन्त्र होती हैं। केन्द्र सरकार द्वारा गन्ने के सांविधिक न्यूनतम मूल्य (Statutory Minimum Price-SMP) की घोषणा पूर्व वर्षों में की जाती थी तथा एमएमपी के स्थान पर एफआरपी का प्रावधान वर्ष 2010–11 से ही किया गया है, अधिकांश राज्यों में राज्य परामर्शित मूल्य (SAP) केन्द्र सरकार द्वारा घोषित एफआरपी से पहले ही काफी अधिक है इसिलए इस मूल्य से किसानों को कोई लाभ होने वाला नहीं है। एफआरपी की उपयोगिता केन्द्र सरकार द्वारा मिलों से खरीदे जाने वाली लेवी चीनी के मूल्य के लिए हैं। लेवी चीनी के मूल्य का निर्धारण एफआरपी के आधार पर किया जाता है।

उदारीकरण की प्रक्रिया के तहत भारत के खाद्य प्रसंस्करण के निर्यातों में वृद्धि हुई। आपको शायद ज्ञात हो कि आर्थिक सुधारों से पूर्व भारत के निर्यातों में खाद्य प्रसंस्करण की भूमिका अत्यन्त सीमित थी जो 1990–91 के बाद लगातार बढ़ती गयी। वर्ष 1990–91 में परिस्कृत खाद्यान्नों का निर्यात 10485.92 करोड़ रूपये था जो वर्ष 2001–02 में बढ़कर 13629.57 करोड़ रूपये हो गया। खाद्य पदार्थों के परिस्करण का निर्यातों में मूल्य वर्ष 2002–03 में बढ़कर 14600 करोड़ रूपये (अनुमानित) था। खाद्य परिसंस्कृत पदार्थों के निर्यात में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों के अन्य परिस्कृत खाद्य पदार्थों से कड़ी प्रतियोगिता का सामना करना पड़ रहा है।

28.5.1 उदारीकरण सम्बन्धी कृषि व्यापार की चुनौतियाँ

भारत सरकार द्वारा अपनायी गयी उदारीकरण की प्रक्रिया द्वारा कृषि वस्तुओं के व्यापार से सम्बन्धित अनेक प्रकार की चुनौतियाँ उत्पन्न हुई जिनकी विवेचना निम्नवत् की जा सकती है।

कृषि संकट को बढ़ाने में 1991 में प्रारम्भ की गयी उदारीकरण की नीतियों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। इस दौरान कृषि क्षेत्र की प्रमुख चिंताओं में गिरती उत्पादकता उच्च निवेश लागत, कम होता सार्वजनिक निवेश तथा कृषि आयातों में वृद्धि आदि मुख्य रूप से शामिल हैं। इसके परिणामस्वरूप कृषि क्षेत्र की औसत वार्षिक दर निरन्तर गिरती जा रही है। जिसका कृषि वस्तुओं के घरेलू तथा विदेशी व्यापार पर प्रतिकूल दिशा में प्रभाव पड़ा है। भारतीय कृषि ने उदारीकरण से पूर्व की दशक में 3 प्रतिशत की वृद्धि दर प्राप्त की परन्तु उदारीकरण के बाद के दशक में भारतीय कृषि के सफल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर में निरन्तर कमी दर्ज की गयी। परिणाम स्वरूप कृषि वस्तुओं के निर्यात के भाग में आनुपातिक रूप से कमी आयी।

उदारीकरण से सम्बन्धित एक अन्य समस्या को इस रूप में भी रखा जा सकता है कि विकास के वर्तमान दौर में कृषि निर्यातों में पर्याप्त मात्रा में वृद्धि नहीं हो पा रही तथा कृषि आयातों में अधिक वृद्धि के कारण कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार का

संतुलन बिगड़ता जा रहा है, इसके साथ उदारीकरण से सम्बन्धित भूमिहीनता की समस्या लगातार सभी क्षेत्रों में बढ़ती जा रही है। उदारीकरण के अर्थव्यवस्था पर पड़ते प्रभावों के कारण भूमाफिया तथा खनन माफियाओं के द्वारा कृषि योग्य भूमि पर लगातार अधिग्रहण किया जा रहा है जिससे छोटे तथा सीमान्त किसानों की स्थिति अत्यन्त दयनीय होती जा रही है। आवास विकास, औद्योगिक क्षेत्र तथा विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना एवं विस्तार के कारण भी कृषि योग्य भूमि का एक बड़ा भाग कृषि अयोग्य होता जा रहा है जिसका सकल कृषि उत्पादन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ रहा है। सेन्टर फॉर साइंस एण्ड इन्वायरमेंट के एक प्रतिवेदन के अनुसार पिछले दो दशकों में 750000 एकड़ भूमि खनन के लिए तथा 250000 एकड़ भूमि औद्योगिक क्षेत्रों के लिए हस्तान्तरित की चुकी है। सरकार द्वारा निर्यात को प्रोत्साहन देने के लिए स्थापित विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना के लिए भूमि अधिग्रहण एक आधुनिक नवीन हथियार बना लिया गया है। भूमि संसाधनों की इस हड़प नीति के चलते ग्रामीण क्षेत्रों में संघर्ष, धरना प्रदर्शन, आत्मदाह तथा अदालती कार्यवाही के लिए ग्रामीणों को मजबूर होना पड़ता है, जिससे कृषि व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

28.6 सारांश

उदारीकरण की प्रक्रिया द्वारा भारत सरकार ने कृषि व्यापार को परिवर्तित करने का प्रयास किया। उदारीकरण के अन्तर्गत घरेलू तथा विदेशी व्यापार सम्बन्धी कानूनों तथा नियमों में जो सुधार किये उनके द्वारा कृषि वस्तुओं का घरेलू तथा विदेशी व्यापार एक बड़ी सीमा तक प्रभावित हुआ है। उदारीकरण की प्रक्रिया द्वारा कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा देने का प्रयास किया लेकिन विकसित देशों की नीतियाँ तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजार की विपरीत परिस्थितियों के कारण कृषि वस्तुओं के आयात में निर्यात की अपेक्षा अत्यधिक वृद्धि दर्ज की गयी। कृषि वस्तुओं के आयात–निर्यात की मदों का अध्ययन करने से पता चलता है कि कृषि निर्यात में अनुपातिक रूप से काफी कमी आयी है। भारतीय बाजार को पूर्णतः खुला करने तथा नियमों तथा प्रबन्धों में ढ़ील देने के कारण भारतीय व्यापारियों ने कृषि का निर्यात करने की अपेक्षा आयात करने पर अत्यधिक जोर दिया। आयातों में वृद्धि तथा निर्यातों में आनुपातिक रूप से कमी के कारण कृषि के घरेलू व्यापार में वृद्धि होना स्वाभाविक है।

कृषि वस्तुओं को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर का बनाने के कारण विशेष आर्थिक क्षेत्रों की स्थापना अत्यन्त आवश्यक हुई जिसका प्रयोग घरेलू तथा विदेशी व्यापार हेतु वस्तुओं के परिस्करण एवं शुद्धता के लिए किया गया। उदारीकरा की प्रक्रिया से उद्योग तथा सेवा क्षेत्र में भी रियायतें दी गयी तथा भारतीय अर्थव्यवस्था के औद्योगीकरण पर अत्यधिक बल दिये जाने के कारण भी भारतीय व्यापारियों का ध्यान कृषि व्यापार की अपेक्षा विनिर्माण वस्तुओं पर अधिक दिया गया। जिसके कारण भारतीय कृषि के घरेलू तथा विदेशी व्यापार से सम्बन्धित अनेक प्रकार की चुनौतियाँ उभरकर सामने आयी।

28.7 पारिभाषिक शब्दावली

1. **उदारीकरण** – आर्थिक सुधारों के अन्तर्गत अपनायीगयी वह प्रक्रिया जिसमें अर्थव्यवस्था सम्बन्धी नियमों तथा कानूनों को ढ़ीला करके अत्यधिक उदार बनाया गया।
2. **आर्थिक सुधार** – अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में आर्थिक कार्यकुशलता तथा उत्पादकता सम्बन्धी सुधारों को आर्थिक सुधार किया गया है जिसमें निजीकरण, उदारीकरण तथा वैश्वीकरण को शामिल किया गया है।
3. **अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार** – एक देश द्वारा विदेशों से वस्तुओं एवं सेवाओं की खरीददारी एवं विक्री करना ही उस वस्तुओं एवं सेवाओं का विदेशी व्यापार कहा जाता है।
4. **घरेलू व्यापार** – वस्तुओं एवं सेवाओं का अपने ही देश की सीमा के अन्दर क्रय व विक्रय करना घरेलू व्यापार कहा जाता है।
5. **न्यूनतम सर्मथन मूल्य** – सरकार द्वारा कृषि वस्तुओं का वह निर्धारित मूल्य है जिससे नीचे मूल्यों पर कृषि उत्पादों या वस्तुओं का क्रय नहीं किया जाता है।
6. **खाद्य प्रसंस्करण** – यह वह प्रक्रिया है जिसमें कृषि उत्पाद को कच्चे माल के रूप में प्रयुक्त करके उसे अधिक शुद्ध एवं उपयोग बनाया जाता है।
7. **ओपन जनरन लाइसेंस** – ओपन जनरन लाइसेंस प्रणाली के अन्तर्गत वस्तुओं एवं सेवाओं का आयात व निर्यात स्वतन्त्र रूप से करने की अनुमति दी जाती है।

28.8 अभ्यासों के प्रश्नों के उत्तर

1.निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर संक्षेप में दीजिए?

(क)धान एवं गेहूँ के बीजों के आयात की मंजूरी कब दी गयी थी?

(ख)राष्ट्रीय बीज विकास नीति कब तय की गयी?

(ग) गैर–वासमती चावल के निर्यात से प्रतिबन्ध कब हटाया गया?

(घ)'उदारीकरण का सर्वाधिक प्रभाव आयातों पर पड़ा या निर्यातों पर ?संक्षेप में उत्तर दीजिए?

2.विशेष आर्थिक क्षेत्र की तीन विशेषताऐं बताइए?

3.उदारीकरण के अन्तर्गत कृषि वस्तुओं के निर्यात में क्या परिवर्तन हुआ?संक्षेप में बताओ?

4.मण्डी शुल्क तथा तथा स्टाम्प ड्यूटी को किस क्षेत्र के अन्तर्गत हटाया जाता है?

5.विदेश व्यापार नीति 2009–14 में कृषि व्यापार किस दिशा में प्रयास किये गये?

6.निम्नलिखित वाक्यों में सत्य तथा असत्य की पहचान कीजिए?

(1) उदारीकरण के अन्तर्गत निर्यात प्रसंस्करण क्षेत्रों को नया रूप दिया गया।सत्य/असत्य

(2) उदारीकरण में नियमों तथा कानूनों को सरल बनाया गया।सत्य/असत्य

(3) उदारीकरण के दौर में कृषि निर्यात में अप्रत्यासित सफलता मिली।सत्य/असत्य

7.निम्नलिखित वाक्यों में रिक्तपूर्ति करो?

(i) एकल खिड़की व्यवस्था का सम्बन्ध .....से है।

(ii) वर्ष 2002–07 की नियति नीति में ..... की स्थापना की गयी।

(iii) उदारीकरण का कृषि के .....तथा ..... व्यापार पर प्रभाव पड़ा।

(iv) कृषि और सम्बद्ध उत्पादों का निर्यात वर्ष 2002–08 में ..... करोड़ रूपये रहा।

(v) गेहूँ के निर्यात पर प्रतिबध ..... में आरोपित किया गया था।

(फरवरी 2007, घरेलू–विदेशी, विशेष आर्थिक क्षेत्र 76006, कृषि उपज)

हल – प्रश्न संख्या–6–(i) सत्य (ii) सत्य (iii) असत्य प्रश्न संख्या–7–(i) कृषि उपज (ii) विशेष आर्थिक क्षेत्र (iii) घरेलू–विदेशी (iv) 76006 (v) फरवरी 2007

28.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मिश्रा एण्ड पुरी (2011)भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालय पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली।
2. रूद्रदत्त एवं के.पी.एम. सुन्दरम (2011) भारतीय अर्थव्यवस्था, एस.चन्द्र एण्ड कं० लि०, नई दिल्ली।
3. डा० सी.एस. बरला एवं डा० एच.एस. अग्रवाल (2008)अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशन एवं विक्रेता, संजय प्लेस, आगरा।
4. जी.सी. सिंघई (2008)अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र,साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।
5. जैन, महेन्द्र (सम्पादक)भारतीय अर्थव्यवस्था, वार्षिकी (2012) प्रतियोगिता दर्पण, स्वदेशी बीमानगर, आगरा।

28.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मिश्र, जगदीश नारायण (2008)भारतीय अर्थव्यवस्था, पुस्तक महल पब्लिकेशन्स दरियागंज, नई दिल्ली।
2. समसामयिकी वार्षिकी प्रतियोगिता दर्पण, स्वदेशी बीमानगर, आगरा।
3. डा० एल.एन. कोली (2008)भारतीय अर्थव्यवस्था, लक्ष्मी नारायण पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, संजय प्लेस, आगरा।

28.11 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न–1. उदारीकरण के दौर में भारतीय कृषि नीतियों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए ?

प्रश्न–2. उदारीकरण की नीति का भारतीय कृषि के घरेलू व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा ?

प्रश्न–3. उदारीकरण नीति का भारतीय कृषि के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर पड़ने वाले प्रभाव की अलोचनात्मक समीक्षा कीजिए ?

प्रश्न–4. विदेशी व्यापार नीति का कृषि व्यापार से अन्तर्सम्बन्ध स्थापित कीजिए ?

हल –प्रश्न संख्या–1 के हल के लिए बिन्दु संख्या 28.3 का अवलोकन कीजिए ?

प्रश्न संख्या –2 के हल के लिए बिन्दु 28.4 एवं 28.5 संख्या को देखें।

प्रश्न संख्या –3 के हल के लिए बिन्दु संख्या 28.5 का अवलोकन कीजिए।

प्रश्न संख्या –4 के हल के लिए बिन्दु संख्या 28.5 का अवलोकन करें।

इकाई–29. बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका

इकाई संरचना

29.1 प्रस्तावना

29.2. उद्देश्य

29.3 बहुराष्ट्रीय निगम एवं कृषि क्षेत्र

29.3.1 बहुराष्ट्रीय निगमों का भारतीय कृषि पर प्रभाव

29.3.2 बहुराष्ट्रीय निगमों की कृषि व्यापार में भूमिका

29.4 बहुराष्ट्रीय निगम एवं कृषि सम्बन्धी समस्याऐं

29.4.1 बहुराष्ट्रीय निगमों की कृषि में प्रासंगिकता

29.5 सारांश

29.6 पारिभाषिक शब्दावली

29.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

29.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

29.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

29.10 निबन्धात्मक प्रश्न

29.1 प्रस्तावना

प्रस्तुत 'बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका' सातवे ब्लाक कृषि और बाह्य क्षेत्र की उन्तीसवीं इकाई है। इससे पूर्व की इकाई के अन्तर्गत आप भलीभांति समझ गये होंगे कि उदारीकरण का कृषि के घरेलू व्यापार के साथ अन्तर्राष्ट्रीय कृषि व्यापार पर पड़ने वाले प्रभावों की क्या स्थिति रही है। ये प्रभाव किस दिशा तथा सीमा तक सीमित रहे हैं।

प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आप कृषि और बाह्य क्षेत्र में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका की विवेचना से भली भांति परिचित हो सकेंगे। वर्तमान समय में विकसित देशों के साथ विकासशील देशों में भी बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका अलग–अलग क्षेत्रों में बढ़ती जा रही है। भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत कृषि क्षेत्र भी इन निगमों की भूमिका से अछूता नहीं रह गया है। ये निगम भारतीय कृषि को भी अनेक पक्षों से प्रभावित कर रहे हैं। प्रस्तुत इकाई के अन्तर्गत आप इन बहुराष्ट्रीय निगमों की अवधारणा समझने के साथ भारतीय कृषि व्यवस्था पर पड़ने वाले अनुकूल तथा प्रतिकूल प्रभावों के अध्ययन के साथ कृषि के आन्तरिक तथा विदेशी व्यापार की दिशा एवं प्रकृति पर पड़ने वाले प्रभावों का भी अध्ययन कर सकेंगे। भारतीय कृषि के आन्तरिक तथा बाहरी दोनों ही क्षेत्रों मे बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका अलग–अलग समयावधियों एंव सरकार की रणनीतियों के तहत बदलती रहती है। भारत में आजादी के बाद कृषि व्यापार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन उत्पन्न हुये जिनका भारतीय अर्थव्यवस्था पर अनेक रूपों में प्रभाव पड़ा। बहुराष्ट्रीय निगमों के आगमन के पूर्व भारतीय कृषि विदेशी व्यापार भारत सरकार के पूर्ण नियन्त्रण में था तथा आन्तरिक व्यापार में सरकार तथा स्थानीय व्यापारियों की संयुक्त भूमिका थी। इन निगमों के आगमन से भारतीय कृषि का आन्तरिक एवं विदेशी व्यापार एक अलग परिदृश्य में परिलक्षित हुआ तथा सरकार की जिम्मेदारी एवं नियन्त्रण काफी कम हो गया।

ये निगम न केवल कृषि व्यवस्था को प्रभावित करते हैं बल्कि कृषि को संस्थागत रूप से भी विकसित देशों के हितों की ओर मोड़ने के लिए प्रयासरत है। भारतीय कृषि संसाधनों का पूर्ण प्रयोग करने के लिए बहुराष्ट्रीय निगम किसी भी सीमा तक कार्य करने के लिए तत्पर हैं।

29.2 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई अध्ययन के उपरान्त आप समझ सकेंगे कि

1. बहुराष्ट्रीय निगम क्या है? तथा इसके क्या कार्यक्षेत्र हैं? कृषि के आन्तरिक तथा बाह्य क्षेत्र के विकास एवं विस्तार के लिए इनकी क्या उपयोगिता है?
2. बहुराष्ट्रीय निगमों की भारतीय कृषि के लिए भूमिका अपेक्षित है या केवल अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाओं के सन्दर्भ में इनकी प्रासंगिता स्वीकार की गयी है।
3. क्या बहुराष्ट्रीय निगमों की भारतीय कृषि के लिए भूमिका अपेक्षित है या केवल अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थओं के सन्दर्भ में इनकी प्रासंगिता स्वीकार की गयी है।
4. क्या बहुराष्ट्रीय निगम भारतीय कृषि के अन्तरिक रूप से प्रभावित करते हैं या बाहरी क्षेत्र को भी प्रभावित करने की दिशा में कार्य कर रहे हैं?

5. क्या ये निगम भारतीय कृषि के आन्तरिक व बाहरी क्षेत्र को नकारात्मक रूप में भी प्रभावित कर रहे हैं? क्या इन निगमों की भूमिका भी संदिग्ध हो सकती है?
6. भविष्य में भारतीय कृषि क्षेत्र के लिए इन निगमों की क्या प्रासंगिकता बनी रहेगी?

29.3 बहुराष्ट्रीय निगम एवं कृषि क्षेत्र

बहुराष्ट्रीय निगमों तथा कृषि क्षेत्र के मध्य संबन्धों को समझने से पहले आपको इन बहुराष्ट्रीय निगमों के अर्थ तथा व्यवस्था को अत्यन्त आवश्यक होगा। सामान्य रूप से आपको बताना होगा कि बहुराष्ट्रीय निगम एक कम्पनी या उद्योग का वह स्वरूप है जिसका कार्यक्षेत्र अनेक राष्ट्रों में फैला होता है तथा इनका विशाल आकार होता है। इन निगमों को समझने के लिए निम्न परिभाषा का सहारा लिया जा सकता है। जो निम्न प्रकार दी गयी है।

संजयलाल तथा स्ट्रीटन ने बहुराष्ट्रीय निगमों को इस प्रकार से परिभाषित किया है कि ''एक विशिष्ट बहुराष्ट्रीय निगम वह है जिसमें 100 मिलियन डालर से कई हजार मिलियन डालर तक शुद्ध बिक्री होती है। इसके विनिर्माण में प्रत्येक्ष विदेशी निवेश होता है जो सामान्यतः कम्पनी के निवेश का 15 से 20 प्रतिशत तक होता है। प्रत्यक्ष विदेशी निवेश से तात्पर्य है– विदेशी उद्यम की शेयर पूँजी का कम से कम 25 प्रतिशत भागीदार होना।''

इन्होने निगमों को और स्पष्ट करने हुए बताया कि बहुराष्ट्रीय निगम बहुत विशाल आकर वाली फर्मे होती हैं तथा इनका कार्यक्षेत्र काफी दूर–दूर तक फैला होता है तथा इनका स्तर अन्तर्राष्ट्रीय प्रकृति का होता है। पाँच से अधिक विदेशी सहायक फर्मे विदेशों में उत्पन्न की गयी कुल विक्री का 15 प्रतिशत उत्पादन करती है। ये निगम अधिकतम उत्पादन तथा अधिकतम लाभ पाने के उद्देश्य से एकात्मक प्रयासों को अन्तिम रूप प्रदान करती हैं। अर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के अन्तर्गत इन निगमों ने उद्योग तथा सेवा क्षेत्रों में अपने प्रभाव को छोडने के साथ भारतीय कृषि के आन्तरिक तथा बाहरी व्यापार को प्रभावित करने पर ध्यान केन्द्रित किया। इन निगमों ने कृषि को भी वैश्वीकरण के दायरे में लाकर विकसित देशों के लिए अत्यधिक लाभ दिलाने का प्रयास किया है।

29.3.1 बहुराष्ट्रीय निगमों का भारतीय कृषि पर प्रभाव

शायद आपने ध्यान दिया हो कि सन् नब्बै के दशक में प्रारम्भ किये गये आर्थिक सुधारों की प्रक्रिया के अन्तर्गत भारतीय अर्थव्यवस्था को विकासशील अर्थव्यवस्थाओं के साथ–साथ विश्व की विकसित अर्थव्यवस्थाओं के साथ सम्बन्धों में अधिक निकटता दिखाई गयी जिसके परिणामस्वरूप विकसित अर्थव्यस्थाओं के लिए अपने सुदृढ़ता एवं स्थिरता के लिए भारतीय अर्थव्यवस्था का सहारा मिला।

आपको यह पता होगा कि भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि का अलग स्थान है जिसको नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। इसके साथ भारतीय कृषि व्यवस्था के स्थिर संसाधनों के कुशलतम व इष्टतम प्रयोग के लिए उचित तकनीकी व पर्याप्त पूंजी व प्रबन्धतन्त्र की अत्यन्त आवश्यकता रही है। भारतीय कृषि में विकसित देशों द्वारा हस्तक्षेप करके अपनी अर्थव्यस्थाओं को एक नई दिशा देने के लिए सदैव प्रयास किये गये। इन

सभी प्रयासों के अन्तर्गत बहुराष्ट्रीय निगमों के माध्यम से भारतीय कृषि का प्रयोग विकसित अर्थव्यवस्थाओं के हित में किया जाता है। इसके दूसरे पक्ष को देखें तो भारतीय अर्थव्यवस्था को पर्याप्त पूंजी, व्यवस्था तथा आवश्यक तकनीकी सहजता के साथ उपलबध हो जाती है।

बहुराष्ट्रीय निगमों की भारतीय कृषि के संबन्ध में भूमिका के पहलू पर अलग–अलग विद्वानों द्वारा अलग–अलग मत व्यक्त किये गये हैं। भूमण्डलीकरण को बढ़ावा देने के लिए तथा विदेशी निवेश के स्वतन्त्र प्रवाह को बढ़ावा देने के लिए नई ओद्यौगिक नीति में उच्च प्राथमिकता वाले क्षेत्रों में 51 प्रतिशत की इक्विटी आने की अनुमति प्रदान की गयी। इसके माध्यम से बहुराष्ट्रीय निगमों के भारत में आने का मार्ग प्रशस्त हुआ। विदेशी पूंजी के भारत में आगमन से नई उच्च तकनीकी, बाजार पर पकड़ बनाने की विशेषज्ञता तथा उत्पादन एवं वितरण कार्य में लगी कुछ फर्मों के साथ सम्पर्क बढ़ा जिसका प्रभाव भारतीय कृषि क्षेत्र पर सकारात्मक रूप में पड़ा।

आपको शायद ज्ञात हो कि भारतीय कृषि पिछले कई दशकों से कृषि आदानों की समय से आपूर्ति, कृषि वित्त तथा बाजार संबन्धी अनेक प्रकार की समस्याओं का सामना करती रही है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों के लगातार सुधारात्मक प्रयासों के बावजूद भी किसान की तरक्की का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सका। ऐसी स्थिति में सरकारी प्रयासों एवं तकनीकी ज्ञान को किसान तक पहुँचाने के लिए बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की सहायता की गयी। बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा वित्त एवं बाजार तथा तकनीकी साधनों की उपलब्धता का लाभ भारतीय कृषि को मिला जिसका कृषि कार्य की पद्धति तथा उत्पादन आदि पर अनुकूल प्रभाव पड़ा। यहां पर यह भी आपको बताना अत्यन्त आवश्यक होगा कि इन बहुराष्ट्रीय निगमों की उच्च गुणवत्ता तथा नवीन उपकरणों की खोज का भारतीय कृषि पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा। कृषि मशीनों, ट्रैक्टर, ट्रिलर, बुवाई एवं गुड़ाई की आधुनिक मशीने, थ्रैसर, कम्बाइन की पर्याप्त आपूर्ति किसानों के लिए समयानुसार की जा सकी जिसके द्वारा कृषि कार्य की काफी समस्याओं का समाधान संभव हो सका। रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशक दवाओं के उत्पादन एवं वितरण में बहुराष्ट्रीय निगमों की अत्यधिक भूमिका के कारण किसानों को पूरा लाभ प्राप्त हो सका। इन निगमों द्वारा नवीन उपज की प्रजातियों की खोज विकास किये जाने का लाभ भी भारतीय कृषि पर अनुकूल रूप में प्राप्त हो सका ।

बहुराष्ट्रीय निगमों का भारतीय कृषि पर संस्थागत रूप से भी प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ। भारत सरकार द्वारा जोतों के लगातार छोटा होने तथा अनेक प्रकार के जोत संबन्धी विवादों के कारण कृषि विविधीकरण योजना के अन्तर्गत संविदा खेती को वैधानिक रूप प्रदान किया जिसके अन्तर्गत कुछ कृषि उत्पादों यथा–टमाटर, चावल, सब्जियां तथा फल उत्पादन के लिए बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रवेश को भी इजाजत दी गयी। इसके अन्तर्गत कृषि आगत एवं प्रौद्योगिकी को इन निगमों द्वारा उपलब्ध कराया गया तथा उत्पादन को पूर्व निर्धारित मूल्य पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा क्रय किया गया। इस प्रकार की खेती के अन्तर्गत कृषि भूमि तथा आवश्यक संसाधनों का कुशलता के साथ प्रयोग सम्भव हो सका

जिसका कृषि उत्पादन पर वृद्धि के रूप में प्रभाव पड़ा। भारतीय समाज व्यवस्था में निरन्तर होने वाले परिवर्तनों के कारण कृषि वस्तुओं की मांग में निरन्तर तथा नवीनता के साथ वृद्धि हुई है।

शायद आपको ज्ञात होगा कि बहुत से कृषि उत्पादों का उपभोग सीधे प्रत्यक्ष रूप से न होकर उनका प्रसंस्करण तथा परिस्करण करने के साथ किया जाता है जिसके लिए कृषि आधारित उद्योगों की आवश्यकता पायी गयी। बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा इस कार्य क्षेत्र में उल्लेखनीय सफलता हांसिल की है। कृषि पदार्थों के प्रसंस्करण के कारण जैम, जैली, अचार, मुरब्बा, चटनी तथा फास्ट फूड के उपभोग में काफी वृद्धि हुई जिसके कारण कृषि वस्तुओं की मांग में वृद्धि हुई। सब्जियों एवं फलों को संरक्षित किये जाने के लिए भी इन निगमों की सहायता ली गयी है जिससे कृषि में निवेश की सम्भावनाऐं बढ़ी हैं।

29.3.2 बहुराष्ट्रीय निगमों की कृषि व्यापार में भूमिका

बहुराष्ट्रीय निगमों का अर्थ तथा कार्य प्रणाली संबन्धी तथ्यो का अध्ययन करने के बाद आप बहुराष्ट्रीय निगमों की भारतीय कृषि व्यवस्था तथा तकनीकी ज्ञान सम्बन्धी विवेचना से इन निगमों की कृषि क्षेत्र से सम्बद्धता को भली–भांति समझ गये होंगे। इन निगमों की भारतीय कृषि में भूमिका को केवल कृषि व्यवस्था तथा उत्पादन तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है। कृषि वस्तुओं के विदेशी तथा आन्तरिक व्यापार के सम्बन्ध में भी इन निगमों की भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है। भारत में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से कृषि व्यापार को अनेक दिशाओं में प्रभावित किया गया है। बाजार में कृषि वस्तुओं की मांग बढ़ाना तथा बाजार में किसानों एवं उत्पादकों के लिए पर्याप्त वातावरण पैदा करना जैसे सुविधाऐं इन निगमों द्वारा उपलब्ध कराकर इस क्षेत्र में कार्य किया गया है। वैश्वीकरण की प्रक्रिया के कारण इन निगमों की विदेशी व्यापार में भूमिका काफी बढ़ गयी है जिसका घरेलू कृषि बाजार पर भी विस्तारात्मक प्रभाव पड़ा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों द्वारा गेहूँ, चावल, दाल, तिलहन, फल तथा पुष्प आदि के व्यापार में प्रवेश आसानी से तथा बड़े स्तर पर मिल चुका है।

आपको ज्ञात है कि इन बहुराष्ट्रीय निगमों का सम्बन्ध एक से अधिक विकसित तथा विकासशील देशों से हैं इसीलिए भारतीय कृषि वस्तुओं के लिए विदेशी बाजार में मांग सृजित की गयी है। इसके साथ कृषि वस्तुओं का आयात भी इन निगमों द्वारा सम्भव हो सका है। भारतीय किसानों का सरकारों से उठते विश्वास के कारण तथा सरकारी कृषि सम्बन्धी योजनाओं के उचित क्रियान्वयन की कमी के कारण इन निगमों को भारतीय कृषि क्षेत्र में प्रवेश के लिए अच्छा माहौल उपलब्ध हो सका। कृषि व्यापार के सम्बन्ध में सरकार तथा किसान दोनों ही पूर्ण रूप से सफल नहीं थे। एक ओर किसानों के पास पर्याप्त संसाधनों की कमी थी तो दूसरी ओर सरकारी मशीनरी कुशलता के साथ कार्य नहीं कर सकी। परिणामस्वरूप विदेशी व्यापार में कृषि की भूमिका को कम आंका गया। इन बहुराष्ट्रीय निगमों के प्रवेश से कृषि वस्तुओं के विदेशी व्यापार पर सरकार भी गम्भीरता से विचार कर रही है। आपको ध्यान हो कि भारत में कृषि क्षेत्र वस्तुओं का वास्तविक उत्पादक है। सेवा तथा उद्योग क्षेत्र कृषि वस्तुओं का प्रयोग करके ही विस्तार करता है।

इसीलिए कृषि वस्तुओं के विदेशी तथा देशी व्यापार के अभाव में अन्य क्षेत्रों का भी विकास सम्भव नहीं हो सकता। भले ही कृषि का मूल्य कम क्यों न आंका जाय।

इन बहुराष्ट्रीय निगमों के द्वारा कृषि वस्तुओं के परम्परागत व्यापार के साथ गैर परम्परागत नवीन कृषि वस्तुओं के व्यापार के लिए भी स्थान तैयार किया है जिसका कृषि व्यवस्था, उत्पादन तथा किसान एवं मजदूरों पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा है।

29.4. बहुराष्ट्रीय निगम एवं कृषि सम्बन्धी समस्याऐं

आप समझ गये होंगे कि बहुराष्ट्रीय निगम भारतीय कृषि क्षेत्र में किस रूप में तथा किस सीमा तक भूमिका अदा कर रहे हैं। भारतीय कृषि पर इन निगमों के सकारात्मक तथा विकासात्मक प्रभावों के साथ–साथ कुछ चुनौतीपूर्ण प्रभाव भी दिखाई देते हैं जिनकी विवेचना निम्न रूप में की जा सकती है।

बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा तैयार किये गये बीज, रसायन आदि उत्पादन में वृद्धि की दृष्टि से उपयोगी कहे जा सकते हैं लेकिन ध्यान नहीं दिया गया है। उच्च प्रौद्योगिकी से तैयार इन उत्पादों के प्रयोग करने के लिए भारतीय कृषकों का एक वर्ग पूर्ण रूप से तैयार नहीं है। प्रयोग की लापरवाही आदि के कारण रासायनिक तत्त्व जानलेवा होने के साथ–साथ स्वास्थ्य के लिए भी हानिप्रद हैं। इन बीजों एवं रसायनों की कीमत अधिक होने के कारण भारतीय कृषि की लागत अत्यधिक बढ़ गयी है। इसके साथ भारत में जोतों की छोटी आकृति के कारण भी किसान इन बीजों एवं रायायनिक तत्त्वों का पूर्ण लाभ लेने में असमर्थ हैं। पेटेण्ट कानूनों की आड़ में इन निगमों का सहारा लेकर विकसित देश, विकासशील देशों की कृषि व्यवस्थाओं का फायदा अपने निजी हितों में करना चाहते हैं जिसका भारतीय कृषि पर भविष्य में नकारात्मक व संस्थागत प्रभाव पड़ने की सम्भावनाऐं हैं।

आपका ध्यान इस ओर भी ले जाना अत्यन्त आवश्य है कि इन निगमों द्वारा तैयार बीज का उत्पादन व वितरण भारतीय जैव सम्पदा एवं पर्यावरण की दृष्टि से हानिकारक है ये निगम भारतीय कृषि में प्रवेश करके अपने देश की सरकारों से अनुदान प्राप्त करके एक एजेण्ट के रूप में कार्य कर रहे हैं। भारतीय कृषि व्यवस्था में सस्थागत व्यवस्थाओं में इन निगमों का हस्तक्षेप किसानों के भविष्य को अंधकार में ले जाया जा सकता है तथा किसानों के अधिकारों को सीमित किया जा सकता है।

29.4.1 बहुराष्ट्रीय निगमों की कृषि में प्रासंगिकता

अब आपको बहुराष्ट्रीय निगमों की भारतीय कृषि में प्रासंगिकता के विषय पर ध्यान केन्द्रित करने की भी अत्यन्त आवश्यकता है। पिछले कुछ दशको से भारतीय कृषि में सरकारी निवेश की समस्या गम्भीर होती जा रही है जो वैश्वीकरण के दौर में कृषि वस्तुओं के लिए विदेशों में अपना स्थान स्थापित करने के लिए एक चुनौतीपूर्ण हो गया है क्योंकि कृषि वस्तुओं के बाजार को प्रतिस्पर्द्धात्मक बनाने तथा गुणात्मक के लिए कृषि में बड़े स्तर पर निवेश किया जाना अत्यन्त आवश्यक माना गया है। भारत में कृषि वित्त संबन्धी अनेक मात्रात्मक तथा व्यवस्था संबन्धी समस्यायें समय–समय पर पैदा होती रही हैं जिससे

भारतीय किसानों द्वारा न्यूनतम निवेश भी किया जाना सम्भव नहीं हो पा रहा है। सार्वजनिक निवेश पर प्रतिफल एवं नीति क्रियान्वयन का उचित रूप नहीं दिखाई दे रहा है। ऐसी स्थिति में भारतीय कृषि में बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा बड़े स्तर पर निवेश किया जाना सम्भव हो सकता है। जिसका भारतीय कृषि पर अनुकूल प्रभाव पड़ेगा। कृषि निवेश के क्षेत्रों में अनुसंधान, कृषि तकनीकी, बाजार सम्बन्धी खोज, भण्डारण व्यवस्था, विपणन व्यवस्था तथा आधारिक संरचना को प्राथमिकता दी जा सकती है। जिसके कारण कृषि वस्तुओं के घरेलू तथा विदेशी व्यापार को नई दिशा दी जा सकेगी।

भारत की विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के दौर में कृषि की अपेक्षा उद्योग तथा सेवा क्षेत्र को वरीयता दी जाती रही है। जिसका कृषि पर बुरा प्रभाव पड़ा है। कृषि उत्पादन का उद्योगपतियों एवं व्यापारी वर्ग द्वारा अपनी स्वयं की तय रणनीति के अनुसार प्रयोग किया है जिसका किसानों को विशेष लाभ प्राप्त नहीं हो सका। बहुराष्ट्रीय निगमों का ध्यान भारतीय कृषि की ओर आकर्षित होने से कृषि में विकास के अनेक मार्ग दिखाई देने लगे हैं जिसका लाभ इन निगमों एवं किसानों को मिलने की सम्भावना है। इससे भारतीय अर्थव्यवस्था में कृषि या प्राथमिक क्षेत्र नये रूप में परिवर्तित होगा जिसे भारत सरकार तथा किसानों की स्वाभाविकता के रूप में देखा जा सकता है।

विश्व व्यापार में भारत की भागीदारी अत्यन्त अधिक नहीं पाई गई। कृषि से सकल राष्ट्रीय उत्पाद का 25 प्रतिशत प्राप्त होता है तथापि कृषि निर्यात बहुत कम है। भारत को यह उम्मीद थी कि विकसित देशों में घरेलू समर्थन का स्तर घटाया जाएगा तथा निर्यातों पर सहायता में कटौती की जाएगी ताकि भारत इन देशों को और कृषि वस्तुओं का निर्यात कर पाएगा। विकसित देशों ने अत्यन्त कुशलता से अपने हितों की सुरक्षा की है तथा विकासशील देशों में कृषि आयातों के विस्तार पर अंकुश लगाने में सफल रहे हैं। उदारवादी नीति के चलते भारत ने विगत कुछ वर्षों में दूसरे देशों के माल के लिए अपने दरवाजे खोले हैं तथा मात्रात्मक प्रतिबन्धों को हटा लिया है। अतः भारतीय किसानों के हितों की सुरक्षाा हेतु यह जरूरी है कि भारत कृषि के लिए स्पष्ट प्राथमिकताओं को निश्चित करे और उनका कठोरता से पालन हो। विशेष रूप से निम्नलिखित दिशाओं में कार्य करना आवश्यक समझा जा सकता है –

भारत जैसे विकासशील देशों के हितों की सुरक्षा के लिए निरूपण–रहित व्यापार तथा सभी देशों को समान अवसर प्रदान करने हेतु जरूरी है कि विकसित देशों में मौजूद उच्च सहायता दरों तथा समर्थन स्तरों को घटाया जाए। रमेशचन्द्र और लीतू मैथ्यु फिलिप के अनसुार यह जरूरी है कि भारत (तथा अन्य विकासशील देश) इस बात पर जोर दें कि सभी प्रकार की कृषि सहायता को एक साथ सम्मिलित किया जाए और फिर इस 'कुल घरेलू समर्थन' में कटौती की मांग की जाए (केवल समर्थन के समग्र माप पर ही नहीं)। इसके अतिरिक्त विकसित देशों को उच्च कृषि समर्थन से जो अतिरिक्त लाभ प्राप्त हो रहा है उसे समाप्त करने हेतु अन्य सदस्य देशों को यह अनुमति प्राप्त होनी चाहिए कि वे घरेलू समर्थन में अन्तरों के बराबर संरक्षणात्मक प्रशुल्क लगा सकें।

यहां पर यह ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है कि जो देश अपने कृषि क्षेत्र का वैश्वीकरण कर रहा है उसके अन्तर्गत वह उत्पादन में आत्मनिर्भर नहीं बन सकता क्योंकि वैश्वीकरण के अधीन वह उन कृषि वस्तुओं में विशिष्टीकरण करेगा जिनमें उसे तुलनात्मक लाभ प्राप्त है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले तथा कम क्रय–शक्ति वाले देश में यह आवश्यक है कि खाद्यान्न व अनाज की उपलब्धि पर वैश्वीकरण के प्रभाव पर पूरा ध्यान दिया जाए। विदेशी व्यापार को बढ़ाने के साथ आन्तरिक व्यापार में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन आवश्यक है। अतः राष्ट्रीय स्तर पर खाद्यान्नों में आत्मनिर्भर होना जरूरी है ताकि व्यापार पर निर्भरता को सीमाओं के अन्दर रखा जा सके। भारतीय अर्थव्यवस्था के अन्तर्गत घरेलू कीमतों के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय कीमतों में अधिक उतार–चढ़ाव होते हैं। इसलिए व्यापार प्रतिबन्धों को कम करने का नतीजा यह होगा कि घरेलू कीमतों तथा किसानों की आय में अस्थिरता व अनिश्चतता में वृद्धि होगी। इसलिए सरकार को समुचित कदम उठाने होंगे। एक अन्य खतरा यह हो सकता है कि किसी देश कृषि वस्तुओं का अत्यधिक उत्पाद हो तथा वह अपने अधिशेष को भारत में काफी सस्ते मूल्यों पर खपाने का प्रयास करें। इसलिए कृषि वस्तुओं के भारी आयातों पर सतर्क रहने की आवश्यकता है। राव तथा जैरोमी ने स्पष्ट किया है कि वैश्वीकरण का कुछ विशिष्ट क्षेत्रों, विशिष्ट फसलों तथा उन विशिष्ट लोगों के विशिष्ट वर्गों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। इसका कारण यह है कि वैश्वीकरण का लाभ ज्यादातर उन क्षेत्रों को प्राप्त होगा जिनमें संसाधनों की बड़ी मात्रा है, उन फसलों को प्राप्त होगा जिन्हें तुलनात्मक लाभ प्राप्त हैं, तथा जनसंख्या के उन वर्गों को प्राप्त होगा जो निर्यात वस्तुओं का उत्पादन करने में संलग्न हैं। इसके साथ ही वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप कुछ अनिवार्य उपभोग वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि हो सकती है जिससे लोगों के कल्याण स्तर पर विपरीत प्रभाव पड़ सकता है। इसलिए जिन फसलों लोगों तथा क्षेत्रों पर वैश्वीकरण का प्रतिकूल प्रभाव पड़ने की आशंका है। उनकी जानकारी करनी होगी तथा कृषि नीति में उनके हितों की सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करनी होगी। अर्थव्यस्था की विकास दर में कृषि व्यापार के भाग को तय करना होगा।

आपको ज्ञात होगा कि भारत में अभी कृषि को घरेलू समर्थन कृषि उत्पाद के मूल्य के 10 प्रतिशत से बहुत कम है इसलिए अभी इसमें कमी करने की जरूरत नहीं है। लेकिन जब एक बार विकासशील देशों को प्राप्त रियायतें खत्म कर दी जायेंगी तब आर्थिक सहायता कम करने हेतु दबाव बढ़ सकता है विशेष रूप से खाद्यान्नों की वसूली तथा सार्वजनिक वितरण प्रणाली द्वारा उनके वितरण पर प्रदान की जाने वाली आर्थिक सहायता को कम करने के लिए। अतः भारत को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर दबाव बनाना चाहिए ताकि ग्रीन बाक्स की भांति ही फूड सिक्यूरिटी बॉक्स तथा 'डवलपमेंट बॉक्स' बनाया जाए। आर.तमाराक्षी का यह तर्क पूर्णत उचित है कि यह आशा एकदम बेमानी व अवास्तविक है कि व्यापार उदारीकरण के द्वारा खाद्यान्नों का ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय ढाँचा निर्मित हो सकेगा जिससे विकासशील देशों की निर्धन जनता को सस्ते देशों में यह काम इतना कठिन व व्यापक है कि बगैर इन देशों की सरकारों के प्रभावी हस्तक्षेप के व्यवहारिक रूप प्रदान करना असम्भव है। एक लम्बी समयावधि से भारत में पौधों व बीजों के लिए पेटेण्टों तथा

पौधों की किस्मों के लिए संरक्षण की कोई व्यवस्था नहीं थी। इसका कारण यह है कि भारत कृषि संसाधनों पर सम्पूर्ण मानव जाति के अधिकारों को स्वीकार करता रहा है। लेकिन विश्व व्यापार संगठन के अन्तर्गत अपनाए गए बौद्धिक सम्पदा पर अधिकारों से सम्बन्धित समझौते में यह व्यवस्था की गई है कि सभी सदस्य देश पौधों की किस्मों के संरक्षण हेतु तथा बीजों के लिए पेटेण्ट प्रदान करेंगे। इस व्यवस्था का भी लाभ विकसित देशों को ही प्राप्त होगा विशेष रूप से इन देशों के बहुराष्ट्रीय निगमों को। वस्तुतः बहुराष्ट्रीय निगमों को विकासशील देशों में उन्न किस्म के बीजों की बिक्री–सम्भावनाओं का पूर्ण ज्ञान है। इन किस्मों को पेटेण्ट करके वे इन बाजारों से भरपूर लाभ प्राप्त करना चाहते हैं।

बौद्धिक सम्पदा अधिकार सम्बन्धी समझौते की शर्तों को पूरा करने के लिए भारतीय संसद ने अगस्त, 2001 में पौधों की किस्मों के संरक्षण तथा किसानों के अधिकार सुरक्षा हेतु कानून पारित किया (इसे Protection of Plant Varieties and Farmers Rights Legislation का नाम दिया गया है) लेकिन जैसा कि अनीता रामन्ना का विचार है केवल स्वामित्व अधिकारों सम्बन्धी कानून बनाना पर्याप्त नहीं है, कृषि संसाधनों के संरक्षण हेतु भी कानूनी जरूरी है। भारत में बहुत बड़ी मात्रा में आनुवांशिक संसाधन हैं और यदि ये मुफ्त में उपलब्ध होंगे तो विकसित देशों के निगम इन पर अधिकार करके पेटेण्ट उत्पाद बनाने का प्रयत्न करेंगे।

उक्त तथ्यों के विश्लेषण के बाद आप समझ गये होंगे के बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्य प्रणाली को भारतीय कृषि में किस दिशा तथा सीमा तक ले जाने की आवश्यकता है भारतीय अर्थव्यवस्था की आन्तरिक कमजोरियों भी इन बहुराष्ट्रीय निगमों की प्रासंगिकता को और अधिक मजबूती प्रदान करती है।

29.5 सारांश

संक्षेप में बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका के सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि ये निगम अत्यधिक विस्तृत होने के कारण भारतीय कृषि को प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही रूप में प्रभावित करते हैं। इस सम्बन्ध में कहना है कि ये निगम भारतीय कृषि को बाहरी रूप में अर्थात कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के रूप में प्रभावित करते रहे हैं। वर्तमान समय में देखा जा रहा है कि बहुराष्ट्रीय निगम भारतीय कृषि को आन्तरिक रूप से भी अनेक दिशाओं में प्रभावित करने लगे हैं। आन्तरिक रूप में कृषि वित्त, कृषि आदानों की आपूर्ति तथा अन्य तकनीकी सेवाओं की पूर्ति जैसे मदों को शामिल किया गया है। बहुराष्ट्रीय निगमों पर विकसित देशों का आधिपत्य पाया जाता है इसीलिए इन निगमों की कृषि सम्बन्धी नीतियाँ विकसित देशों के हितों को ध्यान में रखकर ही तय की जाती है।

बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका को सकारात्मक एवं नकारात्मक दोनों रूपों में देखा जा सकता है। लेकिन इन दोनों प्रभावों को विकसित देशों के संदर्भ में अनुकूल रूप में ही लिया गया है। इसके साथ भारतीय कृषि पहले से ही अनेक प्रकार की संस्थागत तथा गैर संस्थागत चुनौतियों का सामना कर रही है इसीलिए इन निगमों की भूमिका को भी चुनौतीपूर्ण ही कहा जा सकता है। भारतीय कृषि में इन निगमों की प्रासंगिकता पर भी

अलग–अलग विचार व्यक्त किये गये हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था की अपनी अलग संरचना तथा चुनौतियां भी इन निगमों की प्रासंगिकता को और अधिक महत्वपूर्ण बना देती है। सरकार की नई आर्थिक सुधार की नीतियों के अन्तर्गत विश्व की अर्थव्यवस्थाओं का प्रभाव भारतीय कृषि व्यापार के साथ घरेलू तथा विदेशी व्यापार पर भी अलग रूप में दिखाई दिया। एक ओर कृषि के लिए नई व्यवस्था तथा संसाधनों की उपलब्धता हो सकी वहीं भविष्य में भारतीय किसानों के अधिकारों एवं उत्पादन सुरक्षा के संबन्ध में सन्देह व्यक्त किये गये थे। वैश्विक स्तर पर विकसित देशों द्वारा बनाये जाने वाले अनेक कानून निगम तथा कार्यक्रमों के अन्तर्गत भारतीय कृषि का प्रयोग उनके निजी हितों के अनुरूप किया गया है वहीं भारतीय कृषि को व्यापार के माध्ययम से विकसित देशों की अर्थव्यस्थाओं से जोड़ा गया है। यदि विदेशी व्यापार के संबन्ध में इन निगमों की भूमिका को महत्वपूर्ण मान लिया जाय तो घरेलू व्यापार के संबन्ध में इन निगमों की प्रासंगिकता पर पूर्ण विश्वास नहीं किया जा सकता। अन्त में यह कहा जा सकता है कि बहुराष्ट्रीय निगमों की भूमिका भारतीय कृषि के क्षेत्र में महत्वपूर्ण होने के साथ–साथ भविष्य में भारतीय कृषि के लिये विवादास्पद स्थिति पैदा कर सकती है।

29.6 पारिभाषिक शब्दावली

1. **बहुराष्ट्रीय निगम** – वह निगम या कम्पनी जिसका कार्य क्षेत्र एक से अधिक देशों तक विकसित होता है बहुराष्ट्रीय निगम के नाम से जाना जाता है।
2. **बाह्य क्षेत्र**– सामान्य रूप से बाह्य क्षेत्र से तात्पर्य कृषि वस्तुओं के देश से बाहर होने वाले आयात–निर्यात से लगाया जाता है।
3. **सहायक फर्मे**–सहायक फर्मो से तात्पर्य ऐसे फर्मो से है जो बड़ी या मुख्य फर्मो के बाजार तथा उत्पादन के विस्तार में सहायता करती है।
4. **पूँजी**– पूँजी से तात्पर्य धन के उस भाग से लगाया जाता है जो किसी उत्पादन कार्य में लगा होता है।
5. **नई औद्योगिक नीति**– भारत सरकार द्वारा आर्थिक सुधारों को सुचारू रूप से लागू करने के लिए तैयार की जाने वाली सन् 90 के दशक वाली औद्योगिक नीति को नई औद्योगिक नीति कहा जाता है।
6. **कृषि विविधीकरण**– कृषि फसलों तथा उत्पादन को अलग–अलग रूपों में पैदा करना कृषि विविधीकरण कहलाता है।
7. **खाद्य प्रसंस्करण**– खाद्य प्रसंस्करण से तात्पर्य कृषि वस्तुओं को खाने के लिए उपयोग में लाने के लिए आवश्यक परिर्वतन तथा शुद्धिकरण की प्रक्रिया से लगाया जाता है।
8. **कृषि आगत**–कृषि उत्पादन में प्रयुक्त होने वाले संसाधनों को कृषि आगत के रूप में जाना जाता है जैसे उपकरण, खाद, बीज आदि।
9. **विदेशी तथा आन्तरिक व्यापार**– एक देश की सीमा से बाहर वस्तुओं का क्रय तथा विक्रय विदेशी व्यापार कहलाता है तथा एक देश की सीमा के अन्दर ही होने वाला क्रय–विक्रय आन्तरिक व्यापार कहलाता है।

10.**वैश्वीकरण**– भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व की अन्य सभी अर्थव्यवस्थाओं के साथ समग्र रूप में मिलकर कार्य करना वैश्वीकरण कहा जाता है।

11.**परम्परागत तथा गैर–परामपरागत व्यापार वस्तुऐं** – पिछले लम्बे समय से कृषि वस्तुओं का आयात–निर्यात होने वाली मदों को परम्परागत व्यापार वस्तुओं के रूप में जाना जाता है तथा जो समय के परिवर्तन के साथ वस्तुओं के आयात एवं निर्यात के स्वरूप एवं आकार (नवीन वस्तुये) में परिवर्तन के बाद वाली मदों को गैर परम्परागत व्यापार वस्तुयें कहा जाता है।

12.**पेटेण्ट कानून**– एक ऐसा सर्वाधिकार नियम जो उस वस्तु या सेवा की खोज अथवा उत्पत्ति पर सुरक्षित रहता है तथा उस पर उस देश विशेष का पूर्ण अधिकार होता है।

29.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

प्रश्न–1 बहुराष्ट्रीय निगम के कार्य क्षेत्र को बताओ?

प्रश्न–2 बहुराष्ट्रीय निगमों का भारतीय कृषि पर किस रूप में प्रभाव पड़े हैं? संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न–3 बहुराष्ट्रीय निगमों के सम्बन्ध में भारतीय कृषि की किन्हीं तीन कठिनाईयों को बताओ?

प्रश्न–4 खाद्य वस्तुओं के प्रसंस्करण में बहुराष्ट्रीय निगमों का क्या स्थान है? संक्षेप में बताओ।

प्रश्न–5 निम्न में से सत्य/असत्य विकल्प का चयन कीजिए?

(क) बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा संविदा खेती प्रारम्भ की गयी है।

(ख) बहुराष्ट्रीय निगमों द्वारा उन्नत बीजों के उत्पादन में कार्य किया गया है।

(ग) बहुराष्ट्रीय निगमों से भविष्य में भारतीय कृषि के लिए कोई खतरा नहीं है।

(घ) कृषि आगतों की पूर्ति में बहुराष्ट्रीय निगमों की भी भूमिका पायी गयी है।

प्रश्न–6 निम्नलिखित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति करो –

(i) बहुराष्ट्रीय निगमों का कार्यकाल एक से ..... देशों में विस्तृत पाया जाता है।(व्यापार, पेटेन्ट, अधिक)

(ii) कृषि के विदेशी ..... में भी इन निगमों का हस्तक्षेप प्रारम्भ हो गया है।(व्यापार, पेटेन्ट, अधिक)

(iii)बहुराष्ट्रीय निगमों ने कृषि में ..... कानून का भी सहारा लिया है।(व्यापार, पेटेन्ट, अधिक)

प्रश्न–7 निम्नलिखित पर संक्षिपत टिप्पणी लिखो?

(i) बहुराष्ट्रीय निगम एवं भारतीय कृषि

(ii) बहुराष्ट्रीय निगम एवं कृषि उत्पादकता

(iii) कृषि प्रसंस्करण उद्योग (iv) कृषि का विदेशी व्यापार

हल–

प्रश्न संख्या –1 के हल के लिए बिन्दु संख्या 29.3 का अवलोकन कीजिये।

प्रश्न संख्या –2 के हल के लिए बिन्दु संख्या–29.3.1 तथा 29.3.2 का अवलोकन करें।
प्रश्न संख्या –3 के हल के लिए बिन्दु संख्या 29.4 का अवलोकन करें।
प्रश्न संख्या–4 के हल के लिए बिन्दु संख्या 29.3.1 का अवलोकन करें।
प्रश्न संख्या–5, (क) सत्य (ख) असत्य (ग) असत्य (घ) सत्य
प्रश्न संख्या–6, (i) अधिक (ii) व्यापार (iii) पेटेन्ट

29.8 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. मिश्र एवं पुरी (2011)भारतीय अर्थव्यवस्था, हिमालय पब्लिसिंग हाउस, नई दिल्ली।
2. रूद्र दत्त एवं के.पी.एम. सुन्दरम (2011)भारतीय अर्थव्यवस्था,एस.चन्द्र एण्ड कं० लि०,नई दिल्ली।
3. बरला एण्ड अग्रवाल (2009)अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, पुस्तक प्रकाशक एवं विक्रेता, अनुपम प्लाजा, संजय प्लेस, आगरा।
4. जैन महेन्द्र–सम्पादक (2012)समसामयिक वार्षिकी 2012 प्रतियोगिता दर्पण स्वदेशी बीमानगर, आगरा।
5. दीक्षित एवं अग्रवाल (2010)कृषि अर्थशास्त्र,हरीश विश्वविद्यालय प्रकाशन, अस्पताल मार्ग आगरा।

29.9 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. मिश्र, जगदीश नारायण (2008)भारतीय अर्थव्यवस्था, पुस्तकमहल, दरियागंज नई दिल्ली।
2. सिंघई जी.सी. (2010)अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा
3. भारतीय अर्थव्यवस्था (2011)प्रतियोगिता दर्पण(सामान्य अध्ययन)2/11,ए–स्वदेशी बीमा नगर, आगरा
4. झिंगन एम0एल0 (2009) अन्तर्राष्ट्रीय अर्थशास्त्र,वृन्दा पब्लिकेशनस प्रा0लि0, आशीष काम्प्लेक्श मयूर विहार, दिल्ली।
5. कुरूक्षेत्र पत्रिका (मासिक) जनवरी 2007 अंक 03 प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली।

29.10 निबन्धात्मक प्रश्न

प्रश्न–1 बहुराष्ट्रीय निगमों से आप क्या समझते हैं? इनकी भारतीय कृषि के विकास में क्या भूमिका है?

प्रश्न–2 कृषि वस्तुओं के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पर बहुराष्ट्रीय निगमों के पड़ने वाले अनुकूल एवं प्रतिकूल प्रभावों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए?

प्रश्न–3. भारतीय कृषि व्यवस्थाओं में बहुराष्ट्रीय निगम किस सीमा तक कार्य करने के लिए तत्पर है?

प्रश्न–4. बहुराष्ट्रीय निगमों के संबन्धित कृषि व्यापार की समस्याओं को स्पष्ट कीजिए?